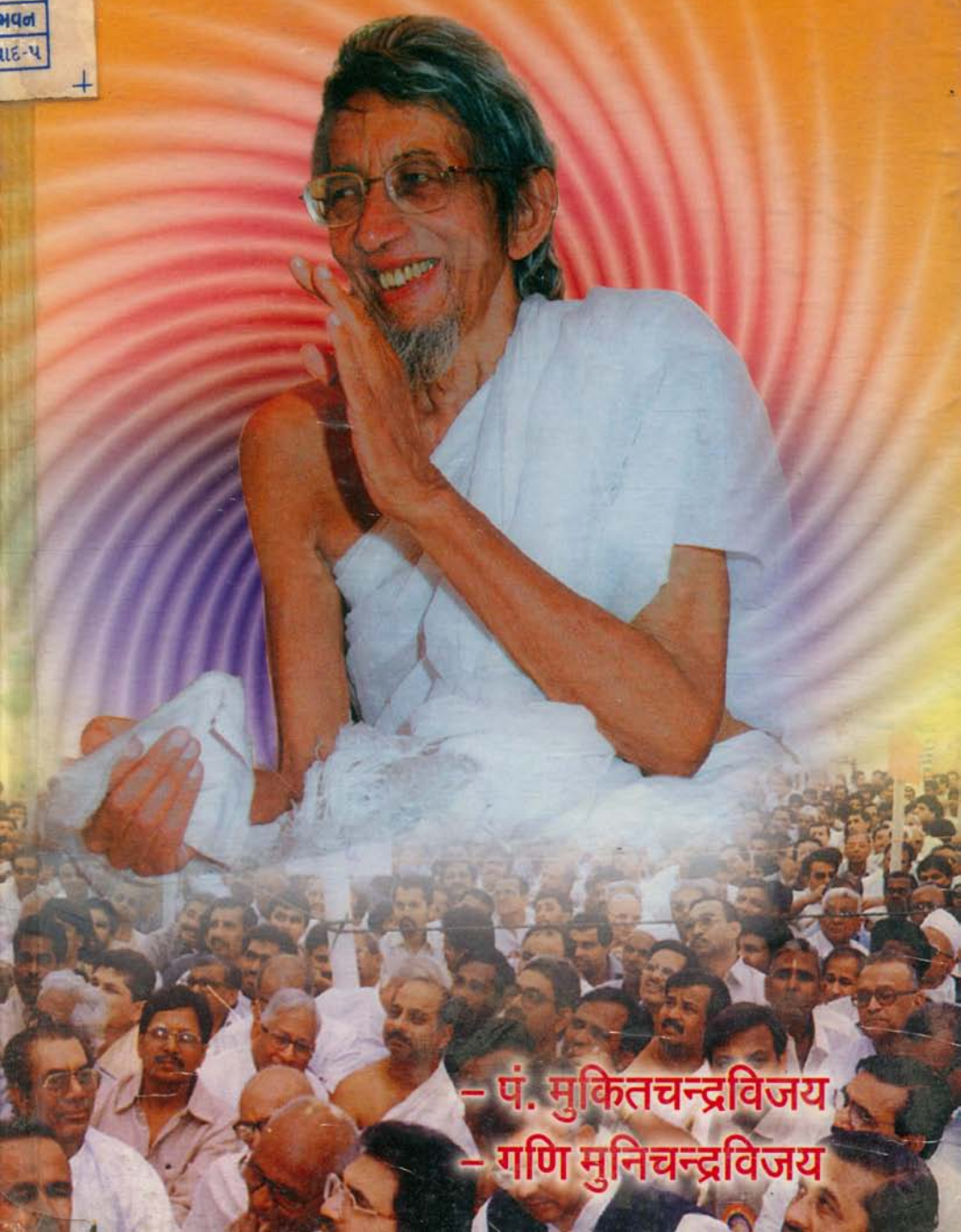


हे कलापूर्णसूरि - १



- पं. मुकितचन्द्रविजय
- गणि मुनिचन्द्रविजय

वि. सं. २०५८, माघ
केशवणा (राज.)
बने हुए पूज्य



तीर्थंकर की याद का
पुण्य-वैभव अब का
देखने मिलेगा ?

स्वर्गगमन से १५ दिन पूर्व की तस्वीर
वि.सं. २०५८, जालोर (राज.)



सु.४, शनिवार १६-२-२००२ को
(ज.) में स्वर्गवासी
श्री की चिरविदाय की झलक



रानेवाला
हां

गीर



कहे कलापूर्णसूरि - १

(सिद्धयोगी पू. आचार्यश्री की साधनापूत वाणी)

(अषा. वद ६/७, दिनांक ५-७-१९९९, सोमवार से
मार्ग. वद १/२, दिनांक २४-११-१९९९, बुधवार तक,
वांकी तीर्थ, कच्छ, वि. सं. २०५५-५६)

वाचना

पू.आ.श्री विजयकलापूर्णसूरीश्वरजी म.सा.

प्रेरणा

मधुरभाषी पू. आचार्यश्री विजयकलाप्रभसूरीश्वरजी म.सा.

पू.पं.श्री कल्पतरुविजयजी म.सा.

पू.पं.श्री कीर्तिचन्द्रविजयजी म.सा.

अवतरण - सम्पादन

पंन्यास मुक्तिचन्द्रविजय

गणि मुनिचन्द्रविजय

॥ हरिसिंमलजी गधमलजी (बोडावाजा.)

प्रकाशक

श्री वांकी जैन तीर्थ

P.O. वांकी, ता. मुन्द्रा, जी. कच्छ, Pin : 370 425.

Phone : (02838) 78284 • Fax : 78240

पुस्तक : **वह वैष्णवपूर्णसूरि - १**

(सिद्धयोगी पू. आचार्यश्री की साधनापूत वाणी)

अवतरण - संपादन :

पंन्यास मुक्तिचन्द्रविजय

गणि मुनिचन्द्रविजय

सहायक मुनि :

मुनि अनंतयशविजय

मुनि महागिरिविजय

मुनि मुक्तानंदविजय

मुनि मुक्तिश्रमणविजय

मुनि मुक्तिचरणविजय

मूल्य : रु. १२०/-

प्राप्ति स्थान :

♦ श्री जैन ज्ञानमंदिर, नाकोडा तीर्थ

P.O. मेवानगर, जी. बाडमेर (राज.), Via बालोत्तरा, Pin : 344 025.

Phone : (02988) 40096, 40761, 40005

अध्यापकश्री नरेन्द्रभाई कोरडीया • Phone : (02988) 40859

♦ चीमनलाल कोठारी

यात्रिकभवन के पास, P.O. शंखेश्वरतीर्थ, ता. समी (उ.गु.) Phone : (02733) 73645

संपर्क सूत्र :

♦ RAMESH K. MUTHA

Mutha Build Tech : 109, Vellala Street, Purasawalkam,

CHENNAI : 600 084. (T.N.) • Ph. : (044) 5325067, 5325344

♦ SHANTILAL / CHAMPAK B. DEDHIA

20, Pankaj 'A', Plot No. 171, L.B.S. Marg, Ghatkopar (W),

MUMBAI - 400 086. • Ph. : (022) 5101990

♦ टीकु आर. सावला

POPULAR PLASTIC HOUSE

39, D. N. Road, Sitaram Building, 'B' Block, Near Crawford Market,

MUMBAI - 400 001. • Ph. : (022) 3436369, 3436807, 3441141

♦ पन्नाबेन दिनेशभाई खजीभाई महेता

Vikas Engineering Co.

13, Erabalu Chetty Street, CHENNAI - 600 001. (T.N.)

Ph. : (044) 5222570, 5222479

♦ B. F. JASRAJ LUNKED

N. 3, Balkrishna Nagar, P.O. MANNARGUDI - 614 001 (T.N.)

Ph. (04367) 422479

मुद्रक : *Tejas Printers*

403, Vimal Vihar Apartment, 22, Saraswati Society, Nr. Jain Merchant Society, Paldi, AHMEDABAD - 380 007. • Ph. : (079) 6601045

॥ वांकी तीर्थमण्डन श्री महावीर स्वामिने नमः ॥

॥ श्री पद्म-जीत-हीर-कनक-देवेन्द्र-कंचन-कलापूर्ण-कलाप्रभसूरिगुरुभ्यां नमः ॥

सम्पादकीय

मंगलं पद्म-जीताद्या, मंगलं कनको गुरु

मंगलं सूरिदेवेन्द्रः, कलापूर्णोस्तु मंगलम् ॥

जंगम तीर्थ स्वरूप, अध्यात्मयोगी, पूज्यपाद, सद्गुरुदेव, आचार्यदेव श्रीमद् विजयकलापूर्णसूरीश्वरजी को भला जैन जगत् में कौन नहीं जानते ?

पूज्य आचार्यश्री पहले तो शायद कच्छ, गुजरात या राजस्थान में ही प्रसिद्ध थे, परन्तु अन्तिम छः वर्षों तक दक्षिण भारत में पूज्यश्री का पदार्पण होने से पूज्यश्री की पावन निश्रा में शासन-प्रभावना की जो शृंखलाएं खड़ी हुई, उस कारण से पूज्यश्री भारतभर के जैनों के अन्तर में बस गये ।

- ❀ पूज्यश्री का प्रसन्नता से छलकता चेहरा ।
- ❀ पूज्यश्री की प्रभु के प्रति असीम भक्ति ।
- ❀ पूज्यश्री के हृदय में समस्त प्राणियों के प्रति अपार करुणा ।
- ❀ पूज्यश्री का आकर्षक व्यक्तित्व ।
- ❀ पूज्यश्री का अद्भुत पुन्य ।
- ❀ पूज्यश्री की अध्यात्म-गर्भित वाणी ।
- ❀ पूज्यश्री का छः आवश्यकों के प्रति अगाध प्रेम ।
- ❀ पूज्यश्री का अप्रमत्त जीवन ।

इन सभी विशेषताओं के कारण जिस-जिस व्यक्ति ने पूज्यश्री को श्रद्धापूर्वक निहार, वे उनके अन्तर में बस गये ।

पूज्यश्री का पुन्य इतना है कि जहां आपके चरण पड़ते हैं वहां मंगल वातावरण का सृजन हो जाता है, भक्ति से वातावरण पवित्र बन जाता है और दूर-दूर से लोग आते ही रहते हैं ।

इस प्रकार की विशेषताएं अन्यत्र अत्यन्त ही कम दृष्टिगोचर होती हैं ।

कईबार तो इतनी अधिक भीड़ होती है कि लोगों के लिए दर्शन पाना भी कठिन हो जाता है । (वासक्षेप की तो बात ही छोड़िये) दर्शन, वासक्षेप आदि प्राप्त न होने के कारण लोगों को निराश

हो कर भी लौटना पड़ता है ।

दर्शन एवं वासक्षेप प्राप्त हो जाये तो भी अनेक व्यक्तियों को तृप्ति नहीं होती । ऐसे अनेक लोग पूज्यश्री के साथ वार्तालाप करना चाहते हैं, साधना के लिए मार्ग-दर्शन प्राप्त करना चाहते हैं, परन्तु समय की प्रतिकूलता के कारण पूज्यश्री इच्छा होते हुए भी समस्त मनुष्यों की समस्त अपेक्षाओं को सन्तुष्ट नहीं कर पाते ।

प्रवचन या वाचना श्रवण करने के लिए बैठनेवाले कइ लोगों की भी शिकायत होती है कि पूज्यश्री की आवाज हमें सुनाई नहीं देती ।

जो व्यक्ति पूज्यश्री की वाणी का श्रवण करना चाहते हैं, फिर भी श्रवण नहीं कर सकते, उनके लिए यह प्रकाशन अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा, ऐसा विश्वास है ।

पूज्यश्री ने वांकी तीर्थ में वि. संवत् २०५५ के वर्षावास में १०९ साधु-साध्वीजीयों के समक्ष वाचना दी, उसका सार यहां प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है ।

अध्यात्मसार का आत्मानुभवाधिकार, पंचवस्तुक ग्रन्थ तथा अध्यात्मगीता पर दी गई वाचनाएं यद्यपि साधु-साध्वीजीयों के लिए दी गई थी, परन्तु श्रावक-श्राविकाओं को भी इन में से मार्ग-दर्शन प्राप्त होगा, ऐसी श्रद्धा है, ऐसा विश्वास है ।

पूज्यश्री के अन्तर में भगवान कैसे व्याप्त हैं, उसका ध्यान यह ग्रन्थ पढ़ने पर होगा । प्रायः ऐसी कोई वाचना नहीं होगी जिसमें भगवान या भगवान की भक्ति की बात नहीं आई हो । किसी के प्रवचन में संस्कृति, किसी के प्रवचन में तप-त्याग, किसी के प्रवचन में 'सुख बुरा, दुःख उत्तम, मोक्ष प्राप्त करने योग्य' इत्यादि बातें श्रवण करने को मिलती हैं, उस प्रकार पूज्यश्री के प्रवचनों में भक्ति की पराकाष्ठा सुनने को मिलती है ।

जिस प्रवचन में भक्ति की बात नहीं आये वह प्रवचन कलापूर्णसूरि का नहीं, ऐसा कहें तो भी असत्य नहीं है ।

इसी कारण से पूज्यश्री इस समय जैन जगत् में भक्ति के पर्याय के रूप में विख्यात एवं लोकप्रिय हो गये हैं ।

पूज्यश्री का प्रभु-प्रेम देखकर हमें नरसिंह महेता की इस पंक्ति का स्मरण हो जाता है :

‘प्रेम-रस पाने तू मोरना पिच्छधर ! तत्त्वनुं टूंपणुं तुच्छ लागे’
चाहे जितनी तत्त्वों की बात आये तो भी अन्त में भगवान या भगवान की भक्ति की बात पूज्यश्री के प्रवचन में आ ही जाती है ।

वाचना की यह प्रसादी पाठकों के हृदय में प्रसन्नता की लहर फेलाये, प्रभु के प्रति प्रेम उत्पन्न करे, ऐसी अपेक्षा है ।

कतिपय स्थानों पर भक्ति आदि की बातों की पुनरुक्ति होती भी प्रतीत होगी । वहां प्रशमरति में से पूज्यश्री उमास्वाति की बात याद करनी चाहिये ।

वैराग्य, भक्ति आदि की बातें पुनः पुनः करने से, श्रवण करने से और समझने से ही वे अन्तर में भावित होती हैं । अतः वैराग्य आदि में पुनरुक्ति दोष नहीं है ।

यद्वद् विषघातार्थं मन्त्रपदे न पुनरुक्तदोषोस्ति ।

तद्वद् रागविषघ्नं पुनरुक्तमदुष्टमर्थपदम् ॥

प्रशमरति - १३

कतिपय स्थानों पर पूज्यश्री के आशय को अपने समक्ष रखकर हमने हमारी भाषा में भी आलेखन किया है ।

पूज्यश्री के आशय के विपरीत कुछ भी आलेखन हुआ हो तो एतदर्थ हार्दिक मिच्छामि दुक्कडं...

- **पंन्यास मुक्तिचन्द्रविजय**

- **गणि मुनिचन्द्रविजय**

वांकी तीर्थ, वि.सं. २०५६

भगवानना भक्त, शासन प्रभावक परम पूज्य आचार्य वि.
कलापूर्णसू. म.सा.ना कालधर्म पाम्याना समाचार सांभळतां ज अमो
हतप्रभ थया अने रडती आंखे रडता हृदये संघनी साथे समूहमां
देववंदन कर्या ।

- **एज... आचार्य हिरण्यप्रभसूरीनी अनुवंदना**

प्रासंगिक

इस ग्रन्थ का जन्म कैसे हुआ ?

वि. सं. २०५५ में पूज्यश्री का वांकी तीर्थ में चातुर्मास हुआ । पूज्यश्री की निश्रा में हम १०९ साधु-साध्वीजी थे ।

पूज्यश्री की दिव्य वाणी वहां अत्यंत स्फूर्ति से बहती थी । तीर्थ का शान्त वातावरण साधना आदि के लिए अनुकूल था । हम हर वक्त की तरह इस वक्त भी पूज्यश्री की वाणी का नोट बुक में अवतरण करते थे ।

हमारी नोट का झेरोक्ष अन्यत्र भेजा गया तब सभी ने कहा : हम को भी यह चाहिए । ५० नकल कम पड़ी अतः हमने १०० नकल झेरोक्ष कराई, लेकिन इतनी नकल भी कम होने पर हमने मुद्रित कराने का निर्णय किया । ५०० नकल तो बहुत हो जायेगी - ऐसा हमने समझा । लेकिन किसीने कहा कि ५०० से १००० नकल मुद्रित कराओगे तो सुविधाजनक रहेगा, ५०० नकल महंगी पड़ेंगी ।

हमने सोचा : १००० नकले छप तो जायेंगी, लेकिन पड़ेगा कौन ? लेगा कौन ?

लेकिन प्रकाशित होते ही वह पुस्तक (कहे कलापूर्णसूरि) इतनी तेजी से समाप्त हो गई कि हम आश्चर्य में पड़ गये ।

अनेकानेक बड़े बड़े आचार्यों, साधकों, साध्वीजी आदि के अभिप्रायों का ऐसा बरसात बरसा कि हम स्तब्ध हो गये । सचमुच पूज्यश्री का ही यह प्रभाव था । फिर तो दूसरी आवृत्ति २००० नकल मुद्रित करानी पड़ी । आज वह भी अलभ्य प्रायः बन गई है । अब तीसरी आवृत्ति प्रकाशित होने की तैयारियां हो रही हैं ।

यह तो गुजराती आवृत्ति की बात है, लेकिन हिन्दीभाषी पाठकों का क्या ?

बहुत सारे लोगों की सूचना आई कि पूज्य आचार्यश्री अब केवल गुजरातीभाषीओं के ही नहीं हैं, सब के हैं । हम हिन्दीभाषीओं पर उपकार के लिए इसका हिन्दी-अनुवाद होना चाहिए । अनेक लोगों के अनुरोध से अब यह हिन्दी आवृत्ति

प्रकाशित हो रही है । आशा है कि प्रथम भाग की तरह अन्य तीन भी हिन्दी में शीघ्र प्रकाशित होंगे ।

कहे कलापूर्णसूरि चार भागों में विभक्त है ।

कहे कलापूर्णसूरि-१ में वांकी की वाचनाएं संगृहीत हैं और शेष तीन भाग में पालीताना की वाचनाएं संगृहीत हैं ।

गुजराती में चारों भाग, पूज्य आचार्यश्री की विद्यमानता में ही प्रकाशित हो चुके हैं ।

आज सखेद लिखना पड़ता है कि भारतीय जैन जनता में भगवान की तरह प्रतिष्ठित होनेवाले पूज्य आचार्यश्री अब हमारे बीच नहीं है ।

अभी-अभी दो-तीन दिन पहले ही समाचार आये हैं कि पू. सा. सुवर्णप्रभाश्रीजी (वर्तमान गच्छाधिपति पू. आचार्यश्री विजयकलाप्रभसूरीश्वरजी म.सा. एवं विद्वद्भ्य पूज्य पं. श्री कल्पतरुविजयजी के मातुश्री, पू. बा महाराज) भी भरुच में वै. सु. १३, शुक्रवार, ता. २४-५-२००२ को शाम को ४.३० बजे समाधिपूर्वक कालधर्म प्राप्त हुए हैं ।

पूज्य आचार्यश्री के आध्यात्मिक उत्थान में पू. बा महाराज का भी महत्त्वपूर्ण योग-दान रहा है । अगर इन्होंने संयम के लिए रजा नहीं दी होती तो ? जीद करके बैठ गये होते तो ? अक्षयरजजी जो विश्व-विख्यात पू. कलापूर्णसूरिजी बन सके इसमें पू. बा महाराज का ऐसा महत्त्वपूर्ण योग-दान है कि जिसे कभी भूलाया नहीं जा सकता ।

पूज्य आचार्यश्री के स्वर्गगमन के सिर्फ ९८ दिन के बाद पू. बा महाराज का स्वर्गगमन बहुत ही आघात-जनक घटना है, लेकिन काल के सामने हम सभी निरुपाय हैं । हम सिर्फ इतनी ही कामना कर सकते हैं : दिवंगतों की आत्मा जहां भी हों, परम पद की साधना करती रहे और हम सब पर आशीर्वाद की वृष्टि करती रहे ।

❀ इस पुस्तक को कैसे पढ़ेंगे ?

याद रहें कि यह कोई उपन्यास या कहानी की पुस्तक

नहीं है। यह तो परम योगी की अमृत-वाणी की पुस्तक हैं।

(१) इसको पढ़ने की सर्व प्रथम शर्त यह है कि स्व. पूज्य आचार्यश्री के प्रति हार्दिक बहुमान होना चाहिए : जिनकी चेतना ने परम चैतन्य (परमात्मा) के साथ अनुसंधान किया है ऐसे सिद्धयोगी पूज्य आचार्यश्री की दिव्य वाणी मैं पढ़ रहा हूँ। मेरा कितना सौभाग्य है कि ऐसी वाणी पढ़ने का मन हुआ ? प्रभु की कृपा के बिना इस काल में ऐसा साहित्य पढ़ने का मन भी कहां होता है ?

अभी चार दिन पहले कर्मठ सेवाभावी कुमारपाल वी. शाह वर्षामेडी गांव में मिले। उन्होंने कहा : महाराजश्री ! आपने 'कहे कलापूर्णसूरि' पुस्तक प्रकाशित करके कमाल कर दिया है। मैं पढ़ता हूँ तब विचार आता है कि कहां अंडरलाइन करूं ? पूरी पुस्तक ही अंडरलाइन करने लायक है। आपने सार ही सार अवतरित किया है।

एक व्यक्ति ने स्व. पूज्य आचार्यश्री का वासक्षेप लेते समय पालीताना में कहा था : मैंने कहे कलापूर्णसूरि किताब पांच बार पढ़ी है और आगे भी मैं बार-बार पढ़ना चाहता हूँ।

बाबुभाई कडीवाले ने एक वक्त सभा में कहा था : 'हम कहे कलापूर्णसूरि ग्रन्थ का प्रतिदिन स्वाध्याय करते हैं।'।

यह सब हृदय के बहुमान को द्योतित करनेवाले उद्गार हैं। ऐसा आदर अगर हो तो निश्चित ही आपके लिए इस पुस्तक का पठन कल्याणकर बनेगा।

अगर आपको इतना आदर नहीं भी है, फिर भी आप जिज्ञासा से पढ़ना चाहते हैं, तो भी पढ़ें। हो सकता है कि पढ़ते-पढ़ते भी आपको आदर हो जाय।

इस पुस्तक में शब्द-वैभव नहीं है, वाणी-विलास नहीं है, सीधे-सादे शब्दों में स्वयं की अनुभूति को अभिव्यक्त करने का प्रयास है।

पूज्यश्री के पास अनुभूति बहुत ही तीव्र थी, लेकिन अनुभूति की अपेक्षा अभिव्यक्ति कमजोर थी, फिर भी

अभिव्यक्ति करने की यथाशक्य कोशीश तो पूज्यश्री करते ही रहते थे ।

अनुभूति कुछ भी न हो, लेकिन कई लोगों की अभिव्यक्ति इतनी धारदार होती है कि सुनने-पढ़ने वाले इन पर मुग्ध हो जाते हैं । अच्छे-अच्छे शब्दों के पेकिंग में उधार माल (स्वयं को कुछ भी अनुभव नहीं है) बेचनेवाले बहुत होते हैं, लेकिन इस पुस्तक के उद्गाता पू. आचार्यश्री अनुभूति के स्वामी थे ।

हम तो कई बार कल्पना करते हैं कि पूज्यश्री की अनुभूति बहुत ही तीव्र थी, लेकिन जब तक उस अनुभूति का शास्त्राधार न मिले तब तक वे उसे व्यक्त नहीं करते होंगे । इसीलिए ही पूज्यश्री जो जो बात करते उन सभी में शास्त्र-पंक्तियां आधार के रूप में कहते ही थे । इस पुस्तक में आप यह देख सकते हैं ।

(२) दूसरी बात यह है कि एक बार पढ़कर इस ग्रन्थ को छोड़ न दें । यह ग्रन्थ एक बार पढ़ने जैसा नहीं है, बार-बार आप पढ़ेंगे तो ही पूज्यश्री की बातें आपके अंतःकरण में भावित बनेंगी ।

(३) एक व्यक्ति पढ़ें और दूसरे सब सुने ऐसा भी आप कर सकते हैं । कई जगह पर ऐसा होता भी है ।

इस हिन्दी प्रकाशन के मुख्य प्रेरक पूज्यश्री के पट्टप्रभावक पू. गुरुदेव आचार्यश्री विजयकलाप्रभसूरीश्वरजी म.सा., विद्वद्भ्य पू. पं. श्री कल्पतरुविजयजी, प्रवक्ता पू. पं. श्री कीर्तिचन्द्रविजयजी, पू. मुनिश्री कुमुदचन्द्रविजयजी आदि को हम आदरपूर्वक स्मृतिपथ में लाते हैं ।

पू. गणिश्री पूर्णचन्द्रविजयजी, गणिश्री तीर्थभद्रविजयजी, गणिश्री विमलप्रभविजयजी, मुनिश्री कीर्तिरत्नविजयजी, मुनिश्री हेमचन्द्रविजयजी, मुनिश्री आनंदवर्धनविजयजी, मुनिश्री तत्त्ववर्धनविजयजी, मुनिश्री अनंतयशविजयजी, मुनिश्री अमितयशविजयजी, मुनिश्री आत्मदर्शनविजयजी, मुनिश्री तत्त्वदर्शनविजयजी, मुनिश्री अजितशेखरविजयजी आदि को भी

हम याद करते हैं ।

अंत में, ऐसी दिव्य वाणी की वृष्टि करनेवाले पूज्यश्री की दिवंगत आत्मा को हम नमन करते हैं । शंखेश्वर में पूज्यश्री को याद करते हुए जो पंक्तियां सहज रूप से निकली उन्हें प्रस्तुत करते हैं :

नमस्तुभ्यं कलापूर्ण ! मग्नाय परमात्मनि ।

त्वयात्र दुःषमाकाले भक्तिगंगावतारिता ॥

‘परमात्मा में लीन ओ पूज्य कलापूर्णसूरिजी ! आपने इस दुःषमा समय में भक्तिगंगा बहाई है । आपको हम नमन करते हैं ।’

पूज्यश्री की भक्ति-गंगा में स्नान करके हम अपनी आत्मा को पावन बनाएं ।

पूज्यश्री के आशय-विरुद्ध इस ग्रन्थ में कुछ भी लिखा गया हो तो उसके लिए हम हृदय से मिच्छामि दुःखदं देते हैं ।

- पं. मुक्तिचन्द्रविजय

- गणि मुनिचन्द्रविजय

नया अंजार, जैन उपाश्रय

वि. सं. २०५८, ज्ये. व. १

२७-५-२००२, सोमवार

पू.आ.भ. व पू. बा महाराज के संयम-जीवन की अनुमोदनार्थ हुए जिन-भक्ति-महोत्सव का दूसरा दिन ।

अध्यात्मयोगी पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजयकलापूर्णसूरिश्वरजी : एक झलक

- ✽ जन्म : वि.सं. १९८०, वै.सु. २, फलोदी (राज.)
- ✽ माता : क्षमाबेन पाबुदानजी लुक्कड़
- ✽ पिता : पाबुदानजी लुक्कड़
- ✽ गृहस्थी नाम : अक्षयराजजी
- ✽ पुत्र : (१) ज्ञानचंदजी (पू.आ. विजयकलाप्रभसूरिजी)
(२) आसकरणजी (पू.पं. कल्पतरुविजयजी)
- ✽ पत्नी : रतनबेन (पू.सा. सुवर्णप्रभाश्रीजी)
- ✽ व्यवसायभूमि : राजनांदगांव (छत्तीसगढ़)
- ✽ दीक्षा : वि.सं. २०१०, वै.सु. १०, फलोदी (राज.)
- ✽ दीक्षा-दाता : पू. मुनिश्री रत्नाकरविजयजी
- ✽ वड़ी दीक्षा : वि.सं. २०११, वै.सु. ७, राधनपुर (गुजरात)
- ✽ वड़ी दीक्षा-दाता : पू.आ.श्री वि. कनकसूरिश्वरजी म.सा.
- ✽ दीक्षा-गुरु : पू. आचार्यश्री विजयकनकसूरिजी म.सा.
- ✽ वड़ी दीक्षा-गुरु : पू. मुनिश्री कंचनविजयजी
- ✽ समुदाय : तपागच्छीय संविग्न शाखीय कच्छ-वागड़ समुदाय
- ✽ परंपरा : पद्म-जीत-हीर-कनकसूरि-देवेन्द्रसूरि-कंचनविजयजी
- ✽ पंन्यास पद : वि.सं. २०२५, माघ शु. १३, फलोदी (राज.)
- ✽ आचार्य पद : वि.सं. २०२९, मार्ग. सु. ३, भद्रेश्वर तीर्थ (कच्छ)
- ✽ पंन्यास-आचार्य पद प्रदाता : पू.आ.श्री विजयदेवेन्द्रसूरिश्वरजी
- ✽ उत्तराधिकारी : वर्तमान गच्छनायक पू.आ.श्री वि. कलाप्रभसूरिश्वरजी
- ✽ मुख्य कर्मभूमि : कच्छ वागड़
- ✽ विहार क्षेत्र : कच्छ-गुजरात, राजस्थान, मध्यप्रदेश, छत्तीसगढ़, महाराष्ट्र, कर्णाटक, तमिलनाडु, आंध्रप्रदेश आदि
- ✽ साहित्य : तत्त्वज्ञान प्रवेशिका, अध्यात्मगीता, सर्वज्ञकथित सामायिक धर्म, परम तत्त्व की उपासना, ध्यानविचार, मिले मन भीतर भगवान, कहे कलापूर्णसूरि भाग ४, सहज समाधि आदि
- ✽ प्रथम-अंतिम चातुर्मास : फलोदी (राज.)
- ✽ दीक्षा पर्याय : ४८ वर्ष
- ✽ साधना : दिन में भक्ति, स्वाध्याय, व्याख्यान, वाचना, हितशिक्षा आदि, रात को कायोत्सर्ग, ध्यान, जाप आदि
- ✽ शिष्य गण : ३६
- ✽ साध्वी गण : ५००
- ✽ काल धर्म : वि.सं. २०५८, माघ सुद ४, शनिवार १६-२-२००२, केशवणा (राज.)
- ✽ अग्नि संस्कार : माघ सुद ६, सोमवार, १८-२-२००२, शंखेश्वर तीर्थ (गुजरात)

पू. सा. सुवर्णप्रभाश्रीजी (पू. बा महाराज) एक झलक



- ❖ जन्म : वि.सं. १९८४ (?) फलोदी (राज.)
- ❖ माता : केसरबेन मिश्रीमलजी बैद
- ❖ पिता : मिश्रीमलजी बैद (पू. मुनिश्री कमलविजयजी)
- ❖ भाई : नथमलजी बैद (पू. मुनिश्री कलहंसविजयजी)
- ❖ पति : अक्षयराजजी लुक्कड़ (पू.आ.श्री वि. कलापूर्णसूरिजी)
- ❖ पुत्र : (१) ज्ञानचंदजी (पू.आ.श्री विजयकलाप्रभसूरिजी)
(२) आसकरणजी (पू.पं.श्री कल्पतरुविजयजी)
- ❖ दीक्षा : वि.सं. २०१०, वै.सु. १०, फलोदी (राज.)
- ❖ वड़ी दीक्षा : वि.सं. २०११, वै.सु. ७, राधनपुर (गुजरात)
- ❖ गुरुजी : पू.सा. लावण्यश्रीजी के शिष्या पू.सा. सुनंदाश्रीजी
- ❖ शिष्या : पांच
- ❖ मुख्य रस : प्रभु-भक्ति, जाप, कायोत्सर्ग आदि
- ❖ कालधर्म : वि.सं. २०५८, वै.सु. १३, भरुच (गुजरात)

पू. सा. सुवर्णप्रभाश्रीजी
(मां महाराज)
का समाधिपूर्ण स्वर्गवास

भरूच, वै. सु. १४

शनिवार

विजयकलाप्रभसूरि की ओर से

अनुवंदना / धर्मलाभ ।

विशेष विदित कर रहे हैं कि पूज्य तारक गुरुदेव के वियोग से व्यथित हमारी आंखों के आंसु सूखे न सूखे, हृदय के घाव रुझान पाये - न पाये उतने में ही हृदय को हिलानेवाली दूसरी घटना घटी ।

सांसारिक संबंध की अपेक्षा हमारे मां महाराज साध्वीजी श्री सुवर्णप्रभाश्रीजी, कि जो सा. सुनंदाश्रीजी के शिष्या थे । वे वै. सु. १३, शुक्रवार, २४-५-२००२ की शाम को ४.३० बजे भरूच में समाधिपूर्वक कालधर्म पाये हैं ।

‘कर्म के आगे किसी की नहीं चलती’ ‘भवितव्यता को यही मंजूर होगा’ ऐसा मान कर हृदय को समझाना रहा ।

शंखेश्वर से चातुर्मास के लिए वलसाड़ की ओर विहार करते हुए वे समनी गांव में आये । असह्य गर्मी आदि के कारण स्थंडिल की तकलीफ हुई । ३५/४० वक्त जाना पड़ा और एकदम ढीले हो गये ।

सुश्रावक कान्तिलालभाई, सुरेशभाई भंडारी (फलोदी, अभी अंकलेश्वर) को समाचार मिलते ही वे तुरंत भरूच से डॉ. सुनील शाह को लेकर समनी पहुंच आये । तात्कालिक उपचारों से कुछ राहत प्रतीत हुई । दूसरे दिन विहार कर के देरोल आये । वहां भी तबीयत बिगड़ने पर डॉ. सुनीलभाई आ गये । तुरंत इलाज किये । उनकी सलाह के अनुसार मां महाराज को होस्पिटल में दाखिल किये । कार्डियोग्राम आदि रिपोर्ट नॉर्मल थे, किन्तु अत्यंत कमजोरी, खून की कमी, गेस की तकलीफ आदि के लिए जरूरी उपचार शुरू किये । थोड़ी राहत प्रतीत हुई, लेकिन होना चाहिए वैसा सुधार नहीं हुआ ।

हम साधु और साध्वियां विहार में तीन दिन पीछे थे । अस्वास्थ्य के समाचार मिलते ही हम सुबह-शाम विहार कर के लास्ट दिन पर लंबा विहार खींच कर भरूच डौ. शाह की होस्पिटल में दोपहर १.०० बजे वै. सु. १३ को आ पहुंचे ।

मां महाराज के मुंह की प्रसन्नता और समता के दर्शन कर के हम आनंदित हुए और मां महाराज ने भी हमारी साता पूछी, १०-१५ मिनट तक बहुत अच्छी तरह से हमारे साथ बात की और संतोष पाये ।

‘तुम्हें कोई चिन्ता-टेन्शन है ? कोई तकलीफ है ?’ हमारे पूछने पर उन्होंने ने ‘ना’ कही । फिर हमने पूछा : आपका उपयोग अरिहंत प्रभु के स्मरण में है ? उन्होंने कहा : ‘हां’ ।

शारीरिक व्याधि में भी मानसिक समाधि सचमुच आश्चर्य-जनक थी ।

श्री नवकारमंत्र के प्रथम पद के उच्चार के बाद मैंने कहा : दूसरा पद बोलोगे ? तो स्वयं ‘नमो सिद्धाणं’ पद २-३ बार बोले ।

सा. भूषणश्रीजी तथा आश्रित सभी साध्वियां वहां हाजिर थे । मैं, पं. कल्पतरुविजयजी एवं पं. कीर्तिचन्द्रविजयजी हम तीनों नवकार मंत्र, चत्तारि मंगलं पाठ और क्षमापना सूत्र सतत सुनाते रहे थे । श्रवण में उनका पूरा उपयोग था । शारीरिक तकलीफ के लिए कोई फरीयाद नहीं थी ।

सतत समाधिभाव में मग्न पू. मां महाराज की आत्मा ४०/४५ मिनट तक श्री नवकारमंत्र के श्रवणपूर्वक शाम को ४.३० बजे देह-त्याग कर के सद्गति की ओर चली गई ।

मृत्यु की निकट क्षणों में श्वासोच्छ्वास की गति, संपूर्ण नाडीतंत्र कैसा काम करते हैं, कैसे धीरे-धीरे मंद होते हैं, यह सब नजर के सामने देखने मिला ।

हम पूरे तीन घंटे तक पू. मां महाराज के साथ रहे और उनकी समाधि में सहायक बने, उसका हमें बहुत ही संतोष हुआ । सिर्फ ९९ दिन के अंतर में हमारे दोनों शिरच्छत्र चले जाने से गहरा झटका भी लगा ।

बहुत छोटी उम्र में हमें धर्म-संस्कार देनेवाले और हमारे हृदय में दीक्षा की भावना जगानेवाले परम उपकारी मां महाराज के क्षमा, सरलता, सहनशीलता, प्रभु-मंदिर में प्रतिदिन डेढ़ घंटा जाप, भक्ति एवं ४८ वर्ष की निर्मल संयम-साधना आदि गुणों की जितनी अनुमोदना करें उतनी कम है ।

स्व. आत्मा परम शान्ति, उच्च गति को प्राप्त करें और मोक्ष-मार्ग की आराधना में आगे बढ़ते हुए मोक्ष की निकट पहुंचे तथा जहां हो वहां से हम पर कृपा-वात्सल्य की वृष्टि बरसाते रहे, इसी प्रार्थना के साथ रुकता हूं ।

विशेष - आज यहां अग्नि-संस्कार (अग्नि-संस्कार की बोली हितेशभाई गढ़ेचा ने १४॥ लाख में ली थी । पू. आ. भ. की भी डेढ़ करोड़ में उन्होंने ही ली थी) तथा जीवदया - फंड सब मिल कर लगभग २४ लाख से उपर हुआ है । भरूच संघ तथा कच्छ-वागड़ संघ के भाई, मुंबई, सुरत, नवसारी, अमदावाद आदि से बहुत अच्छी संख्या में आये थे । देव-गुरु-कृपा से सब कार्य उत्साहपूर्वक संपन्न हुए हैं ।

- विजयकलाप्रभसूरि

ज्यादा क्या लिखूं ? घाव के उपर घाव...! हमें एक बात का संतोष है कि पू. बा महाराज अंत समय में मिल गये और हम उनकी समाधि में सहायक बने ।

- पं. कल्पतरुविजय

गुरुजी ! आप कहां छिपे हैं ?

‘कहे कलापूर्णसूरि’ (पूज्यश्री की वाचना-प्रसादी) के ४ भाग गुजराती में छप चुके हैं । जिज्ञासु वाचकों में इनकी इतनी डीमांड है कि जिसका कोई हिसाब नहीं । आज थोड़े समय में ही ४थे भाग को छोड़ कर प्रथम तीन भाग अलभ्य प्रायः हो गये हैं । यह तो गुजराती वाचकों की डीमांड है । हिन्दी वाचकों की डीमांड भी कब से हो रही थी : हमें हिन्दी में चाहिए ।

पूज्यश्री के पट्टप्रभावक पू. गुरुवर्य आचार्य श्री विजयकलाप्रभ-सूरीश्वरजी म.सा. एवं विद्वद्वर्य पू.पं. श्री कल्पतरुविजयजी की ओर से भी बार बार यह बात होती रही : इन ग्रन्थों का हिन्दी में शीघ्र अनुवाद हो । आखिर इन ग्रन्थों में से प्रथम भाग का अनुवाद नैनमलजी सुराणा द्वारा कराया गया और आज प्रकट हो रहा है, इसकी हमें प्रसन्नता है ।

❖ परम श्रद्धेय सच्चिदानंदमय पूज्य आचार्यश्री का महाप्रयाण :

माघ शु. ३ (वि.सं. २०५८) का दिन था । हम मनफरा (कच्छ-वागड़) में प्रभु-प्रवेश-प्रतिष्ठा आदि कार्यों के निमित्त आये थे । उसी दिन हमने इसका हिन्दी अनुवाद मुद्रित करने के लिए ‘*Tejas Printers*’ वाले तेजसभाई को दिया, जो उस दिन मनफरा आये थे । उस वक्त हमें कहां पता था : कल ही पूज्य आचार्यश्री इस जगत् से प्रयाण करनेवाले हैं ?

उसी दिन शाम को विहार कर के हम माय नामके छोटे गांव में गये । रात के खुले आकाश में हमने चमकता हुआ एक तारा अदृश्य होते देखा । दूसरे दिन जिन-शासन का प्रकाशमान एक सितारा अदृश्य होनेवाला था, इसका क्या यह पूर्व संकेत होगा ?

दूसरे दिन विहार में ही सुबह ९.३० बजे जब हमने लाकड़ीआ संघ के आदमीओं के मुंह से पूज्यश्री के कालधर्म का समाचार सुना, तब हम आश्चर्य और आघात से स्तब्ध हो गये । शनैः शनैः आंखों में से अश्रुधारा बहने लगी । आधोई में आ कर देव-वंदन करने के बाद गुणानुवाद करने का अवसर आया तब हम फूट-फूट कर इतने रो पड़े थे कि गुणानुवाद के लिए दो-चार वाक्य ही मुश्किल से बोल सके ।

बार-बार एक ही बात दिमाग में घूमती रही : ऐसे प्रभुमग्न, प्रबुद्ध,

सच्चिदानंदमय सद्गुरु का योग फिर इस पृथ्वी को कब मिलेगा ? उनकी दिव्य वाणी फिर कब श्रवण-गोचर होगी ? तीर्थंकर के समवसरण की स्मृति करानेवाली उनकी देशना-सभा अब कहां देखने मिलेगी ?

फिर भी इतना आनंद है कि ३०-३० वर्ष तक पूज्यश्री का सान्निध्य मिला । वर्षों तक पूज्यश्री के चरणों में बैठने का, पूज्यश्री की वाणी सुनने का सौभाग्य मिला । वांकी (वि.सं. २०५५) तथा पालीताना (वि.सं. २०५६) चातुर्मास की वाचनाएं सुनने का सौभाग्य मिला । न केवल सुनने का, अपि तु उसी वक्त अवतरण करने का और प्रकाशित करने का भी सौभाग्य मिला । आज पूज्यश्री की अनुपस्थिति में विचार आता है : यह सब कैसे हो गया ? वैसे तो हमारे विगत १६ वर्षों से प्रायः अलग चातुर्मास ही होते रहे हैं, फिर भी वांकी - पालीताना चातुर्मास साथ में करना, वाचनाओं का अवतरण करना, उनका प्रकाशित होना... यह सब शीघ्र रूप से कैसे हो गया ? मानो किसी अज्ञात शक्ति ने हमसे यह काम करवा लिया । पूज्यश्री की भाषा में कहें तो प्रभु ने हम से यह काम करवा लिया । पूज्यश्री हर बात में प्रभु को ही आगे रखते थे ।

(पूज्यश्री की वाणी का अवतरण जो हम कुछ परिष्कार एवं कुछ भाषाकीय परिवर्तन कर के करते हैं, उसमें कहीं पूज्यश्री के आशय से विरुद्ध तो नहीं होता होगा न ? ऐसी हमें बार-बार शंका होती थी । एक वक्त (लाकडीआ-सिद्धाचल के छ'री पालक संघ में उपरियाला के आसपास किसी गांव में, वि.सं. २०५६) वाचना के बाद मैंने पूज्यश्री को मेरी नोट दे दी और कहा : अगर कहीं गलती हो तो आप सुधारें । पूज्यश्री ने दो दिन नोट देखी और कहा : तुम मेरे मन की बात ही विशेष पुष्ट बनाते हो । अब तुम्हें नोट दिखाने की कोई जरूरत नहीं । अवतरण में कोई गलती नहीं है ।

पूज्यश्री के अभिप्राय से हम प्रसन्न हुए ।

एक दूसरा प्रसंग भी याद आता है : वि.सं. २०५२ में हमारा हुबली चातुर्मास था तब पूज्यश्री का कोडम्बतुरं में चातुर्मास था । वहां से पूज्यश्री का पत्र आया :

‘मंत्र-मूर्ति समादाय, देवदेवः स्वयं जिनः ।

सर्वज्ञः सर्वगः शान्तः सोऽयं साक्षाद् व्यवस्थितः ॥’

इस श्लोक का गुजराती में पद्यानुवाद चाहिए । हमने शीघ्र पद्यानुवाद हरिगीत छंद में बनाकर भेजा :

‘प्रभु-मूर्तिमां छे शुं पડ्युं ? छे मात्र अे तो पत्थरो,
प्रभु-नाममां छे शुं पડ्युं ? छे मात्र अे तो अक्षरो’;
अेवुं कछो ना सज्जनो ! साक्षात् आ भगवान छे,
निज मंत्र-मूर्तिनुं रुप लई पोते ज अहीं आसीन छे.’

इस पद्यानुवाद को देखकर पूज्यश्री बहुत प्रसन्न हुए और प्रत्युत्तर आया :
मेरे मन की बात ही तुमने स्पष्ट रूप से रखी है ।

पूज्यश्री की प्रसन्नता से हम भी प्रसन्न हुए ।)

उस वक्त तो कोई कल्पना तक नहीं थी : पूज्यश्री की ये सब अंतिम देशनाएं हैं । कल्पना कर भी कैसे सकते थे ? क्यों कि पूज्यश्री की इतनी स्फूर्ति थी, मुंह पर इतना तेज था कि मृत्यु तो क्या बूढ़ापा भी उन्हें छूने से डरता हो, ऐसा हमें प्रतीत होता था । सामान्य आदमी की उम्र बढ़ती है त्यों त्यों चेहरा कान्ति-हीन होता है, झुर्रियां बढ़ने लगती हैं, लेकिन हम पूज्यश्री के चेहरे पर बढ़ती हुई चमक को देख रहे थे । इतनी चमक, इतनी स्फूर्ति होने पर हम कैसे मान लें कि पूज्यश्री अब थोड़े समय के ही मेहमान हैं ?

पालीताना चातुर्मास के बाद मार्ग. सु. ५ (वि.सं. २०५७) को तीन पदवियां एवं १४ दीक्षाएं हुई । ठीक उसके दूसरे दिन पूज्यश्री का विहार हुआ । तब हमें कहां पता था कि पूज्यश्री का यह हमारा अंतिम दर्शन है ?

पूज्यश्री ने अंतिम चातुर्मास अपनी जन्मभूमि फलोदी में किया । विगत दो वर्षों में पूज्यश्री ने ऐसे ऐसे कार्य किये, मानो उन्होंने ने मृत्यु की पूर्व तैयारी ही कर ली हों ।

कच्छ में वांकी तीर्थ में चातुर्मास करना, आचार्य - पंन्यास - गणि आदि पद-प्रदान करना, पालीताना में चातुर्मास करना, चातुर्मास में करीब करीब पूरे साधु-साध्वी समुदाय को साथ में रखना, सभी साधु-साध्वीओं को योगोद्वहन कराना... ये सब ऐसे कार्य थे जिन्हें हम मृत्यु की पूर्व तैयारी मान सकते हैं ।

❖ पूज्यश्री की महासमाधिपूर्ण मृत्यु :

पूज्यश्री को मृत्यु से ७-८ दिन पूर्व शर्दी-जुखाम हो गया था,

जो आमतौर से उन्हें होता रहता था । उस वक्त कड़ाके की शर्दी थी । एक बार तो ठंडी शून्य डीग्री तक पहुंच गई थी । तब किसी को यह कल्पना तक नहीं थी कि यह जुखाम पूज्यश्री के लिए जानलेवा बनेगा । सामान्य आयुर्वेदिक उपचार होते रहे । माघ. शु. १ को पूज्यश्री ने राजस्थान के केशवणा गांव (जालोर से १० कि.मी. दूर) में प्रवेश किया । मांगलिक व्याख्यान भी फरमाया । यह पूज्यश्री का अंतिम व्याख्यान था ।

(पूज्यश्री की अंतिम वाचना रमणीया गांव में पो.व. ६ (महा व. ६) को हुई थी । रमणीया गांव के लालचंदजी मुणोत (अभी मद्रास) ने पूरे गांव में घोषणा कराई थी : आज प्रभु की देशना है । सभी जरूर-जरूर आना ।

उस दिन पूज्यश्री ने वाचना में कहा : ललित विस्तरा ग्रन्थ का अध्ययन - मनन जरूर करना । अगर संस्कृत में आप नहीं समझ सकते हैं तो मेरे गुजराती पुस्तक (५६६ क्लापूझसूरि - भाग ३-४) को तो जरूर जरूर पढ़ना ।)

उसके बाद फिर एक घंटे तक मंदिर में प्रभु-भक्ति की । फिर उपाश्रय में उपर ही ठहरे ।

पूज्यश्री को सांस की तकलीफ चालु थी । पिछले दो-तीन दिन से तो नींद भी नहीं आई । फिर भी प्रसन्नता, स्वस्थता स्वस्थ शरीर जैसी ही थी । सदा पास में सोनेवाले पू.पं. कल्पतरुविजयजी भी पूज्यश्री की चिन्ता से नींद नहीं ले सकते थे । फिर भी डॉक्टरों को इसमें कोई गंभीर बिमारी के चिह्न दिखाई नहीं दिये । जालोर के प्रसिद्ध डॉक्टर अनिल व्यास तथा अजमेर के पूज्यश्री के अंगत डॉक्टर जयचंदजी वैद आदि सभी ने यही कहा : कोई गंभीर बात नहीं है । डॉक्टरों ने कार्डियोग्राम निकाला था, B.P. आदि चेक किया था, सब ठीक था । फिर भला डॉक्टरों को कैसे पता चले ? पूज्यश्री भी सब के साथ यथावत् दैनिक व्यवहार करते थे, बातचीत करते थे । इसमें मृत्यु का विचार ही किसीको नहीं आया । हां, पूज्यश्री तो मृत्यु के संकेत देते ही रहे थे, जो कि बाद में समझ में आये ।

माघ शु. १ को एक आदमी (बादरभाई, जो विगत बारह वर्षों से हर सु. १ को पूज्यश्री का वासक्षेप लेने के लिए आता था) को वासक्षेप डालने के बाद कहा : 'अब तू वासक्षेप लेने के लिए इतने दूर मेरे पास मत आना,

तसवीर से ही काम चला लेना ।' (वैसे तो पूज्यश्री गुजरात में नजदीक ही आ रहे थे, फिर भी ऐसा कहना क्या सूचित करता है ?)

वह आदमी उस वक्त ठीक से समझ नहीं पाया । उसने सोचा : शायद अभी मेरी आर्थिक स्थिति ठीक नहीं है, टिकिट भाड़े का खर्चा न हो इसलिए पूज्यश्री मुझे मना कर रहे हैं ।

माघ शु. ३ को मांडवला से सिद्धाचलजी के संघ के संघपति परिवार (मोहनलालजी, चंपालालजी आदि मुथा परिवार) को कहा : 'बहुत उल्लास से संघ निकालें । मैं तुम्हारे साथ ही हूँ ।'

उस दिन तो संघपति परिवार को यह बात समझ में नहीं आई । घर में कुछ चर्चा भी हुई : बापजी ने ऐसा क्यों कहा ? संघ में पूज्यश्री की ही तो निश्चा है तो 'मैं-तुम्हारे साथ हूँ' ऐसा कहने की जरूरत ही क्या है ? लेकिन बापजी ने उत्साह में आ कर कहा होगा, ऐसा मान कर समाधान कर लिया ।

कोटकाष्टा अंजनशलाका का मुहूर्त माघ शु. १० संघ प्रयाण के बाद आता था । अतः चंपालालजी वहां जाने से हिचकाते थे । पूज्यश्री ने चंपालालजी को खास समझा कर कोटकाष्टा के लिए तैयार किये और कहा : जयपुर अंजनशलाका (वि.सं. २०४२) के प्रसंग को याद करना । उस वक्त चंपालालजी के भाई मदनलालजी की पत्नी का स्वर्गवास हुआ था । अतः गमनोत्सुक चंपालालजी को पूज्यश्री ने समझा कर रोके थे, और अंजनशलाका में विघ्न नहीं आने दिया था । यहां पर भी ऐसा ही हुआ । संघ के छ दिन पूर्व ही पूज्यश्री का स्वर्गगमन हुआ ।

आखिर पूज्यश्री के कहे हुए अंतिम शब्दों को ही शुकन मान कर संघपति परिवार ने माघ शु. १० को मांडवला से पू.आ. श्रीमद् विजय कलाप्रभसूरिजी म.सा.की निश्चा में संघ निकाला । उस संघ में सब को पूज्यश्री की कृपा का प्रत्यक्ष प्रभाव देखने मिला ।

गुजरात में सर्वत्र तूफान था, कोमी दंगे थे, लेकिन संघ में कोई विघ्न नहीं आया । नहीं तो विघ्न के लिए किसी शरास्ती की ओर से थोड़ी सी आगजनी काफी थी ।

अंतिम दो रात में पूज्य पं.श्री कल्पतरुविजय करीब-करीब पास में जागते रहे थे । माघ शु. ३ की अंतिम रात थी, पूज्यश्री की सांस दो दिन से जैसे चलती थी, वैसे ही चल रही थी । बार-बार पूज्यश्री

को पूछने में आता था : कोई तकलीफ है ? पूज्यश्री सस्मित हाथ हिलाकर कहते थे : नहीं ।

पूरी रात आंखें खुली थी । पू. पं. कल्पतरु वि.ने पूछा : 'क्या करते हैं आप ?'

पूज्यश्री ने कहा : मैं श्वासोच्छ्वास के साथ ध्यान करता हूं । थोड़ी देर रह कर फिर उन्हें कहा : योगशास्त्र का १२वां प्रकाश सुनाओ ।

पू.पं. कल्पतरु वि. ने योगशास्त्र का १२वां प्रकाश सुनाना शुरू किया और जब यह श्लोक आया -

जातेऽध्यासे स्थिरता... १२/४६

पूज्यश्री तब रुके और इसके चिन्तन में डूब गये । मानो पूज्यश्री के लिए श्लोक के ये शब्द समाधि के बटन थे, जिन्हें सुनते वे समाधिग्न हो जाते थे ।

पू.पं. कीर्तिचन्द्रविजयजी से भी पू. देवचन्द्रजी कृत चोवीशी का शीतलनाथ प्रभु का स्तवन सुना । उसमें जब यह गाथा आई :

सकल प्रत्यक्षपणे त्रिभुवन गुरु ! जाणुं तुम गुण-ग्राम जी;

बीजुं काई न मांगुं स्वामी ! एहिज छे मुज काम जी ।

पूज्यश्री इस गाथा पर भी चिन्तन करते-करते प्रभु-ध्यान में डूब गये ।

पूज्यश्री हर श्वास के साथ 'नमो सिद्धाणं' पद का जाप दो रात से कर ही रहे थे ।

ऐसी परिस्थिति में भी सुबह-दोपहर १-१ घंटे तक प्रभु-भक्ति में वैसे ही मग्न बनते थे, जैसे प्रतिदिन बनते थे ।

४.३० बजे सुबह पूज्यश्री प्रतिक्रमण करने के लिए बैठे हुए । इरियावहियं, कुसुमिण कायोत्सर्ग के बाद मातु के लिए प्रयत्न किया, लेकिन नहीं हुआ । फिर जगचिंतामणि बोलने में देर लगने से पू.पं. कल्पतरुविजयजी ने बोल कर सुनाया । फिर मातु की शंका होने पर फिर गये, लेकिन मातु नहीं हुआ । उसके बाद इरियावहियं के काउस्सग में चंदेसु निम्मलयरा तक पहुंचे और बार-बार इसी पद का मंद-मंद उच्चारण करते रहे । मुनिओं ने देखा : पूज्यश्री के हाथों में कुछ कंपन हो रहा है, दृष्टि निश्चल हो गई है । पू.पं. कल्पतरु वि.ने पू. कलाप्रभसूरिजी, पू.पं. कीर्तिचन्द्र वि. आदि को बुलाये । उन्होंने परिस्थिति की गंभीरता देख कर आगे

की किया शीघ्रता से करवा कर पूज्यश्री को केशवणा मंदिर में दर्शनार्थ ले गये । पूज्यश्री चारों ओर देख रहे थे और इशारे से मानो पूछ रहे थे : इतना जल्दी क्यों ?

चालु चैत्यवंदन में पूज्यश्री ने इशारे से मात्रु की शंका है, ऐसा कहा, 'मात्रु' शब्द भी बोले । जल्दी चैत्यवंदन कर के पूज्यश्री को उपाश्रय में लाये गये । पूज्यश्री का यह अंतिम चैत्यवंदन था । उपाश्रय में पूज्यश्री चेर पर से स्वयं खड़े हो गये और पाट पर मात्रु किया । उसके बाद ओटमलजी कपूरचंदजी ने कामली बहेराई एवं वासक्षेप लिया । मृत्यु से एक घंटे पूर्व की यह घटना है । यह अंतिम कामली व अंतिम वासक्षेप था । फिर पाट पर बैठ कर पूज्यश्री कायोत्सर्ग ध्यान में बैठ गये । (मृत्यु से आधे घंटे पूर्व की यह बात है ।) याद रहे - इस वक्त दिवार आदि का टेका नहीं लिया था । पूज्यश्री तो अपनी अंतिम अवस्था की तैयारी कर रहे थे, लेकिन पासवाले मुनि तो उपचार की फीकर में थे । एक मुनि (पू. कुमुदचन्द्रविजयजी) ने पूज्यश्री को उठाने की कोशीश की, लेकिन पूज्यश्री मेरुपर्वत के शिखर की तरह ध्यान में इतने निश्चल बैठ गये थे कि तनिक भी खिसके नहीं । केवली के शैलेशीकरण की थोड़ी झलक की यहां याद आ जाती है । वैसे भी पूज्यश्री ने दो दिन से शरीर से संपूर्ण रूप से ममता हटा दी थी । दो दिन में इन्जेक्शन आदि कितना भी लगाया गया, (माघ शु. ३ की शाम को एक बड़ा इन्जेक्शन लगाया गया था, जिसमें २० मिनट लगी थी) लेकिन पूज्यश्री ने मुंह से उंह तक तो नहीं किया, लेकिन चेहरे पर भी दूसरा कोई भाव भी आने नहीं दिया । मानो देह से वे पर हो गये थे, शरीर रूप वस्त्र उतारने की पूरी तैयारी कर ली थी ।

वैसे तो पूज्यश्री का वजन सिर्फ ४० कि.ग्रा. ही था, फिर भी पूज्यश्री तनिक भी नहीं खिसके, इससे सब को बड़ा ही आश्चर्य हुआ । दूसरे मुनि श्री (अमितयश वि.) जब पूज्यश्री को खिसकाने के लिए आये तब जा कर कहीं पूज्यश्री खिसके । लेकिन पूज्यश्री तो अपनी समाधि में लीन थे । उन्हें इस शरीर के साथ अब कहां लेना-देना था ? पादपोषगमन अनशन के बारे में कहा जाता है, उस अनशन में रहे हुए साधक को कोई कहीं ले जाय, काट दे, जला दे या कुछ भी कर ले तो भी वे अपनी आत्मा में लीन होते हैं, पादप (वृक्ष) की तरह वे अडोल होते हैं । पूज्यश्री में भी ऐसी कुछ झलक दिख रही थी ।

यह सब बेहोश अवस्था में हो रहा था, ऐसा नहीं है। अंत समय तक पूज्यश्री पूर्णरूप से सजग थे। इस का चिह्न यह था कि पासवाले मुनि जब भी पूज्यश्री के हाथ हटते या इधर-उधर करते तब पूज्यश्री पुनः कायोत्सर्ग मुद्रा में हाथ को रख देते थे।

पूज्यश्री की इस अवस्था को देखकर पासवाले मुनि ने नवकार, उवसगहरं, संतिकरं एवं अजितशान्ति की १० गाथाएं सुनाई। धीरे धीरे सांस की गति मंद हो रही थी। हाथ में नाड़ी की धडकन उपर-उपर जा रही थी। मुनि सावध हो गये। उन्होंने फिर नवकार मंत्र सुनाना शुरू कर दिया। ५०-६० नवकार सुनाये और पूज्यश्री ने अंतिम सांस ली। उस वक्त सुबह ७.२० का समय हो चुका था। पूर्व क्षितिज में से माघ शु. ४, शनिवार १६-२-२००२ का सूर्योदय हो रहा था और इधर अध्यात्म का महासूर्य मृत्यु के अस्ताचल में डूब रहा था। उत्तर भाद्रपद नक्षत्र का तब चतुर्थ चरण था। पूर्व क्षितिज में कुंभ लग्न उदित था। तब ग्रहस्थिति इस प्रकार थी :

ल	सू	चं	मं	बु	गु	शु	श	रा	के
११	११	१२	१२	१०	३	११	२	३	९

उस वक्त केशवणा में फलोदी चातुर्मास वाले सभी मुनि (पू.आ.श्री वि. कलाप्रभसूरिजी, पू.पं. कल्पतरु वि., पू.पं. कीर्तिचन्द्रवि., पू. कुमुदचन्द्र वि., पू. तत्त्ववर्धन वि., पू. कीर्तिदर्शन वि., पू. केवलदर्शन वि., पू. कल्पजित् वि.) तथा सांचोर चातुर्मास बिराजमान पू. अमितयश वि. एवं आगमयश वि. मौन एकादशी के दिन पूज्यश्री की सेवा में उपस्थित हो गये थे। रानी चातुर्मास बिराजमान पू. कीर्तिरत्न वि. एवं हेमचन्द्र वि. १८ दिन पूर्व आ चुके थे। सभी ने पूज्यश्री की सेवा का अनुपम लाभ लिया था।

पूज्यश्री के अन्य शिष्य सभी उस वक्त गुजरात में थे। गणि श्री पूर्णचन्द्र वि., मुनिश्री अनन्तयश वि. आदि पांच उंझा में, गणि श्री तीर्थभद्र वि. आदि ३ राजपीपला में, गणि श्री विमलप्रभ वि. आदि २ नवसारी के पास, आनंदवर्धन वि. आदि २ आराधना-धाम (जामनगर में) थे। हम माय से आधोड़ के विहार में थे।

पूज्यश्री के देह को अनेक संघों एवं अनेक पू. आचार्य भगवंतों

की सूचना से शंखेश्वर में लाया गया एवं अग्नि-संस्कार किया गया । उस वक्त गणि पूर्णचन्द्र वि., मुनिश्री अनंतयश वि. आदि पांच उंझा से शंखेश्वर आ चुके थे । पूज्यश्री का अग्नि-संस्कार हजारों लोगों की अश्रू-पूर्ण आंखों के साथ माघ. शु. ६ के दिन किया गया ।

डेढ करोड़ की बोली उत्साह पूर्वक बोल कर हितेश उगरचंद गढेचा (कच्छ-फतेगढवाले, अभी अमदावाद) ने अग्नि-दाह दिया था । हितेश की उदारता से सभी लोग तब अभिभूत हो गये जब उसने केशवणा संघ के लोगों को, धीरुभाई शाह (विधानसभा अध्यक्ष, गुजरात) कुमारपाल वी. शाह, अपने सामने १ करोड़ ४१ लाख तक बोली बोलनेवाले खेतशी मेघजी तथा धीरुभाई कुबड़ीआ आदि सभी को भी अग्नि-दाह के लिए बुलाए ।

कुल मिलाकर ३ करोड़ की आय हुई थी ।

अग्नि-दाह के समय हम लाकडीआ (कच्छ) में थे । अग्नि-संस्कार की क्रिया खतम होने के बाद लाकडीआ निवासी चीमन कच्छी (पालीताना) हमारे पास आया और उसने समाचार दिये : केशवणा से शंखेश्वर तक जिस ट्रक में पूज्यश्री का देह रखा गया था, उस ट्रक में पूज्यश्री के पास ही मैं बैठा था । यह जिम्मेवारी मुझ पर डाली गई थी । मैंने रास्तों के गांवों में देखा : भिन्नमाल, जालोर, थराद, राधनपुर आदि गांवों में रात के १२ - १ - २ बजे के समय भी पूज्यश्री के देह के दर्शन करने के लिए हजारों की भीड़ लाइन लगाये हुए खड़ी थी । मैंने मेरे जीवन में ऐसा दृश्य कभी नहीं देखा । पूज्यश्री के प्रति लोगों के हृदय में आदर, कल्पना से भी ज्यादा देखने मिला ।

दो दिन बीत जाने पर भी पूज्यश्री का देह चाहे जैसे मुड़ सकता था । अंगुलियां मुड़ सकती थी । एक बार तो मैंने पूज्यश्री के हाथों से वासक्षेप भी लिया । आम आदमी का देह मृत्यु के बाद थोड़े ही समय में अकड़ हो जाता है, जब कि यहां पूज्यश्री का देह वैसा का वैसा ही था । यह बड़ा ही आश्चर्य था ।

अग्निदाह देने के बाद तो मेरा आश्चर्य ओर भी बढ़ गया । अग्निदाह के दो घंटे के बाद भी पूज्यश्री का देह वैसा का वैसा ही था । चमकती हुई दो आंखों के साथ समाधिमग्न पूज्यश्री का देह बराबर अरिहंत की

मूर्ति के आकार में ही दिख रहा था । मैंने अनेकों को अग्निदाह दिया है और देखा है कि घंटे-दो घंटे में हाथ-पांव आदि की हड्डियां अपने-आप अलग-थलग हो जाती हैं, लेकिन पूज्यश्री के शरीर में ऐसा नहीं हुआ । खोपरी तोड़ने के लिए कइ लोगों ने बड़े बड़े लकड़ें भी जोर से मारे, फिर भी आकृति में कोई फरक नहीं पड़ा । धीरे-धीरे देह छोटा होता गया, लेकिन आकृति तो अंत तक अरिहंत की ही रही । मैं सुबह ४-३० बजे तक वहीं जागता रहा और देखता रहा । मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा । मेरी तरह दूसरे भी हजारों लोगों ने यह दृश्य देखा । सभी आश्चर्य चकित हो गये । महाराजश्री ! ऐसा क्यों हुआ ?

हमने कहा : 'चीमन ! इसमें आश्चर्य या चमत्कार की कोई बात नहीं है । यह स्वाभाविक ही है । क्यों कि पूज्यश्री ने बचपन से लेकर मृत्यु पर्यंत अरिहंत प्रभु का ही ध्यान किया है । पूज्यश्री के व्याख्यान में, वाचना में, हितशिक्षा में, पत्र में, लिखने में, मन में, हृदय में, शरीर के रोम-रोम में भगवान ही भगवान थे । उनकी सभी बातें, सभी चिन्तन भगवान के आसपास ही घुमते थे । पूज्यश्री की चेतना भगवन्मयी बन गई थी । एक वैज्ञानिक तथ्य है कि मन जिसका ध्यान धरता है, शरीर उसका स्वीकार कर लेता है । नींबू बोलते ही मुंह में कैसे पानी आने लग जाता है ? मन का शरीर के साथ गहरा संबंध है ।

ऐसा उल्लेख पाया जाता है कि एक कवि को पंपा सरोवर के चिन्तन से जलोदर रोग हो गया तब सुबुद्धि नाम के कुशल वैद्य ने मरुधर का चिन्तन छ महिने तक करने के लिए कहा था । और सचमुच मरुधर के चिन्तन से उसका जलोदर मिट गया था । यह है मन के साथ शरीर का संबंध ।

श्रेणिक राजा की चिता जब जलाई गई तब कहा जाता है कि उनकी हड्डियों में से वीर.. वीर.. की ध्वनियां प्रगट हुई थी । वह तो २५०० वर्ष पुरानी घटना है, लेकिन पूज्यश्री का देह अरिहंत के आकार में अंत तक रहा, यह तो आज की घटना है ।

अरिहंत के ध्यान में ही लीन पूज्यश्री की अर्हन्मयी चेतना देवलोक में जहां पर भी होगी वहां अरिहंत-भक्ति में ही लीन होगी, इतना तो सुनिश्चित ही है ।

हमारे जवाब से चीमन को संतोष हुआ ।

पूज्यश्री की अर्हन्मयी चेतना को हृदय के अनंत-अनंत वंदन !
पूज्यश्री देहरूप से आज भले ही विद्यमान नहीं है, लेकिन गुणदेह से, शक्तिदेह से और अक्षरदेह से आज भी विद्यमान है ।

यह पूरा ग्रन्थ पूज्यश्री का अक्षरदेह ही है । अब तो ऐसे ग्रन्थ ही हमारे लिए परम आधारभूत है । क्यों कि दिव्य वाणी को बरसानेवाले पूज्यश्री अब हमारे बीच नहीं है ।

पूज्यश्री बार बार कहते थे : भगवान कहीं गये नहीं हैं, वे मूर्ति में एवं शास्त्रों में छिपे हैं ।

यहां पर भी हम यही कह सकते हैं : पूज्यश्री भी अपनी वाणी में (ऐसे ग्रन्थों में) छिपे हैं ।

सभी जिज्ञासु आराधक पूज्यश्री की वाणी-गंगा में स्नान कर के अपनी आत्मा को पावन बनाएं इसी कामना के साथ -

पुरांबेन जैन धर्मशाला

(पू. कलापूर्णसूरि स्मृति स्थल के पास)

पो. शंखेश्वर, जी. पाटण (उ.गु.),

पीन : ३८४ २४६.

- पं. मुक्तिचन्द्रविजय

- गणि मुनिचन्द्रविजय

चैत्र वद २, वि.सं. २०५८

शनिवार, दिनांक ३०-३-२००२



कहा कलापूर्णसूरि ने

(पूज्यश्री का गृहस्थ-जीवन, पूज्यश्री के ही मुंह से)

अवतरण : पं. मुक्तिचन्द्रविजय

गणि मुनिचन्द्रविजय

वि.सं. २०४१, नागोर (राज.) में वै.सु. २ के दिन पर हम सब ने मिल कर पूज्यश्री को कहा : हितशिक्षा हमने बहुत बार सुनी । आज आपके ६२ वे जन्म-दिन पर हमें आपके अज्ञात गृहस्थ-जीवन के बारे में जानना है । आप कृपा करो ।

प्रथम बार तो पूज्यश्री ने मना कर दी : अपने बारे में कुछ भी कहना अच्छा नहीं ।

लेकिन हम सब के बहुत आग्रह से दाक्षिण्य गुण के स्वामी पूज्यश्री ने अपने गृहस्थ जीवन के बारे में कहा और हमने एक नोट में उसका अवतरण भी किया ।

उस नोट के आधार पर वि.सं. २०४४ में समाज-ध्वनि विशेषांक में हमने पूज्यश्री का जीवन-चरित्र भी लिखा, जो कहे कलापूर्णसूरि-४ पुस्तक (गुजराती) के अंत में पुनः प्रकाशित भी हो चुका है ।

इस वर्ष (वि.सं. २०५८) पूज्यश्री का स्वर्गगमन होने के बाद हमको वह नोट याद आई, लेकिन भूकंप में अनेक गांवों के साथ हमारा मनफरा गांव भी संपूर्ण ध्वस्त हुआ था, हमारी वह नोट भी उधर कहीं गुम होने की शंका की वजह से मिलने के संभावना नहीं थी । परंतु अभी (वै.व. १४, २०५८) गागोदर में उस आत्मकथा का अवतरण छबील ने अपनी नोट में किया था । (वि.सं. २०४२ में हमारा चातुर्मास गागोदर था तब) वह अवतरण मिलने पर हम आनंद से झुम उठे । स्व. पूज्य आचार्यश्री की भाषा में कहें तो प्रभु ने हमारा मनोरथ पूर्ण कर दिया ।

उस गुजराती अवतरण का हिन्दी अनुवाद यहां पर प्रस्तुत है । याद रहे कि अपने जीवन के बारे में पूर्ण रूप से पूज्यश्री ने एक वक्त ही कहा है ।

आशा है : इससे पाठक गण को प्रेरणा मिलेगी कि श्रावक का जीवन कैसा होना चाहिए ?

- संपादक

फलोदी में वि.सं. १९८० वै.सु. २ की शाम को ५.१५ बजे मेरा जन्म हुआ ।

तीन वर्ष का था तब किसीके साथ जाने पर मैं गुम हो गया । बहुत खोजबीन करने पर मैं घर के पिछले भाग में से मिला ।

मेरे पिताजी आदि तीन भाई थे : पाबुदानजी, अमरचंदजी और लालचंदजी । पाबुदानजी मेरे पिताजी । वे स्वभाव के भद्रिक व सरल प्रकृतिवाले थे । अमरचंदजी बहुत कड़क थे । लालचंदजी पक्के जुआरी थे । इतने जुआरी कि घर के दरवाजे भी कभी बेच दे । मैं छोटा था तब एक वक्त आंगन में खटिये पर सोया हुआ था, उस वक्त लालचंदजी मेरे दाहिने कान की बुट्टी खींच कर ले गये । कान तोड़ कर बुट्टी ले गये उसका चिह्न आज भी दाहिने कान पर विद्यमान है, जो आप देख सकते हैं । (पूज्यश्री की तस्वीरों में वह चिह्न आप भी देख सकते हैं ।)

बड़े परिवार के कुटुंब में भिन्न-भिन्न प्रकृतिवाले लोग होते हैं ।

अमरचंदजी व्यवसायार्थ मद्रास गये थे, जब कि मेरे पिताजी पाबुदानजी हैद्राबाद गये थे ।

मेरे दादीजी का नाम शेरबाई था । नाम वैसे ही गुण । शेर जैसी ही उनकी गर्जना ! चोर भी उनसे कांपते । पास में कोई बीमार हो तो इलाज करने के लिए सदा सज्ज ! घरेलु औषधिओं की जानकारी भी अच्छी ।

मेरी मां खमाबेन, गोलेछा परिवार के बागमलजी की पुत्री थीं । मेरी मां प्रकृति से बहुत ही भद्रिक व अत्यंत ही सरल थीं । मुक्तिचन्द्रविजय के मातुश्री भमीबेन जैसी ही थीं । आकृति और प्रकृति से बराबर मिलती-जुलती । जब भी मैं भमीबेन को देखूं तब अवश्य मुझे मेरी मां याद आती है । और मेरे मामा माणेकलालजी आगर (नागेश्वर तीर्थ के पास का गांव)

के माणेकलाल जैसे ही, आकृति-प्रकृति से मिलते-जुलते ।

दादीमा शेरबाई व माता खमाबेन से मुझे धर्म-संस्कार मिलते रहते थे ।

मेरा शरीर कोमल होने की वजह से, छोटा था तब गांव में लोग मुझे 'माखणियो' कहते थे ।

- आठ वर्ष की उम्र में घरों के निर्माण में चूने की भट्टी में होता आरंभ-समारंभ देखकर मैं उद्विग्न हो उठता था । उस वक्त मुझ में वैराग्य के सामान्य बीज पड़े ।

मामा माणेकलाल का मुझ पर बहुत ही प्रेम । आठ वर्ष का मैं था तब वे मुझे हैद्राबाद ले गये थे । एक वर्ष के बाद वहां प्लेग का रोग फैलने पर सैंकड़ों आदमी फटाफट मरने लगे । यह जानकर मेरे माता-पिता ने मुझे तुरंत फलोदी बुला लिया ।

फलोदी में कुन्दनमल शिक्षक से मुझे अंक-ज्ञान मिला । हिसाब-किताब आदि पारसमलजी ने मुझे सीखाया । उस वक्त दूसरी कक्षा से इंग्लीश चलती थी । पांचवी कक्षा तक पढा हूं । हर वक्त पढने में प्रथम नंबर रहता था । मेरा अभ्यास देखकर शिक्षक प्रसन्न होते थे । मुझे तीसरी में से सीधा पांचवी कक्षा में रख दिया । चौथी कक्षा के अभ्यास की मुझे जरूरत नहीं पड़ी ।

मेरे जन्म से पहले चार भाई तथा दो बहनें मृत्यु को प्राप्त हो चुके थे । सब से छोटा होने से मामा को मैं प्रिय था । चंपाबेन और छोटी बेन दोनों मुझसे बड़ी हैं । अभी (वि.सं. २०४१) चंपाबेन जीवित हैं ।

नेमिचंद बछावत की मां मोड़ीबाई रास-चरित्रादि पढते, सब को इक्कट्टा कर के सुनाते । मैं भी गली के किनारे जाता और सुनता, वैराग्य जैसा कुछ होता । मुझे भी महापुरुष जैसे बनने का मन होता था । अइमुत्ता, शालिभद्र इत्यादि जैसा पवित्र जीवन जीने का मन होता था । झगड़ा करना कभी सीखा नहीं हूं । शिक्षक ने मुझे मारा हो, ऐसा कभी याद नहीं आता ।

छोटा था तब से ही आवश्यकतानुसार ही बोलता ।

मामा का मुझ पर पूरा प्रेम था । उन्हें ऐसी लगन थी कि मुझे इस अक्षयराज को अच्छी तरह से तैयार करना है । १३ वर्ष की उम्र में वे मुझे पुनः हैद्राबाद ले गये थे । ढाई वर्ष तक वहां

मैं रहा । मामा खरतर गच्छ के थे, फिर भी उदार थे । उदार वृत्ति की वजह से प्रतिक्रमण में सकल तीर्थ मुझ से बुलाते, स्वयं प्रेम से सुनते ।

नाना बागमलजी का मुझ पर बहुत ही प्रेम । उन्हें मैं बहुत ही प्रिय था ।

मेरी प्रथम सगाई १५ वर्ष की उम्र में हुई थी, किन्तु मेरा कद छोटा होने से तथा उन्हें भी दूसरा कोई मिल जाने से वह सगाई तोड़ दी । उसमें भी कुछ अच्छा संकेत ही था । उसके साथ शादी करनेवाले जीवनभर परेशान ही हुए हैं । क्योंकि वह सदैव ही बिमार ही रही ।

हैद्राबाद से वि.सं. १९९६ में मैं फिर फलोदी लौट । मिश्रीमलजी (कमल वि.) के पिता लक्ष्मीलालजी ने मेरी प्रशंसा सुनी थी । मेरे मामा और लालचंदजी द्वारा मिश्रीमलजी की पुत्री रतनबेन के साथ १५-१६ वर्ष की उम्र में मेरी शादी हुई । सं. १९९६ के माघ मास में शादी हुई और वैशाख मास में मेरे मामा स्वर्गवासी हुए । इस प्रकार हैद्राबाद का संबंध पूरा हुआ । अंतिम अवस्था में उन्हें (मामा को) संग के दोष से सट्टे का रंग लगा था । हैद्राबाद के उस एरिया में रहनेवाले कुटुंबों में से एक का भी वंश चला नहीं है । क्या मालुम मुस्लीम बादशाह निझाम के राज्य में पैसे ही कुछ ऐसे आये होंगे !

मेरी बहन चंपा अभी जीवित है ।

हैद्राबाद में पढ़ने का रस था । कोलकत्ता से 'जिनवाणी' सामयिक मैं मंगवाता था । यद्यपि वह सामयिक दिगंबर का था, फिर भी उसमें कहानी पढ़ने का बड़ा मजा आता था । काशीनाथ शास्त्री के कथा-पुस्तक भी बहुत पढ़े हैं । महापुरुषों का चरित्र पढ़ कर मैं सोचता : मैं कब ऐसा जीवन जीऊंगा ?

विजय सेठ विजया सेठानी जैसा पवित्र जीवन क्यों न जीया जाय ?

वि.सं. १९९८ में एक वर्ष तक फलोदी में दलाली का धंधा शुरू किया ।

बचपन से धार्मिक वृत्ति थी । बचपन में प्रभावना की लालच से जिनालय में होती पूजा आदि में जाता था । बड़ा

होने के बाद संगीत व भक्ति-रस की लालच से जाने लगा । गांव में कोई भी जिनालय में पूजा हो, मेरी उपस्थिति अवश्य रहती ।

शादी के समय भी रात्रि-भोजन नहीं किया ।

प्रकृति से मेरा बोलना कम था, लेकिन हिसाब में मैं पक्का था ।

फलोदी में सुबह ८.०० बजे दूध पी कर चिंतामणि मंदिर में चला जाता । दोपहर भोजन के लिए बहुत देरी से घर पहुंचता । कभी-कभी २-३ भी बज जाते । दोपहर सिर्फ एक घंटा चनणमलजी के साथ दलाली कर के संगीत सीखने चला जाता । कभी-कभी जिम कर मंदिर में पूरा दिन कायोत्सर्ग आदि में बीता देता । परिचित पूजारी बाहर से ताला लगा देता । भीतर मैं अकेला परलोक - आत्मा आदि की विचारणा करता... अपनी समझ के मुताबिक चिंतन के चक्कर चालु रहते ।

एक वक्त भोजन के समय मेरी मां ने सहज रूप से बात की : 'इस तरह कब तक खाना है ?'

मुझे भी विचार आया कि व्यवहार के लिए भी मुझे बाहर जाना चाहिए ।

कमाई के लिए कभी खास प्रयत्न नहीं किया है । प्रभु पर पक्का भरोसा । प्रभु के बल से मेरा कार्य बराबर हो जाता ।

मां के कहने से मैं राजनांद गांव गया । वहां भी मैं धर्म भूला नहीं हूं । धार्मिक नियम अच्छी तरह से पालता था । पूजा-सामायिक आदि कैसी भी परिस्थिति में करने ही है, ऐसा मेरा संकल्प था ।

पहले मैं तिथिविहार करता, लेकिन संपतलाल छाजेड़ के कहने से मैं चोविहार करने लगा ।

एक वक्त दुकान में काम ज्यादा होने से रात को दो बज गये । अब क्या किया जाय ? देवसिय प्रतिक्रमण तो हो नहीं सकता । अतः मैं सामायिक करने लगा । सामायिक करते हुए मुझे सेठजी देख गये और उन्हें आश्चर्य हुआ । कहा : 'दुकान का काम तो होता रहेगा । तू तेरा धर्म का कार्य पहले कर लेना ।'

मेड़ता रोड़ तथा करेड़ा जैसी प्रतिमा (कालीया बाबा) राजनांद गांव में थी और पास में वसंतपुर में कपड़े का गोडाउन

था । वहां से माल देने का काम करता था । काम तो एक घंटे जितना ही रहता । बाकी के घंटे गोडाउन में जीव-जगत् आदि तत्त्वों के चिन्तन में गुजारता था । सच कहूं तो ध्यान का रंग तब से लगा है ।

उस वक्त प्रतिमास २५.०० रूपये मिलते थे । फिर दूसरी वक्त राजनांदगांव आया तब संपतलालजी मृत्यु को प्राप्त हुए । जमनालालजी को मेरी धर्मक्रिया अच्छी नहीं लगने से मैंने नोकरी छोड़ कर सोना-चांदी का धंधा शुरू किया, किन्तु उसमें जमा नहीं । फिर कपड़े का धंधा शुरू किया । उसमें पकड़ आ गई । क्योंकि ओरिस्सा के जयपुर में कपड़े का धंधा सीखा हुआ था ।

मंदिर में जाता तब जेब में जितने पैसे होते वे सब भंडार में खाली कर देता । नोकरी के समय तो थोड़े ही पैसे रहते, परंतु धंधा शुरू करने के बाद ज्यादा रहते, लेकिन मंदिर में जाऊं तब सब भंडार में डाले बिना रहता नहीं ।

वहां (राजनांद गांव में) पू. वल्लभसूरिजी के पू. रूपविजयजी का चातुर्मास था । उनके पास पू. रामचन्द्रसूरिजी का 'जैन प्रवचन' साप्ताहिक आता था । उसे पढ़ने से वैराग्य में वृद्धि हुई । वैराग्य इतना मजबूत हो गया था कि उसके बाद किसीके भी मरण से आंसु नहीं आये । हां... पू. कनकसूरिजी के कालधर्म के समय आंसु आये थे ।

उस वक्त अगर दीक्षा ली होती तो पू. रामचन्द्रसूरिजी के पास ली होती ।

वि.सं. २००६ में मां का और २००७ में पिताजी का निधन हुआ । (दोनों के बीच सिर्फ छ. महिने का फासला था ।) फिर पू. रूपविजयजी के पास चतुर्थ व्रत लिया । सब लोग कहने लगे थे कि अक्षयराज दीक्षा लेगा । यद्यपि उस वक्त मेरा दीक्षा का कोई विचार नहीं था । प्रथम पुत्र ज्ञानचंद (पू. कलाप्रभसूरिजी) का जन्म वि.सं. २०००, का.सु. ९ शाम को पांच बजे हुआ । द्वितीय पुत्र आसकरण (पू. पं. कल्पतरुविजयजी) का जन्म वि.सं. २००२, पोष व. ४ (गुजराती मार्ग. व. ४) रात को ११.३० बजे हुआ ।

फिर तो ऐसा वैराग्य आया कि पैसे किसके लिए कमाना ?

इस प्रकार दीक्षा की भावना हुई ।

पत्नी को कहा : मैं का.सु. १५ के बाद दीक्षा लूंगा ।
रजा नहीं दोगे तो चारों आहार का त्याग ।

ससुरजी मिश्रीमलजी ने मेरी बात को मजबूत की । उन्होंने
कहा कि मेरी भी वर्षों से दीक्षा की भावना है ।

पत्नी ने कहा कि हमारा क्या होगा ? हमारा तो कुछ
विचार करो । हमें भी तैयार करो । हम भी दीक्षा लेंगे ।

उस वक्त चातुर्मास-स्थित पू. सुखसागरजी ने सलाह दी :
तुम दीक्षा तो लोगे, लेकिन किसीका परिचय किया है ? अभ्यास
है ? प्रथम अभ्यास करो । किसी साधु का परिचय करो ।
बच्चों को तैयार करो । बाद में दीक्षा लेना ।

मुझे यह सलाह ठीक लगी ।

१२ महिने तक पालीताना रहा । चातुर्मास में अहमदाबाद
पू. बापजी म. तथा पू. कनकसूरिजी के पास रहा । रतनबेन
भावनगर में निर्मलाश्रीजी के पास रहे । उस वक्त मुमुक्षुपन
में प्रभाकरवि. तथा नानालाल भी थे ।

चातुर्मास के बाद भावनगर से समाचार आये कि स्वभाव
सेट नहीं हो रहा है ।

फिर धंधुका में पू. कनकसूरिजी ने सा. सुनंदाश्रीजी का
नाम सूचित किया ।

दीक्षा का मुहूर्त न निकले तब तक छ विगड़ों का
त्याग होने से जयपुर से सासु-ससुरजी आ पहुंचे ।

कई लोग दीक्षा का विरोध भी करते थे । मैं उन्हें कहता
था : आप भला तो जग भला ।

इस प्रकार गृहस्थी जीवन का परिचय पूरा हुआ । दीक्षा
के बाद तो सब जानते हैं ।

- पू. आचार्यश्री विजयकलापूर्णसूरीश्वरजी म.सा.

नागोर (राज.), जैन उपाश्रय

वि. सं. २०४१, वै. सु. २

दोपहर ३.३० से ४.४५ तक

आजीवन अंतेवासी की अन्तर-व्यथा



आजीवन अंतेवासी
पूज्यश्री के साथ

पूज्य पं. श्री कल्पतरुविजयजी पूज्य आचार्यश्री के आजीवन अंतेवासी रहे हैं। स्वयं पूज्यश्री के पुत्र एवं शिष्य होने पर भी ख्याति एवं लोकेषणा से अत्यंत पर रहे हैं। पूज्य आचार्यश्री का नाम चारों ओर विख्यात था, लेकिन

पू. कल्पतरु वि. का नाम शायद ही किसीने सुना हो। पूज्यश्री के हर पुस्तकों में पू.पं. कल्पतरु वि. का हर तरह का योगदान होने पर भी एक भी पुस्तक के संपादक के रूप में भी उन्होंने अपना नाम नहीं रखा।

शिखर के पत्थर को सभी देखते हैं, नींव के पत्थर को कौन देखेगा ? फूल सभी देखते हैं, मूल को कौन देखेगा ? गांधीजी को सभी जानते हैं, लेकिन महादेव देसाई को जाननेवाले कितने ?

विद्वद्भ्य पूज्य पं. श्री कल्पतरु वि. का पत्र पूज्य पं. मुक्तिचन्द्रविजयजी एवं पूज्य गणि श्री मुनिचन्द्रविजयजी पर आया है, जो हृदय की संवेदना प्रगट करता है, पढने पर आपका हृदय भी द्रवित हो उठेगा।

- प्रकाशक

पंन्यासजीश्री,
गणिश्री,

क्या लिखूं ?

आप का पत्र मिला । वेदना-संवेदना ज्ञात हुई ।
हाथ कांप रहे हैं । हृदय गद्गद् है । आंखें भीगी-भीगी
हैं ।

श्वास-श्वास में याद ।

क्षण-क्षण पल-पल याद ।

कोई भी वस्तु हाथ में लूं और याद ।

कोई भी क्रिया करूं और याद ।

मंदिर में जाऊं, 'प्रीतलड़ी' (स्तवन) बोलूं और हृदय
भर जाता है, कंठ अवरुद्ध हो जाता है ।

वात्सल्य भरा हृदय !

करुणा बरसते नयन !

स्मितपूर्ण मुख !

सदैव आंख और अंतर के सामने ही रहते हैं ।
सुबह संधारे में से उठूं, प्रतिक्रमण करूं और याद शुरू ।
संधारे में सोता हूं लेकिन नींद नहीं आती । न भूलाते
हैं, न विस्मृत होते हैं ।

दो दिन सतत और सख्त आवन-जावन और भारी
कार्यवाही की वजह से हृदय पर पत्थर रखकर सभी
कर्तव्य निभाया, किन्तु मन जब कार्यों से निवृत्त होता
है, उसी वक्त रुदन शुरू हो जाता है । मेरे हृदय में
से कुछ चला गया हो ऐसा लगता है, शून्य हो गया
है ।

हृदय और मस्तिष्क में सतत गुरुदेव ही है, फिर
भी पूज्यश्री की दृष्टि-विषयक अनुपस्थिति हृदय-मस्तिष्क
को शून्य बना देती है ।

कौन मुझे 'कल्पतरु' कहेगा ?

कौन मुझे भक्ति का लाभ देगा ?

कौन मुझे आधी रात को खांस कर जगायेगा ?

कौन मुझे आश्वासन देगा ?

रात-दिन जिनके सतत सान्निध्य में मुझे कैसे हूँफ-
आश्वासन और हिंमत मिलते थे, वे सब अब कहां मैं
पाउंगा ?

मेरे दोषों के प्रति, मेरी गलतीओं के प्रति, मेरी
प्रमादपूर्ण प्रवृत्तिओं के प्रति...

मुझे अब कौन अंगुलि-निर्देश करेगा ?

कौन प्रायश्चित्त देगा ?

भक्ति का लाभ जो मिलता था, सतत बरसों तक मैं
पूज्यश्री के चरणों में रहा, उसमें अनेक बार मुझे इन महापुरुष
गुरुदेव के प्रति, करुणामूर्ति के प्रति अवज्ञा, अविनय का
भाव हुआ, अविनीत वर्तन हुआ, पूज्यश्री के हृदय को संतोष
नहीं दे पाया, पूज्यश्री की कृपा का पूरा लाभ नहीं ले
सका, पूज्यश्री की आज्ञा - आदेश - भावना की अवहीलना
की... उन पापों की शुद्धि कहां जा कर करूंगा ?

साक्षात् उपस्थिति में पूज्यश्री का जो लाभ उठाना
था, आंतरिक शुद्धि, गुण-वृद्धि और निर्लेप वृत्ति, वह
मैं न उठा पाया ।

पूज्यश्री कैसे महान योगी पुरुष ?

और मैं कैसा पामर कापुरुष ?

मेरी नादानियत को, प्रमाद को, क्षतियों को भूल
कर मुझे कैसे निभाया है ?

न पूज्यश्री को पुत्र-मोह था...

न शिष्य का मोह था...

केवल वीतराग भाव, निर्लेप भाव और निःस्पृह
भाव में रमण करते उन परम-पुरुष को रागी-द्वेषी मैं
कैसे समझ सकूँ ?

आज तीन बजे पडिलेहन किया और पूज्यश्री के पडिलेहन की याद आई । पडिलेहन पूरा कर के यह पत्र मैं लिखने बैठा हूँ ।

मन शून्य है, मकान भी शून्य है । दो दिन के सभी अंतिम दृश्य आंखों के समक्ष फिल्म की तरह दौड़ रहे हैं । केशवणा से प्रारंभ हुई अंतिम विदाय-यात्रा, कि जो शाम को ६.०० बजे शुरू हुई, बस... अब उस पार्थिव देह के भी दर्शन नहीं होंगे । दो दिन और रात उस पवित्र देह का दर्शन भी मन को कुछ हरा-भरा रखता था : मानो साक्षात् गुरुदेव सामने ही बैठे हैं ।

वही करुणा बरसानेवाली दोनों खुली आंखे ! वही प्रसन्न वदन ! वही स्मितपूर्ण तेजोमय मुख-मुद्रा ! मानो अभी बोलेंगे... अभी कुछ कहेंगे !

वह पार्थिव देह नजर से दूर हुआ और मन हताश हो गया, आंखें रो उठी, हृदय हताशा से हत-प्रहत हो गया । क्या लिखूँ ? कितना लिखूँ ?

मुझे जैसे वेदना है, वैसे आप सब को, सभी गुरु-भक्तों को भी है ।

गये गुरुदेव, सदा के लिए गये ।

पूज्यश्री की यादें हमारे पास है । उसके सहारे जीने का बल प्राप्त करना है ।

पूज्यश्री की ऊंचाई को देख सकें, ऐसी दृष्टि नहीं है । पूज्यश्री के गुणों की अगाधता को नाप सके ऐसी बुद्धि-शक्ति नहीं है । बस... पूज्यश्री की जो प्रेरणा मिली, उसे जीवन में उतारें, निर्मल मन और निर्मल जीवन बनायें - यही करना है, जो गुरुदेव ने कहा है ।

बस... रुकता हूँ ।

- पं. कल्पतरुविजय

मांडवला (राज.)

माघ शु. ६,

वि.सं. २०५८, १८-२-२००२

सहायकों को धन्यवाद...

प्रसंग : पू.आ.श्री वि. कलाप्रभसूरीश्वरजी म.सा. आदि की निश्रा में रुघनाथमलजी सोनवाड़िया परिवार, माण्डवला (राज.) आयोजित मांडवला से सिद्धाचल छ'री' पालक संघ, ता. २२-०२-२००२ से ११-०४-२००२

- प्रेरणा : पू.आ.श्री विजयकलाप्रभसूरिजी म.
पू.पं.श्री कीर्तिचन्द्रविजयजी म.

- ❧ संघवी मुथा मोहनलाल, चंपालाल, दीपचंद, वल्लभचंद, खिमचंद, हंसराज, मदनलाल, रमेशकुमार, सुरेशकुमार एवं समस्त मुथा परिवार : (M. M. Exporters, Chennai) : मांडवला (राज.) : २५१
- ❧ स्व. मातुश्री मेथीदेवी पन्नराजजी मुथा की पुण्य स्मृति में मुथा नैनमल, मदनलाल, गौतमकुमार, विनोदकुमार, प्रशान्त, ललित, हरीश सोनवाडीआ परिवार : मांडवला (राज.) : १०१
- ❧ श्रीमती घेरंदेवी C/o. जेठमलजी कुंदनमलजी : मेंगलवा (राज.) : १००
- ❧ शा आइदानमलजी भीमाजी गुडा-बालोत्तान (राज.) : कल्याण (महाराष्ट्र) : ५०
- ❧ पी. पी. इन्टरप्राइजेज : चैन्नई : ५०
- ❧ घोडा मांगीलाल, साकलचंद, मनोहरमल, लक्ष्मीचंद, भंवरलाल, तेजराज, कैलासकुमार, चम्पालाल, दिनेश, राजेश, कमलेश, बेटा-पोता मिश्रीमलजी घोडा : मांडवला तेनाली (A.P.) : ५०
- ❧ शा. आइदानमलजी जमनालालजी : राजनांद गांव (छत्तीसगढ़) : ५०
- ❧ शा. पारसमल, राजेन्द्रकुमार, अंकितकुमार, बेटा-पोता भानमलजी छाजेड : मांडवला (मुंबई) : ५०
- ❧ बंदामुथा विमलकुमार भंवरलालजी : आहोर (राज.) : ५०
- ❧ साकलचंदजी चुन्नीलालजी छाजेड : केशवणा (राज.) : ५०
- ❧ स्व. मातुश्री जम्मूदेवी जुगराजजी मुथा की पुण्य स्मृति में मुथा हमेरमल, महेन्द्रकुमार, ललितकुमार, मयूर, दीक्षित, जैना सोनवाड़िया परिवार : मांडवला (राज.) : ५०
- ❧ श्रीमती पुष्पाबहन सरदारमल दुग्गड : मुंबई : ५०

मनोहरमलजी जैरूपजी भंडारी : मांडवला (राज.)	: ५०
शा. खीमचंद, तेजरज, सुरेशकुमार, बेटा-पोता मिश्रीमलजी छाजेड़ (Firm : New Trade Links, Chennai) : मांडवला (राज.)	: ५०
श्रीमती सुशीलाबहन कांतिलालजी जैन : मुंबई	: ५०
अमीचंदजी, प्रवीणचंद, हीराचंद, जिनेशकुमार, बागरेचा परिवार (Firm : M/s. M. Amichand) : Bellary (Karnataka)	: ५०
क्रियाभवन की बहनों की तरफ से : चैन्नई	: ५०
श्रीमती गुलाबीदेवी भीखमचंदजी जीवावत : आहोर (राज.)	: ५०
श्री ऋषभ बालिका मंडल : चैन्नई	: ५०
शा. सिखवचंद लुबचंदजी : शिवगंज (राज.)	: ५०
महेन्द्रा एन्टरप्राइजेज : चैन्नई	: ५०
कवरलाल एन्ड कां. : चैन्नई C/o. विजयलाल, पारसमल, रामलाल	: ५०
हीरालाल विरधीचंदजी : चैन्नई	: ५०
राणुलालजी देवराजजी प्रकाशचंदजी गोलेछा : चैन्नई	: ५०
रतनचंदजी अनोपचंदजी कोचर : चैन्नई	: ५०
एस. देवराज जैन : चैन्नई	: ५०
मेघराज चौधरी : बेंगलोर प्रे. पू. मुनिश्री कुमुदचन्द्रविजयजी	: ५०
रूपचंद आर. जैन : मुंबई प्रे. पू. मुनिश्री कुमुदचन्द्रविजयजी	: ५०
धनपत शेठ : रानीगंज प्रे. पू. मुनिश्री कुमुदचन्द्रविजयजी	: ५०
इन्दरमल एल. जैन : सोलापुर प्रे. पू. मुनिश्री कुमुदचन्द्रविजयजी	: ५०
B. F. जसराज लुक्कड़ (स्व. पू. आ. श्री की निश्रा में १२१ पू. साधु- साध्वीओं के साथ शत्रुंजय डेम से शत्रुंजय के छ'री' पालक संघ (१९-५-२००० से २४-५-२०००) की स्मृति में	: ५०

- ॥ अमदावाद, नवा वाडज, शिवम् एपार्टमेन्ट (ज्ञानखाता) : ५०
 प्रे. सा. सौम्यगुणाश्रीजी - सौम्यकीर्तिश्रीजी
- ॥ पारसनाथ देरावासी ट्रस्ट, अमदावाद-शाहपुर (ज्ञानखाता) : ५०
 प्रे. सा. महाप्रज्ञाश्रीजी
- ॥ मुंबई नवजीवन श्वे. मू. पू. जैन संघ (ज्ञानखाता) : ५०
- ॥ पन्नाबेन दिनेशभाई खजी महेता, भुवङ्ग-कच्छ (चेन्नई) : ५०
 प्रे. सा. जयकीर्तिश्रीजी - सा. जयमंगलाश्रीजी
- ॥ मंजुलाबेन मणिलाल लक्ष्मीचंद वोर, मुन्द्रा-कच्छ (मुंबई) : ५०
- ॥ स्व. गुमानबाई संपतलालजी डाकलिया निमित्त अनोपचंद, प्रकाशचंद, रतनचंद, रमेशचंद, बस्तिचंद, जितेन्द्र, विजय, अशोक, नीतेश, निश्चय, शुभम्, कार्तिक, समस्त डाकलिया परिवार : सोलापुर (फलोदी) : ५०
- ॥ श्री भवरलालजी वैद की पुण्य स्मृति में प्रकाशचंद, विनोदकुमार, चन्द्रेशकुमार, प्रफुल्ल, ललित, रोहित, सागर, अक्षय, अमित, अभिलाष, वैद परिवार : सोलापुर (फलोदी) : ५०
- ॥ शा. हीराचन्दजी हस्तीमलजी : बालवाडा : २०
- ॥ शा. भंवरलालजी हिम्मतमलजी नागौत्रा सोलंकी : बालवाडा : २०
- ॥ शा. बस्तीमलजी भबुतमलजी लोढा : गुड़ा एन्दला : ५०
- ॥ शा. पारसमलजी कपूरचन्दजी : गुड़ा एन्दला : २०
- ॥ श्रीमती कमलाबाई मिश्रीमलजी कुंकुलोल : बांता : २०
- ॥ शा. हेमराजजी नैनमलजी जगावत : बिजोवा : २०
- ॥ स्व. श्रीमती जतनबाई जीवनचंदजी (बाबुजी) निमाणी फलोदी : २०
- ॥ शा. सायरचंदजी सुभाषचंदजी नाहर : कुचेरा : १००

पू. आ. श्री विजयकलापूर्णसूरीश्वरजी मा.सा.



जन्म

वि.सं. १९८० वै.सु. २
फलोदी (राज.)

दीक्षा

वि.सं. २०१० वै.सु. १०
फलोदी (राज.)

वडी दीक्षा

वि.सं. २०११ वै.सु. ७
राघनपुर (उ.गु.)

पंन्यास-पद

वि.सं. २०२५ माघ.सु. १३
फलोदी (राज.)

आचार्य-पद

वि.सं. २०२९ मा.सु. ३
भद्रेश्वर तीर्थ (कच्छ)

कालधर्म

वि.सं. २०५८ माघ.सु. ४
केशवणा (राज.)

अग्निसंस्कार

वि.सं. २०५८ माघ.सु. ६
शंखेश्वर तीर्थ (उ.गु.)

यहां पर जन-जन की जीभ पर आपका नाम है,
लाखों के जीवन का आधार आपका पयगाम है;
जाने के बाद भी आप कृपा बरसाते रहे इन ग्रन्थों से,
श्रद्धा-प्रणत हम सभी का आपको शत-शत प्रणाम है।



वांकी तीर्थ, पदवी प्रसंग, वि.सं. २०५६, महा सु. ६

पूज्य गुरुदेव एवं पिताश्री
की चिरविदाय से
विषाद -मग्न वर्तमान
गच्छाधिपति पूज्य आचार्य
श्री विजयकलाप्रभसूरीश्वरजी
म.सा. एवं पूज्य पं. श्री
कल्पतरुविजयजी गणिवर
(केशवणा (राज.) माघ
शु.५, वि.सं. २०५८



अब यह दृश्य कहाँ
देखने मिलेगा ?
(वि.सं २०३८)



वांकी, पदवी-प्रसंग
वि.सं. २०५६, महा सु.६



न केवल अपने दो पुत्रों को,
हजारों भक्तों को रोते हुए छोड़ कर पूज्यश्री चल बसे ।

भीमासर- (कच्छ) अंजन-शलाका-प्रतिष्ठा-प्रसंग
(पू. रत्नसुंदरसूरिजी, पू. वज्रसेन वि. आदि के साथ)
वि.सं. २०४६



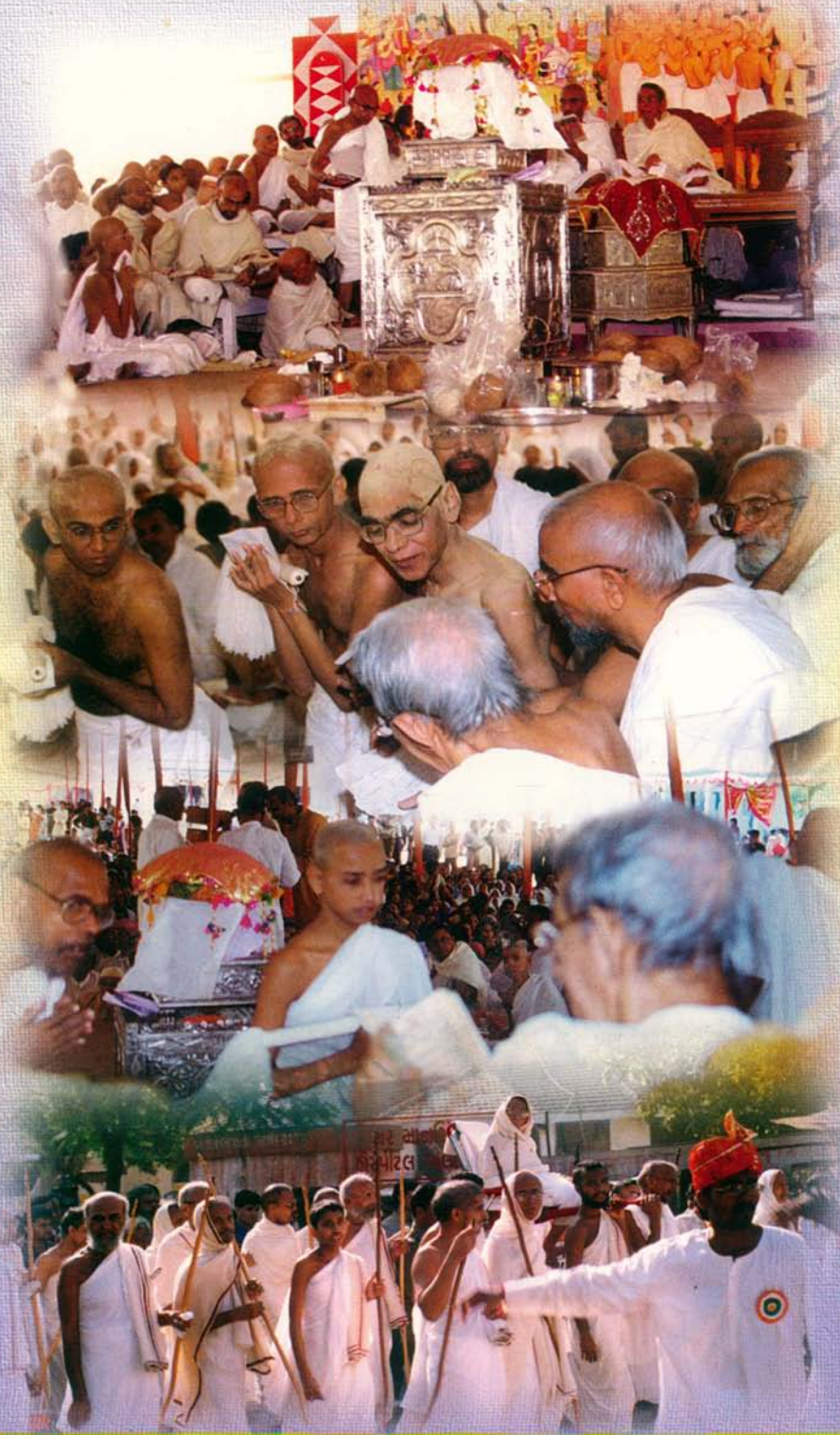
કચ્છની કલાગીસમા વાંકી તીર્થ
 પરમ પૂજ્ય શ્રી કલાપ્રભવિજયજી ગણિવરને આચાર્ય-પદ
 પૂજ્ય મુનિશ્રી કલ્પતલવિજયજીને પંચાસ-પદ
 પૂ.મુનિશ્રી પૂર્ણચંદ્ર વિજયજી તથા પૂ.મુનિશ્રી મુનિચંદ્ર વિજયજીને ગણિ-પદ-પ્રદાન
મહોત્સવ-સમારોહ
 ૫૬ પ્રદાનદિન: મહા સુ.ક, શુક્રવાર, ૧૧-૨-૨૦૦૦
 ૫૬-પ્રદાતા: અધ્યક્ષશ્રી ડી.આર્.આર્.શ્રી.મ. વિજય કલાપાર્શ્વ સુરીશ્વરજી મ.સા.



કચ્છની કલાગીસમા વાંકી તીર્થ
 પરમ પૂજ્ય શ્રી કલાપ્રભવિજયજી ગણિવરને આચાર્ય-પદ
 પૂજ્ય મુનિશ્રી કલ્પતલવિજયજીને પંચાસ-પદ
 પૂ.મુનિશ્રી પૂર્ણચંદ્ર વિજયજી તથા પૂ.મુનિશ્રી મુનિચંદ્ર વિજયજીને ગણિ-પદ-પ્રદાન
મહોત્સવ-સમારોહ
 ૫૬ પ્રદાનદિન: મહા સુ.ક, શુક્રવાર, ૧૧-૨-૨૦૦૦
 ૫૬-પ્રદાતા: અધ્યક્ષશ્રી ડી.આર્.આર્.શ્રી.મ. વિજય કલાપાર્શ્વ સુરીશ્વરજી મ.સા.

पालीताणा में पदवी-दीक्षा-प्रसंग

सं. २०५७, मार्ग.सु.५



**वांकी-पदवी-प्रसंग पर पू. बा महाराज (पू. सा. सुवर्णप्रभाश्रीजी)
का आशीर्वाद ग्रहण करते हुए दोनों पुत्र मुनि**



**पू.सा. सुवर्णप्रभाश्रीजी (पू. बा महाराज) की चिरविदाय की
एक झलक**

भरुच (गुजरात), वि.सं. २०५८, वै.सु. १३ शुक्रवार, २४-५-२००२



वांकी में चातुर्मास-प्रवेश, वि.सं. २०५५





वांकी तीर्थ में १०९ पू. साधु-साध्वीजी
भगवन्तों एवं जिज्ञासु गृहस्थों
के समक्ष दी गई वाचना के अंश

५-७-१९९९, सोमवार
आषा. व. ६-७

✽ स्वत्रयी की आराधना में जितनी मन्दता होगी, उतना ही मोक्ष दूर ।
जितनी तीव्रता होगी, मोक्ष उतना समीप ।

✽ आज तक हमने पर-संप्रेक्षण बहुत किया, अनेक कर्म बांधे, अब हमें आत्म-संप्रेक्षण करना है । उसके बिना स्वदोषों पर दृष्टि नहीं जायेगी, यदि दोष दृष्टिगोचर नहीं होंगे तो वे दूर नहीं होंगे । पांव में लगा हुआ कांट यदि दिखाई ही नहीं देगा तो निकलेगा कैसे ? आत्म-सम्प्रेक्षण से शनैः शनैः देह एवं आत्मा की भिन्नता भी दृष्टिगोचर होने लगती है ।

जिस प्रकार देव-गुरु के प्रति श्रद्धा नहीं रखना मिथ्यात्व है, उस प्रकार देह में आत्म-भाव रखना भी लोकोत्तर मिथ्यात्व है । देह के प्रति आत्म-बुद्धि हटते ही हमें अक्षय खजाना मिल जाता है ।

✽ पं. मुक्तिविजयजी कहा करते थे - जो ग्रन्थ पढ़ना है

कहे कलापूर्णमूरि - १ ***** १

उस ग्रन्थ के लेखक, रचयिता, प्रणेता का आदरपूर्वक जाप करें। शास्त्रकार के प्रति आदर होगा तो ही उस शास्त्र के रहस्य समझ में आयेंगे। जिनके प्रति हमारे आदर में वृद्धि हुई, उनके गुण हमारे भीतर आ गये, समझिये।

❖ पूर्व-काल में आजीवन योगोद्धहन चलते। ज्ञान या स्वाध्याय कभी बंद होते ही नहीं थे। उनके लिए क्या ज्ञान-ध्यान कठिन होगा? क्या उनके लिए मोक्ष दूर होगा? हमें तो ज्ञान-ध्यान इतने आत्मसात् हैं, मोक्ष इतना निकट है कि मानो कोई आवश्यकता ही नहीं है। न तो ज्ञान की आवश्यकता है, न ध्यान की और न किसी अन्य योग की आवश्यकता है। हम शूरवीर हैं न?

❖ नवकार का जाप अर्थात् अक्षर देह स्वरूप प्रभु का जाप। अक्षरमय देवता का जाप।

आपके नाम, आपके चित्र, आपके भूत-भावी पर्याय के द्वारा आप विश्व में कितने व्याप्त हैं? भगवान भी नाम आदि के रूप से समग्र विश्व में फैले हुए हैं। हमारे नाम आदि कल्याणकारी नहीं हैं, भगवान के कल्याणकारी हैं।

भक्त को तो भगवान का नाम लेते ही, स्मरण करते ही, हृदय में भगवान दृष्टिगोचर होते हैं। उपाध्याय मानविजयजी कहते हैं - 'नाम ग्रहंता आवी मिले, मन भीतर भगवान।' नाम आदि चारों प्रकार से भगवान किस प्रकार विद्यमान हैं? ज्ञानविमलसूरि चैत्यवंदन में कहते हैं :

‘नामे तू जगमां रह्यो, स्थापना पण तिमही,

द्रव्ये भवमांही वसे, पण न कले किमहि।’

‘भावपणे सवि एक जिन, त्रिभुवन में त्रिकाले।’

इसके अर्थ को सोचना, चिन्तन करना, आपका हृदय नाच उठेगा।

❖ आत्मा यदि विभु (व्यापक) हो तो कर्मबंध कैसा? यदि कर्मबंध न हो तो मोक्ष किसका? यदि मोक्ष नहीं हो तो यह सिरपच्ची कैसी? इस प्रकार का प्रश्न एक गणधर के मन में उठा था। भगवान ने कहा - आत्मा विभु अवश्य है, परन्तु केवलज्ञान के रूप में। केवलज्ञान से सम्पूर्ण लोक-अलोक को

जानते हैं । ज्ञान से वे सर्वत्र व्यापक हैं । यदि हम यह दृष्टि अपने समक्ष रखेंगे तो सर्वत्र व्याप्त प्रभु प्रतिपल सदा दृष्टिगोचर होंगे ।

✽ मन की चार अवस्थाएं हैं - विक्षिप्त, यातायात, सुश्लिष्ट और सुलीन । सुलीन तक पहुंचने के लिए प्रथम तीन अवस्थाओं में से गुजरना पड़ता है ।

✽ किसी भी धर्म का व्यक्ति किसी भी नाम से प्रभु को पुकारे तो ये ही आवेंगे । सर्व गुण सम्पन्न, सर्व शक्ति-सम्पन्न, समस्त दोषों से मुक्त ऐसा दूसरा कौन है ? जिस प्रकार समस्त नदियां सागर में मिलती हैं, उस प्रकार समस्त नमस्कार अरिहंत प्रभु को प्राप्त होते हैं ।

✽ अपराधी को क्षमा प्रदान नहीं करना क्रोध है । कर्म के अतिरिक्त कोई अपराधी नहीं है । उसे छोड़कर अन्य को अपराधी मानना मिथ्यात्व है ।

भगवान ने किसी भी शत्रु को अपराधी न मानकर उपकारी माना है ।

✽ आज मैं प्रभु-भक्ति को नहीं छोड़ता । किस लिए ? मुझे उसमें रस आता है । आनन्दप्रद योग को भला मैं कैसे छोड़ सकता हूं ? जिस साधना में निर्मल आनन्द की वृद्धि होती जाये, वही सच्ची साधना है । साधना की यही कसौटी है, यही परीक्षा है कि दिन-प्रतिदिन आनन्द में अभिवृद्धि होती है कि नहीं ? यही आनन्द आगे जाकर समाधि रूप बनेगा ।

भक्ति तो समाधि का बीज है । आप परमात्मा की मन-मोहक प्रतिमा के समक्ष हृदयपूर्वक चैत्यवन्दन आदि करें, भक्ति-योग का प्रारम्भ होगा ।

• • • • •





६-७-१९९९, मंगलवार
आषा. व. ८

✽ अनादिकाल से जिस परमात्मा का वियोग है, उस प्रभु का संयोग कराये वह योग है। जिस स्वामी के प्रति प्रेम हो उसकी बात पर, उसकी आज्ञा पर भी प्रेम होगा ही, यही वचनयोग है। प्रभु का प्रेम प्रीतियोग, उनके प्रति अनन्य निष्ठा भक्तियोग, आज्ञा-पालन वचन-योग और भगवान के साथ तन्मयता असंगयोग है। प्रीतियोग प्रारम्भ है ओर असंगयोग पराकाष्ठा है। इसी लिए मैं बार-बार प्रभु के साथ प्रेम करने की बात कहता हूँ - 'प्रीतलडी बंधाणी रे अजित जिणंदसुं' मेरा यह स्तवन यही बात कहता है। प्रीतियोग में प्रविष्ट होना ही दुष्कर है। एकबार उसमें प्रवेश होने के बाद आगे के योग अत्यन्त कठिन नहीं हैं। सांसारिक प्रेम को प्रभु के प्रेम में मोड़ना यही सर्वाधिक दुष्कर कार्य है।

✽ जिन जिन के पास मैंने पाठ लिये हैं उन सबको मैं नित्य याद करता हूँ। 'गुरु अनिहव' यह एक ज्ञानाचार है। उपाध्याय यशोविजयजी ने प्रत्येक स्थान पर गुरु नय-विजयजी का स्मरण किया है। (यशोविजयजी प्रसिद्ध थे, नयविजयजी

को कोई जानता ही नहीं था)। 'श्री नयविजय विबुध पय सेवक, वाचक जस कहे साचुं जी ।'

विनयविजयजी तो अपने गुरु कीर्तिविजयजी के नाम को मन्त्र मानते थे ।

वि. संवत् २०१३ में सर्व प्रथम मांडवी में पंन्यासजी भद्रंकर विजयजी का मिलन हुआ । भुजपुर में उनका चातुर्मास हुआ था । उन दिनों में उन्होंने कहा था : 'आप हरिभद्रसूरिजी के ग्रन्थ पढ़ें ।' संस्कृत का ज्ञान प्राप्त होने पर मुनिश्री तत्त्वानन्द विजयजी के पास योगदृष्टि समुच्चय, योगबिन्दु आदि ग्रन्थ पढ़े । हरिभद्रसूरि के ग्रन्थों से निश्चयलक्षी जीवन बनता ही है । साथ ही साथ व्यवहार भी सुदृढ बनता है ।

❖ दोष हमारा है परन्तु हमने दोष का ठोकरा प्रतिक्रमण आदि आवश्यक क्रियाओं पर उडेल दिया । कितने रहस्यमय सूत्र हैं ये सब ? योग ग्रन्थ पढ़ने पर यह पता लगता है । योगग्रन्थों के पठन से हमें उन क्रियाओं आदि के प्रति अत्यन्त ही आदर की वृद्धि होगी ।

❖ 'तीर्थकर-गणधर-प्रसादाद् एष योगः फलतु ।'

किसी भी अनुष्ठान के अन्त में हम यह कहते हैं । सिद्ध योगियों के स्मरण से भी अनुष्ठान सिद्ध होते हैं ।

❖ एकबार भी किसी योग में स्थिरता आ गई, स्थिरताजन्य आनन्द आया तो वह अनुष्ठान आप कभी नहीं भूलेंगे । उस आनन्द को प्राप्त करने के लिए आप बार-बार लालायित होंगे ।

नवकार मन्त्र वैसे ही बोलो और जाप करके बोलो - दोनों में फर्क होगा । जीवन में आत्मसात् होने के बाद निकलनेवाले शब्द प्रभावोत्पादक होते हैं ।

❖ परिषद् के दो प्रकार हैं - अनुकूल एवं प्रतिकूल ।

अनुकूल उपसर्ग खतरनाक होते हैं क्योंकि अनुकूलता हमें अत्यन्त प्रिय है अनुकूलता उपसर्ग है ऐसा विचार ही नहीं आता । महापुरुष स्वयं प्रतिकूलता को निमंत्रण देते थे, जबकि हम निरन्तर अनुकूलता की खोज में रहते हैं । पूर्व महर्षि औषधि नहीं लेते थे तथा उपचार नहीं कराते थे, क्योंकि उन्हें प्रतिकूलता ही इष्ट थी ।

✽ मद्रास (चैन्नई) में अस्वस्थता हुई तब ऐसी स्थिति थी कि सब कुछ मैं भूल गया था । प्रतिक्रमण आदि तो अन्य व्यक्ति ही कराते थे, परन्तु मुहपत्ति के बोल तक मैं भूल गया था । उन्हें भी दूसरे व्यक्ति ही बोलते थे, परन्तु भगवान ने मुझे पुनः स्वस्थ कर दिया ।

उन भगवान को भला कैसे भूला जा सकता है ?

इस समय मैं वाचना आपके लिए नहीं, मेरे लिए देता हूँ । मेरा पक्का रहे । भवान्तर में यह सब मुझे साथ ले जाना है ।

✽ स्थान, वर्ण, अर्थ, आलम्बन एवं अनालम्बन - इन पाँचों योगों के इच्छा, प्रवृत्ति, स्थिरता एवं सिद्धि ये चार-चार प्रकार हैं ।

इच्छा : उस प्रकार के योगियों की बातों में प्रेम ।

प्रवृत्ति : पालन करना ।

स्थिरता : अतिचार-दोषों का भय न रहे ।

सिद्धि : अन्य व्यक्तियों को भी सहज रूप से योग में सम्मिलित करना ।

✽ 'नवकार' के जाप में एकाग्रता लाने के लिए अक्षरों को मन की कलम से लिखें ।

प्रत्येक अक्षर पर स्थिरता करें । नवकार के जाप के अनुष्ठान में नवकार-लेखन का कार्यक्रम भी होगा । हीरे की चमकदार स्याही से लिखें । कल्पना कम व्यर्थों की जाय ? लिखने के बाद आप उन्हें चमकते हुए निहारें और पढ़ें ।

न..... मो..... अ..... रि..... हं..... ता..... णं.....

अचक्षु-दर्शन से पढ़ना है, चर्म-चक्षु से नहीं ।

मन को स्थिर करने की यह कला है । नित्य बारह नवकार इस प्रकार लिखें । भले ही १०-१५ मिनिट इसमें लग जायें । यह वर्णयोग है ।

• • • • •





७-७-१९९९, बुधवार
आषा. व. ९

✿ भव के रागी को विषय-कषाय के बिना चैन नहीं पड़ता, उस प्रकार भगवान के रागी को भगवान के बिना चैन नहीं पड़ता । यही प्रीतियोग है । जिसके प्रति प्रेम हुआ हो, उसको समर्पित होना ही पड़ता है, उसको वफादार रहना ही पड़ता है । यह भक्तियोग है । जिनको हम समर्पित होते हैं, उनकी बात स्वीकार करनी पड़ती है । 'स्वीकार करनी पड़ती हैं - यह कहने की अपेक्षा जहाँ प्रेम (समर्पण) होता है, वहाँ अनायास ही उनकी बात स्वीकार कर ली जाती है । यही वचन-योग है । जिनकी बात स्वीकार कर ली उनके साथ एकात्म भी होना ही पड़ेगा । यह असंगयोग है ।

✿ कोई भी योग (स्थान आदि अथवा अहिंसा आदि) उस समय सिद्ध हुआ माना जाता है जब आपके द्वारा अनायास ही अन्य में विनियोग हो सके ।

✿ नमस्कार करने की मुझमें शक्ति नहीं है, योग्यता भी नहीं है । इसी लिए 'शक्रस्तव' में 'नमामि' न कहकर 'नुमुत्थुणं' (नमोस्तु) कहा गया । 'नमोस्तु' अर्थात् 'नमस्कार हो ।' मैं नमता

हूं, ऐसा नहीं, 'मैं नमता हूं' में अहंकार की सम्भावना है, 'नमस्कार हो' में नहीं ।

❖ काया समझदार है । वाणी भी समझदार है । हमारे कहते ही तुरन्त मान लेती हैं, परन्तु प्रश्न है मन का । हम कहें और मन मान ले, इस बात में माल नहीं है, जो मान ले वह मन नहीं है ।

काया के मान लेने से 'स्थानयोग' सिद्ध होता है ।

वचन के मान ले से 'वर्णयोग' सिद्ध हो जाता है, परन्तु यदि मन मान जाये तो ही अर्थ एवं आलम्बन योग सिद्ध होते हैं ।

मन चंचल होने से वह एक साथ अनेक कार्य कर सकता है । यहां मन को दो कार्य सौंपे गये हैं - अर्थ एवं आलम्बन के ।

काया एवं वाणी से अनेक गुनी कर्म-निर्जरा मन करा देता है, और कर्म-बन्धन भी इतना ही कराता है ।

'विषय-कषाय को समर्पित मन संसार बना देता है ।'

'भगवान को समर्पित मन भगवान से साक्षात्कार करा देता है ।'

इसी लिए मोहराजा का प्रथम आक्रमण मन पर होता है, जिस प्रकार शत्रु सर्व प्रथम 'हवाई पट्टी' पर आक्रमण करता है ।

❖ चैत्यवन्दन आप भगवान का करते हैं, ऐसा नहीं है, आप अपनी ही शुद्धचेतना का चैत्यवन्दन करते हैं । भगवान अर्थात् आपका ही उज्ज्वल भविष्य । आपकी ही परम विशुद्ध चेतना । भगवान की प्रतिमा में हमें अपना भावी प्रतिबिम्ब निहारना है । उक्त सन्दर्भ में बिसरी हुई आत्मा का स्मरण करने की कला चैत्यवन्दन है ।

❖ चरित्र भुवनभानु केवली का हो या मरीचि का हो, उनके द्वारा की गई भूलों, भूलों के कारण प्राप्त दण्ड - उन सब में अपना स्वयं का चरित्र देखें । उन्होंने शायद एकबार ही भूल की होगी । हमने तो अनन्त बार भूल की हैं । अब भविष्य में भूल न हों, यह हमें सीखना है ।

❖ बाह्य आत्मा, अन्तरात्मा एवं परमात्मा - इन तीन प्रकार के दूसरे जीव हैं - यह बात नहीं है, परन्तु हम में स्वयं मे ये तीन अवस्था पड़ी हैं, यह समझे ।

यदि हम देह को आत्मा मानते हैं तो हम बहिरात्मा हैं ।

यदि हम आत्मा को आत्मा मानते हैं तो हम अन्तरात्मा हैं ।
 यदि हमने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया है तो हम परमात्मा हैं ।
 हमारा अधिकतर भूतकाल 'बहिरात्मा' अवस्था में गया ।
 हमारा वर्तमान 'अन्तरात्मा' होना चाहिये और हमारा भविष्यकाल
 'परमात्मा' होना चाहिये ।

✽ थर्मोमीटर ज्वर नापने के लिए है, अलमारी को सुशोभित करने के लिए नहीं । आगम आत्मा का अवलोकन करने के लिए है, अलमारी को सुशोभित करने हेतु नहीं ।

✽ देहाध्यास देह प्रदान करता है । भगवदध्यास भगवान को प्रदान करता है । देहाध्यास देह को ही प्रदान करता है अर्थात् जन्म-मरण के फेरे चलते ही रहेंगे । जब तक देह में आत्म-बुद्धि होगी, तब तक देह प्राप्त होती ही रहेगी । प्रत्येक जन्म में देह प्राप्त होती ही रहती है । यदि देह- अध्यास मिटे, आत्मा को जान सकें, तो ही 'आत्मा' प्राप्त होती है, 'परमात्मा' प्राप्त होते हैं ।

✽ दिनभर में साधु सात बार चैत्यवन्दन करते हैं, यह भक्ति-योग की प्रधानता स्पष्ट करता है । चैत्यवन्दन भाष्य भक्तियोग के मन्दिर का प्रथम सोपान है ।

चैत्यवन्दन भगवान के साथ वार्तालाप की कला है । इतना ही नहीं, स्वयं भगवान (परमात्मा) बनने की कला है ।

✽ आवश्यक निर्युक्ति में 'चउहिं झाणेहिं' में ध्यान-विचार तथा पंचवस्तुक में 'स्तव परिज्ञा' ये दो ग्रन्थ हरिभद्रसूरिजी की अमूल्य भेंट है ।

✽ कर्म साहित्य बाद में जानो । प्रथम देव-गुरु एवं धर्म को जानो ।

देव को जानने के लिए चैत्यवन्दन भाष्य ।

गुरु को जानने के लिए गुरु-वन्दनभाष्य ।

धर्म (तप) को जानने के लिए पञ्चवक्त्राण भाष्य ।

तीन भाष्यों के बाद कर्म-ग्रन्थ के अध्ययन की हमारी पद्धति का रहस्य यह है ।

• • • • •



श्री १०० (१००) जगन्नाथ प्रसाद, वि.सं. २०५५

८-७-१९९९, गुरुवार

आषा. व. १०

✿ अनजान वस्तु की अपेक्षा, ज्ञात वस्तु के प्रति अनन्तगुनी श्रद्धा की अभिवृद्धि होती है ।

चलते समय प्रथम दृष्टि डालनी या पैर रखना ? प्रथम दृष्टि उसके बाद पैर रखें । प्रथम ज्ञान फिर क्रिया - 'पदमं नाणं तओ दया'

जवाहिरात का ज्ञान जौहरी सीखे परन्तु दुकान में बैठते समय उसका प्रयोग-उपयोग न करे तो क्या होगा ? जानने के बाद हम उसको क्रियान्वित न करे तो क्या होगा ? थोड़ा विचार करना ।

✿ असंग अनुष्ठान का योगी अरूपी का आराधक है । उसके जितनी निर्जरा प्रीतियोग वाला नहीं कर सके, यह स्वाभाविक है, परन्तु प्रारम्भ तो प्रीतियोग से ही होगा ।

प्रीति के बाद ही भक्ति आती है । जिसे आप चाहते हैं (प्रीति) उसको ही आप समर्पित (भक्ति) हो सकते हैं । जिसको समर्पित हो सकते हैं, उसकी ही बात (वचन) आप मान सकते हैं । जिसकी बात आपके लिए सदा शिरोधार्य है, उसके साथ ही आप एकात्म (असंग) हो सकेंगे, तादात्म्य सध सकेंगे ।

प्रीति एवं भक्ति में पत्नी तथा माता के प्रेम के समान फर्क

है। भक्ति में प्रीति है ही। वचन में प्रीति एवं भक्ति दोनों है और असंग में प्रीति, भक्ति और वचन तीनों हैं। १,००० रूपयों में १००, १०,००० में १,००० और १,००,००० रूपयों में १०,००० समाविष्ट हैं उस प्रकार इन योगों में भी जाने। वास्तव में तो हजार रूपये ही बढ़ते-बढ़ते लाख रूपये बने हैं। उसी प्रकार से प्रीति ही आगे जाकर असंग रूप बनती है।

☆ हम छद्मस्थ हैं। हमारा प्रेम किसी के प्रति न्यूनाधिक हो सकता है, परन्तु वीतराग परमात्मा के प्रेम की तो समान रूप से सबके उपर वृष्टि हो रही है। 'ये मेरे, ये तेरे, ये प्रिय, ये अप्रिय' इस प्रकार का भेद भगवान के दरबार में नहीं हैं। जिन्होंने प्रभु को चाहा, उनकी सेवा की, उन्हें माने, उन पर प्रभु की प्रेम-वृष्टि हो रही है। उसमें भगवान ने पक्षपात नहीं किया। कोई व्यक्ति खिड़की, दरवाजा खोलकर सूर्य का प्रकाश अधिक प्राप्त कर ले या कोई खिड़की, दरवाजा बंद करके अंधेरे में टकराते रहे, उसमें सूर्य का दोष नहीं है। सूर्य तो प्रकाश बिखेर ही रहा है। प्रकाश में जीना या अन्धकार में? यह तो आपको स्वयं को निश्चित करना है। भगवान सर्वत्र कृपा-वृष्टि कर रहे हैं। कितना प्राप्त करना - यह आपको निश्चित करना है, केवल आपको ही।

☆ तीर्थ के उच्छेद के आलम्बन से भी अयोग्य को सूत्र प्रदान करने का योगाचार्य निषेध करते हैं।

अभी ही शशिकान्तभाई को पूछा - क्यों आजकल परदेश जाना बंद कर दिया है?

उन्होंने उत्तर दिया - कोई लाभ नहीं। उन लोगों में धर्म या ध्यान की बातें समझने की स्वाभाविक पात्रता ही नहीं है। वहां जाकर केवल गला सुखाना है। इसकी अपेक्षा मौन रह कर साधना करना श्रेष्ठ है।

सच बात है। कच्चे घड़े में जल नहीं भरा जा सकता। सड़ी हुई कुत्ती को कस्तूरी नहीं लगाई जाती। अयोग्य को सूत्र नहीं दिये जा सकते।

• • • • •

आत्मानुभवाधिकार (उपाध्यायश्री पूज्य यशोविजयजी कृत अध्यात्मसार)

आत्मानुभूति प्रकट करने के लिए तीन वस्तुओं की आवश्यकता है - १. शास्त्र, २. मिथ्यात्व का विध्वंस, ३. कषायों की अल्पता ।

बाह्य अन्धकार को सूर्य नष्ट करता है, आन्तरिक अन्धकार को सद्गुरु नष्ट करते हैं ।

‘ज्ञान प्रकाशे रे मोह-तिमिर हरे, जेहने सद्गुरु सूर-’

मनकी पांच अवस्थाएँ हैं : क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र, निरुद्ध ।

प्रथम सोपान में मन चंचल ही रहनेवाला है । खटमल एवं बंदर वैसे भी चंचल है ही । आप उन्हें पकड़ने का ज्यों ज्यों प्रयत्न करेंगे, त्यों त्यों वे दूर भागेंगे, परन्तु यह सोच कर साधना से दूर नहीं भागना है । यह स्वाभाविक है - यह समझकर साधना को दृढतापूर्वक पकड़नी है ।

योगशास्त्र में कही हुई मन की चार अवस्थाओं (विक्षिप्त, यातायात, सुश्लिष्ट एवं सुलीन) का इन पाँचों में समावेश हो जाता है ।

क्षिप्त : विषयों का रगी, सुख में सुखी, दुःख में दुःखी राजस मन ।

मूढ़ : क्रोधादि से युक्त, विरुद्ध कार्यों में मग्न, कृत्य-अकृत्य से अनभिज्ञ तामस मन ।

विक्षिप्त : सत्त्व के आधिक्य से दुःख के कारण शब्दादि को छोड़ कर सुख के कारण शब्दादि में प्रवृत्त मन ।

तीसरी अवस्था में सत्त्वगुण का आधिक्य है ।

इन तीन दशाओं से जो उपर उठता है, वह एकाग्र अवस्था तक पहुँचता है । वायु-रहित स्थान में दीपक की ज्योति (लौ) स्थिर होती है, उस प्रकार यहां चित्त स्थिर हो जाता है ।

निरुद्ध : संकल्प-विकल्पों का सम्पूर्ण त्याग ।

आत्म-स्वरूप में लीन बने मुनियों का ऐसा मन होता है । प्रथम तीन चित्त आशधना में उपयोगी नहीं हैं ।

* * * * *



९-७-१९९९, शुक्रवार

आषा. व. ११

✽ विश्व के समस्त जीवों के साथ जिसने तादात्म्य स्थापित नहीं किया, वह सच्चे अर्थ में प्रभु का स्मरण नहीं कर सकता, परमात्मा नहीं बन सकता। परमात्मा तो क्या, महात्मा भी बन नहीं सकता।

✽ अन्य दर्शनों में भी अत्यन्त ही शुद्ध, स्वीकार करने योग्य विचार प्राप्त होते हैं, इसका कारण यह भी हो सकता है - ऋषभदेव के साथ दीक्षित कच्छ-महाकच्छ बाद में तापस बन गये। उनकी तापसी परम्परा में आदिनाथ की भक्ति के रूप में भक्ति मिल जाये तो कोई आश्चर्य नहीं।

✽ मन नहीं मिलने पर जो क्रिया हो वह होगी द्रव्य-निर्जरा। मन मिलने पर ही भाव-निर्जरा होती है। किसी भी क्रिया में मन तन्मय बने तो ही उसमें प्राणों का संचार होता है। मन ही पुन्य या पाप की क्रियाओं का प्राण है। धर्म-क्रियाओं में मन नहीं हो तो वे निष्फल हैं। पाप-क्रियाओं में मन नहीं हो तो वे भी निष्फल हैं, परन्तु हमारी अधिकतर धर्म-क्रियाएं बिना मन की और पाप-क्रियाएं मन सहित होती हैं। यदि आप पाप-

क्रियाओं में से मन को खींचकर धर्म-क्रियाओं में लगा दो तो बेड़ा पार हो जायेगा ।

❖ तामस मन आलसी होता है, राजस मन चंचल होता है और सात्त्विक मन स्थिर (स्थितप्रज्ञ) होता है ।

यदि कोई कौतुक (तमासा) आया हो तो तामसी या सात्त्विक उसे देखने के लिए नहीं जायेगा, क्योंकि एक प्रमादी और दूसरा स्थितप्रज्ञ हैं । राजसी जायेगा क्योंकि उसके मन में चंचलता है । तामसी एवं सात्त्विक दोनों स्थिर प्रतीत होंगे परन्तु दोनों के बीच आकाश-पाताल का अन्तर है । एक में सुषुप्ति है, दूसरे में जागृति है ।

❖ परमात्म-भावना का पूरक, बाह्यात्मभाव का रेचक और स्वभाव का कुम्भक - यह भाव प्राणायाम है । यह खतरे-रहित है । द्रव्य प्राणायाम की विशेष उपयोगिता नहीं है । यद्यपि श्री हेमचन्द्रसूरिजी ने योगशास्त्र के पांचवे प्रकाश में द्रव्य प्राणायाम का वर्णन किया है, परकाय - प्रवेश की विधि भी बताई है, परन्तु साथ ही साथ उसका खतरा भी बताया है ।

❖ 'विमला ठकारने मुझे कहा है - समस्त वाणी के व्यवहार बंद करके निःशब्द में उतर जाओ ।' क्या यह बराबर है ? शशिकान्तभाई ने अभी मुझे पूछा ।

मैंने शशिकान्तभाई को कहा - 'स्वाध्याय, जाप आदि करते रहें । निःशब्द के लिए शब्दों का त्याग आवश्यक नहीं है । वाणी तो भगवान की परम भेंट है । उसका त्याग ठीक नहीं है, सदुपयोग करें । निःशब्द अवस्था के लिए शब्द छोड़ने नहीं पड़ते, स्वतः ही छूट जायेंगे । उपर जाने के बाद हम सीढ़ियों को तोड़ नहीं देते । जब नीचे आना होगा तब उन्हीं सीढ़ियों की आवश्यकता पड़ेगी ।'

शशिकान्तभाई ने कहा 'आपने दस वर्षों का भाता बांध दिया । मेरा मन पूर्णतः निःशंक बन गया । आपके उत्तर से मैं पूर्णरूपेण सन्तुष्ट हूँ ।'

❖ 'अजकुलगत केसरी लहेरे, निज पद सिंह निहाल ।

तिम प्रभु-भक्ते भवी रहे रे, आतम-शक्ति संभाल ॥'

- पू. देवचन्द्रजी

बकरियों के समूह में बचपन से ही रहा हुआ सिंह स्वयं

को भले ही बकरी माने, परन्तु सच्चे सिंह को देखते ही उसमें विद्यमान सिंहत्व जाग उठता है। हमें भी प्रभु को देखकर अपनी प्रभुता प्रकट करनी है।

❖ दीक्षा अंगीकार करने के दो-तीन वर्ष पूर्व ही समाधि के बीज पड़ चुके थे। जिन भक्ति में तीन-चार घंटे व्यतीत करने के बाद अन्तिम एक घंटा आनन्द में व्यतीत होता, समाधि की झलक मिलती।

❖ 'मा काली' का नाम सुनते ही रामकृष्ण परमहंस समाधिस्थ हो जाते। इतनी हद तक उन्होंने मां के साथ प्रेम बढ़ा लिया था। यदि समाधि तक पहुँचना हो तो प्रभु के साथ प्रेम करो।

❖ 'पातीति पिता' रक्षा करे वह पिता' भगवान हमारे पिता हैं, दुर्भावों से हमारी रक्षा करते हैं।

❖ परमात्मा के गुणों का चिन्तन ऐश्वर्योपासना है।

परमात्मा के साथ सम्बन्ध जोड़ना, प्रेम करना, माधुर्योपासना है। सिद्धसेन दिवाकरसूरिजी ने शक्रस्तव में दोनों प्रकार की उपासना को स्पष्ट किया है।

शक्रस्तव में भगवान के २७५ विशेषणों का उल्लेख है। प्रत्येक विशेषण भगवान की अलग-अलग शक्ति को बताने वाले हैं।

कित्तिव, वंदिय, महिया में प्रभु की नवधा भक्ति का समावेश है। मन को वश करने के लिए साधक अपनी रुचि एवं शक्ति के अनुसार किसी भी विहित मार्ग पर जा सकता है।

❖ जिस स्तवन को बोलने में अत्यन्त ही आनन्द आये, मन स्थिर बने, रसमय बने उस स्तवन को कभी छोड़े नहीं। अनेक व्यक्ति मुझे पूछते हैं - 'प्रीतलडी बंधाणी रे..' स्तवन नित्य क्यों बोलते हैं ?

मैं कहता हूँ, 'इस स्तवन में मेरा मन लगता है, मन आनन्द-रस में सराबोर बनता है। अतः गाता हूँ।'।

❖ पूर्णता है नहीं, फिर अभिमान क्यों ? अपूर्ण को अभिमान करने का अधिकार नहीं है, जबकि पूर्ण को तो अभिमान होता ही नहीं।

❖ गोचरी लानेवाले साधु भी बिना बोले कइयों को धर्म

प्राप्त कर सकते हैं। उनकी निर्दोष चर्या एवं अविकारी चेहरा ही कितने ही मनुष्यों के धर्म-प्राप्ति का कारण बन जाता है।

शोभन मुनि की गोचरी-चर्या से ही धनपाल को धर्म की प्राप्ति हुई थी। गोचरी (भिक्षा) ग्रहण करते मुनि की निर्विकारता से ही इलाचीकुमार केवली बने थे।

❖ पू. देवेन्द्रसूरिजी का स्वाध्याय प्रेम अनन्य था। काचली लेकर जब वे मातृ करने जाते, तब भी उनका स्वाध्याय चालु रहता था। अन्तिम समय तक प्रतिदिन तीन-चार हजार गाथाओं का स्वाध्याय करते। सो-सो गाथाओं के स्तवन उन्हें कण्ठस्थ थे।

❖ प्रतिक्रमण आदि विहित किया हैं। उनमें मन को स्थिर करने के उपाय हैं। उनमें रुचि बना कर देखें। अत्यन्त ही आनन्द आयेगा।

एक लोगस्स बोलने में कितना आनन्द आता हैं ? मेरे प्रभु कैसे हैं ? जो अखिल लोक में उजाला फेलानेवाले हैं। धर्मतीर्थ की स्थापना करने वाले हैं।

गणधरों ने जिन सूत्रों की रचना की वे कितने पवित्र एवं रहस्यपूर्ण होंगे ? यदि इतना ही विचार करो तो भी काम बन जाये।

आप प्रतिक्रमण में बेगार निकालते हैं। आपकी क्रिया को देखकर लोगों के मन में भी विचार आ जाय : क्या रखा हैं प्रतिक्रमण में ? अभराई पर रख दो।

हमारी आनन्दमय क्रियाओं का अवलोकन करके अन्य व्यक्तियों को स्वयंभू प्रेरणा मिलनी चाहिये।

♦ ♦ ♦ ♦ ♦

अध्यात्मयोगी - जिनशासन प्रभावक आचार्यवर्य श्री
कलापूर्णसूरीश्वरजी म.ना आकस्मिक कालधर्मना समाचार जाण्था।
देववन्दनादि करेल छे। तमो सौ धैर्य राखशो, भावि प्रबल छे।
सद्गतनो आत्मा परम शांतिने पामे ए ज कामना।
- एज... जिनोत्तमसूरिनी वंदना
१७-२-२००२, राणी स्टेशन.



‘कहे कलापूर्णसूरि-१’ (गुजराती) पुस्तक का विमोचन,

डीसा, विसं. २०५७

१०-७-१९९९, शनिवार

आषा. व. १२

✽ ज्यों ज्यों परमात्मा के प्रति भक्ति एवं आदर में वृद्धि होती है, त्यों त्यों हमारे भीतर गुण उत्पन्न होते रहते हैं। किसी सामान्य मनुष्य की सेवा करने से भी गुणों की अभिवृद्धि होती है तो परमात्मा की सेवा से क्या नहीं हो सकता ? गुण बहार से नहीं आते। वे तो भीतर ही विद्यमान हैं। केवल हमें उन्हें अनावृत करना है।

✽ बाह्य प्रदर्शन के लिए ही यदि हमें गुणों की आवश्यकता लगती है तो हमारे और अभव्यों के बीच कोई अन्तर नहीं है।

गुणों के आविर्भाव का चिन्ह आनन्दानुभूति है। संक्लेश दुर्गुणों का चिन्ह है। बाह्य पदार्थ सम्पत्ति आदि की प्राप्ति में होने वाला ‘आनन्द’ आनन्द नहीं है, परन्तु मोहराजा की लुभावनी जाल है, रस-ऋद्धि या सातागारव की यह जाल है। उसमें आसक्त होकर अनेक महात्माओं की अवगति हुई है। शासन-सेवा के बजाय यदि हम उसे स्व-भक्ति में लगा दें तो जान लें कि हम मोहराजा की चाल में फँस गये हैं।

✽ दुःख भावित ज्ञान को परिपक्व करने के लिए परिषद

कहे कलापूर्णसूरि - १ ***** १७

सहन करने आवश्यक हैं। अज्ञानी व्यक्ति हायतोबा के द्वारा भोगते हैं और ज्ञानी उसे आनन्दपूर्वक भोगते हैं। भगवान भी जो परिषह सहते हैं उसमें अवश्य कोई रहस्य होना चाहिये।

✽ अनेक व्यक्ति कहते हैं - 'मैं माला नहीं फेरूंगा क्योंकि मेरा मन स्थिर नहीं रहता।' परन्तु मन स्थिर कब रहेगा? यदि आप माला फेरेंगे तो कभी न कभी किसी एक नक्कार में मन स्थिर बनेगा। फिर धीरे-धीरे आगे बढ़ा जायेगा। यदि सीधे ही मन एकाग्र बन जाता होता तो उपा. श्री यशोविजयजी मन के पांच प्रकार बताते ही नहीं। 'एकाग्रता' तो मन का चौथा सोपान है।

✽ एकासर्ण की आदत कभी न छोड़ें। हमने वर्षों तक एकासर्ण किये हुए हैं। अड्डाई के पारण में भी एकासर्ण करते। बियासर्ण तो बहुत समझाइश के बाद आये हैं।

एक दीक्षार्थी ने पूज्य कनकसूरिजी को कहा था कि 'बियासर्ण करने की छूट दे तो मैं आपके पास दीक्षा अंगीकार करना चाहता हूं।'।

'मुझे कोई शिष्यों का मोह नहीं है। पूज्य जीतविजयजी की मर्यादानुसार यहां तो एकासर्ण ही करने पड़ेंगे।'।

इस पर उन्होंने ने अन्य समुदाय में दीक्षा अंगीकार की।

एकासर्ण की पद्धति से हम अनेक दोषों से बच जाते हैं। स्वाध्याय आदि के लिए पर्याप्त समय प्राप्त होता है। जिस प्रकार भोजन के बिना तन को तृप्ति नहीं होती, उस प्रकार स्वाध्याय के बिना मन को तृप्ति नहीं होती।

✽ किसी भी क्रिया के समय आनन्द आये तो समझ लें कि मन स्थिर हो गया है। उस समय यही समझे कि भगवान मिल गये हैं, क्योंकि प्रभु-मिलन के बिना आनन्द कहीं से भी नहीं आता।

✽ मन की स्थिरता का समय बहुत ही अल्प होता है। अखबार आदि मन को विक्षिप्त करनेवाले परिबल हैं।

वि. संवत् २०२२ में भुज में किसी व्यक्तिने मुझे कहा था, 'आप अखबार तो पढ़ते नहीं हैं। उसके बिना आप व्याख्यान में क्या कहेंगे? प्रवचनकारों को तो खास अखबार पढ़ना चाहिये।

यह बात मेरे मन में बैठ गई । मैंने अखबार पढ़ना शुरू किया, लेकिन मेरा मन अनेक विचारों से घिर कर विक्षिप्त होने लगा । अखबार अर्थात् समस्त संसार का कचरा । मुझे विचार आया कि इसमें मेरा काम नहीं है । मैंने अखबार पढ़ने बन्द कर दिये ।

लोगों को अच्छा लगे वह नहीं बोलना है । उन्हें तो भगवान की बात कहनी है । जीवन में भावित बना कर कहनी है, फिर उसका प्रभाव कोई और ही पड़ेगा ।

पूज्य प्रेमसूरिजी व्याख्यानकारों को कहते - 'अरे, तेरे व्याख्यान में आगम की तो कुछ भी बात नहीं आई ।'

अहमदाबाद में मैंने दिन में दो बार व्याख्यान देना शुरू किया । किसी व्यक्ति ने कहा - 'दो बार व्याख्यान देना बंद करें । एक बार व्याख्यान पर्याप्त है । लोगों को कुछ प्राप्त होने वाला नहीं है ।

बोलने से ऊर्जा का अत्यन्त व्यय होता है । मौन से ऊर्जा की बचत होती है । यह बात कुछ उम्र होने पर समझ में आती है ।

जामनगर में प्रथम बार अध्यात्मसार + कुमारपाल व्याख्यान में पड़ा । द्वितीय वर्षावास में वैराग्यकल्पलता ।

✽ जंबूविजयजी जैसे विद्वान भी नित्य २० माला गिनकर ही आहार-पानी ग्रहण करते हैं । भगवान की भक्ति भी कितनी प्रबल ? इसी कारण से उनका कथन प्रभावशाली बनता है ।

✽ गौतमस्वामी एक मरणासन्न श्रावक को मांगलिक श्रवण कराने के लिए गये थे । कुछ समय के बाद भगवान ने कहा, 'वह श्रावक मर कर पत्नी के कपाल में कीड़ा बना है, क्योंकि मृत्यु के समय उसका ध्यान वही था । जहां हमारा मन होगा, वहां जाना पड़ेगा । कितना अच्छा हो यदि मृत्यु के समय भी हमारा मन प्रभु में रहे ?

✽ सामान्य जाति से प्रभु के साथ हम एक हैं, विशेष से भिन्न हैं ।

✽ मन के लिए तीन आलम्बन - १. अभिरूप (मनोहर) जिन-प्रतिमा । आपका मन प्रतिमा में स्थिर होना चाहिये ताकि

चैत्यवन्दन भी विशिष्ट योग बन जाये ।

जब मैं सूरत में होता हूँ तब सूरजमण्डन पार्श्वनाथ के दर्शन करने अवश्य जाता हूँ । उनकी नयनरम्य प्रतिमा का आज भी स्मरण होता है ।

द्वितीय आलम्बन है वर्णों का, विशिष्ट पद वाक्य की रचना वाले स्तवन आदि । इनमें नवकार सब से उत्तम है ।

तीसरा आलम्बन - उत्तम पुरुष, विहरमान सीमंधर स्वामी आदि तथा उपकारी आचार्य भगवन्त आदि । विनयविजयजी तथा यशोविजयजी ने अपने गुरु को आगे रखे थे ।

उत्तम पुरुष की निश्रा में हमारा मन व्यग्रतारहित होता है, मन बोझरहित हो जाता है, इसका अनुभव होगा ।

आपको यहां कोई फरक लगता है ? अलग चातुर्मास हो तो अपने ऊपर जिम्मेदारी होती है । यहां कोई जिम्मेदारी है ? कोई व्यक्ति आये तो बड़े महाराज का मार्ग बता देना है ।

आलम्बन यदि प्रशस्त हो तो प्रायः भाव उत्तम होंगे ही । 'प्रायः' इस लिए कि अभव्य जीवों आदि को उत्तम भाव न भी आयें ।

❀ 'उत्तम संगे रे उत्तमता वधे ।'

प्रभु के गुण उन्हें प्रसन्न करने के लिए नहीं हैं । वे तो सब प्राणियों पर प्रसन्न ही हैं, परन्तु हम यदि प्रभु का गुण-गान करें तो वे गुण हममें अवश्य आयेंगे । वे हमारे लिए लाभदायक बनते हैं ।

'जिन उत्तम गुण गावतां, गुण आवे निज अंग...'

• • • • •





११-७-१९९९, शनिवार

आषा. व. १३

✿ उपा. यशोविजयजी को 'लघु हरिभद्र' कहा गया है । उन्होंने ने वर्तमानकाल के समस्त ग्रन्थों का अवलोकन किया था । इतना ही नहीं, वे उनके रहस्य तक भी पहुंचे थे ।

आज लगभग ३५० वर्षों के बाद भी हम उन महापुरुषों को उनके ग्रन्थों के माध्यम से मिल सकते हैं । साक्षात् महापुरुषों से भी मिलना हो जाये तो भी वे हमें कहें या न कहें, यह प्रश्न है, परन्तु ग्रन्थ अवश्य कहते हैं, 'यदि हमारे पास कान हों तो ...'

'जिन ही पाया, तिन ही छिपाया' इस प्रकार महापुरुष कुछ कहते नहीं हैं, परन्तु ग्रन्थ में अनायास ही कह दिया जाता है ।

✿ किसी भी मार्ग से सिद्धाचल जायें, परन्तु दादा के दरबार में सभी एक । किसी भी योग (भक्ति, ज्ञान, कर्म या किसी अन्य) से साधना करें, आत्मानुभव के दरबार में सभी एक !

'विभिन्ना अपि पन्थानः समुद्रं सरितामिव ।

मध्यस्थानां परंब्रह्म, प्राप्नुवन्त्येकमक्षयम् ॥'

- ज्ञानसार, मध्यस्थताष्टक

अन्य दर्शनी भी जो केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं वे इस कारण

से । अन्य दर्शनी में सम्यक्त्वी ही हों, ऐसी बात नहीं है, वे विरतिधर भी होते हैं । अंबड परिव्राजक के ७०० शिष्य देशविरतिधर थे । उनके पास ऐसी वैक्रिय लब्धि थी कि ७०० घरों पर एक साथ एक व्यक्ति मिश्रार्थ जा सकता था ।

✿ साधु-जीवन में एक भी अनुष्ठान ऐसा नहीं है, जिसमें कोई अशुभ विचार आ सके । हमारी स्वयं की कमी के कारण अशुभ विचार आ जायें यह अलग बात है । शुभ अनुष्ठानों में भी यदि अपना लक्ष्य शुद्ध एवं शुभ न हो तो आत्म-शुद्धि नहीं हो सकती, मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती, हां स्वर्ग आदि के सुख प्राप्त हो सकते हैं ।

✿ 'उवसगहर' में श्री भद्रबाहु स्वामी कहते हैं - 'चिन्तामणि से भी सम्यक्त्व श्रेष्ठ है, जिसके द्वारा जीव परम-पद तक सरलता से पहुंच सकते हैं ।'

✿ जो (स्थानकवासी) निर्युक्ति, चूर्णि, भाष्य आदि नहीं मानते, वे भटक गये हैं । उन्होंने मूर्ति का निषेध ही नहीं, आगमों का भी निषेध किया कहा जायेगा । यह घोर आशातना कहलाती है ।

अकेले सूत्र से चल ही नहीं सकता । सूत्र का आशय टीका के बिना समझा ही नहीं जा सकता । कौनसा सूत्र कौनसे नय की अपेक्षा से है ? किसके लिए है ? जिनकल्पी के लिए है या स्थविरकल्पी के लिए है ? यह बात टीका के द्वारा ही जानी जा सकती है ।

✿ अभी अभी समाचार आया है कि बेड़ा (राजस्थान) निवासी जवानमलजी के १८ वर्ष के पुत्र ने अहमदाबाद में स्वयं पर गोली चलाकर आत्महत्या का प्रयत्न किया है और वह जीवन और मृत्यु के बीच झूल रहा है । संयम में विराधना करना मतलब आत्महत्या करना । उस लड़के ने तो एक ही बार आत्म-हत्या की । क्या हम नित्य आत्म-हत्या (भाव-प्राणों की) नहीं करते ?

✿ जब तक शारीरिक शक्ति थी तब तक सप्ताह में एक उपवास हो ही जाता था । भगवान द्वारा बताया हुआ ये उपवास हैं । अभ्यंतर तप को शक्तिशाली बनाने वाला उपवास

है । उपवास के दिन मन कितना निर्मल होता है ? आर्यबिल में मन कितना निर्मल होता है ?

उज्जैन में मैं चतुर्दशी आदि के दिन चौविहार उपवास करके अवन्ती पार्श्वनाथ भगवान के दरबार में पहुंच जाता । पूरा दिन वहीं भक्ति, ध्यान, आदि में व्यतीत होता ।

तप के द्वारा क्षयोपशम प्रकट होता है अतः योगोद्वहन में तप का विधान है ! बाह्य तप की शर्त इतनी ही है कि वह अभ्यन्तर तप के लक्ष्यपूर्वक होना चाहिये ।

साध्वीजियों को केवल (उत्तराध्ययन - आचारांग) दो ही आगमों के जोग करने होते हैं ! इन दो आगमों में भी ४५ आगमों का सार है ।

पांचवे आरे के अन्त में तो दशवैकालिक के चार अध्ययन ही रहनेवाले हैं । उनमें भी समस्त आगमों का सार है ।

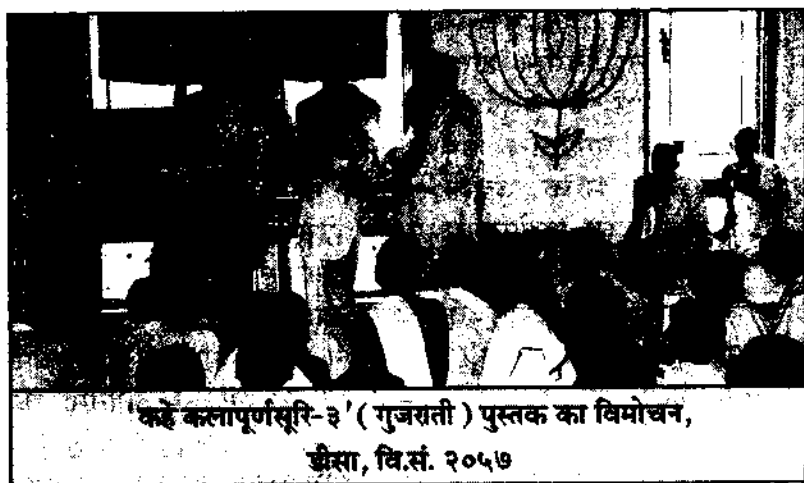
‘असंख्यं’ उत्तराध्ययन के चौथे अध्ययन की अनुज्ञा आर्यबिल से ही हो सकती है । १३ गाथा करें तो ही अनुज्ञा हो सकती है । ऐसे अक्षर मिले हैं । नीची की गडबड न करे । हम बहुत भूल जाते हैं ।

✽ यशोविजयजी अपना अनुभव बताते हुए कहते हैं - किसी भी एक पदार्थ का आलम्बन ले लें । उसमें पूर्णरूप से एकाकार हो जायें । अन्य कुछ भी न सोचें । चित्त स्वतः ही अदृश्य हो जायेगा । जिस प्रकार लकड़े बंध हो जाने पर आग स्वयं बुझ जाती है ।

परन्तु यह स्थिति अनुभव की परिपक्वता के बाद आती है, तुरन्त नहीं आती । शान्त हृदयी व्यक्तियों के शोक, मद, मत्सर, कदाग्रह, विषाद, शत्रुता आदि समस्त आवेश नष्ट हो जाते हैं । इसी जीवन में यह सम्भव है । इसमें अन्य किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है ।

‘हमारा स्वयं का ही अनुभव इसमें साक्षी है’, यह कहते हुए यशोविजयजी ने अपनी अनुभूति खुली रख दी है ।

• • • • •



**'कहे कलापूर्णसूरि-३' (गुजराती) पुस्तक का विमोचन,
झीसा, वि.सं. २०५७**

१२-७-१९९९, रविवार
आषा. व. १४

शान्ते मनसि ज्योतिः, प्रकाशते शान्तमात्मनः सहजम् ।
भस्मीभवत्यविद्या, मोहध्वान्तं विलयमेति ॥

जब मन शान्त होता है तब आत्मा का सहज शान्त प्रकाश प्रकट होता है, अविद्या भस्मीभूत हो जाती है और मोह का अन्धकार विलीन हो जाता है ।

- पू. उपा. यशोविजय

✽ उन महापुरुषों के समान हमारी शक्ति नहीं है कि ऐसे नवीन ग्रन्थों का सृजन करें । कम से कम उन बातों को जीवन में आत्मसात् करने का तो प्रयत्न करें ।

जीवनभर की साधना का फल उन्होंने 'आत्मानुभवाधिकार' में बताया है । हम वही फल अल्प समय में प्राप्त करना चाहते हैं । उन्होंने ने भी पूर्व के किन्हीं जन्मों में साधना की होगी तब इस जन्म में कुछ झलक देखने को मिली होगी ।

१२५, १५०, ३५० गाथाओं के स्तवन, अमृतवेल सज्जाय, १८ पाप स्थानक, आठ दृष्टि की सज्जाय आदि गुजराती में भी उन्होंने अमूल्य खजाना दिया है । प्रत्येक साधु-साध्वीजी को यह

सब कण्ठस्थ करना चाहिये ।

✿ मन हमारा सेवक है, फिर भी उस पर हमारा कोई नियन्त्रण नहीं है । वह स्थिर है कि नहीं ? वफादार है कि नहीं ? आपने कभी पता लगाया है ?

अश्व यदि अश्वारोही के नियन्त्रण में न हो तो ? अश्वारोही की दशा क्या होगी ? मन अश्व है । हम अश्वारोही हैं ।

साधना होनेसे साधु-साध्वीजी मन को सरलता से साध सकते हैं । एकबार भी जाप, स्वाध्याय या भक्ति में मन जुड़ जाये तो उसके आनन्द का रसास्वादन प्राप्त करने की बार-बार इच्छा होगी । जाप आदि में मन यदि जुड़ गया तो स्वयमेव ही स्थिर बन जायेगा ।

अभी समस्त विकल्पों को रोकने का प्रयत्न नहीं करे, केवल शुभ विचारों में रमण करते रहें । शुभ विचारों से अशुभ विचार हटाइये । उसके बाद शुद्ध भाव से शुभ भाव भी हट जायेंगे, परन्तु अभी का कार्य अशुभ विचारों को हटाने का है ।

✿ वाणी एवं काया से किया गया कार्य द्रव्य गिना जाता है, मन से किया गया भाव गिना जाता है । प्रत्येक कार्य के लिए यह समझ लें ।

✿ जयणा कितनी महत्त्वपूर्ण है ?

महानिशीथ में प्रश्नोत्तर : भगवन् ! कुशल अणगार का इतना संसार कैसे बढ़ गया ?

‘गौतम ! वह जयणा को जानता नहीं था । जयणा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है यह नहीं जानने से, जीवन में नहीं उतारने से उनका संसार बढ़ गया ।’

✿ भगवान की ओर से कृपा और हमारी ओर से आज्ञा-पालन इन दोनों का मिलन हो जाये तो बेड़ा पार हो जाये । परन्तु हम कहते हैं - भगवान पहले चाहिये । भगवान कहते हैं - प्रथम तुझ में मग्नता चाहिये, आज्ञा-पालन चाहिये । पता नहीं यह ‘अनवस्था’ कब टलेगी ?

भगवान तो कृतकृत्य हैं । हम कुछ करें या न करें, उनका कुछ बनता या बिगड़ता नहीं है, परन्तु हमारे लिए निष्क्रिय रहना अत्यन्त खतरनाक है । हम संसार में फंसे हुए हैं, अतः ‘अनवस्था’ के इस दुष्चक्र को हमें ही तोड़ना पड़ेगा । हमारी ओर से पहल होनी चाहिये ।

हम नम्र बनेंगे । हम जब सम्मुख आयेंगे, आज्ञा-पालन करने की सम्पूर्ण तत्परता बतायेंगे, तब प्रभु की अनुराध कृपा की हम पर वृष्टि होती रहेगी । तब हमें समझ में आयेगा कि भगवान तो अनुराध कृपा की वृष्टि कर ही रहे थे, परन्तु मैं ही अहंकार का छाता ओढ़ कर घूम रहा था । मेरा ही पात्र उल्टा था या उसमें छिद्र था ।

✿ जो कोई परमात्मा है वे कभी अन्तरात्मा थे । आज अन्तरात्मा है वे कभी बहिरात्मा थे । हम यदि अन्तरात्मा है तो बहिरात्मा हमारा भूतकाल है । परमात्मा हमारा भविष्य है ।

बहिरात्म दशा में प्रभु दूर है, चाहे वे समवसरण में हमारे समक्ष ही क्यों न बैठे हों । यह दूरी क्षेत्र की नहीं, भावना की है । भगवान चाहे क्षेत्र से दूर हो, परन्तु ध्यान से यहीं पर विद्यमान है, यदि हम मन-मन्दिर में प्रभु को बिठावें ।

✿ किसी को ध्यान सीखना नहीं पड़ता । ध्यान सीखा हुआ है । अलबत्ता, अशुभ ध्यान, आर्त्त-रौद्र ध्यान ! अब उसे शुभ में बदलने की आवश्यकता है । 'धर्म-ध्यान, शुक्लध्यान ध्याया नहीं ।' इस पंचम काल में शुक्लध्यान का अंश भी नहीं आ सकता होता तो इस तरह लिखा न होता ।

✿ 'शरीर मैं हूँ' : बहिरात्मा,

'आत्मा मैं हूँ' : अन्तरात्मा,

'परम चैतन्य मैं हूँ' : (कर्म चले गये हैं) - परमात्मा

विषय-कषायों का आवेश, तत्त्वों के प्रति अश्रद्धा, गुण-द्वेष (स्वयं में तो गुण न हों, गुणी का भी द्वेष होगा) आत्मा का अज्ञान - ये सब बहिरात्मा के लक्षण हैं ।

तत्त्वश्रद्धा, आत्मज्ञान, महाव्रतों का धारण, निरतिचार पालन, अप्रमाद, आत्म-जागृति, मोह की जय (परमात्मा को क्षय होता है) - ये समस्त अन्तरात्मा के लक्षण हैं

मोह का उदय : बहिरात्मा : १ से ३ गुणस्थानक ।

मोह का जय : अन्तरात्मा : ४ से १२ गुणस्थानक ।

मोह का क्षय : परमात्मा : १३-१४ गुणस्थानक + मुक्ति

• • • • •



१३-७-१९९१, सोमवार
आषा. व. ३०

✽ मुझे जो प्राप्त हुआ है, वह मेरे बाद की पीढ़ी को भी प्राप्त हो, सरल भाषा में प्राप्त हो, ऐसी करुणा-भावना से यशोविजयजी आदि महापुरुषों ने ग्रन्थों का सृजन किया है ।

मार्ग में आने वाले माईल के पत्थर या बोर्ड जिस प्रकार पीछे आने वालों के लिए महत्त्वपूर्ण होते हैं, उस प्रकार ग्रन्थ भी साधकों के लिए साधना के मार्ग में महत्त्वपूर्ण है, अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है ।

मित्रा आदि चार दृष्टि में क्रमशः बहिरात्म-भाव कम होता जाता है । सम्पूर्ण बहिरात्म-भाव का नाश तो पांचवी दृष्टि में ही (चोथे गुण स्थानक) में ही होता है ! चोथे में मिथ्यात्व जाता है, पांचवे में अविरति जाती है, छठे में पूर्णतः अविरति जाती है, सातवे में प्रमाद जाता है, बारहवे में कषाय-मोह जाता है (अन्तरात्म दशा) तेरहवे में अज्ञान जाता है, चौदहवे में योग जाता है (परमात्मदशा) साधना का प्रारम्भ चोथे गुण स्थानक से होता है ।

✽ जितने अंशों में परस्पृहा, उतने ही अंशों में दुःख है । धन, मान, पद, प्रतिष्ठा आदि अधिकाधिक दुःखी बनाने वाले है,

यह ध्यान में रखे । ज्यों ज्यों इन सब से निःस्पृहता बढ़ती जायेगी, त्यों त्यों आनन्द बढ़ता जायेगा । इसी जीवन में इसका अनुभव किया जा सकता है ?

निःस्पृहता अर्थात् समता, समता में सुख ।

स्पृहा अर्थात् ममता, ममता में दुःख ।

✿ शक्ति के रूप में (बीज रूप में) हम परमात्मा हैं, परन्तु व्यक्ति के रूप में इस समय अन्तरात्मा बने तो भी बहुत है ।

इस समय हम यदि बहिरात्मा हैं तो शक्ति से अन्तरात्मा एवं परमात्मा हैं । यदि हम अन्तरात्मा हैं तो शक्ति से परमात्मा हैं ।

✿ वाणी का प्रयोग कहाँ तक ? काया की - मन की प्रवृत्ति कहाँ तक ?

केवली भी तीनों योगों का निरोध चौदहवे गुण स्थानक में करते हैं । इसका अर्थ यह हुआ - तीनों योगों की सम्यक् प्रवृत्ति केवली को भी होती है ।

✿ 'परमात्मा तो परब्रह्म स्वरूपी है ही, परन्तु हम तो उनके वचनों से भी परब्रह्म की झलक का अनुभव करते हैं', इस प्रकार यशोविजयजी खुमारीपूर्वक कहते हैं । यह अभिमान नहीं है, अनुभव की झलक से उत्पन्न होनेवाली खुमारी है ।

✿ ज्ञानसार में 'ब्रह्माध्ययन निष्ठावान्' आता है । ब्रह्माध्ययन कौन सा समझे ? परब्रह्म-अध्ययन अर्थात् आचारांग का प्रथम श्रुतस्कंध ।

✿ 'प्रभु-पद वलग्या ते रह्या ताजा, अलगा अंग न साजा रे' - पद अर्थात् चरण । चरण का अर्थ पैर के अलावा चारित्र भी है, चारित्र अर्थात् आज्ञा-पालन । जिन्होंने आज्ञा-पालन किया वे तर गये और जिन्होंने आज्ञा-भंग किया वे डूब गये ।

✿ पू. उपाध्याय महाराज निखालस रूप से अपनी स्थिति स्पष्ट करते हुए कहते हैं :

अवलम्ब्येच्छायोगं पूर्णाचारासहिष्णवश्च वयम् ।

भक्त्या परममुनीनां, तदीय - पदवीमनुसरामः ॥

इच्छायोग का आलम्बन लेकर हम चारित्र का पालन करते हैं । पूर्ण आचार का पालन करने के लिए हम समर्थ नहीं हैं । परम मुनियों की भक्ति से हम उनके मार्ग का अनुसरण करने का

प्रयत्न करते हैं ।

‘श्रुत-अनुसार नवी चाली शकीये, सुगुरु तथाविध नवी मिले रे, क्रिया करी नवी साधी शकीये, ए विखवाद चित्त सघले रे ॥’

इस प्रकार पूर्व महापुरुष स्वयं बोलते हैं तब ‘मैं ही शास्त्रानुसारी हूँ, अन्य सब मिथ्यात्वी हैं ।’ इस प्रकार तो कोई मूढ़ ही बोल सकता है ।

❖ प्रश्न : भाव नमस्कार होने के पश्चात् गणधर नमुत्थुण आदि के द्वारा क्यों नमस्कार करते हैं ।

उत्तर : अभी तक उच्च कक्षा का नमस्कार (सामर्थ्य योग का) शेष है, इस लिए करते हैं, अभी तक लक्ष्य तक पहुँच नहीं पाये हैं इसलिए करते हैं ।

❖ अप्काय, तेउकाय और चौथे व्रत की विराधना अनन्त संसारी बनाती है, इस प्रकार महानिशीथ में जोर देकर कहा गया है । ‘जत्थ जलं तत्थ वणं’ (अनन्तकाय) । अतः जल में महादोष है । अग्नि सर्वतोभक्षी है । अब्रह्म महामोहरूप है । विराधना से बंधनेवाले कर्मों से यदि नहीं चेतेंगे तो हमारा क्या होगा ?

अमुक कर्म ज्ञान, ध्यान या तप से नहीं, परन्तु भोगने से ही जाते हैं । कर्म बंधने में कोई विलम्ब नहीं लगता, केवल अन्तर्मुहूर्त में बंध सकते हैं ।

❖ परम्परा का भंग करना अत्यन्त ही भारी दोष है ।

चतुर्दशी को नवकारसी करनेवाले, नित्य आधाकर्मी का सेवन करनेवाले जोग कैसे कर सकते हैं ? अब उनका स्वास्थ्य किस प्रकार सुधर गया ?

तिथि का भी बहुमान गया ? प्रणालिका का भंग करना महान दोष है । आगामी पीढ़ी सब उस मार्ग पर चले, जिसका पाप पहल करनेवाले को लगता है ।

❖ दूसरे कोई मुझे कह दे - तू लघुकर्मी है, निकट मुक्तिगामी है, उसमें मुझे विश्वास नहीं है । प्रभु यदि मुझे कह दे - ‘तू भव्य है तो मैं प्रसन्न हो जाऊँ ।’ इस प्रकार पू. देवचन्द्रजी महाराज जैसे भी कहें तो हमारी प्रार्थना कैसी होनी चाहिये ?

• • • • •



१४-७-१९९९, बुधवार
आषा. सु. २

कोई भी शुभ किया यदि अनुबन्धयुक्त नहीं बनेगी तो वह मोक्षप्रद नहीं बन पायेगी । अपुनर्बन्धक भाव आने के बाद सानुबन्ध क्षयोपशम की वृद्धि होती है । अनुबन्ध विहीन वर्तमान के संयम आदि गुण भवान्तर में साथ नहीं आते । अमृतआस्वादकरी, विषक्षयकरी यह सानुबन्ध क्षयोपशम की वृद्धि होती है । वह भोग-रस से रलित नहीं होता, भोगों का उपभोग करें फिर भी । 'चाख्यो रे जेणे अभी - लवलेश, बीजा रे रस तेने मन नवि गमेजी ।'

❖ 'दर्शनपक्षोयम् अस्माकम्, यह हमारा दर्शनपक्ष है ।' यहां ज्ञानपक्ष नहीं लिखा । ऐसे शास्त्रों का अध्ययन सम्यग्दर्शन को निर्मल बनाता है ।

अभी की हमारी श्रद्धा मांग मांगकर लाये गये आभूषणों के समान है, उधार है । हमारी समझ से आई हुई श्रद्धा नहीं है, स्वयंभू नहीं है । 'गुरु की, शास्त्रों की बात माननी चाहिये ।' ऐसी समझ में से उत्पन्न है । दर्शन-शास्त्रों के अध्ययन से हमारी स्वयं की समझ बनती है ।

✽ विधिकथनं विधिरागो विधिर्मागस्थापनं विधीच्छूनाम् ।

अविधिनिषेधश्चेति, प्रवचनभक्तिः प्रसिद्धा नः ॥

विधि बतानी, विधि के प्रति राग रखना, विधि के अभिषालियों को विधि मार्ग में जोड़ना, अविधि का निषेध करना, यही हमारी प्रवचन-भक्ति है, यह कहनेवाले यशोविजयजी में हमें उत्कट श्रद्धा के दर्शन होते हैं। उन्होंने उस युग के ढुंढक, बनारसीदास आदि के कुमर्तों का खण्डन करने के लिए ग्रन्थ लिखकर अविधि का निषेध किया है।

✽ विधि के प्रति राग अर्थात् आगम, भगवान एवं गुरु के प्रति राग समझें।

✽ पूर्ण पद की अभिलाषा तब सत्य मानी जाये, जब हम अपने तप, ज्ञान, दर्शन आदि को यथासम्भव पूर्णकक्षा तक पहुंचाने का प्रयत्न करें।

शुद्धि के केवल पक्षपात से नहीं चलता, यथासम्भव हमें उसे जीवन में उतारना चाहिये।

✽ जो साधु-साध्वी बाह्यक्रिया के आडम्बर से, मैले कपड़ों या शुद्ध गोचरी या उग्र विहार से अभिमान धारण करते हैं, वे न तो ज्ञानी हैं और चारित्र्य से भी भ्रष्ट हैं, यह मानें।

जिन व्यक्तियों में ज्ञान का परिणमन न हुआ हो, वे ही बाह्यक्रिया के आडम्बर का अभिमान रखते हैं। अभिमानी व्यक्ति निन्दक भी होंगे ही।

एक महात्मा गोचरी लिये बिना चले गये। दूसरे और तीसरे महात्मा गोचरी ग्रहण कर के गये। तीसरे महात्मा को भिक्षा प्रदान करने के बाद पूछने पर उन्होंने कहा, 'गोचरी ग्रहण नहीं करनेवाले ढोंगी हैं। हम जैसे हैं वैसे हैं।

इन में भिक्षा ग्रहण नहीं करनेवाले सत्य संयमी थे। दूसरे गोचरी ग्रहण करने वाले संविग्नपाक्षिक थे। तीसरे दम्भी, ढोंगी एवं निन्दक थे।

✽ बालबुद्धि लोग बाह्य क्रियाओं के रसिक होते हैं। वे अन्तःकरण की परीक्षा करनेवाले नहीं होते।

बाल-बुद्धि जीव केवल वेष देखते हैं, मध्यम बुद्धि केवल

आचार का विचार करते हैं परन्तु पण्डित तो आगम-तत्त्वों की समस्त प्रयत्नों से परीक्षा करते हैं - ऐसा पू. हरिभद्रसूरिजी ने षोडशक में कहा है ।

बाल-बुद्धि जीवों को अभिग्रह आदि की, मध्यम जीवों को आचार की, गुरु-सेवा की बात करें, जब कि पण्डित को तात्त्विक बात करें ।

बाल-जीवों की श्रद्धा में वृद्धि करने के लिए उनके समक्ष आचारों का पूर्णतः पालन करें । भले ही आप ध्यानयोग में कितने ही आगे बढ़ गये हों, परन्तु बाह्याचारों का परित्याग नहीं करना चाहिये ।

✽ उपा. यशोविजयजी में से कोई सामान्य भूल भी नहीं निकाल सकता है - ऐसा पू. सागरजी महाराज भी कहते थे । उनका दर्शन-पक्ष कितना सुदृढ़ होगा ? इससे यह बात जानी जा सकती है ।

उपाध्यायजी महाराज की २९ शिक्षाएं

१. निन्दो न कोऽपि लोके,

२. पापिष्ठेष्वपि भवस्थितिश्चिन्त्या ।

किसी की भी निन्दा मत करना । ज्यादा इच्छा हो जाये तो स्वयं की ही निन्दा करें ।

क्या आप यह पूछते हैं कि निन्दा से हानि क्या ? मैं कहता हूँ कि निन्दा से लाभ क्या ? करनेवाले को, सुननेवाले को कि जिसकी निन्दा हो रही है उसे क्या लाभ है ? निन्दा से वह सुधरेगा तो नहीं, परन्तु उल्टा वह आपके प्रति द्वेष रखेगा ।

परन्तु पापी की निन्दा करने की तो छुट है न ?

अविनीत, उद्धत, पापी के प्रति भी भवस्थिति का विचार करें, उसकी निन्दा न करें ।

पापियों को हम तो क्या साक्षात् तीर्थंकर भी नहीं सुधार सकते । उनके प्रति द्वेष करना या उनकी निन्दा करनी, किसी भी तरह से उचित ठहराई नहीं जा सकती ।

* * * * *





१५-७-१९९९, गुरुवार
आषा. सु. ३

ग्रन्थ दिशा-दर्शक हैं । मार्ग-दर्शक बोर्ड का यों कोई मूल्य नहीं प्रतीत होता । हमें कहीं जाना न हो, किसी मार्ग की जांच नहीं करनी हो तो बोर्ड हमें बिल्कुल निरर्थक प्रतीत होता है, परन्तु जब हमें किसी स्थान पर जाना हो, कहीं मार्ग प्रतीत नहीं होता हो, कोई मनुष्य भी कहीं दृष्टिगोचर नहीं होता हो, तब मार्ग-दर्शक बोर्ड पर अचानक हमारी दृष्टि जाती है तो उसका मूल्य समझ में आता है । यहां बैठे-बैठे उस बोर्ड का कोई मूल्य नहीं समझ में आयेगा । जो मार्ग भूले हुए हों, अनुभव हो चुका हो, उन्हें ही बोर्ड का मूल्य समझ में आता है ।

शास्त्र भी ऐसा बोर्ड है, ऐसी तख्ती है । मार्ग खोजनवाले को ही उसका मूल्य समझ में आयेगा । हम सभी को मोक्षनगर में जाना है । साधक को नित्य निरीक्षण करना चाहिये कि मैं कितना आगे बढ़ा ? मार्गानुसारी की भूमिका में आने पर प्रयाण शुरू होता है । अयोगी गुण स्थानक पर प्रयाण पूर्ण होता है । मध्य के गुणस्थानकों में रहे हुए सब मार्ग में है ।

सर्व प्रथम दम्भ-परित्याग की बात कही गई है । हम जैसे

है वैसे नहीं दिखाना, हम न हों वैसे दिखाने का प्रयत्न करना दम्भ है ।

मिथ्याप्रशंसा के समय मौन रहना भी दम्भ है ।

सरलता के बिना मुक्ति तो क्या, समकित भी प्राप्त नहीं होता । संसार में भी दम्भ अविश्वास का कारण बनता है ।

आत्मानुभवाधिकार में साधक को अन्त में २९ शिक्षाएं दी गई हैं । प्रत्येक शिक्षा जीवन में उतारने योग्य है ।

१. किसी की भी निन्दा नहीं करनी चाहिये ।

२. पापी पर भी भवस्थिति का विचार करना चाहिये । साधना को निन्दा कलंकित करती है ।

हम पू. पं. भद्रंकरविजयजी एवं पू. कनक-देवेन्द्रसूरिजी के पास वर्षों तक रहे हैं, परन्तु कभी किसी की निन्दा नहीं सुनी ।

निन्दा करना अर्थात् अपनी पुण्य की सम्पत्ति को अपने ही हाथों नष्ट करना । युधिष्ठिर के मुंह में कदापि निन्दा नहीं थी, क्योंकि उनकी दृष्टि में कोई भी दोषी नहीं था । निन्दा दूर करने के लिए गुणानुसंग होना चाहिये । जहां गुणानुसंग होगा वहां निन्दा प्रविष्ट ही नहीं हो सकेगी ।

मुंबई में हजारों दुकान हैं । आप किसी दुकान पर गये और वहां आपको अमुक वस्तु नहीं मिले, तो आप उस दुकान की निन्दा नहीं करने लगते । अन्य दुकान पर जाते हैं । उसी तरह कोई सम्भवित गुण हमें कहीं दृष्टिगोचर न हो तो उस की निन्दा करने की आवश्यकता नहीं है । सामनेवाले व्यक्ति कोई आपकी अपेक्षा पूर्ण करने के लिये जी रहा नहीं है ।

जिन व्यक्तियों के दुर्गुणों एवं दोषों की हम निन्दा करेंगे, वे ही दोष एवं दुर्गुण हमारे भीतर प्रविष्ट हो जायेंगे । चोर एवं डाकुओं को क्या आप कभी घर में बुलाते हैं ? दोष चोर एवं डाकू हैं । मेरे भीतर हैं उतने दोषों को भी मैं सम्हाल नहीं सकता तो दूसरों को किसलिए बुलाऊं ?

यदि कोई दोषों के सम्बन्ध में कह रहा हो तो उन्हें सुने भी नहीं । यदि कारणवश सुनने योग्य परिस्थिति हो तो उस स्थान को छोड़ कर चले जायें ।

दोष दुर्गति में ले जाते हैं । क्या आप दुर्गति में जाने के लिए तैयार हैं ? चंडकौशिक को दुर्गति में भी भगवान महावीर मिले थे । क्या हमें कोई भगवान महावीर मिलें, ऐसा विश्वास है ? कितनी उत्कृष्ट आराधना का पुण्य संचित होगा कि साक्षात् तीर्थंकर से मिलन हुआ ? क्या आपने इस पर कभी चिन्तन किया है ?

उस जीव का उद्धार करने के लिए भगवान ने कितना जोखिम उठाया ?

❖ कई बार शब्द भी धोखा करनेवाले होते हैं । उद्योग जैसे शब्दों का अपमान 'मत्स्योद्योग' आदि में दृष्टिगोचर होता है । 'औषधि' जैसे शब्दों का अपमान 'चूहे मारने की दवाई' में देखने को मिलता है । औषधि हमें जिलाती है या मारती है ? जो मारने का कार्य करे उसे भी औषधि कही जाये तो फिर विष किसे कहेंगे ?

३. पूज्या गुणगरिमाऽऽढ्याः ।

गुण-गरिमा से मण्डित पूज्य पुरुषों का सम्मान करना ।

गुणों से ही महान् बना जा सकता है, पद से, शिष्य-परिवार से या भक्तवर्ग से नहीं ।

पूज्य की पूजा करने से पूजक में पूज्यता आती है ।

गुण का नियम है - सम्मान किये बिना कभी नहीं आते ।

भवस्थिति की परिपक्वता के लिए तीन उपायों में 'शरणागति' सर्व प्रथम उपाय है । चार का शरण किस लिए ? वे गुणों से मण्डित हैं । उनकी शरण लेने से उनके गुण हमारे भीतर आ जाते हैं ।

गुण हमारे भीतर पड़े हुए ही हैं । कर्मोंने उन्हें ढक लिया है । कर्मों का काम गुणों का ढकना है । गुणों के सम्मान का काम गुणों को प्रकट करना है । जिन गुणों का सम्मान होता जाये वे वे गुण हमारे भीतर अवश्य आ जाते हैं । आपको कौन सा गुण चाहिये ? जीवन में किसका अभाव है ? वह देखें । जिस गुण का अभाव है उसका अन्तर से सम्मान करें । वह गुण आपके भीतर अवश्य आ जायेगा ।

गुणी की पूजा करनी चाहिये । किस तरह पूजा करेंगे ? मन, वचन एवं काया से पूजा करेंगे । मन से सम्मान, वचनों

से प्रशंसा और काया से सेवा करके पूजा करेंगे ।

इसका नाम ही पूजा है ।

गुणी की पूजा कब होगी ? गुणों का आदर होगा तब ।

४. धार्यो रागो गुणालवेऽपि ।

थोड़ा भी गुण जहां कहीं दृष्टिगोचर हो तो, उसके प्रति आदरभाव होना चाहिये ।

अन्य के गुणों के प्रति राग रखने से हमें क्या लाभ ? उसके पुण्य की, धर्म की अनुमोदना होगी । पुण्य के बिना गुण नहीं आते । पुण्य-धर्म की अनुमोदना से हमारे भीतर भी वे गुण आ जायेंगे ।

अब इससे विपरीत करें । थोड़ा भी अपना दोष हो, उसके प्रति धिक्कार-भावना उत्पन्न करके उसे निकाल दो । परन्तु हम विपरीत कार्य करते हैं ।

अन्य के पर्वत तुल्य गुण भी हम देख नहीं सकते और अपने कण जितने गुण भी मण जितने मानते हैं ।

५. 'ग्राह्यं बालादपि हितम् ।'

हितकारी बात बालक के पास भी स्वीकार कर लेनी चाहिये । पू. पं. भद्रंकर विजयजी के पास यह अनेक बार देखने को मिला । छोटा बालक भी नवकार गिनता तो उसे देखकर प्रसन्न होते ।

६. 'आलापैः दुर्जनस्य न द्वेष्यम्'

दुर्जन के बकवास से क्रोधित नहीं होना ।

अनेक बार शास्त्रकार सज्जनों से पूर्व दुर्जनों की स्तुति करते हैं, क्योंकि दुर्जन नहीं होंगे तो मेरा शास्त्र शुद्ध कौन करेगा ? दुर्जन यदि नहीं होते तो सज्जनों की कदर कैसे होती ?

सज्जनों को विपरीत प्रकार से प्रसिद्ध करनेवाले दुर्जन ही हैं ।

क्या आप जानते हैं कि राम को ख्याति दिलानेवाला रावण था ? यदि रावण का पृष्ठभाग काला नहीं होता तो राम की शुभ्रता हमें शायद प्रतीत न होती ।

• • • • •



१६-७-१९९९, शुक्रवार
आषा. सु. ४

खारे समुद्र में क्या मधुर जल उपलब्ध हो सकता है ? शृंगी मत्स्य मधुर जल प्राप्त कर लेता है । इस कलिकाल में क्या उत्तम जीवन प्राप्त हो सकता है ? प्राप्त करनेवालों को अवश्य मिल सकता है । उत्तम आचार्य, मुनि, साध्वी, श्रावक, श्राविका ये सब कलियुग के कड़वे (खारे) समुद्र में उत्तम जीवनरूपी मधुर जल पीनेवाले हैं । विष भी अमृत बन जाता है, यह इसे ही कहा जाता है ।

मधुर जल कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? पू. उपा. यशोविजयजी हमें वही कला सिखाते हैं । उत्तमता का पहला चिह्न (लक्षण) है कि 'किसीकी भी निन्दा नहीं करना ।'

✽ महानिशीथ में आचार्य + राजा का वार्तालाप :

आचार्य : चक्षु कुशील का नाम भी नहीं लिया जाता ।

राजा : क्यों ?

आचार्य : 'उसका नाम लेने से भय उत्पन्न होता है, भोजन भी प्राप्त नहीं होता ।'

राजा : 'मुझे यह प्रयोग करना है ।'

आचार्य : 'ऐसा मत करना ।'

राजा के नाम लेते ही समाचार मिला - 'आपके नगर पर शत्रु-सेना ने आक्रमण कर दिया है।' राजा घबराया।

अब्रह्मचारी के नाम में ऐसी शक्ति हो तो क्या ब्रह्मचारी के नाम में नहीं होगी ? राजकुमार ने संकल्प किया, 'यदि मैंने मन, वचन, काया से शील का पालन किया हो तो उपद्रव का शमन हो जाये।' शत्रु-सेना के हाथ रुक गये।

इसीलिए ही 'भरहेसर सज्जाय' में उत्तम पुरुषों के हम नाम लेते हैं। 'जेसि नामगहणे पावप्पबन्धा विलयं जंति।' व्यक्ति उत्तम तो नाम उत्तम, रूप उत्तम, दर्शन उत्तम, सभी उत्तम !

६. आलापैः दुर्जनस्य न द्वेष्यम्। धोबी तो वस्त्र धोने के रुपये लेता है। ये दुर्जन तो निःशुल्क हमारा मैल धोते हैं। धोबी मैल फैक देता है, जबकि दुर्जन उसे अपनी जीभ पर रखते हैं।

जो वाणी हमें प्रभु के गुण गाने के लिए प्राप्त हुई है, उसके द्वारा दूसरों की निन्दा ? वाणी का यह कैसा दुरुपयोग है ? जिस स्थान पर लाख रुपये कमाये जा सकते हैं, उस दुकान में क्या घाटे का धंधा करे ? ऐसे कितने ही जीव हैं जिन्हें जीभ प्राप्त नहीं हुई। वाणी का दुरुपयोग वाणी विहीन (जीभ-विहीन) भवों में ले जायेगा। यदि संसार के समस्त गुणों के दर्शन एक ही व्यक्ति में करना चाहें तो, परमात्मा को पकड़ लें।

'महतामपि महनीयो' बड़ों के लिए भी पूजनीय ऐसे प्रभु हमारी स्तुति के विषय बनें, ऐसा हमारा सौभाग्य कहाँ ?

७. 'त्यक्तव्या च पराशा'

'पारकी आशा सदा निराशा' 'पर' अर्थात् 'स्व' के अलावा सब। आपके कार्य आपको ही करने पड़ेंगे, अन्य व्यक्ति नहीं कर सकेंगे। जितना कार्य करेंगे उतनी स्फूर्ति रहेगी। वीर्यान्तराय का क्षयोपशम होगा। बाहुबली को याद करें।

देह को श्रम होगा तो रोग नहीं होंगे। यदि परिश्रम नहीं करोगे तो रोगी बनोगे। गौतम स्वामी 'छट्ठ' के पारणे पर भी स्वयं गोचरी लाने जाते। उनकी दृष्टि में इसके दो लाभ होंगे :

१. भगवान का लाभ मिलेगा, २. स्वाश्रयिता बनी रहेगी।

‘काम लगेगा’ - इस आशा से शिष्य आदि भी नहीं किये जाते ।

‘मैं कार्य करूँगा तो मेरी पोज़िशन का क्या ?’ यह विचार मोह के घर का है । जो पर की आशा में रहे वे सर्वथा रह गये ।

एक ही हाथ में रही हुई पाँचों अंगुलियाँ समान नहीं हैं । लम्बी - छोटी हैं । तो फिर हमारे आसपास के समस्त जीव समान कैसे हो सकते हैं ? ‘जगत् जीव है कर्माधीन, अचरिज कछुअ न लीना’ । अतः कोई काम न करे तो हमें भी नहीं करना, इस प्रकार की भावना न अपनायें ।

८. ‘पाशाः इव सङ्गमाः ज्ञेयाः’ - संयोगों को पाश तुल्य समझें ।

संयोग उत्तम प्रतीत होते हैं, परन्तु ये ही फन्दे हैं । मछली को गल में मांस प्रतीत होता है, परन्तु वही उसके गले का फन्दा बनता है । जगत के समस्त संयोग बन्धन हैं । बन्धन में कभी आनन्द नहीं होता । बन्धन अर्थात् पराधीनता, पराधीनता में आनन्द कैसा ?

९. ‘स्तुत्या स्मयो न कार्यः :’ सज्जनों की यह सज्जनता है कि आपके तुच्छ गुणों की भी वे अत्यधिक प्रशंसा करते हैं ।

स्वप्रशंसा सुनते समय आप मन्द मन्द मुस्करायें नहीं । स्कंध ऊंचे न करें । अपना कार्य कराने के लिए कभी कोई आदमी आपकी मिथ्या प्रशंसा भी कर सकता है । चौंच में पकड़ी हुई ‘पुड़ी’ प्राप्त करने के लिए सियार ने कौए की प्रशंसा की थी, वह वार्ता आपको याद है न ?

शायद वह शुभ भाव से भी प्रशंसा करे । प्रशंसा करना उसका कर्तव्य है, परन्तु अभिमान करना आपका कर्तव्य नहीं है । परिनिंदा करना-सुनना पाप है, उस प्रकार स्वप्रशंसा करना-सुनना भी पाप है ।

पर-निंदा से फिर भी बचा जा सकता है, स्वप्रशंसा से बचना मुश्किल है, यह अनुकूल उपसर्ग है, मीठा झहर है । दुःख फिर भी हजम किया जा सकता है, सुख को हजम करना मुश्किल

है । यह बहुत ही बड़ा भय-स्थान है ।

लोगों की आवन-जावन एक पलिमंथ (विघ्न) है । इससे अभिमान करेंगे तो बात खतम हो गई ।

स्व-प्रशंसा हम करेंगे तो नहीं, किन्तु कोई कर रहा हो तो हम मुस्कराएं भी नहीं, इस प्रकार उपा. यशोविजयजी कहते हैं ।

लेखक, चिन्तक, वक्ता, प्रतिष्ठित पुरुष हम बन जाय, इसमें बहुत बड़ा खतरा है, मोहराजा की बड़ी चाल है ।

पहचान बढेगी उतने गोचरी के दोष बढेंगे । इसलिए ही अज्ञात-अपरिचित घरों में से लाने का विधान है । अज्ञात घरों में से निर्दोष गोचरी आने पर कितना आनंद आये ? मन-चाही वस्तु का नहीं, किन्तु निर्दोषता का आनंद ! निर्दोष गोचरी में भी लास्ट में मांडली के पांच दोषों का सेवन करें तो सब व्यर्थ !

पूर्वपुरुष महान शासन-प्रभावक होने पर भी उन्होंने गर्व नहीं किया तो हम कौन से बड़े प्रभावक ?

आचार्य सुस्थित सूरिजी ने इतनी प्रतिष्ठाएं कराई, फिर भी कहीं प्रतिमा पर नाम पढा ? पत्रिका या शिलालेख में हमारा नाम न आने पर हम आग-बबूला हो जाते हैं ।

गौतम स्वामी ने अपना शिष्य-परिवार सुधर्मा स्वामी को सौंप दिया । अतः पूरी परंपरा में गौतम स्वामी का कहीं नाम नहीं ! नाम गया तो क्या गौतम स्वामी दुःखी हो गये थे ?

♦ ♦ ♦ ♦ ♦





वांकी (कच्छ) घातुर्मास प्रवेश, वि.सं. १०५५

१७-७-१९९९, शनिवार

आषा. सु. ५

तीर्थ के आलम्बन से अनेक व्यक्ति तर गये, तर रहे हैं और तरेंगे । उस तीर्थ को स्थायी रखने के लिए हमारे पूर्व आचार्यों ने अत्यन्त ही परिश्रम किया है । उसके द्वारा जो आत्मिक आनन्द प्राप्त किया, वह आनन्द सभी को प्राप्त हो, उसके लिए अनेक ग्रन्थों की रचना की गई, जिनमें हरिभद्रसूरिजी के ग्रन्थ सर्वोपरि हैं ।

श्री संघने यशोविजयजी को 'लघु हरिभद्र' के रूप में सम्मानित किया है । उनके ग्रन्थ भी आज प्रकाश-स्तम्भ के रूप में गिने जाते हैं ।

१०. कोपोऽपि च निन्दया जनैः कृतया (न कार्यः) - लोगों की निन्दा के कारण क्रोध नहीं करना ।

स्तुति से प्रसन्न नहीं होना है और निन्दा से क्रोधित नहीं होना है । दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं । यदि आप स्तुति से प्रसन्न होंगे तो निन्दा से क्रोधित होंगे ही । जहां एक हो वहां दूसरा न हो, ऐसा प्रायः होता नहीं है ।

हमारी प्रशंसा शायद लोगों के लिए कल्याणकारी सिद्ध हो, परन्तु हम यदि अभिमान करने लगे तब तो डूब गये समझो ।

पर-निन्दा से भी स्व-प्रशंसा करना, सुनना, सुनवाना अमुक

अपेक्षा से बड़ा पाप है । प्रशंसा की यह रस्सी ऐसी है कि यदि अन्य व्यक्ति पकड़े तो तर जायेंगे और स्वयं पकड़े तो डूब जायेगा । स्व-प्रशंसा एक ज्वर है जिसके लिए गोली चाहिये । पूर्वाचार्यों की महानता के चिन्तन रूप गोली से यह ज्वर उतर जाता है ।

अन्य की प्रशंसा से हमारे गुण बढ़ते हैं, स्व-प्रशंसा से हमारे गुण घटते हैं और अहंकार बढ़ता है । सद्गुण आते रहे और आये हुए सद्गुण सुरक्षित रहे, उसके लिए हमें सावधान रहना आवश्यक है । सद्गुण रत्न हैं । मोहराजा अभिमान कराकर हमें लुटवाना चाहता है । बुद्धि आदि शक्ति हमें भगवान के प्रभाव से प्राप्त हुई है, जिसे भगवान की सेवा में प्रयुक्त करनी है । 'अच्छ हो वह भगवान का, बुरा हो वह हमारी भूल का,' ऐसा मानें ।

आपकी प्रशंसा हो वह मोहराजा को कैसे प्रिय लगेगी ? अतः वह आपको गिराने के लिए मधुर विष देता है - स्व-प्रशंसा का, अभिमान का ।

जब स्व-प्रशंसा की अपेक्षा मिट जायेगी तब आप लोक-निन्दा से विचलित नहीं होओगे । क्षमा, तप आदि गुण भले ही आयें परन्तु क्षमावान, तपस्वी आदि कहलवाना नहीं । गुणों को सार्वजनिक न करें । रत्न कदापि सार्वजनिक रूप में रखे नहीं जाते ।

सद्गुणों की प्राप्ति एवं सुरक्षा केवल भगवान की कृपा से ही सम्भव बनती है ।

११. 'सेव्या धर्माचार्याः' - भगवान महावीर के केवल ७०० ही केवली थे । गौतम स्वामी के पचास हजार शिष्य केवली थे, फिर भी गौतम स्वामी ने अभिमान नहीं किया कि मेरे समस्त शिष्य केवली हैं । यह किसका प्रभाव है ? धर्माचार्यों की सेवा का प्रभाव है । धर्माचार्यों की सेवा कैसी अद्भुत है ? गुरु छद्मस्थ होते हुए भी शिष्य केवली !

गौतम स्वामी भी कैसे विनयी थे ? गुरु की आज्ञा से वे एक श्रावक (आनन्द) से मिच्छामि दुक्कडं मांगने जाते हैं ।

भगवान की भक्ति के प्रभाव से केवलज्ञान प्रदान करने की लब्धि उनमें प्रकट हुई थी । उनका जीवन बताता है - आप यदि सच्चे अर्थ में शिष्य बनेंगे तो ही सच्चे अर्थ में गुरु बन सकेंगे ।

हम जो कुछ करेंगे उसकी परम्परा चलेगी ।

हमें यदि एकासणा करनेवाले नहीं दिखे होते तो हम यहाँ एकासणे कहाँ करते ? चाय पीने की आदत कैसे छोड़ते ?

पू. कनकसूरिजी महाराज की भव्य परम्परा प्राप्त हुई है ।

स्वास्थ्य बिगड़ता तो एकासणा छोड़ने की अपेक्षा वे गोमूत्र लेना पसन्द करते थे । पू. कनकसूरिजी ने हमें यह सब वाचना से नहीं, जीवन से सिखाया है । बोलते रहने की तो हमारी आदत है ।

गुरु की सेवा अर्थात् केवल गोचरी-पानी लाने की ही नहीं, आज्ञा-पालन स्वरूप सेवा चाहिये ।

गोचरी के समय 'वापरुं' अथवा संधार के समय 'संधार करुं' ऐसी आज भी हमें आदत है ।

इसके प्रभाव से कई बार कटोकटी में मार्ग मिला है, संस्कृत की कठिन पंक्तियों के अर्थ भी समझ में आ गये हैं ।

पण्डित ब्रजलालजी के पास जामनगर में वि.संवत् २०१८ में न्याय का अध्ययन चल रहा था । प्रथम पाठ में ही एक पंक्ति में गाड़ी रुक गई, परन्तु गुरु-कृपा से उक्त कठिन पंक्ति भी समझ में आ गई ।

१२. 'तत्त्वं जिज्ञासनीयं च ।' गुरु-सेवा करूंगा तो वे मुझे पद प्रदान करेंगे, इस आशा से नहीं, परन्तु निःस्पृह भाव से सेवा करें । सेवा करते-करते तत्त्व-जिज्ञासा गुरु के समक्ष रखें ।

आत्मा केवल स्व-संवेदन से जानी जाती है अथवा केवली जान सकते हैं । इस प्रकार के आत्म-तत्त्वादि को जानने की अभिलाषा उत्पन्न होना भी बहुत बड़ी उपलब्धि है ।

❖ कर्म चक्रव्यूह का भेदन धर्मचक्र के द्वारा ही सम्भव है ।

अर्जुन के अतिरिक्त कोई चक्रव्यूह का भेदन जानता नहीं था, द्रोणाचार्य को यह पता था । अतः अर्जुन की अनुपस्थिति में चक्रव्यूह की रचना की थी । अब उस चक्रव्यूह को कौन भेदेगा ? अन्त में, अभिमन्यु तैयार हो गया : मैं इसे भेद कर भीतर प्रवेश कर सकता हूँ, परन्तु मैं उसमें से बाहर निकलने की कला नहीं जानता ।

अभिमन्यु ने यह कला गर्भ में सीखी थी । इस पर से मैं अनेक बार कहता हूँ कि माता बालक को गर्भ में संस्कार प्रदान कर सकती है । माता पर सन्तान का बड़ा आधार है ।



मेरी मातुश्री खमा-क्षमाबेन अत्यन्त ही धार्मिक वृत्ति की थी। जब मैं मुक्तिचन्द्रविजयजी की माता भमीबेन को देखता हूँ तो मुझे मेरी मातुश्री याद आती है। आकृति एवं प्रकृति से वे बिल्कुल ऐसी ही थीं। मनफरा में जब प्रथम बार मैंने भमीबेन को देखे तो मुझे प्रतीत हुआ कि ये क्षमाबेन यहां कहां से ? वे अत्यन्त भद्रिक एवं सरल प्रकृति की थीं।

❖ एक और सेवा और दूसरी और तत्त्व-जिज्ञासा - दोनों में से क्या पसन्द करना ? पू. कनकसूरिजी महाराज के जाने के बाद प्रेमसूरिजी महाराज का पत्र आया - अब अगले अध्ययन हेतु आ जाओ। देवेन्द्रसूरि महाराज ने कहा, 'मेरा क्या ?'

बस, हम सेवा में रुक गये।

❖ अंजार में पू. पं. भद्रंकरविजयजी महाराज का पत्र आया : ध्यान-विचार ग्रन्थ का एक बार अवलोकन कर लें। मैं परेशान हो गया, इन भेद-प्रभेदों के चक्कर मैं कोन पड़े ? परन्तु पंन्यासजी महाराज पर पूर्ण विश्वास था। थोड़ा परिश्रम किया तो अत्यन्त ही आनन्द आया, ग्रन्थ समझ में आ गया।

'जिनवर-जिन-आगम एक रूपे' - यह पंक्ति यदि सचमुच हम मानते हों तो ग्रन्थ में परेशानी कैसे ?

मेरे और मेरे वचनों में भेद है ? यदि यह भेद नहीं हो तो भगवान एवं भगवान के वचनों में भेद कैसे हो सकता है ? भगवान के वचन अर्थात् आगम।

फिर तो ध्यान-विचार में से जो पदार्थ प्राप्त हुए हैं, वे अन्य कहीं से प्राप्त नहीं हुए। मुझे लगा 'यह तो आगम ग्रन्थों का ही एक टुकड़ा है। पक्खिसूत्र में लिखा है - 'ज्ञाण विभक्ति', ध्यान विभक्ति, उसका ही यह (ध्यान विचार) एक अंश हो, ऐसा प्रतीत हुआ। उसकी शैली भी आगम जैसी। नय, सप्तभंगी आदि उसीके अनुसार।

❖ चौदह पूर्व चौदहपूर्वी को अन्तिम समय में याद नहीं रहते। नवकार ही याद रहता है। उस अपेक्षा से १४ पूर्वों से नवकार का महत्त्व बढ़ जाता है। इसी लिए मैं आगन्तुकों के पास नवकारवाली के नियम का आग्रह रखता हूँ।



बाबा (बाबा) महात्मा जवाहर लाल नेहरू

‘श्री पंचवस्तुक ग्रन्थ प्रारम्भ’

१८-७-१९९९, रविवार

आषा. सु. ६

हरिभद्रसूरिजी के ग्रन्थ हमारे लिए दीपक हैं। घोर कलियुग अर्थात् भयानक अन्धकार। अन्धकार के अनुभव के बिना दीपक की महिमा समझ में नहीं आती।

ग्रन्थ के द्वारा ग्रन्थ-प्रणेता का परिचय प्राप्त होता है। इतनी छोटी सी जिन्दगी में ऐसे ग्रन्थों की रचना कैसे की होगी? विहार करना, संघ के कार्य करना, शासन के कार्य करना, स्वयं अध्ययन करना, शिष्यों आदि को अध्यापन करना - यह सब वे किस प्रकार कर सके होंगे? उनकी कितनी अप्रमत्त दशा होगी? यह सोचते-सोचते हृदय गद्-गद् हो जाता है।

☆ जो आये उन्हें प्रवेश देने का कार्य पांजरपोल को अनुकूल है, हमें अनुकूल नहीं लगता। अतः दीक्षार्थी के गुणों का अवलोकन एवं परीक्षण आवश्यक है। गुरु कैसे होने चाहिये? आदि बातों का वर्णन भी इस पंचवस्तुक ग्रन्थ में आयेगा।

☆ महापुरुषों के समीप रहने का बड़ा लाभ यही है कि

कहे कलापूर्णसूरि - १ ***** ४५

उनके जीवन का प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त होता है । हमें देखने को मिलता है कि वे प्रत्येक के साथ किस प्रकार व्यवहार करते हैं ।

✿ पंचवस्तुक की टीका का नाम है - शिष्यहिता ।

✿ उपयोगहीन वन्दन - द्रव्य, कांच का टुकड़ा ।

उपयोग सहित वन्दन - भाव, चिन्तामणि रत्न ।

द्रव्य-वन्दन मात्र काय-क्लेश गिना जाता है । यदि भाव-वन्दन एक बार भी हो जाये तो ? 'इक्कोवि नमुक्कारो तारेइ नरं व नारि वा ।'

अनुक्रमणिका (पंचवस्तुक की)

१. प्रव्रज्याविधान, २. प्रतिदिन क्रिया (समाचारी), ३. व्रतों में स्थापना, ४. अनुयोग (व्याख्या) की अनुज्ञा, गण की अनुज्ञा, ५. संलेखना - देह के साथ कषायों को कृश बनाना । केवल देह को कृश करें तो तप केवल काय-क्लेश बन जाये ।

✿ वसन्ति एतेषु गुणाः इति वस्तुकम् । जिनमें गुणों का निवास हो वह 'वस्तुक', प्रव्रज्या आदि पांचों में ज्ञान आदि गुणों का निवास है अतः वे 'पंचवस्तुक' हैं । १. पव्वज्जा केण गुरुणा दायव्वा, कस्स (सीसस्स) दायव्वा ? कुत्थ (रिवत्ते) दायव्वा, इत्यादि ।

प्रव्रज्या (दीक्षा) अर्थात् ? प्रकृष्ट व्रजन-गमन वह प्रव्रज्या । पाप से निष्पाप जीवन की ओर प्रयाण वह प्रव्रज्या है । वास्तव में तो मोक्ष की ओर का वह प्रयाण है । 'प्र' वेग से जाना, आगे ही जाना, पीछे नहीं जाना - यह बताने के लिए हैं ।

देशविरति के उत्कृष्ट स्थान की अपेक्षा भी छोटे गुणस्थानक के निम्नतम स्थान पर रहे साधु की शुद्धि अनन्त गुनी होती है ।

'आयुः घृतम्' घी आयुष्य का कारण है, अतः घी को ही आयुष्य कहा है । उस प्रकार चारित्र स्वयं मोक्ष है, क्योंकि वह मोक्ष का कारण है । यहां कारण में कार्य का उपचार हुआ है ।

✿ मन आदि योगों से कर्म बांधते हैं वे गृहस्थ हैं और उसके द्वारा जो कर्म तोड़ते हैं, क्षय करते हैं वे मुनि हैं ।

• • • • •





११-७-१९९९, सोमवार

आषा. सु. ७

दीक्षा-दाता कैसे होने चाहिये ? दीक्षा देने के लिए तो हम शीघ्रता करते हैं परन्तु गुरु बनने की हमारी योग्यता है कि नहीं यह देखना चाहिये ।

दीक्षा अंगीकार करनेवाले में १६ गुण होने चाहिये । यदि १६ गुण हों तो शत-प्रतिशत सफलता - मोक्ष निश्चित है । भगवान की दीक्षा अंगीकार करनेवालों को यदि मोक्ष प्राप्त न हो तो क्या चोर-लूटरे को प्राप्त होगा ?

गुरु ने कृपा करके अल्प गुण होने पर भी दीक्षा प्रदान की हो तो उस कमी को पूर्ण करना कोई कठिन बात नहीं है ।

चन्द्रमा १६ कलाओं से पूर्ण बनता है । १६ आनों से रूपया बनता है, उस प्रकार १६ गुणों से युक्त दीक्षार्थी बनता है ।

दीक्षार्थी के १६ गुण :

१. आर्यदेश - समुत्पन्नः : आर्यदेश में उत्पन्न हो ।
२. शुद्धजाति - कुलान्वितः : शुद्ध जाति एवं कुल में उत्पन्न हो ।

३. क्षीणप्रायःकर्ममलः : क्लिष्ट कर्म-मल जिसका क्षीण

हो गया हो ।

४. विमलबुद्धिः : निर्मल बुद्धिवाला हो ।
५. दुर्लभं मानुषं जन्म, जन्म मरणनिमित्तम्, चपलाः सम्पदः, विषयाः दुःखहेतवः, संयोगाः विप्रयोगान्ताः, प्रतिक्षणं मरणम्, दारुणो विपाकः इति अवगतसंसारनैर्गुण्यः - संसार की निर्गुणता का ज्ञाता हो ।
६. तद्विरक्तः : संसार से विरक्त हो ।
७. प्रतनुकषायः : अल्प कषायी ।
८. अल्पहास्यः : अल्प हास्ययुक्त ।
९. कृतज्ञः : कृतज्ञता एवं परोपकार विश्व के सबसे बड़े गुण हैं । अन्य के उपकार को स्वीकार करना-मानना वह कृतज्ञता है । अन्य पर उपकार करना वह परोपकार है ।
१०. विनीतः : दीक्षार्थी का सबसे बड़ा गुण विनय है ।
११. राजादिप्रधानपुरुषसम्मतः : राजा आदि महापुरुषों से, सम्माननीय व्यक्ति दीक्षा ग्रहण करें तो शासन प्रभावना सुन्दर होती है ।
१२. अद्रोहकारी : किसी का भी द्रोह न करे वह गुरु का द्रोह थोड़े ही करेगा ? गुरु को छोड़ कर वह चला नहीं जायेगा । प्रमत्त अवस्था में भी शैलक गुरु को पंथक ने छोड़ा नहीं था ।
१३. कल्याणाङ्गः : रूपवान्, भद्र ।
१४. श्राद्धः : श्रद्धालु ।
१५. स्थिरः : स्थिरमति ।
१६. समुपपन्नः : गुरु को समर्पित हो ।

इस तरह गुणपूर्वक सविधि दीक्षा अंगीकार की हो, वही गुरु बन कर दीक्षा प्रदान कर सकता है । गुरु का यह प्रथम गुण है ।

२. विधिपूर्वक - गृहीत - प्रव्रज्यः : विधिपूर्वक प्रव्रज्या ग्रहण करनेवाले ।

३. सेवित - गुरुकुलवासः : गुरु कुलवासी ।

गुरुकुल वास से समस्त गुण खिलते हैं । गुरु को छोड़ने के बाद कोढ़ि का भी मूल्य नहीं है । मछलियां सागर में टकराने

के भय से बाहर निकल जाये तो ? निर्दोष आहार के बहाने भी गुरुकुल-वास से बाहर विचरण नहीं किया जा सकता । गुरुकुल-वास अर्थात् गुणरत्नों की खान । यहां अनेक रत्नों की प्राप्ति होती है । गुरुकुल-वास को नहीं छोड़नेवाला गुरु की ज्ञान आदि गुण-समृद्धि का अधिकारी बनता है ।

सोलह गुणों से युक्त दीक्षार्थी विधिपूर्वक दीक्षा ग्रहण करके गुरुकुल-वास का सेवन करे तो ही वह गुरु बनने के योग्य बन सकता है ।

* * * * *

जे समाचार सांभळवा मळ्या, ए समाचारे दिलने जबरजस्त आंचको आय्यो ।

भक्तिमां सतत झुमतुं रहेतुं ए हृदय, सहुने वात्सल्यमां भीजातुं राखतुं ए हृदय, मुख पर सदाय स्मित फरकावतो रहेतो ए चहेरो, पुण्यनी पराकाष्ठाना दर्शन करावतुं रहेतुं ए व्यक्तित्व आजे...

आपणा सहुना वच्चेथी कायम माटे विदाय थई चुक्युं छे, ए मानवा मन कोई हिसाबे तैयार थतुं नथी...

मारा जेवा अपात्र अने अज्ञ पर तेओश्रीए केवी करुणा वरसावी छे ? तेओश्रीना पावन सांनिध्यमां ज्यारे ज्यारे आववा मळ्युं छे, तेओश्रीए वरसी जवामां बाकी राखी नथी...

तेओश्रीनी विदायथी मात्र में - तमे के समस्त संधे ज कईक अणमोल व्यक्तित्व गुमाव्युं छे एवुं नथी, समस्त मानवलोके कईक एवुं गुमाव्युं छे के जे नुकसानिने भरपाई केम करवी ए प्रश्ननो कोई जवाब मळे तेम नथी...

आ पळे तमारा सहुनी मनःस्थिति केवी हशे ए हुं कल्पी शकुं छुं । पण निश्चित भवितव्यता सामे आपणे सहु लाचार ज छीए ने ?

अध्यात्मयोगी ए तारक पूज्यश्रीनो आत्मा तो शीघ्र मुक्तिमां बिराजमान थशे ज पण ज्यां होय त्यांथी ए तारकनो आत्मा आपणा सहु पर कृपाद्रष्टि वरसावतो रहे ए ज शासनदेवने प्रार्थना...

- एज... वि. रत्नसुंदरसूरिनी वंदना

म.सु. ४, नडियाद.



२०-७-१९९९, मंगलवार

आषा. सु. ८

मैंने तीस वर्ष की आयु में दीक्षा अंगीकार की। संस्कृत का यदि मैं ने अध्ययन नहीं किया होता तो ? शायद भाषान्तर से चलाना पड़ता। भाषान्तर अर्थात् बासी माल। मूल शब्दों का ही क्यों न अध्ययन किया जाये ? इस प्रकार के विचारों के कारण ही मैं ने संस्कृत का अध्ययन किया।

पू. आत्मारामजी म. स्थानकवासी श्रावक के व्यंग्य से ही संस्कृत का अध्ययन करने के लिए प्रेरित हुए थे।

श्रावक के साथ पू. आत्मारामजी का वार्तालाप :

श्रावक : 'आपकी पढ़ाई कितनी हुई ?'

आत्मारामजी : 'पढ़ाई पूर्ण हो गई।'

'ज्ञान कभी पूरा होता है ? यह तो कूपमण्डूक जैसी बात हुई। ज्ञान कदापि पूरा नहीं हो सकता।'

इस वार्तालाप से संस्कृत अध्ययन का उत्साह जागृत हुआ। गुरु ने कहा, 'व्याकरण के अध्ययन से मिथ्यात्व लगता है।'

'भले ही लगे, परन्तु अध्ययन तो करना ही है।'

अध्ययन किया, सच्चा अर्थ जान कर सुमार्ग पर आये।

१७ साधुओं के साथ संवेगी में आये । स्थानकवासी वेष में रहकर भी भयंकर विरोध के बीच भी मूर्ति का प्रचार किया ।

मैं यह कहना चाहता हूँ कि छोटी उम्र हो तो संस्कृत आदि के अध्ययन में प्रमाद न करें । थोड़ा कठिन लगा और तुरन्त छोड़ देना, यह वृत्ति ठीक नहीं है । आप जो सीखे हुए हों वह थोड़ी भी कृपणता किये बिना अन्य को देते रहें ।

स्वयं सीखा हुआ दूसरों को सिखाने से ही अमुक अंशों में ऋण से मुक्त हो सकते हैं ।

गुरु के गुण -

४. निर्मल बोधः ।

५. वस्तुतत्त्ववेदी : बोध भिन्न है, संवेदन भिन्न है । संवेदन अर्थात् अनुभूति ।

अध्यात्मगीता में -

‘वेदी’ शब्द का प्रयोग हुआ है । वेदन करना अर्थात् अनुभव करना । ‘वस्तुतत्त्ववेदी’ अर्थात् आत्म-तत्त्व का वेदन करनेवाले ।

६. उपशान्तः क्रोधविषाकावगमेन - क्रोध का फल जानकर सदा शान्त रहनेवाले । समतानन्द का ज्ञाता भला क्रोध क्यों करेगा ?

७. प्रवचन-वत्सलः : चतुर्विध संघ के प्रति भरपूर वात्सल्य हो, तो ही आगन्तुक शिष्य पर वात्सल्य की वृष्टि कर सके । पू. कनकसूरि महाराज में हमने यह गुण देखा है । यहां गुरु को माता-पिता दोनों का कर्तव्य निभाना है । वात्सल्य के बिना आनेवाला शिष्य टिक नहीं सकता ।

८. सर्वजीवहितरतः : पुद्गल के प्रति कोई रति नहीं, परन्तु सबके हित की रति । उसके बिना रहा नहीं जा सकता ।

९. ‘परहितचिन्ता मैत्री, पर दुःख विनाशिनी करुणा’ : इत्यादि ४ भावना जीवन में उतारने से स्व-पर का सच्चा हित पूर्ण होता है । हितकर प्रेरणा के समय भी यदि वह उद्धत बने तो मौन रहे ।

१०. आदेयवचनः जिनके वचनों को सब शिरोधार्य करें वैसा पुण्य ।

११. अनुवर्तकः भवानुकूल्येन सम्यक् पालकः । शिष्य

के भाव की अनुकूलता के अनुसार उसका पालन करनेवाले । इन समस्त गुणों में विचार करने पर कार्य-कारण भी समझ में आयेगा ।

शिष्यों को उनकी योग्यता एवं रुचि के अनुसार साधना में लगाते हैं वे अनुवर्तक हैं । मूर्ख शिष्य को भी इस गुण से विद्वान बनाया जा सकता है ।

कहीं भी नहीं रह सकनेवाला साधु पू.पं. भद्रंकरविजयजी म. के पास रह सकता था, उसका स्वभाव भी बदल जाता था । उनमें अनुवर्तक गुण उत्कृष्ट रूप में था ।

१२. गम्भीर : विशाल - चित्त होते हैं, गम्भीर आलोचना भी थोड़ी भी बाहर न जाये, जिस प्रकार सागर में से रत्न बाहर नहीं आते ।

१३. अविषादी : परलोक के कार्य में खेद नहीं करते, परिषहों से घिरे होने पर भी छःकाय की हिंसा नहीं करे, दोष न लगने दे । किसी भी कार्य में परेशानी नहीं होती । कर्म-निर्जरा के लाभ को ही देखते हैं । ग्राहकों की भीड़ के समय भी व्यापारी जिस प्रकार नहीं थकता । क्योंकि सामने लाभ दिखता है न ?

अपने कार्य से अधिक कार्य करना पड़े तो थकावट आयेगी ?

‘सेवा करने का लाभ मुझे ही प्राप्त हो । कोई भी कार्य मुझे सौपना ।’ इस प्रकार के अभिग्रह धारी मुनि भी होते हैं । कमलविजयजी महाराज इस प्रकार के साधु थे ।

वि. संवत् २०१४ में सुरेन्द्रनगर में ५५ ठाणों में सुबह वे ही जाते । तपस्वी मणिप्रभवविजयजी महाराज भी ऐसे ही थे । आहार कम पड़े या बड़े, दोनों में तैयार ।

१४. उपशमादि लब्धियुक्त : अन्य को भी शान्त करने की शक्ति । यह लब्धि कहलाती है । पू. पं. भद्रंकर विजयजी म. में यह शक्ति दृष्टिगोचर होती थी । वे चाहे जैसे क्रोधी व्यक्ति को भी शान्त कर देते ।

१५. उपकरण लब्धि : सामग्री अपने आप प्राप्त हो ऐसा पुण्य होता है ।

१६. स्थिर लब्धि : दीक्षा दें वह संयम में स्थिर हो जाये । पू. कनकसूरि महाराज में इस प्रकार की लब्धि देखी गई थी ।

१७. प्रवचनार्थ वक्ता : सूत्र एवं अर्थ बतानेवाले ।

१८. स्वगुरुप्रदत्तपद : गुरु न हो तो दिगाचार्य के द्वारा पद प्राप्त किये हुए हों । ऐसे गुरु ही दीक्षा देने के अधिकारी हैं । काल के दोष से ऐसे गुरु न मिलें तो २-४ गुणन्यून गुरु भी चलते हैं ।

एतादृशेन गुरुणा सम्यक् विधिना प्रव्रज्या दातव्या, न तु स्वपर्षद्वृद्ध्याशया । पानकादिवाहको मे भविष्यति इति आशयः न सम्यक् ।

ऐसे गुरु सम्यक् विधिपूर्वक दीक्षा प्रदान करें । अपना शिष्य-परिवार बढ़ाने के आशय से अथवा 'पानी आदि लाने के लिए काम में आयेगा' इस आशय से दीक्षा नहीं प्रदान करनी चाहिये ।

शिष्य के अनुग्रह के लिए ही (स्वार्थ के लिए नहीं) तथा उसका मैं सहायक बनूंगा तो मेरे कर्मों का भी क्षय होगा, इसी आशय से दीक्षा प्रदान करते हैं ।

* * * * *

आजे १०.३० वागे सु. ४ ना आचार्य भगवंतना काळधर्माना समाचार मळ्या । जो के एमनी साधना अति उत्तम कोटिनी हती । तेथी सद्गति तो चोळस पाय्या ज छे ।

तमो बधाने आनाथी अपरिमित दुःख थयुं हशे । बधाने ज दुःख थाय ते स्वाभाविक छे । छतां भवितव्यता आगळ, कर्म आगळ कोईनुं चालतुं नथी ।

तमो सर्वने हुं भारपूर्वक जणावुं हुं के तमो निराश न थता । तमो अमारी साथे ज छे । अमे तमारी साथे छीए । अमारी हूफ राखी उत्तम कोटिनी शासननी आराधना करशो । जेथी उत्तम स्थाने पधारेला आचार्य भगवंत पण विशिष्ट रूपे प्रसन्न थशे अने शासन, संघमां सहायक थशे ।

अग्निसंस्कार श्री शंखेश्वर महातीर्थमां थाय ते विशेष इच्छनीय छे. तो शक्य प्रयत्न करशो ।

- एज... विजय जयघोषसूरिनी अनुवंदना

म.सु. ४, नडियाद.

तो यह जान सकेंगे कि अध्यात्मवेत्ता कैसे होते हैं ?

अध्यात्मगीता पू. देवचन्द्रजी का अद्भुत ग्रन्थ है जो अध्यात्म-प्रेमियों के लिए वास्तविक गीता है। चौवीसी की तरह यह भी एक अमर कृति है। केवल ४९ श्लोक है। इनमें सर्व प्रथम बताया गया है कि सात नय से सिद्ध किसे कहा जाता है ?

✽ 'जिणे आतमा शुद्धताए पिछाण्यो, तिणे लोक अलोक नो भाव जाण्यो', 'एगं जाणइ सो सव्वं जाणइ, सव्वं जाणइ सो एगं जाणइ।' आचारांग सूत्र के इन पदों का भाव सहज रूप से अध्यात्म-गीता की उपर्युक्त पंक्तियों में समाविष्ट हो गया है।

✽ अनादिकाल से जीव मोहाधीन हैं, वह अनुकूल विषयों का उपभोग करने के लिए आसक्तिपूर्वक आतुर है। आसक्ति से अधिकाधिक पुद्गल (कर्म) चिपकते हैं। एरंडा का तेल लगाकर यदि मिट्टी में लेटें तो क्या होगा ? इस कारण ही नियाणा का निषेध किया है। आसक्ति के बिना नियाणा नहीं होता।

✽ 'शरीर है वह मैं हूँ', जब तक परकर्तृत्व का ऐसा भाव रहेगा, तब तक कर्म-बन्ध होता ही रहेगा।

✽ केवल अध्ययन करने से पण्डित बना जा सकता है, परन्तु आत्मानुभवी बनने के लिए ज्ञानी बनना पड़ता है, आत्मा को वेदना पड़ता है। अध्यात्म-गीता जैसे ग्रन्थ हमें आत्मा की ओर मोड़ते हैं।

✽ शुभ भावों से पुण्य बंधता है, परन्तु यदि गुण-सम्पादन करने हों, आत्म-शुद्धि करनी हो, मोक्ष प्राप्त करना हो तो शुद्धभाव चाहिये और यह सब भक्ति से ही सम्भव है।

✽ अन्य जीवों की रक्षा भी स्व-भाव-प्राण बनाये रखने के लिए ही है। जब हम विभावदशा में जाते हैं तब हम स्वयं ही भाव-हिंसक बनते हैं।

✽ पर-हिंसा से हमारे भाव-प्राणों का हनन होता है और हमें दोष लगता है। पर-हिंसा से मरनेवाले के तो द्रव्य-प्राण ही जाते हैं, परन्तु हमारे भाव-प्राण जाते हैं।

अपने गुणों को नष्ट करना स्व-भावहिंसा है।

आत्म-गुणों का हिंसक भाव-हिंसक कहलाता है।

जीव ने अब तक यही कार्य किया है । इस प्रकार पर की और स्व की हिंसा ही की है ।

उदाहरणार्थ - क्रोध में आकर जैसे तैसे बोले जिससे सामनेवाले को भी क्रोध आ गया । यहां दोनों के भाव-प्राणों की हिंसा हुई ।

**‘स्वगुण रक्षणा तेह धर्म
स्वगुण-विध्वंसना ते अधर्म’**

यह नैश्चयिक अर्थ है ।

अन्य की रक्षा करने में, अन्य की ही नहीं, हमारी भी रक्षा होती है । इसी लिए साधु के लिए प्रमाद ही हिंसा कहलाती हैं । हिंसा नहीं भी हुई हो, परन्तु असावधानी हो, प्रमाद हो तो हिंसा का दोष लगता ही है ।

‘प्रमत्तयोगात् प्राणव्यपरोपणं हिंसा’

- तत्त्वार्थसूत्र

अप्रमत्त रूप से चलने में जीव कुचला जाय तो भी हिंसा नहीं है ।

द्रव्य-हिंसा नजर में आती है । भाव-हिंसा नजर में नहीं आती । यही दिक्कत है ।

ऐसे तत्त्वद्रष्टा गुरु का योग प्राप्त हो तब योगावंचक की प्राप्ति होती है । काल की परिपक्वता के बाद ही इन सब की प्राप्ति होती है ।

ऐसे सद्गुरु हमारी द्रव्य-भाव से रक्षा करते हैं, गुण सम्पन्न बनाते हैं, भगवान के साथ जोड़ देते हैं ।

❖ भव-भ्रमण का मूल गुणहीनता है । अतः सद्गुणों का संग्रह करें । धन-सम्पत्ति आदि तो यहीं रह जायेंगे । गुण भवान्तर में भी साथ चलते हैं । सद्गुणों के समान कोई उत्तम सम्पत्ति नहीं है । भगवान हमें गुण-सम्पत्ति प्रदान करते हैं ।

❖ गुरु सिर्फ श्रुतज्ञान पढ़े हुए हों, इतना ही नहीं वे उसमें उपयोगवाले होने चाहिए । जिस समय जिसकी आवश्यकता होती है वह उनकी स्मृति में आता हो । वे चरणानन्दी हों । ज्ञान की तीक्ष्णता को ही चारित्र माना है । ‘ज्ञाननी तीक्ष्णता चरण तेह ।’

आत्म-तत्त्व का आलम्बन लेकर उसमें रमण करे, उसका

आस्वादन करे, ऐसे सद्गुरु के योग से अनेक जीव ग्रन्थि-भेद करके सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं ।

ऐसे गुरु के गुण गुरु के ही पास रहें, तो उनकी निश्रा में रहनेवाले शिष्यों को क्या लाभ ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि उनके प्रति शिष्यों की भक्ति एवं बहुमान में वृद्धि होती है । नूतन दीक्षित मुनि गुणरत्नसागर गुरु के प्रति भक्ति, श्रद्धा, बहुमान से तर जाते हैं ।

जहां भाव से गुरु-भक्ति होती है वहां चारित्र में स्थिरता होती है । यह व्याप्ति है । चारित्र में स्थिरता हुई, यही शिष्य को गुरु से लाभ हुआ । श्रद्धा-स्थिरता च चरणे भवति । तथा हि गुरु-भक्ति-बहुमान-भावत एव चारित्रे श्रद्धा स्थैर्यं च भवति । नान्यथा ।

गुरु के प्रति बहुमान नहीं हो तो चारित्र में श्रद्धा एवं स्थिरता नहीं रहेगी । इसका अर्थ यह हुआ कि आज यदि हमारे चारित्र में कुछ भी श्रद्धा या स्थिरता हो तो वह गुरु-भक्ति का प्रभाव है ।

समापत्ति: - ध्याता - ध्येय एवं ध्यान की एकता ।

ध्याता आत्मा, ध्येय परमात्मा एवं ध्यान की एकता अर्थात् ऐकाग्र्य संवित्ति ।

संवित्ति = ज्ञान ।

श्रुतज्ञान से बोध मिलता है, उस बोध को भगवान में एकाग्रता-पूर्वक लगाना ध्यान है ।

समापत्ति में ध्याता परमात्मा के साथ पूर्णतः निमग्न होता है ।

भगवान के साथ यह समापत्ति हमने कदापि की नहीं है । सांसारिक पदार्थों के साथ तो अनेकबार की है । आज भी करते हैं ।

‘उच्चकोटि का जीव समापत्ति के समय तीर्थंकर नाम-कर्म भी बांध सकता है’ - ऐसा हरिभद्रसूरि कहते हैं ।

‘गुरु का बहुमान ही स्वयं मोक्ष है,’ इस प्रकार पंचसूत्र के चौथे सूत्र में कहा है ।

‘घृतमायुः’ की तरह गुरु-बहुमान मोक्ष का अनन्य कारण है । कारण में कार्य का उपचार हुआ है ।

गुरु-भक्ति के प्रभाव से ऐसी समापत्ति इस समय भी हो सकती है । महाविदेह की प्रतीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है ।

♦ ♦ ♦ ♦ ♦



२२-७-१९९९, गुरुवार

आषा. सु. १०

✽ पुण्य के प्रकर्ष के बिना प्रभु-शासन प्राप्त नहीं होता, सद्गुरु प्राप्त नहीं होते । संसार-चक्रमें से मुक्त करने वाले सद्गुरु है । गुरु हमें ऐसा संयम प्रदान करते हैं जो मुक्ति-दाता होता है ।

✽ गृहस्थता के द्वारा नहीं, संयम के द्वारा मुक्ति प्राप्त होती है । संयम अर्थात् मुक्ति का प्रमाण-पत्र । संयम की गाड़ी में सवार हो गये तो मुक्ति का स्टेशन आयेगा ही । शर्त इतनी ही कि आप बीच में कहीं उतरेंगे नहीं । मार्ग में अनेक आकर्षण हैं । गुरु-कृपा ही आकर्षणों से हमें बचाती है ।

✽ ज्ञानी एवं गुणवान गुरु के द्वारा हमें भी ज्ञान एवं गुणों की प्राप्ति होती है ।

गुरु में 'अनुवर्तक' गुण अत्यन्त आवश्यक है । उस गुण के द्वारा ही वे आश्रित शिष्यों की प्रकृति जान सकते हैं । सब की प्रकृति भिन्न-भिन्न होती है, क्योंकि सब भिन्न-भिन्न गतियोंमें से भिन्न-भिन्न संस्कार लेकर आये हैं । किसी को भुख होती है तो किसी को प्यास होती है । यहां की विचित्रताएं पूर्वजन्म के आधारित हैं । यदि प्रकृति के अनुरूप मार्ग-दर्शन प्राप्त हो तो तीव्र

गति से विकास सम्भव हो सकता है ।

गुरु सुदृढ देहवाले से तप कराते हैं । यदि अशक्त व्यक्ति देखा-देखी तप करने जाये तो वे उसे रोकते हैं । यह कार्य गुरु ही कर सकते हैं । अपने अनुरूप करने से शिष्य भी उत्साहपूर्वक आराधना कर सकता है, मोक्ष-मार्ग में अग्रसर होने की योग्यता (विनय-विवेक-श्रद्धा-संयम में स्थिरता आदि रूप) प्राप्त करता है ।

प्रश्न : फिर नई योग्यता किस लिए जरूरी है? दीक्षा से पूर्व ही वह योग्यता देखी हुई थी न ?

उत्तर : रत्न में विशिष्ट पासे डालने से चमक आती है, उस तरह शिष्य में भी आराधना की चमक आती है । हीरा योग्य होने पर भी पासे नहीं डाले जायें तो चमक नहीं आती ।

दीक्षा ग्रहण करने के बाद कुछ समय अप्रमाद रहे और उसके बाद प्रमाद आ सकता है - अध्ययन, तप आदि में । प्रमाद को दूर करने वाले गुरु हैं । निद्रा के अलावा निन्दा (विकथा) विषय, मद्यपान (मदिरापान) आदि भी प्रमाद है । उन प्रमादों से बचानेवाले गुरु हैं । ऐसा करने वाले ही सफल गुरु कहलाते हैं ।

भद्र अश्व का तो सभी दमन करते हैं, परन्तु शरारती अश्व का भी दमन करे तो वह सचमुच अश्वारोही है। शरारती - प्रमादी शिष्य का दमन करनेवाले ही वास्तविक गुरु हैं ।

माता-पिता आदि परिवार का परित्याग करके आने वाले शिष्य को उचित प्रकार से जो नहीं सम्हाल सके वह बड़ा अपराधी है ।

दीक्षा प्रदान करनेमें जिस प्रकार (रात्रि को बिठाना, माता-पिता को समझाना, शीघ्र दीक्षा दिलवाना, शीघ्र मुहूर्त निकलवाना) शीघ्रता की जाती है, उस प्रकार दीक्षा के बाद भी सम्हाले तो कोई शिकायत नहीं रहती ।

शीघ्रता तो इतनी करते हैं कि दीक्षा के साथ ही बड़ी दीक्षा का भी मुहूर्त चाहिये । फिर कोई सम्हालने वाला न हो तो अन्तिम शिकायत यहां आती है- इनका क्या करें ? यहां कोई पांजरपोल तो है नहीं । शैक्ष का परिपालन उचित रीति से नहीं करे वह प्रवचन का शत्रु (प्रत्यनीक) कहलाता है ।

जैन-शासन की अपभ्राजना करनेवाले शिष्य में निमित्त गुरु

बनते हैं, स्मरण रहे ।

जैन-शासन की यह लोकोत्तर दीक्षा है । इसमें थोड़ी भी गड़बड़ी हो जाये तो अत्यन्त भारी जोखिम है - इस भव में अपभ्राजना और परभव में दुर्गति । इसका उत्तरदायित्व गुरु का है ।

इतने जोखिम बताकर अब लाभ बताते हैं ।

गुरु शिष्य को आगमोक्त विधि से ग्रहण तथा आसेवन शिक्षा से समृद्ध बनाते हैं । वे उसे भी भव से पार उतारते हैं और स्वयं भी पार उतरते हैं । इससे मुक्ति का मार्ग भी चालु रहता है ।

उत्तम प्रकार से तैयार हुए शिष्य जैन-शासन की जो प्रभावना करते हैं, विनियोग करते हैं, उसका लाभ गुरु को प्राप्त होता है ।

ज्ञान की परिणति - उपयोग बढ़ने पर गुण - समृद्धि अवश्य बढ़ेगी ।

वैराग्य-शतक आदि कण्ठस्थ क्यों कराये जाते हैं ? हमें पूज्य कनकसूरिजी महाराज ने ऐसे वैराग्य-वर्द्धक प्रकरण कण्ठस्थ कराये थे । कुलक संग्रह आदि भी कण्ठस्थ कराये थे ।

वाचना श्रवण करते हैं तब तक परिणति उत्तम, परन्तु उसके बाद ? कुछ हृदय में रहेगा तो ही काम लगेगा । गुरु की अनुपस्थिति में ये ही (प्रकरण ग्रन्थ) काम में आयेगा । तो ही आत्मा दोषों से बचेगी, गुण समृद्ध बनेगी । दोषों के साथ शत्रुओं की तरह युद्ध करना पड़ेगा । गुणों को मित्र मानने पड़ेंगे । यदि क्षमा, नम्रता आदि दृढ़ होंगे तो क्रोध आदि अड़चन नहीं डाल सकेंगे । क्रोध आदि को हटाने के लिए क्षमा आदि की साधना करनी पड़ेगी ।

क्षमा शस्त्रं करे यस्य दुर्जनः किं करिष्यति ?

पुराणों की कथा - पांच पाण्डव त्रिजयी होकर कृष्ण के साथ लौट रहे थे । मार्ग में हिंसक प्राणियों, भूतों आदि से युक्त वन आया । अतः सब बारी-बारी से जागते रहे । सर्व प्रथम भीम जाग रहा था तब वहां एक दैत्य आया । वह बोला : सबको खा जाऊंगा ।

भीम : 'युद्ध कर' ।

युद्ध हुआ । तीन प्रहर तक युद्ध चला । अन्य पाण्डवों की भी बारी आई । इन सब के साथ भी युद्ध हुआ । कृष्ण की

बारी आने पर आवेश से आगे बढ़ता राक्षस (दैत्य) देखकर वे समझ गये - यह क्रोध-पिशाच है ।

कृष्ण - 'तुम जैसों के साथ मैं युद्ध करता ही नहीं हूँ ।' न क्रोध, न कोई प्रतिकार । राक्षस का कद घट गया । वह मच्छर जैसा हो गया । कृष्ण ने उसे पाँव के नीचे दबा दिया ।

प्रातः कालमें उठे तब वे सब घायल थे ।

कृष्ण : मैंने तो उनका सामना ही नहीं किया !

क्रोध का सामना करें तो वह बढ़ता ही जाता है । क्रोध करनेवाला कितना क्रोध करेगा ? कितनी गालियाँ देगा ? अन्त में थक जायेगा । हमें भीम नहीं, कृष्ण बनना है ।

ये क्रोध आदि पिशाच ज्ञान आदि सम्पत्ति को लूटनेवाले हैं । गुण - सम्पादन एवं दोष-निग्रह ये दो कार्य करें । दोष - क्षय तो इस भव में नहीं कर सकेंगे । दोष - निग्रह अथवा दोष - जय कर सकें तो भी पर्याप्त है । यहाँ का अभ्यास भवान्तर में काम लगेगा ।

जिसके संस्कार डालेंगे उसका अनुबन्ध चलेगा । जिसको सहायता देंगे उसका अनुबन्ध चलेगा । आपको किसका अनुबन्ध चलाना है ? दोषों का अनुबन्ध अर्थात् संसार । गुणों का अनुबन्ध अर्थात् मोक्ष । निश्चय आपको करना है । यहाँ कोई जबरदस्ती नहीं है, जबरदस्ती हो भी नहीं सकती । भगवान भी जबरदस्ती किसीको मोक्ष में नहीं ले जा सकते । जमालि आदि को कहां मोक्ष ले जा सके ?

सम्यक्त्व चाहे न दिखाई दे, परन्तु उसके शम आदि लिङ्ग अवश्य दिखाई दें । देखो, आप में शम आदि चिन्ह हैं कि क्रोध आदि हैं ? क्रोध, मोक्ष-द्वेष, संसार-राग (नाम-यश-स्वर्ग आदि की इच्छा), निर्दयता, अश्रद्धा - ये समस्त सम्यक्त्व से ठीक विपरीत लक्षण हैं ।

सम्यक्त्व के लक्षण - मिथ्यात्व के लक्षण

शम	- क्रोध
संवेग	- मोक्ष-द्वेष, विभावदशा पर प्रेम
निर्वेद	- संसार-राग, स्वाभाव पर द्वेष
अनुकम्पा	- निर्दयता
श्रद्धा	- शंका

उत्तम समय हो, निरन्तर ज्ञान आदि का अभ्यास - संस्कार हो तो शिष्य उसी जन्म में मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं । उसका लाभ गुरु को मिलता है ।

ऐसे सद्गुरु शासन के श्रृंगार हैं । शिष्यो में जिन-शासन का प्रेम बढ़ा कर वे महान कार्य करते हैं ।

शोभायात्राएं आदि यही कार्य करते हैं - शासन के प्रति अनुराग उत्पन्न करने का । गुणानुरागी मध्यस्थ जीवो में ऐसा अनुराग उत्पन्न होता है ।

'यह शासन भव्य है, सुन्दर है । देखनेवाले के मन में ऐसे विचार आये तो धर्म का (सम्यक्त्व का - मोक्ष का) बीज उनमें पड़ गया मानो ।

कई व्यक्तियों को एकबार के दर्शन, मिलन, श्रवण से सदा आने का मन होता है ।

वि. संवत् २०२६ में नवसारी - मधुमती में वर्षावास था । पू. देवेन्द्रसूरिजी म.की निश्रा थी । एक 'सेल टैक्स' अधिकारी ने नित्य चलते 'योगदृष्टि समुच्चय' के व्याख्यान सुने, वे उन्हें पसन्द आये । फिरतो वे नित्य अचूक आते ही । नौ से साढे दस व्याख्यान सुनने के लिए ही वे खास कार्यालय में टिफिन मंगवाते । उन्हें ऐसा लगा कि गीता आदि की ही बातें यहां सुनने को मिलती हैं ।

वर्षावास (चातुर्मास) परिवर्तन उनके निवास पर ही किया । उस प्रसंग पर उन्होंने अपने पुत्रों को बाहर से बुलवाये ।

जंबूसर के के. डी. परमार को भी इसी प्रकार से धर्म प्राप्त हुआ है । उन्हें पू.पं. मुक्तिविजयजी म. के समागम से धर्म प्राप्त हुआ है । वे अत्यन्त ही गुणानुरागी हैं । एक बार पू. मुक्तिविजयजी म. वि. संवत् २०२५ में उन्हें मेरे पास ले आये । उनमें भक्ति - योग था ही । उन्हें स्तवन आदि पसन्द आये । आज तो वे दृढ़ श्रद्धालु हैं । जैन धर्मावलम्बी भी नहीं बोल सके ऐसा वे सुंदर बोलते हैं । हम जब जंबूसर गये तब उन्होंने ही सब लाभ लिया था ।

उत्तम शिष्यों के शिष्य भी प्रायः उत्तम निकलते हैं । इस परम्परा को चलाने में गुरु निमित्त बनते हैं ।

* * * * *



२३-७-१९९९, शुक्रवार
आषा. सु. द्वितीय १०

इस समय भी जिसे मोक्ष में जाना हो उसे प्रभु के मार्ग रूप तीर्थ का आश्रय लेना ही पड़ेगा ।

आज भी हम मोक्ष की आराधना कर सकते हों तो वह भगवान का प्रभाव है ।

तीर्थकर भगवान तीर्थ की स्थापना करते हैं परन्तु उसका संचालन गणधर-स्थविर आदि करते हैं । आज भी उनकी अनुपस्थिति में इस पद्धति के कारण जैन-शासन चल रहा है ।

✽ गुरु कैसे होते हैं ? जो अन्यदार्शनिकों को भी आकृष्ट कर सकें, जिनके दर्शन मात्र से अन्य जीव धर्म प्राप्त कर लें ।

साधूनां दर्शनं पुण्यं, तीर्थभूता हि साधवः ।

तीर्थ फलति कालेन, सद्यः साधु - समागमः ॥

इसका वे जीवित उदाहरण होते हैं ।

सात-आठ वर्ष दक्षिण में, मध्य प्रदेश में रहें । सन्तों के प्रति लोगों का अपार बहुमान देखा । 'पेरियार स्वामी' कहते ही वे लोग साष्टांग दण्डवत् करते, सो जाते, मोटरमें से उतर पड़ते, वन्दन करते और मोटर में बैठने का आग्रह करते । वाहनों में नहीं

बैठने की प्रतिज्ञा की बात सुनकर वे आश्चर्य व्यक्त करते । मांसाहारी एवं शराबी (मदिरा-पायी) होते हुए भी सद्गुरुओं के प्रति उनमें अपार बहुमान । हृदय के सरल । समझाने पर तुरन्त मांस आदि छोड़ने के लिए तैयार हो जायें ।

जिस प्रकार का विज्ञान शिष्य गण गुरु से ग्रहण करें उससे उनका मोक्ष मार्ग खुला हो जाये, प्रयाण में आगे बढे । जो ऐसे हों उन्होंने अपना गुरु-पद सफल बनाया है ।

लघु = छोटा, हलका । गुरु = महान ।

उत्तम जीवन जीकर गुरु 'गुरु' शब्द को सार्थक करते हैं ।

गुरु के समस्त गुणों में 'अनुवर्तक' गुण को अत्यन्त ही महत्त्व दिया गया है ताकि शिष्य उत्तम प्रकार से तैयार हो सकें ।

प्रेरणा, इच्छा, प्रयत्न आदि बहुत होने पर भी यदि शिष्य तैयार न हों तो गुरु दोष के भागी नहीं होते । गुरु ने उसके लिए पूर्णतः परिश्रम कर लिया है ।

भगवान् महावीर के समय में जमाली ने स्वयं भगवान् का नहीं माना । भगवान् क्या कर सकते हैं ? गुरु क्या कर सकते हैं ? वे प्रेरणा - उपदेश आदि हित-शिक्षा दे सकते हैं, परन्तु अगले व्यक्ति ने उनकी बात नहीं मानने का ही निश्चय किया हो तो ? तो फिर गुरु पर कोई दोष नहीं है । आखिर गुरु की भी कोई मर्यादा होती है ।

प्रश्न : अपराध शिष्य का, गुरु को किस बात का पाप ? जो करेगा वह भोगेगा ।

उत्तर : आज्ञा - भंग होने से दोष लगता है । शिष्य का पाप गुरु को लगे यह बात नहीं है, परन्तु भगवान् की आज्ञा के उल्लंघन का दोष लगता है ।

जो व्यक्ति आज्ञा पालन करने योग्य न हो उसे पहले से ही गुरु दीक्षा का इनकार कर दें कि मैं आपको सम्हालने में असमर्थ हूँ । इनकार करने के लिए अत्यन्त ही सत्त्व चाहिये ।

गुरु की जघन्य योग्यता :

सूत्रार्थ विज्ञ, साध्वाचार के पालक, शीलवान्, क्रिया-कलापों में कुशल, अनुवर्तक, शिष्य का ध्यान रखने वाले - प्रति जागरुक,

आपत्ति के समय में भी अविषादी ।

इतने गुण तो गुरु में होने ही चाहिये ।

अब दीक्षार्थी के १६ गुण :

१. आर्यदेश में उत्पन्न अर्थात् बीज आर्य भूमि का हो ।

२. शुद्धजाति कुलान्वित : माता की जाति, पिता का कुल दोनों उत्तम होने चाहिये । मनुष्य बहुत है परन्तु सभी उत्तम नहीं होते । नीच कुल के, अनार्यदेश के मनुष्यों में सहज ही योग्यता अल्प होती है ।

३. विमल बुद्धि :- रत्नों का मूल्यांकन बुद्धिहीन व्यक्ति नहीं कर सकता ।

निर्मल बुद्धिवाले की विचार धारा निर्मल होती है। उसकी विचार धारा से ही निर्मलता का पता चलता है । (दीक्षार्थी के १६ गुण के लिए देखे आषाढ शुक्ला सप्तमी का व्याख्यान)

निर्मल बुद्धिवाला व्यक्ति ही मानव-जन्म-दुर्लभता आदि का विचार कर सकता है । मानव-जन्म की दुर्लभता अन्य गतियों को देखने से ही समझ में आती है । देवगति पुण्य एवं नरक गति पाप भोगने के लिए हैं । देवगति में भी दुर्गति होती हैं, ईर्ष्या, विषाद, अतृप्ति होती हैं । तिर्यच गति तो नजर के सामने ही दुःखमय है । अब केवल मनुष्य के पास ही धर्म की योग्यता रही ।

इस कारण ही मोह मनुष्य को फंसाने के लिए कंचन-कामिनी आदि का जाल फैलाता है । पतंगे को दीपक में स्वर्ण प्रतीत होता है, मनुष्य को पीली मिट्टी में सोना दृष्टिगोचर होता है । स्वर्ण मिट्टी ही है, तत्त्वद्रष्टाओं के लिए दोनों एक ही हैं ।

आपका जीवन सम्पूर्णतः धन-केन्द्रित है । आप धन के आसपास घूमते हैं । यहां आप आते अवश्य हैं, परन्तु आपका मन तो धन में ही होता है । अनेक व्यक्ति तो यहां आकर कह जाते हैं, 'महाराज ! महाराज ! मेरे इस पाकीट का ध्यान रखना ।'

साधु आपके पाकीट का ध्यान नहीं रखेंगे । शायद कोई उठा ले जाये तो नाम साधु का आयेगा । (मद्रास में ऐसे ठग कभी कभी आ जाते थे कि वन्दन करते समय कोई पाकीट नीचे रखे और ठग तुरन्त उसे उठा कर चल देते, मालिक को पता ही नहीं

लगता था ।)

वैराग्य के लिए संसार की निर्गुणता जाननी पड़ती है । उसके लिए यह विचार करना चाहिए कि संयोग का वियोग होने वाला ही है । मृत्यु सामने ही खड़ी है । विषय दुःखदायी हैं । यदि मैं जीवन का सदुपयोग नहीं करूंगा तो भयंकर परिणाम भोगने पड़ेंगे । इस प्रकार की विचारधारा से जिसने संसार की निर्गुणता जानी है, वह दीक्षा के लिए योग्य बनता है ।

संसार आपको सारभूत लगता है, ज्ञानियों को असार लगता है । संसार आपको गुणपूर्ण लगता है, ज्ञानियों को निर्गुण लगता है ।

❖ जीव की पांच शक्तियां :

१. अमरता, २. वाणी की अमोघता, वाणी ज्ञान की द्योतक है अर्थात् अमोघ ज्ञान, ३. आत्मा का ज्ञान आदि ऐश्वर्य, ४. अजन्मा स्वभाव, ५. अक्षय स्थिति । उसका पांच अव्रत हनन करते हैं ।

अन्य को मारने से हम 'अमरता' का हनन करते हैं ।

असत्य बोलने से 'अमोघ वाणी' (अमोघ ज्ञान) का हनन करते हैं ।

चोरी करके 'अनन्त ऋद्धि' का हनन करते हैं ।

अब्रह्म से 'अजन्मा' स्वभाव का हनन करते हैं । अन्य को जन्म देने से ।

परिग्रह से अक्षयस्थिति गुण का हनन करते हैं ।

❖ कोधादि, कामादि, हास्यादि से दीक्षार्थी पर होते हैं । वह कृतज्ञ होता है, किये हुए को भूलता नहीं है । अन्य व्यक्ति के ऋण को स्वीकार करे वही परोपकार में प्रवृत्त हो सकता है । किसी के पास धन उधार लो तो उसका उपकार मानोगे कि नहीं ? या ऋण लेकर बैठ जाओगे ? यदि उपकार नहीं मानोगे तो 'नगुणे' कहेलाओगे ।

धन उधार देनेवाले के उपकार मानते हो तो ज्ञान प्रदान करने वाले गुरु का क्या उपकार नहीं मानोगे ?

निगोदमें से किसी सिद्ध भगवंत ने हमें बाहर निकाला है । अब जहां तक हम मोक्ष में जाकर अन्य जीव को निगोद में से

बाहर न निकालें तब तक वह ऋण नहीं उतरेगा । कितना भारी ऋण है हम पर ?

अरिहंत का कार्य है - संसारी जीवों को मोक्ष में भेजना ।

अरिहंत का कार्य है - शाश्वत सुख के भोक्ता बनाना ।

मोह का कार्य है - शाश्वत सुख के भोक्ता नहीं बनने देना ।

मोह का कार्य अनादि काल से है, उस प्रकार धर्म का कार्य भी अनादिकालीन है । मोह के अधीन रहनेवाला संसारमें रहता है । धर्म के अधीन रहनेवाला मोक्ष की ओर प्रयाण करता है । इसी कारण से तथाभव्यता की परिपक्वता के लिए प्रथम उपाय चार की शरणागति है ।

एक बार भी यदि अनन्य शरणागति स्वीकार कर ले तो अर्द्ध पुद्गल परावर्त काल में तो आपका मोक्ष निश्चित ही है ।

भव्यता समान होने पर भी, सब की तथाभव्यता भिन्न भिन्न होती है । पांच कारणों में सब से मुख्य पुरुषार्थ है । शरणागति के लिए यह पुरुषार्थ विकसित करना है । भगवान ही मोक्ष के उपाय, मोक्ष के दाता, मोक्ष के पुष्ट कारण हैं, यह मानकर उनकी शरणागति स्वीकार कर लें ।

न स्वतः न परतः, केवल परमात्मा की कृपा से ही मोक्ष संभव हो सकता है । गुरु की शरणागति भी अन्ततोगत्वा भगवान की ही शरणागति है ।

भगवान को कह दें :

यावन्नाप्नोमि पदवीं, परं त्वदनुभावजाम् ।

तावन्मयि शरण्यत्वं, मा मुञ्च शरणं श्रिते ॥

भगवान यह कभी नहीं कहेंगे कि 'तू योग्य नहीं है मेरी शरण के लिए' । कृतज्ञता गुण से ही ऐसी शरणागति आ सकती है । जब कर्म का जोर प्रबल हो, हमारा जोर न चले, तब भगवान की शरण लेनी चाहिये । उनका बल ही हमारे तरने का उपाय है । जिस समय आप भगवान का स्मरण करते हैं, उसी समय भगवान आपके भीतर आते हैं । अनेक जीव याद करते हैं तो भगवान की शक्ति घटेगी । भगवान कितनों को तारेंगे ? ऐसा न मानें ।

भगवान की शरण स्वीकार करने पर हमारी चेतना भगवन्मयी

बन गई, भगवान की शक्ति हमारे भीतर उतर गई । व्याकरण में 'माणवकोऽग्निः' कहा है । अग्नि का ध्यान करनेवाला माणवक अर्थात् माणवक स्वयं अग्नि है, अर्थात् माणवक इस समय अग्नि के ध्यान में है, उस प्रकार भगवान का ध्यान करनेवाला स्वयं भगवान है ।

उपयोग से हमारी आत्मा अभिन्न है ।

भगवान के साथ उपयोग जुड़ने पर काम हो गया । वह उपयोग ही आपकी रक्षा करेगा, फिर भी कृतज्ञ कभी यह नहीं मानता कि मेरे उपयोग ने मेरी रक्षा की । भगवान को ही वह रक्षक मानेगा ।

बिजली का बिल आता है, सूर्य, चन्द्रमा, बादल आदि ने कभी बिल दिया है ? इन उपकारी तत्त्वों से जगत टिका हुआ है ।

कृतज्ञ एवं परोपकारी सूर्य-चन्द्रमा के समान हैं । उपकार करने पर भी मानते नहीं हैं । वे ऋण - मुक्ति के लिए ही प्रयत्न करते हैं । भगवान तो कृतकृत्य हैं । उपकार की आवश्यकता नहीं होने के कारण वे जगत के जीवों पर निःस्वार्थ भाव से उपकार करते रहते हैं ।

“आप अपने समान अन्य व्यक्तियों को बनायें” प्रत्येक साधु साध्वीजी का यह उत्तरदायित्व है । आप यदि अचानक चले जाओगे तो यहां कौन सम्हालेगा ?

दीक्षार्थी का दूसरा महत्त्वपूर्ण गुण 'विनय' है । विनय से आज्ञा-पालन आता है । जो कहोगे वह करूंगा, जो कहोगे वह शिरसावन्ध होगा । आज्ञांकित व्यक्ति का यह मुद्रालेख होता है ।

काम प्राप्त होने पर विनीत को हर्ष होता है। काम करके टैक्स नहीं चुकाना है, यह तो अपना कर्तव्य है । ज्ञान से प्राप्त होता है, उसकी अपेक्षा सेवा से बहुत मिलेगा । पढा हुआ भूला जा सकता है, परन्तु सेवा 'अमर बैंक' में जमा होती है । इसी कारण से सेवा को अप्रतिपाती गुण कहा है ।

दीक्षार्थी में अन्य गुण न्यूनाधिक चलेंगे, परन्तु विनय एवं कृतज्ञता में कम - ज्यादा नहीं चलेगा ।

♦ ♦ ♦ ♦ ♦



२४-७-१९९९, शनिवार

आषा. सु. ११

✽ भगवान ने धर्म के दो प्रकार बताये हैं : श्रावक धर्म, एवं साधु धर्म । यदि उसे मुक्ति का कारण बनाना है, गुण-वृद्धि, दोष-क्षय करना हो तो उसका विधि-पूर्वक पालन होना चाहिये । कर्म-क्षय अर्थात् दोष-क्षय एवं गुण-प्राप्ति । दोनों प्रकार के धर्म कर्म-क्षय हेतु हैं ।

मिट्टी से घड़ा बनता है । उस प्रकार योग्य जीवों में उपादान रूप से रहे हुए गुण प्रकट होते हैं । प्रथम क्षायोपशमिक भाव के उसके बाद क्षायिक गुण प्राप्त होते हैं । सीधे ही क्षायिक गुण प्राप्त नहीं होते । कर्म के आवरण हटने पर गुण आते हैं और दोष नष्ट होते हैं ।

प्रगाढ मिथ्यात्वी जीव आत्मा का अस्तित्व भी स्वीकार करने के लिए तत्पर नहीं होते । नौपूर्वी भी मिथ्यात्वी हो सकते हैं । मैं आत्मा हूँ - ऐसी अनुभूति उसे नहीं होती । मात्र आत्मा की जानकारी उसे मिल सकती है । आत्मतत्त्व की प्रतीति-श्रद्धा अनुभूति सब पर पर्दा डालने वाला मोहनीय है ।

अंधकार व्याकुलता उत्पन्न करने वाला होता है । चोर या

साहुकार अंधेरे में नहीं ज्ञात होते । अविद्या - अज्ञान के अंधकार को उत्पन्न करने वाला मोहनीय है ।

✽ उत्तम गुरु जैसे ही उत्तम शिष्य तैयार हो । इसके लिए ही यहां सब बातें कही गई हैं ।

ये समस्त गुण स्वयं में उतारने हैं । सुनकर बैठे नहीं रहना है । गुरु के गुणों में दीक्षार्थी के १६ गुणों का समावेश हो गया है, क्योंकि जिसने इस प्रकार विधि पूर्वक दीक्षा अंगीकार की हो वही सद्गुरु बन सकता है ।

यदि हम दीक्षार्थी में समस्त १६ गुणों की अपेक्षा रखें तो शायद इस काल में एक भी शिष्य उपलब्ध नहीं होगा । नहीं उपलब्ध होगा तो क्या हुआ ? हमारा मोक्ष रुकेगा नहीं, 'मन मिला तो चेला, नहीं तो भला अकेला ।'

दो चार गुण न हों, परन्तु यदि समर्पित हो तो चला सकते हैं । गम्भीर दोष नहीं होने चाहिये ।

मानवजन्म, आर्यदेश, जाति, कुल से ही केवल नहीं चलता । विनय, समर्पण-भाव आदि गुण विशेषतः होने चाहिये ।

गुणवान् हों तो ही गुण-प्रकर्ष हो सकता है । यदि बीज रूप में ही न हो तो अंकुर-वृक्ष कैसे बनेगा ?

विनय के साथ यह विशेषतः देखना है कि दीक्षार्थी भव-विरक्त है कि नहीं ? संसार अर्थात् विषय-कषाय । उनसे जो घृणा करता हो वह भव-विरक्त कहलाता है ।

विषय-कषाय को संसार का मूल मानकर उन्हें नष्ट करने के लिए दीक्षा लेना चाहे वह योग्य गिना जाता है । वैराग्य से ये गुण प्रतीत होते हैं ।

मोह का वृक्ष भयंकर है । अनादिकालीन भव-वासना रूपी वृक्ष का मूल विषय-कषाय है, जिसका उन्मूलन दुष्कर है । आसक्ति - इच्छा - स्पृहा का उन्मूलन सरल नहीं है । अप्रमत्त जीवन से ही यह सम्भव है । दीक्षा अंगीकार करना अर्थात् पांच महाव्रतों का अप्रमत्त रूप से पालन करना ।

पांच अव्रत चार कषायों का फल है, अथवा अव्रतों से कषाय बढ़ते हैं, ऐसा भी कहा जा सकता है ।

प्रथम व्रत - अहिंसा :

एक मुसलमान वैद्य अभी आया था। उसने बताया कि संस्कृत में 'कु' अर्थात् पृथ्वी, 'रान' अर्थात् घोषणा। पृथ्वी पर की घोषणा रूप इस कुरान में कहीं भी हिंसा की बात ही नहीं है।

कई मुसलमान ऐसे होते हैं जो हिंसा नहीं करते, मांसाहार नहीं करते।

जामनगर में एक वृद्ध शिक्षक आते। उसके कपड़ों पर खटमल दिखाई दिया। उसने उसे हटाया नहीं। वह बोला : इसे स्थान भ्रष्ट क्यों किया जाय ? 'ठाणाओ ठाणं संकामिया' का दोष नहीं लगेगा ?

उसने बताया, 'एक मुस्लीम की पत्नी रुई कात रही थी। अतः उस मुसलमान ने अपनी छोटी पुत्री को गेहुं लेने के लिए भेजा। व्यापारी ने सड़े हुए जीवोंवाले गेहुं उसे दे दिये। घर आकर पोटली खोलने पर उसमें जीव प्रतीत हुए। मुसलमान ने पुत्री को कहा, शीघ्र जाकर गेहुं लौटा दे। यदि व्यापारी पैसे न लौटाये तो कुछ नहीं। उसी स्थान पर जीव तो पहुंच ही जाने चाहिये। वह लड़की गेहुं लौटा आई।

'मुसलमान भी इतनी अहिंसा का पालन करते हैं, तो हम तो हिन्दू हैं' यह बात उस वृद्ध शिक्षक ने हमें जामनगर में कही।

अभिहया, वक्तिया आदि दस प्रकार से जीवों की विराधना टलनी चाहिए। 'अभिहया' अर्थात् अभिघात, टक्कर लगना। उपाध्याय श्री प्रीतिविजयजी को ट्रक की टक्कर लगी और स्वर्गवासी हो गये। हम छोटे-छोटे जीवों के लिए लोरी से भी खतरनाक हैं। न जाने हमारी टक्कर से कितने जीव मरते होंगे ?

हिंसा का मूल क्रोध है। क्रोधी व्यक्ति अहिंसक नहीं बन सकता।

क्रोध को उपमितिकार ने वैश्वानर (अग्नि) कहा है। हिंसा को क्रोध की बहन कही है -

'हिंसा भगिनी अतिबुरी रे, वैश्वानरनी जोय रे।'

उसे जितने के लिए क्षमा, मैत्री चाहिये।

✽ प्रथम व्रत के लिये ईर्या-समिति, नीचे देखकर चलने

से अहिंसा पालन में सहायता मिलती है ।

दूसरे व्रत के लिए भाषा समिति । उपयोगपूर्वक बोलने से असत्य विरमण व्रत अच्छी तरह पाला जा सकता है ।

तीसरे व्रत के लिए एषणा-समिति । निर्दोष गोचरी से साधु अचौर्य व्रत का अच्छी तरह पालन कर सकता है ।

चौथे व्रत के लिए आदान भण्डमत्त निक्षेपण समिति । वस्तु लेते-रखते दृष्टि निरन्तर नीची रहे तो स्त्री-सम्बन्धी अनेक दोषों से बचा जा सकता है ।

पांचवे व्रत के लिए पारिष्ठापनिका । वस्तु का त्याग करने के समय मूर्छा टलने के संस्कार पड़े । इस प्रकार पांच समिति पांच व्रतों के पालन में सहायक हैं ।

✽ शम, संवेग आदि कम प्रधानता की अपेक्षा से हैं । उत्पत्ति की अपेक्षा से आस्तिक्य से उत्क्रम समझना है । प्रथम आस्तिकता, फिर अनुकम्पा आदि उत्पत्ति समझें ।

प्रथम व्रत से सम्यक्त्व प्रकट होता है । हिंसा सम्यक् दर्शन का नाश करती है । प्रथम व्रत से दया रचनात्मक बनती है । अहिंसा सम्यक्त्वी व्यक्ति के हृदय में होती है, परन्तु व्रतधारी के अमल में आती है ।

विरतिग्रहण करने के बाद यदि जयणा आदि में कोई उपयोग न रखें, तीन-चार दिन में काप निकालें, अनाप-सनाप पानी ढोलें तो कहां रहा प्रथम व्रत ?

जयणा के बिना जीव का उद्धार नहीं है । 'महानिशीथ' में उल्लेख है कि एक उग्र तपस्वी निगोद में गया क्योंकि उसे जयणा का ज्ञान नहीं था ।

जयणा-अजयणा का ज्ञान ही न हो तो वह किस तरह जयणा का पालन करेगा ? पाप कर्म का बंध अजयणा से नहीं रुकता ।

अठारह हजार शीलांग के पालन से अजयणा रुकती है । उस तपस्वी को गुरु ने अजयणा के लिए सचेत किया प्रायश्चित्त दिया, परन्तु वह नहीं ही माना । हां, वह गुरु द्वारा दिये गये प्रायश्चित्त को तप के द्वारा पूर्ण करता, परन्तु जयणा जीवन में नहीं थी ।

अतः वह मर कर प्रथम देवलोक में गया । वहां से वह

वासुदेव बना । वहां से नरक में गया । उसके बाद हाथी के भव में और फिर अनन्त काल के लिए ठेठ निगोद में चला गया ।

अधिक उंचाई अधिक नीचे गिराती है । मार्ग में चलनेवाला गिरे और उपर की बिल्डिंग से कोई गिरे, तो फरक तो होगा ही ना ?

यदि मैं कोई भूल करूं तो आपकी अपेक्षा दस गुना प्रायश्चित्त मुझे आता है ।

दूसरा व्रत : असत्य बोलने में अभिमान मुख्य कारण है । इस ओर दूसरा कषाय अभिमान है ।

असत्य बोलकर भी मनुष्य अपने कन्धे को अक्कड़ रखेगा । इसे 'उपमिति' में 'शैलराज' कहा गया है, पर्वत जैसा अक्कड़ ।

अभिमान आने पर विनय चला जाता है, विनय जाने पर ज्ञान जाता है । अभिमान ज्ञान को रोकनेवाला है । उदाहरणार्थ स्थूलभद्र । अधिक ज्ञान को घटाने का उपाय है अभिमान । अभिमान करने पर आपका ज्ञान घट जाता है । स्थूलभद्र थोड़ा प्रभाव बताने गये तो नया पाठ बंद हो गया ।

दूसरा व्रत नम्रता के द्वारा ज्ञान की समृद्धि प्रदान करता है ।

तीसरा व्रत : नीतिमत्ता प्रदान करता है । नीति गई तो फिर आचरण क्या रहा ? न्यायपूर्वक का वर्तन विश्वसनीय बनता है ।

चोरी में सहयोगी माया है । तीसरा कषाय भी माया है । व्यापारी क्या मिलावट आदि माया के बिना करता है ? मूल्य अच्छे माल का लो और माल नकली दो, इसमें चोरी एवं माया दोनों हैं कि नहीं ?

ऐसा करने पर सरकार ४२० की धारा, धोखा धड़ी का कानून लगाती है न ? चौथा पांचवा व्रत अनासक्ति प्रदान करता है । क्रंचन-कामिनी का भी लोभ होता है । असल में चार ही व्रत हैं । बाईस तीर्थकरों के समय में तथा महाविदेह क्षेत्र में सदा के लिए चार व्रत ही हैं । ये तो हम जड़ हैं अतः चौथा व्रत अलग लेना पड़ा है ।

जो वीर्य हमें अजन्मा बनाने में सहायक बनता है, उत्साह बढ़ाता है, उसके द्वारा हम अपने जन्मों की वृद्धि करते हैं । किसी को जन्म देना अर्थात् अपने जन्मों की वृद्धि करना ।

‘विरति ने प्रणाम करीने इन्द्र सभामां बेसे मेंरे प्यारे, ए व्रत जगमां दीवो’, वीरविजयजी महाराज ने ब्रह्मचर्य की महिमा इस प्रकार गाई है ।

ब्रह्मचर्य की रक्षा नौ वाडों से की जाती है ।

ब्रह्म अर्थात् आत्मा, उसमें चरना वह ब्रह्मचर्य ।

चौथा व्रत हमें आत्म-लीन बनाता है । जो उसका भंग करता है, वह आत्मा में रमण नहीं कर सकता ।

पांचवा व्रत : अपरिग्रह । विपक्ष में लोभ ।

एकेन्द्रिय जीव भी परिग्रह संज्ञा से अपनी जड़ निधान पर जमाते हैं । आसक्ति वाले जीव एकेन्द्रिय बनकर ऐसा करते हैं ।

हमारे लिए (साधुओं के लिए) परिग्रहत्याग और गृहस्थों के लिए परिग्रह-परिमाण ।

खोखे भर कर रखें वे उपकरण नहीं हैं, अधिकरण कहलाते हैं । जब चाहिए तब मिलते हैं फिर खोखे क्यों भरें ? उठा सके उतनी ही उपधि रखें । अधिक की क्या आवश्यकता है ?

हमें देखकर नये व्यक्ति भी सीखेंगे, यह मत भूलना । भचाउ में हम पू. कनकसूरिजी महाराज के साथ थे । उपग्रह-उपकार करने के लिए गच्छाधिपति के पास स्टोक रखना पड़ता है ।

अमृतभाई के पिता, गोरधनभाई ने कहा था, आपको इतना परिग्रह ? हमने कहा-‘ये तो आचार्य भगवंत के हैं ।’ तब वे समझे । आचार्य महाराज की आवश्यकता पड़ती है, परन्तु अन्य सबको क्या आवश्यकता ? ‘गठरियां आई कि नहीं ? खो तो नहीं गई न ?’ फिर मन ऐसे ही विचारों में रहता है ।

‘परि’ अर्थात् चारों ओर से, ‘ग्रह’ अर्थात् लेना, यह परिग्रह । ‘बावो बैठो जपे, जे आवे ते खपे,’ खोखे का ध्यान नहीं रखे तो कितने जन्तु पड़ेंगे ? खोखे बढ़ने पर अलमारी की आवश्यकता होती है । अलमारी कम पड़ने पर प्लैट की आवश्यकता होती है । कहां तक पहुंच गये हम ?

फिर भी कहलाते हैं हम अपरिग्रही ! बोकस से मोक्ष मिलेगा ऐसी तो मान्यता नहीं है ना ?

शिष्यो आदि पर राग भी परिग्रह है । मूर्च्छा ही परिग्रह है । पिछले द्वार से परिग्रह प्रविष्ट न हो जाये, उसका ध्यान रखना है ।

१०८ मंजिल की बिल्डिंग, एक-एक मंजिल पर सौ कमरे, सभी पूर्ण रूप से हीरे-मोतियों से पूर्ण हैं। सब मिलकर कितना माल ?

हमारी आत्मा के असंख्य प्रदेश हैं। प्रत्येक प्रदेश में अनन्त गुण हैं। कितने गुण हो जायेंगे ?

ये गुण प्राप्त करने का प्रयत्न करो तो ?

पढ़ने का - गुणों का लोभ उत्तम है, तप का, स्वाध्याय का सेवा का लोभ उत्तम है, परन्तु वस्तु एकत्रित करने का लोभ खतरनाक है। उससे बचना चाहिये।

* * * * *

१६-२-२००२ शनिवार के दिन प.पू.गुरुदेव आ.वि. कलापूर्णसूरीश्वरजी का स्वर्गगमन की बात सुनकर मुझे तो विश्वास ही नहीं हुआ। पर दो-चार बार नाकोड़ा आदि ओर से समाचार ज्ञात होने के बाद ऐसा हुआ कि कुछ क्षण स्व भान नहीं रहा। फिर कुछ क्षण के बाद मानो सारा विश्व शून्य सदृश लगा। फिर उसी विचारधारा में चढ़ते हुए जैसे पूज्य प्रवर श्री गौतम स्वामी को भगवान महावीरस्वामीजी का मोक्ष पदार्पण का समाचार नगरवासी एवं देवताओं के द्वारा श्रवण कर स्व भान भूलकर विलाप करने लगे वही दृश्य मैं स्व में अनुभव करते हुए आनन्दबाष्प आ गये। अपने सारे साधु समुदाय में ही नहीं बल्कि सारा भारतभर दुःख का अवसर बन गया।

प्रवर गुरु भगवंत को कौन नहीं चाहते थे ? जीवमात्र के साथ कल्याणमय मंगल वचन शुभाशीष, जिनके सम्पर्क से चाहे साधु हो या गृहस्थ, प्रसन्न होकर लौटते थे। मैं भी स्वयं आप पूज्यश्रीजी के साथ दो दिन में रहा हूँ। स्वबन्धु की तरह वात्सल्य दर्शाये, वह मैं अपने स्थूल शब्दों से व्यक्त नहीं करता।

- मु. राजतिलकविजय की वंदना
जोधपुर.



२५-७-१९९९, रविवार

आषा. सु. १२

❖ दो प्रकार के धर्मोंमें से साधु-धर्म शीघ्र मोक्षप्रद है । प्रव्रज्या - प्रकृष्ट व्रजन-गमन । जो शीघ्र मोक्ष में ले जाये वह प्रव्रज्या ।

दीक्षा-चारित्र मोक्ष का प्रकृष्ट साधन होने से उसको ग्रहण करने वाला मोक्ष-मार्ग का प्रवासी कहलाता है । श्रावक धर्म को प्रव्रज्या नहीं कहा जाता, प्रव्रज्या की तैयारी कहा जाता है । सर्व प्रथम साधु-धर्म की परिभाषना, उसके बाद परिपालना । देशविरति धर्म सर्व-विरति के लिए पालना है । देश-विरतिधर यदि युवराज है तो सर्व-विरतिधर महाराज है । आज का श्रावक आनेवाले कल का साधु है, महाराज है ।

इसीलिए तो श्रावक के लिए साधु की सामाचारी सुनने का विधान है । साधु-साध्वी के समस्त आचार को श्रावक-श्राविका भी जानते हैं । जानने में कोई अन्तर नहीं है, पालन करने में अन्तर है । अतः समजदार श्राविका भोजन पकाते समय कभी साधु के लिए भोजन नहीं पकाती ।

❖ इस विषम काल में १६ गुणों वाला दीक्षार्थी दुर्लभतम है । अन्य गुणों को गौण मानकर उनमें वैराग्य, विनय आदि भाव-

गुणों को प्रधानता देकर दीक्षा प्रदान की जा सकती है ।

मोह-वृक्ष के गहरे मूल विषय-कषायों पर टिके हुए है । इसीलिए विषय-कषायों के प्रति वैराग्य सर्व प्रथम होना चाहिये । यहां आकर विषय-कषाय के तूफान हों तो शासन की भयंकर अपभ्राजना होगी । आजकल तो समाचार-पत्रों का युग है । पहले भी ऐसी घटनाएं होती थी, ऐसे प्रसंग आते थे, परन्तु उनका समाचार-पत्रों में प्रकाशन नहीं होता था । क्या ऐसे प्रसंग परिवार में नहीं होते ? आज समाचार-पत्रों में ऐसे प्रसंग छपने से भयंकर अपभ्राजना हो रही है ।

मोह की शाखाओं एवं पत्तों को काटोगे तो कुछ नहीं होगा । मूल पर प्रहार होना चाहिये । नरक के जीव शाल्मली वृक्ष के नीचे विश्राम करने जाये और उपर से तलवार जैसे पत्ते गिरें, कट मरें, विश्राम तो नहीं मिलता परन्तु... मोह तो उस शाल्मली वृक्ष से भी खतरनाक है ।

तीव्र मोह एवं तीव्र अज्ञान के कारण ही निगोद के जीव वहां पड़े हुए हैं, अन्यथा वहां हिंसा आदिमें से दिखनेवाला कोई पाप नहीं है ।

अङ्गरुओ मोहतर्ह, अणाइभवभावणाइविसयमूलो ।

दुक्खं उम्मूलिज्जइ, अच्चंतं अप्पमत्तेहि ॥

लुनावामें एक विशाल बरगद का वृक्ष है । दीक्षा आदि के प्रसंग पर कभी मंडप की आवश्यकता नहीं होती । वह बरगद का पैड़ तो अच्छा, परन्तु मोह का वृक्ष खतरनाक होता है ।

✽ जिसकी मोक्ष जाने की इच्छा नहीं है, उसे निगोद में जाने के लिए तत्पर रहना चाहिए । अन्यत्र कहीं अनन्त काल तक रहने की व्यवस्था ही नहीं है । त्रसकाय की उत्कृष्ट स्थिति दो हजार सागरोपम ही है । इतने समय में स्वसाध्य (मोक्ष) सिद्ध न हो सके तो निगोद तैयार ही है ।

✽ विषय की स्पृहा संसार का मूल है । अप्रमत्त साधक ही उस स्पृहा का कठिनाई से उन्मूलन कर सकता है । अतः यह गुण तो होना ही चाहिये । संसार से जो विरक्त हो वही अप्रमत्त बन सकता है, सच्चे अर्थ में साधक बन सकता है । अप्रमत्त

साधक को भी मोह को मारने में कठिनाई पड़ती हो तो सस्पृह की तो बात ही क्या करें ? भगवान महावीर की साधना के साढ़े बारह वर्ष याद करें । वह मोह को मारने का उत्कृष्ट पुरुषार्थ था ।

मोह का मूल भी मिथ्यात्व है । उसे सम्यक्त्व से जीता जा सकता है । मोह ने स्त्री को शस्त्र बनाया है । उसके लिए धन चाहिये । इसी कारण कंचन-कामिनी की दास सारी दुनिया है ।

धन का नहीं, ज्ञान का राग चाहिए । स्त्री का नहीं, प्रभु का राग चाहिए - भगवान यों सिखाते हैं ।

जीव-मैत्री एवं प्रभु-भक्ति की कला अपनाओ तो मोह की मृत्यु होती प्रतीत होगी । भगवान को अन्तर में बसाना ही मोह नष्ट करने का मुख्य उपाय है । भगवान के अतिरिक्त मोह-मृत्यु की कला अन्य किसी प्रकार से नहीं मिलेगी ।

‘प्रभु-भक्ति के बिना प्रभु के वचन भी (आगम भी) मोह-वृक्ष को उखाड़ नहीं सकते’ ऐसा हरिभद्रसूरि का कथन है । वचन-योग तीसरा सोपान है । उससे पूर्व प्रीति भक्ति - योग चाहिये ।

❖ अप्रमाद अर्थात् ज्ञान-दशामें जागृति । इधर-उधर के विचारों में रहो तो जागते हुए भी प्रमाद है । भगवती में आठ प्रकार का प्रमाद कहा है । फिर कभी कहूंगा ।

❖ अविनय, आवेश, माया, छल, कपट आदि करना मोह है । दोष को दोष नहीं मानना मिथ्यात्व है । सत्रह दोषों पर यह अकेला मिथ्यात्व विजयी हो सकता है, आगे रहता है । वह हिंसा आदि को पाप के रूप में स्वीकार नहीं करता । इसीलिए मिथ्यात्व महापाप है ।

❖ दीक्षार्थी माता-पिता के पास विनय नहीं करता हो तो यहां भी नहीं करेगा । गृहस्थ के सामान्य नियमों का पालन नहीं करनेवाला व्यक्ति यहां आकर लोकोत्तर नियमों का पालन कैसे कर सकेगा ? दीक्षार्थी घर में क्या करता था, उस की जांच करने से इस बात का ख्याल आता है ।

सांचोर का एक भाई वि. संवत् २०१६ में आधोई अध्ययन हेतु आया । वह वनवीर के घर भोजन करने गया । वहां उसने शराब की । हमने कह दिया - ‘तेरा यहां काम नहीं है ।’ फिर उसने अन्य समुदाय

में दीक्षा अंगीकार की । आज-कल वे अकेले घूमते हैं ।

भवाभिनन्दी को कभी दीक्षा नहीं दी जाती ।

प्रश्न : भले वह भवाभिनन्दी हो, परन्तु जिन-वचनों से यह दोष दूर हो जायेगा, तो दीक्षा देने में क्या आपत्ति है ?

उत्तर : संसार-रसिक को जिन-वचन कभी प्रिय नहीं लगते । वह धर्म करेगा तो भी सांसारिक सिद्धि के लिए ही करेगा । भारी कर्मवाले क्लिष्ट परिणामी जीवों के हृदय में जिन-वचन कदापि नहीं उतरते । मैले वस्त्र पर कभी केसरिया रंग चढेगा ? अतः ऐसे भ्रम में न रहें ।

गांधीधाम के देवजीभाई में ये समस्त गुण दृष्टिगोचर होते । वैराग्य, नम्रता, सरलता, क्षमा, भद्रिकता, दाक्षिण्य आदि गुण उनमें प्रतीत होते । जब उन्होंने धर्म प्राप्त नहीं किया था, तब भी वे किसी को खाली हाथ लौटाते नहीं थे । कहां से आये थे वे सद्गुण ? पूर्व जन्म के संस्कार !

वस्त्र को उजला करके रंगा जाता है, उस प्रकार किसी को यदि धर्म - रंग से रंगना हो तो उसकी विषय-कषाय की मलिनता दूर करनी चाहिये ।

जिस व्यक्ति को विषय विष्टा तुल्य प्रतीत हों, कषाय कड़वे जहर प्रतीत हों, वही व्यक्ति दीक्षा के योग्य माना जाता है ।

भूँड़ (शूकर) विष्टा का रंग कदापि नहीं छोड़ता । भवाभिनन्दी संसार का रंग कदापि नहीं छोड़ता । शूकर को पकड़कर यदि आप उसे दूधपाक, मिठाई आदि खिलाओ तो भी वह विष्टा नहीं छोड़ेगा । उस प्रकार भवाभिनन्दी को चाहे जितना समझाओ फिर भी वह अकार्य नहीं छोड़ेगा, अवसर मिलते ही वह अकार्य कर लेगा ।

अतः गुणवान व्यक्ति को ही दीक्षा देनी चाहिये । सोलह गुणों में से किसी भी गुण की अपेक्षा रखे बिना यदि किसी दीक्षार्थी को दीक्षा प्रदान करेंगे तो स्व-पर का भयंकर अहित होगा ।

• • • • •





२६-७-१९९९, सोमवार
आषा. सु. १३

पांच द्वार पांच वस्तु के रूप में बताये हैं । अतः ग्रन्थ का नाम 'पंच वस्तुक' है । चार अनुयोगों में यहां चरण-करणानुयोग प्रधान रूप से है । चारों अनुयोग हमारे आध्यात्मिक जीवन को परिपुष्ट बनाते हैं ।

१. द्रव्यानुयोग सम्यग्दर्शन निर्मल करता है ।

द्रव्य-गुण-पर्याय जानने से आत्मा आदि पदार्थों के सम्बन्ध में निःशंक एवं स्थिर बना जा सकता है । आत्मा आदि पदार्थ हमने बताने के लिए अथवा कीर्ति के लिए सीखे, परन्तु स्वयं के लिए तनिक भी नहीं सीखे । यह दीपक सम्यक्त्व कहलाता है । हम अभव्यों जैसे रह गये ।

भेदज्ञान प्राप्ति के लिए यह तत्त्वज्ञान सीखना है ।

जीवों का स्वरूप जानने से उसका साधर्म्य प्रतीत होता है, जिससे समस्त जीवों के साथ मैत्री की जाती है । इसके लिए ही जीव-विचार आदि का अध्ययन करना है ।

कर्म, गति अथवा जाति के कारण से जीवों के भेद पड़ते हैं । चेतना की अपेक्षा से कोई भेद नहीं है । अतः प्रथम जीवों

की एकता भी (अभेद) मन में होनी ही चाहिये । हिन्द महासागर, अरबसागर अथवा बंगाल की खाड़ी आदि सागर के भेद जानते समय यह बात ध्यान में होनी चाहिये कि सागररूप में सब एक हैं । केवल भौगोलिक स्थिति के कारण नाम भिन्न हैं ।

२. गणितानुयोग ज्ञान के लिए, एकाग्रता से ज्ञान की वृद्धि होती है ।

३. चरणकरणानुयोग चारित्र के लिए ।

४. कथानुयोग तीनों का फल है । इससे जीव विराधना से बचता है, आराधना में अग्रसर होता है ।

उत्तराध्ययन आदि में कथानुयोग है । अन्य आये वह गौण । किसी में चारों अनुयोग भी होते हैं । यह विभागीकरण आर्यरक्षित सूरिजी के द्वारा किया गया था ।

❖ 'जिसके पास मैं दीक्षा ग्रहण करूं उसकी आज्ञा का पालन न करूं' उनका विनय न करूं, उनका द्रोह करूं तो क्या मतलब है दीक्षा का ?' भव-भीरु दीक्षार्थी इस प्रकार सोचता है ।

❖ गुणहीन को दीक्षा देने से स्व-पर दोनों के भव बिगड़ते हैं । विनीत पुण्यवान्, अविनीत पुण्यहीन होता है । सम्पत्ति हो उसे धनवान् कहा जाता है । यहां विनय आदि गुण आन्तर सम्पत्ति है ।

'नवकार' में 'नमो' की प्रधानता है, वह विनयदर्शक है । यदि अविनीत को शिक्षा दोगे तो वह आप पर ही झपटेगा - 'आप कैसे है ?' वह सब मैं जानता हूं । रहने दो.' उसे आप हजार उपाय करके भी नहीं समझा सकोगे । विनय के बिना विद्या-समकित कहां से ? विनीत व्यक्ति कदापि स्वेच्छानुसार नहीं करेगा । अविनीत व्यक्ति अपनी इच्छानुसार ही सब करेगा । अविनीत विहित नहीं, अविहित अनुष्ठान ही करता रहेगा । कहीं भी घूम आये, कुछ भी कर आये, गड़बड़ कर आये, गुरु को कुछ बतायेगा ही नहीं ।

गौतम स्वामी ने ३६००० प्रश्न पूछे । हम गुरु को कुछ नहीं पूछते । पूछने जैसा रहा भी नहीं न ? सर्वज्ञ हो गये !

अविनीत, उद्धत को बार-बार टकोर करो तो उसे आर्तध्यान होता है - 'जब देखो तब टक-टक ! बस मुझ एक को ही देखा

है ?' विनीत को शिक्षा देने से, टकोर करने से वह प्रसन्न होता है, अश्रद्धालु-अविनीत को दुःख होता है ।

❀ भीख मांग कर खाना संसार में निकृष्टतम धंधा है । यदि हम यहां संयमयोग का पालन न करें तो भिखारी से भी बदतर हो जायेंगे । भिखारी तो फिर भी नम्र होता है, यहां तो नम्रता भी गई ।

कतिपय श्रावक अविनीत को कहते हैं - 'मैं आचार्य महाराज को कह दूंगा ।' उसका उत्तर होता है - 'कह दीजिये । आचार्य महाराज से मैं डरता नहीं हूं ।'

दशवैकालिक में नववे विनय अध्ययन में सर्वाधिक चार उद्देश्य हैं । उत्तराध्ययन में प्रथम अध्ययन विनय के लिए है । इससे विनयगुण की महिमा ज्ञात होगी । उसकी गुजरती सज्जाय भी हैं । बड़ी उम्र के साधुओं को हमारे वयोवृद्ध व्यक्ति सज्जाय सिखाते - 'विनय करजो रे चेला... !' आदि ।

वि. संवत् २०३६ में पालीताना में विनय के सम्बन्ध में जहां-जहां से कुछ मिला उसे एकत्रित करने का प्रयत्न किया था ।

जिस प्रकार असाध्य रोगी को वैद्य छोड़ देता है, उस प्रकार गुरु को चाहिये कि वह अविनीत को छोड़ दे । असाध्य रोगी का केस यदि हाथ में लिया जाये तो वैद्य को अपयश प्राप्त होता है, रोगी भी परेशान होता है । उसका त्याग करने में ही भलाई है ।

दीक्षा प्रदान करना अर्थात् जीव के कर्मरूपी रोग की चिकित्सा करना । गुरु वैद्य है । शिष्य रोगी है । जिसे भव-रोग दूर करने की इच्छा हो उसे ही दीक्षा देनी चाहिये । जो स्वयं को रोगी ही नहीं मानता, उसकी चिकित्सा कैसे हो सकती है ?

प्रश्न : इस जैन-शासन में तो कुछ भी असाध्य नहीं होना चाहिये । यहां यदि असाध्य होगा तो जीव जायेगा कहां ?

उत्तर : आपकी बात पूर्णतः सत्य है । जिन-शासन के लिए कोई असाध्य नहीं है, परन्तु उसके प्रयोग के लिए तो योग्यता होनी चाहिये न ? स्वयं तीर्थंकर भी अभव्य या दुर्भव्य को प्रतिबोध नहीं देते । देशना में भी वे 'हे भव्यो !' ही कहते हैं । चाहे

जितने प्रवीण भागवतकार, कथाकार हों परन्तु वे भैसों को एकत्रित करके कथा नहीं करते । भैसे चाहे जितना सिर हिलायें, परन्तु समझती कुछ नहीं ।

महानिशीथ का असाध्य रोगी का उदाहरण : सुसढ नामक साधु को जयणा के साथ स्नान-सूतक का भी सम्बन्ध नहीं था । इसी लिए 'कहं चरे कहं चिट्टे' आदि जयणा का स्वरूप सर्व प्रथम साधुओं को समझाना चाहिये । सुसढ उग्र तप करता परन्तु वह समस्त असंयम स्थानों में वर्तन करता था ।

गुरु - 'हे महासत्त्वशील । अज्ञानता दोष के कारण तू संयम-जयणा जानता नहीं है । उस कारण से तेरा यह सब व्यर्थ जाता है । तू आलोचना लेकर सब शुद्धकर ।' उसने आलोचना शुरू की परन्तु जीवन में थोड़ा भी सुधार नहीं हुआ । उसने संयम-जयणा का उचित प्रकार से पालन नहीं किया । छट्ठ-अट्ठम से छः माह तक तप किया परन्तु जयणा का 'ज' नहीं था ।

कार्य किया कि नहीं ? मृत्यु उसकी राह नहीं देखती । वह अचानक आ धमकती है । मर कर वह सामानिक देव, वासुदेव होकर, सातवीं नरक में गया । वहां से हाथी बनकर अनन्त काल के लिये निगोद में चला गया ।

अठारह हजार शीलांग के अखण्ड पालन को जयणा कहते हैं । यह बात वह समझा नहीं । अतः पुन्यहीन सुसढ निगोद में गया । काय-क्लेश किया उससे आधा कार्य भी उसने पानी के लिए किया होता, अर्थात् पानी के लिए उपयोग रखा होता तो उसका मोक्ष हो जाता । पानी, तेउ और मैथुन ये तीन महा दोष हैं, यह वह समझा नहीं । वह साधु पानी का उपयोग अधिक करता था ।

ये तीनों महा पाप-स्थानक हैं, क्योंकि तीनों में अनन्त जीवों का उपघात है । अतः पानी में - 'जत्थ जलं तत्थ वणं' के सूत्र से अनेक जीव हैं । अग्नि को 'सर्व भक्षी' कहा है । उससे छ काय की विरधना होती है । मैथुन में संख्यात-असंख्यात जीवों का संहार होता है । तीव्र राग के बिना मैथुन नहीं होता । ऐसा साधु प्रथम व्रत का पालन नहीं कर सकता । प्रथम व्रत गया तो समझो कि शेष चार भी चले गये ।

इस प्रकार उच्छृंखलता पूर्वक वर्तन करनेवाले सुसद ने दूसरों के लिए भी ऐसी मिथ्या परम्परा खड़ी करने के निमित्त उत्पन्न किये । ऐसे व्यक्ति को भविष्य में स्वप्न में भी धर्म शब्द सुनने को नहीं मिलता । अबोधिदायक इन तीनों का त्याग करना आवश्यक है ।

प्रश्न : छ माह तक का तप निरर्थक कैसे होता है ?

उत्तर : काय-क्लेश तो ऊंट, कुत्ते, गधे, बैल आदि भी बहुत करते हैं परन्तु जयणा कहां ? जयणा-विहीन समस्त कायक्लेश निरर्थक है ।

तप के प्रभाव से शायद देवलोक प्राप्त हो जायेगा, परन्तु उसके बाद का दृश्य भयंकर होगा, नरक तिर्यच आदि दुर्गति ही प्राप्त होगी ।

प्रश्न : छः काय में से तीन में ही अबोधि क्यों होता है ?

उत्तर : छःहों काय में पापारम्भ है ही, परन्तु इन तीनों की विराधना से अनन्त जीवों की विराधना होती है, जिससे महापापारम्भ है । समस्त संयम स्थानों में जयणा ही मुख्य है ।

• • • • •

अध्यात्मयोगी आचार्य श्री कलापूर्णसूरिजीना काळधर्म अंगेनो पत्र मळ्यो । वांची खूब ज दुःख थयुं । तेओश्रीना जवाथी शासनने न पूरी शकाय तेवी मोटी खोट पडी छे । तेओश्रीए पोताना परमात्मभक्ति, स्वाध्यायरसिकता, चारित्रशुद्धि, शासननिष्ठा आदि आगवा गुणोशी जगतने एक महान आदर्श आपेल छे । तेओश्रीना काळधर्मना समाचार मळतां ज ते ज दिवसे खीवान्दी मंगल भुवनमां सकल संघ साथे देववंदन तेमज गुणानुवाद करेल । जेमां आचार्यश्री अजितचंद्रसूरिजी म.सा., आचार्यश्री हेमप्रभसूरिजी म.सा. (आचार्यश्री नीतिसूरिजीनी समुदायना) आचार्यश्री धर्मधुरंधरसूरिजी आदि पधारेले ।

आचार्यश्रीनो आत्मा ज्यां होय त्यां शासनदेव तेमना आत्माने शांति आपे ।

- एज... अरिहंतसिद्धसूरिनी अनुबंदना

फा.सु. २, पालीताणा.



अध्यात्मसार साधक को शिक्षा

२८-७-१९९९, बुधवार
आषा. सु. १५

✽ पूर्व काल में लिखने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी । गुरु के द्वारा बोला गया शिष्य को याद रह जाता था । लिखने की आवश्यकता तो बुद्धि घटने के बाद ही पड़ी । अधिक पुस्तकें, घटी हुई बुद्धि का चिन्ह है ।

✽ कठिन से कठिन ग्रन्थों के रचयिता जैन वाङ्मय में नव्य न्याय के पुस्तकर्ता उपाध्याय श्री यशोविजयजी ने सरलतम गुजराती ग्रन्थों की भी रचना की है । यह जानकर आश्चर्ययुक्त आनन्द होता है । तर्क-तौक्षण उनके ग्रन्थ उनकी तीव्र बुद्धिमत्ता को तथा भक्तिमय स्तवन आदि उनके भक्तिपूर्ण मधुर हृदय को दिखाते हैं । ज्ञानसार उनकी साधना की पराकाष्ठा के रूप में उत्पन्न अनन्य कृति है ।

अध्यात्म-सार के अन्त में महत्त्वपूर्ण शिक्षा दी गई है ।

वर्तन का छिद्र जिस प्रकार भीतर रहे प्रवाही को खाली कर देता है, उस प्रकार निन्दा भी छिद्र का कार्य करती है । साधना

का समस्त अमृत उस छिद्र में से निकल जाता है ।

❖ कृष्ण को सड़ी हुई कुत्ती में भी उज्ज्वल वस्तु दिखती है । हमें तो उज्ज्वलता में भी कालिमा के दर्शन होता है । दुर्योधन मर गया परन्तु उसकी आंख हमारे भीतर जड़ी हुई अभी तक जीवित है ।

पर-निन्दा करनी अर्थात् स्व में गुण का आगमन रोकना । निन्दा करने की इच्छा हो तब 'स्व' में दृष्टि करना । मैं केसा हूं ? पू. हेमचन्द्राचार्य जैसे भी जब 'त्वन्मतामृत' कहते हों, स्व-दुष्कृतों का खुला इकरार करते हो तो फिर हम किस खेत की मूली है ?

स्व-दुष्कृतगर्हा की तीव्रता केवलज्ञान भी दिला सकती है । स्व में दुष्कृत प्रतीत हों, उसके बाद ही दूसरों में सुकृत प्रतीत होते हैं और उसके बाद ही उत्कृष्ट सुकृत के स्वामी के शरण में जाने का मन होता है ।

'नमो' दुष्कृतगर्हा, 'अरिहंत' सुकृत अनुमोदना, 'ताणं' शरणागति;

'नमो' : जो दुष्कृत गर्हा करता है, जो स्व को वामन गिने वही झुक सकता है । 'अरिहंत' : जो दुष्कृत गर्हा करे उसे ही अरिहंत में सुकृत की खान दिखाई देती है ।

'ताणं' और वही शरण स्वीकार कर सकता है ।

गुण देखने हों तो अन्य के और अवगुण देखने हों तो स्वयं के ही देखें । इतनी छोटी सी बात याद रह जाये तो काम हो जाये ।

(१३) 'शौचम्' पवित्रता चाहिये । पवित्रता अर्थात् निर्मलता । दूसरे उपाय से प्राप्त स्थिरता चली जायेगी । अतः सर्व प्रथम निर्मलता होनी चाहिये । निर्मलता, स्थिरता, तन्मयता यही सच्चा क्रम है । इसी क्रम से प्रभु का साक्षात्कार हो सकता है ।

निर्मलता नींव है, स्थिरता मध्यभाग है और तन्मयता शिखर है । तीनों योग की निर्मलता चाहिये ।

ब्रह्मचर्य भाव-स्नान है । ब्रह्मचर्य से बिना स्नान किये देह पवित्र बनती है । कटु एवं असत्य वचनों से वाणी अपवित्र बनती है । देह की पवित्रता सदाचार है । वाणी की निर्मलता सत्य-

मधुर-हितकर वचन हैं ।

आसन-प्राणायाम इत्यादि करने मात्र से पवित्रता नहीं आती । थोड़ी आभासी स्थिरता आयेगी, परंतु अधिक समय तक स्थिर नहीं रहेगी । योग की कक्षाएं चलाकर योग के नाम से कुछ आसन, प्राणायाम सिखाकर वे जेबें भर कर चले जायेंगे, परन्तु आपका मन पवित्रता से नहीं भरेगा । इससे पूर्व के दो अंग 'यम एवं नियम' भुला दिये गये हैं । जिसके जीवन में यम-नियम न हों, उसमें पवित्रता नहीं आती । निर्मल चित्त ही स्थिर बनता है ।

अहिंसा आदि पांच यम है । स्वाध्याय आदि पांच नियम है । वे आज भूला दिये गये हैं । निर्मलता के लिए ही प्रातः मंदिर में पहले भक्ति एवं उसके बाद माला गिनवाता हूं ।

वस्त्र मैले हो जाने का भय है, परन्तु दुराचार से देह, असत्य आदि से वचन, दुर्विचारों से मन मलिन हो जायेगा, उसका कोई भय नहीं है ।

अन्य दर्शनों में भी ध्यान से पूर्व नाम संकीर्तन की भक्ति अत्यन्त ही प्रसिद्ध है । 'हरे राम, हरे कृष्ण' धुन गाने के बाद जाप आदि में प्रवेश कराया जाता है । उदाहरणार्थ 'गौरांग चैतन्य महाप्रभु का सम्प्रदाय ।'

स्वाध्याय, स्तोत्र आदि से वाणी पवित्र बनती है ।

मैत्री आदि से मन पवित्र बनता है ।

इस प्रकार क्रमशः हमें काया, वचन एवं मन की पवित्रता प्राप्त करनी है । काया एवं वचन की पवित्रता प्राप्त किये बिना सीधे ही आप मन की पवित्रता प्राप्त नहीं कर सकते । यह क्रम है । सर्व प्रथम सदाचार आदि से देह को पवित्र बनायें । उसके बाद सत्य आदि से वाणी एवं उसके बाद मन की बारी रखें । शौच-पवित्रता के बाद ही स्थिरता आती है अतः -

१४. बाद में लिखा स्थैर्यम् - स्थिरता होनी चाहिये ।

१५. उक्त स्थिरता भी दम्भहीन होनी चाहिये, अतः लिखा : अदम्भः । साधक का जीवन दम्भ-विहीन खुली पुस्तक के समान होना चाहिये ।

१६. वैराग्यम् - इन्द्रियों के विषय में आसक्त बना हुआ मन चंचल होता है । उसकी चंचलता समाप्त करने के लिए वैराग्य चाहिये ।

१७. आत्मनिग्रहः वैराग्य के पश्चात् ही आप आत्म-निग्रह कर सकते हैं ।

१८. संसार के दोष देखें ।

संसार अर्थात् विषय-कषाय । प्रतिपल विषय-कषाय के दोषों का विचार करें ।

विषय विष से भी भयंकर हैं । विष एक ही बार मारता है, जबकि विषय बार-बार मारते हैं, भाव-प्राण का संहार करते हैं । यह 'Sugar coated' है । विषयों का उपभोग करनेवाले को ख्याल नहीं रहता । उसमें विष दृष्टिगोचर हो तो ही विषयों का परित्याग किया जा सकता है ।

चाहे जितने विषयों का उपभोग करे, परन्तु उपभोग करनेवाले को तृप्ति नहीं दे सकते ।

ब्रह्मदत्त को याद करें । आज वह कहाँ है ?

कषायों को उत्पन्न करनेवाले भी विषय हैं । असल में जीव की विषयों के प्रति आसक्ति है । यदि विषयों के उपभोग में कोई अडचन डालता है तो उस पर कषाय होता है ।

‘जे गुणे से मूलठाणे, मूलठाणे से गुणे ।’

विषय आत्मा के नहीं, पुद्गल के गुण हैं । पुद्गल पर हैं । ‘पर’ के प्रति यदि आसक्ति करें तो क्या दण्ड नहीं मिलेगा ? दूसरे के मकान पर आप अपना अधिकार बताओ तो क्या वह आपको दण्ड नहीं देगा ? आप पर मुकदमा नहीं करेगा ? पुद्गलों का हम पर मुकदमा चल रहा है । वे कहते हैं - ‘यह जीव मुझ पर अपना अधिकार बताता है । इसे दण्ड मिलना चाहिये ।’ फल स्वरूप हमें दण्ड मिला है, मिल रहा है और भविष्य में भी मिलेगा, यदि हम ‘पर’ का कब्जा न छोड़ें ।

तीर्थंकरों का भला हो कि जिन्होंने ने हमें समझाया, ‘यह कब्जा छोड़ो, ‘पर’ के प्रति आपका स्वामित्व हटाओ, तो ही आप दण्ड से मुक्त हो सकेंगे । इसके बिना आपका संसार-परिभ्रमण बन्द नहीं होगा ।

संसार की दूसरी नींव है कषाय ।

जैसे कसाई बकरे का कत्ल करता है, उस प्रकार कषाय चारों गतियों के जीवों का कत्ल करते हैं ।

कषाय के आवेश के समय हम कैसे बन जाते हैं ? मन-वचन-काया कैसे कांपने लगते हैं ? कभी तो स्वस्थतापूर्वक उस रौद्र स्वरूप को देखो । आपको क्रोध पर क्रोध आ जायेगा ।

१९. 'चित्यं देहादिवैरूप्यम्'

देह आदि की विरूपता सोचें ।

आठ वर्ष पूर्व जिन मनुष्यों की देह हमने देखी थी, यदि आज देखते हैं तो स्वरूप कितना परिवर्तित प्रतीत होता है ? देह का यही स्वभाव है, पल-पल में गलना, नष्ट होना ।

ज्ञानियों का कथन है कि देह नश्वर है अतः आप अनश्वर तत्त्व पर दृष्टि डालो ।

• • • • •

प.पू. आचार्य भगवंत कलापूर्णसूरिजीना कालधर्मना समाचार
वज्रघात समा बन्या ! शासनना ज्योतिर्धर हता । योगना व्योमाकाशमां
झळहळता सूर्य हता । तेमना विदायनी कळ हजु वळी नथी ।

पूज्य कलापूर्णसूरिजीना जीवनना पांच विशिष्ट गुणो में नीचे
मुजब जोया छे :

(१) अद्भुत अप्रमत्त दशा (अप्रमाद योग)

(२) उत्कृष्ट अद्वैतानुभूति आपत्ती भक्ति

(३) अप्रतिम करुणादृष्टि अने जीवन

(जाणे के क्षायिकना घरनी)

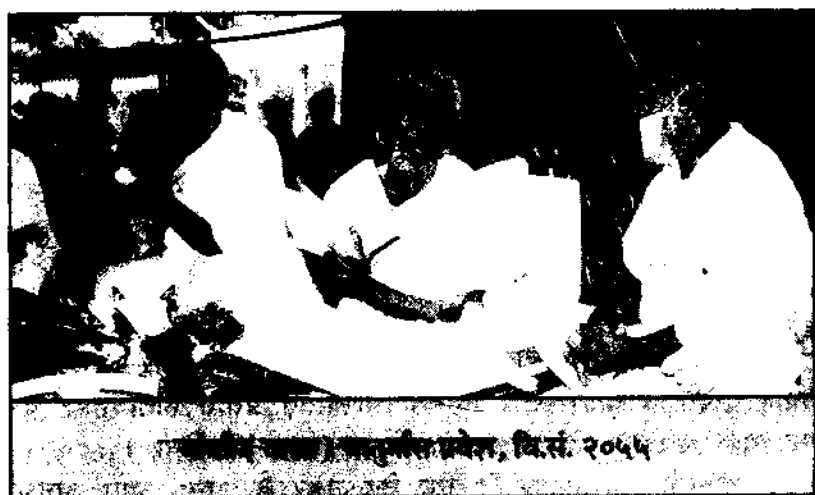
(४) गुणसाधक श्रेष्ठ 'कायोत्सर्ग - ध्यान'

(५) सर्वश्रेष्ठ संघ मैत्री

आ पांचेय गुणो संघमां प्रसार पामे तेवुं आपणे (सहु) जीवन
जीवीए अने तेमनी पासे ए मांगीए ।

- शशिकान्तभाईनी वंदना

२२-२-२००२



२९-७-१९९९, गुरुवार
श्रा. व. १

❖ पूर्वजन्म में करुणा को अत्यन्त ही भावित बनाई होने से भगवान स्वयं करुणामय हैं, करुणासागर हैं तथा उनका धर्म भी करुणामय है। मेघरथ राजा कबुतर को बचाने के लिए अपने प्राण देने के लिए तत्पर हो गये।

अपनी आत्मा की अपेक्षा भी दूसरे को अधिक गिनें। 'आत्मवत् सर्व भूतेषु' से भी ऊंची यह दृष्टि है। मंत्री आदि ने इनकार किया फिर भी मेघरथ महाराजा स्व-निर्णय से विचलित नहीं हुए। करुणा ने इनकार किया, शरणागत की किसी भी मूल्य पर रक्षा करनी, यह उन्हें करुणा ने सिखाया।

शान्तिनाथ भगवान का यह पूर्व का तीसरा भव है। ऐसी करुणा के कारण उन्होंने उसी भव में तीर्थंकर नाम-कर्म बांधा।

आचारांग सूत्र करुणा का झरना है।

गोविन्द पण्डित ने इस आशय से दीक्षा अंगीकार की थी कि यदि जैन दर्शन का खण्डन करना हो तो दीक्षा ग्रहण कर के जैनदर्शन का अध्ययन करना पड़ेगा। परन्तु आचारांग सूत्र पढ़ने से हृदय परिवर्तन हो गया, उसके बाद उन्होंने दीक्षा ग्रहण की।

❖ शास्त्र अन्य व्यक्तियों की परीक्षा के लिए नहीं है, स्व के निरीक्षण के लिए है। यदि अन्य व्यक्तियों के दोष देखते रहे तो शास्त्र आपके लिए शस्त्र है।

❖ मेरा स्वास्थ्य भले ठीक न हो, परन्तु वाचना आदि से उल्टा अधिक स्फूर्तिमय रहता है। आप ग्रहण करें और जीवन में उतार कर विनियोग करें। कृपण न बनें।

अपनी ज्ञान-सम्पत्ति-अध्यात्म-सम्पत्ति यदि हम दूसरों में वितरित नहीं करेंगे तो सानुबन्ध नहीं बनेगी, भवान्तर में प्राप्त नहीं होगी। जैन-शासन किस लिए जयवंत है? क्योंकि विनियोग की प्रक्रिया चालु रही है।

नैयायिक पण्डित क्लिष्ट भाषा में लिखते हैं, ताकि कोई बात समझ ही न सके, जबकि जैनाचार्यों ने सरल भाषा में लिखा है। सभी समझें, ग्रहण करें, जीवन में उतारें, यह विनियोग है।

२०. 'भक्तिर्भगवति धार्या'

भगवान पर भक्ति धारण करनी।

इतने गुण आ गये हैं, अब भक्ति की क्या आवश्यकता है? भक्ति नहीं होगी तो ये समस्त गुण अभिमान उत्पन्न करेंगे। अभिमान आया तो समझ लेना कि पतन का प्रारम्भ हो गया है।

बत्तीस-बत्तीसी में तो यहां तक कहा है कि -

सारमेतन्मया लब्धं, श्रुताब्धेरवगाहनात् ।

भक्तिर्भागवती बीजं, परमानन्द - सम्पदाम् ॥

'समग्र शास्त्रनो सार, मेळव्यो में मथी मथी;

परमानंदनी प्राप्ति, थाय छे प्रभु-भक्तिथी.'

भगवान अन्य कुछ नहीं मांगते। केवल समर्पण मांगते हैं। वह भी अपने लिए नहीं, भक्त के लिये।

अपने स्वयं के लिए भगवान को नमन, पूजन, समर्पण अथवा भक्ति की आवश्यकता नहीं है। भक्त के लिए यह सब आवश्यक है।

❖ सम्यग्दर्शन, मैत्री एवं भक्ति की नींव पर खड़ा है। इससे मधुर परिणाम प्राप्त होता है। इससे पूर्व नीम की कटुता मात्र होती है।

❖ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः ।

- तत्त्वार्थ सूत्र

इस सूत्र में उत्क्रम से पंच परमेशी विद्यमान हैं ।

‘मार्ग’ से ‘अरिहंत’, ‘मोक्ष’ से सिद्ध, ‘चारित्र’ से आचार्य, ‘ज्ञान’ से उपाध्याय, ‘दर्शन’ से साधु एवं ‘सम्यग्’ से नमस्कार निर्दिष्ट हैं ।

❖ मोक्ष की अभिलाषा अर्थात् सिद्ध बनने की अभिलाषा । सिद्ध की अभिलाषा अर्थात् शुद्ध होने की अभिलाषा । जितने अंशों में आप शुद्ध बनते हैं, उतने अंशों में आप सिद्ध बनते हैं । यही आप पल-पल में सिद्ध बन रहे हैं ।

‘कडे माणे कडे’ के सिद्धान्त से यह कहा जा सकता है । ‘मिज्जमाणे मडे’ से जैसे इस समय हम मर रहे हैं, उस प्रकार शुद्ध होते हुए हम इस समय ही सिद्ध बन रहे हैं, क्या यह नहीं कहा जा सकता ?

❖ निश्चय से प्रतिपत्ति पूजा ११-१२-१३ गुणस्थानक पर होती है, परन्तु उसका प्रारम्भ चौथे गुण-स्थानक से हो सकता है ।

प्रभु-आज्ञापालन स्वरूप पूजा सर्व प्रथम आनी चाहिये, उसके बाद प्रतिपत्ति पूजा आती है । हिंसा आदि आश्रवों का त्याग प्रभु का आज्ञा-पालन है । मिथ्यात्व-अविरति-प्रमाद-कषाय-योग ये आश्रवों के पांच द्वार हैं । उन्हें रोकना प्रभु की आज्ञा है ।

आश्रवों के द्वार खुले नहीं रखे जाते । दुकान का द्वार एक रात खुला रख कर तो देखें । अनादिकाल से हमने पांच-पांच द्वार खुले रखे हैं । यदि लूट नहीं होगी तो क्या होगा ?

संवर आश्रव का प्रतिपक्षी है । द्वार पर जैसे ‘वोचमैन’ रखते हैं, उस तरह आत्म-मंदिर में संवर के ‘वोचमेन’ चाहिये । विवेक जैसा कोई वोचमैन नहीं है ।

विवेक प्रभु-कृपा से आता है । हेय उपादेय की सम्यक् जानकारी-पूर्वक का ज्ञान-सहित आचरण विवेक है ।

❖ प्रभु-भक्ति में तरबोल हो जायेंगे, उतने गुण आपको नहीं छोड़ेंगे । यह तो मजीठ का रंग है । भक्ति ‘विनयगुण’ है । विनयगुण आ जाये तो भला अन्य कौन से गुण नहीं आयेंगे ?

प्रभु-भक्ति उत्कृष्ट विनय है। संसार के विनय में आकांक्षा है कुछ प्राप्त करने की। यहां यह भी नहीं है। सम्पूर्ण निराकांक्ष बन कर भक्त भगवान की भक्ति करता है। यह तो यहां तक कह देता है कि मुझे उस के बदले में मुक्ति भी नहीं चाहिये।

✽ सूर्य की केवल एक किरण से अंधकार भाग जाता है, उस प्रकार भगवान की एक ही स्तवना से तो क्या, उनकी एक कथा से भी पाप भागता है - ऐसा मानतुंगसूरिजी कहते हैं :

‘आस्तां तव स्तवन...’

परिचित स्तोत्रों में भी कितना भरा हुआ है ? क्या आपने कभी सोचा है ?

आपको लगता है कि चैत्यवन्दनों-स्तवनों में समय व्यर्थ जाता है। आप एक बार भक्ति का स्वाद तो चख कर देखें। निहाल हो जायेंगे।

✽ ‘भगवान सुन तो लेते हैं, परन्तु बोलते नहीं’ यह वाक्य मैंने अभी बोला उसे क्या आप सत्य मानते हैं ? क्या प्रभु हमारे स्तवन, हमारी संवेदनाएं, हमारी प्रार्थनाएं सुनते हैं ? यह बात आप मानते हैं ? अथवा यह केवल उपचार प्रतीत होता है ? याद रहे कि जब तक आप साक्षात् भगवान सुन रहे हैं यह नहीं मानेंगे तब तक आप भक्ति नहीं कर सकेंगे।

✽ शक्रस्तव में भगवान का एक सुन्दर विशेषण है - ‘विश्वरूपाय !’ भगवान विश्वरूप हैं, अर्थात् विश्व-व्यापी हैं। घट-घट के अन्तर्यामी हैं भगवान !

‘त्वामव्ययं’ इस गाथा में जो जो भगवान के विशेषण हैं, वे समस्त भगवान की भिन्न-भिन्न शक्ति के द्योतक हैं।

✽ आप भयभीत क्यों हैं ? क्योंकि आपने भगवान का शरण स्वीकार नहीं किया। यदि निर्भय बनना हो तो पहुंच जाओ भगवान के पास।

‘अभयकरे सरणं पवज्जहा’

अजितशान्ति के स्वचिता ने यह घोषणा की है।

✽ अन्य कार्यों के लिए आप अनेक घण्टे व्यतीत कर सकते हैं। क्या आप प्रभुभक्ति के लिए थोड़ा अधिक समय नहीं

निकाल सकते ? जब आप प्रभु-भक्ति में गहरे उतरेंगे तो समझेंगे कि स्वाध्याय, पठन, सम्पादन, संशोधन, अध्ययन, अध्यापन, जाप, ध्यान, सेवा आदि समस्त प्रभु-भक्ति के ही प्रकार हैं। अभी आपके ये कार्य शुष्क हैं क्योंकि उनमें भक्ति उतरी नहीं है। यदि भक्ति का डोरा जुड़ जाये तो इन समस्त कार्यों के मणके माला बन कर आपके कण्ठ में सुशोभित बनेंगे।

२१. 'सेव्यो देशो विविक्तश्च' - योगी को एकान्त स्थान पर रहना चाहिये। इतना एकान्त पवित्र स्थान (वांकी) इतने वर्षों में नहीं मिला था। साधना के लिए यह वांकी क्षेत्र अत्यन्त उत्तम है, अतः यहां रह कर साधना पर जोर दें। जाप-ध्यान आदि की जितनी अनुकूलता यहां मिलेगी, इतनी अन्यत्र नहीं मिलेगी।

✽ १२ वर्षीय साध्वी लावण्यश्रीजी म. आज दोपहर में कालधर्म को प्राप्त हुए हैं। ये साध्वीजी अत्यन्त ही गुणवान् थीं। मुझसे दुगुना उनका दीक्षा-पर्याय था अर्थात् मेरी आयु जितना उनका दीक्षा-पर्याय था। गुणों से भी वे वृद्ध थीं। इतनी वेदना में भी उन्होंने अपूर्व समाधि रखी। वे बुद्धिमान भी बहुत थी। उन्होंने उस युग में अठारह हजारी की थी। वे गत १५ वर्षों से अस्वस्थ थीं। उनके साथ रहनेवालों ने भी कमाल किया है। उनकी अपूर्व सेवा की है। उन सेवा करनेवालों की जितनी अनुमोदना करें उतनी कम है।

हम भी कभी वृद्ध होंगे, इस जगत् में से बिदा लेंगे। यह हकीकत कभी न भूलें।

ऐसे प्रसंग पर अपना भावी मृत्यु देखना। जिस व्यक्ति को प्रति पल अपनी मृत्यु दिखाई दे, वह वैरागी बने बिना कभी नहीं रह सकता। मृत्यु की प्रत्येक घटना हमारे वैराग्य की वृद्धि करनेवाली होनी चाहिये।

• • • • •





वांकी (कछ) आतुर्यास प्रवेश, वि.सं. २०५५

३०-७-१९९९, शुक्रवार

श्रा. व. २

✽ भगवान ने तीस वर्ष तक तीर्थ को स्थिर करने के लिए निरन्तर छः छः घंटों तक सतत देशना दी, क्योंकि मनुष्य की भूलने की प्रकृति है। उसे पुनः पुनः स्मरण कराने पर भी वह पुनः पुनः भूल जाता है। इसी लिये पुनरावृत्ति को इतना महत्त्व दिया जाता है।

पढा हुआ क्यों भूल जाते हैं ? क्योंकि पुनरावृत्ति नहीं की। जब आप पढते हैं तब कुछ ज्ञानावरणीय टूटते हैं, परन्तु शेष समय में क्या होता है ? ज्ञानावरणीय निरन्तर बंधते ही रहते हैं, अतः हम पढते हैं उससे अधिक भूल जाते हैं।

✽ दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व कितने उत्तम मनोरथ थे ? अब उन्हें हम कैसे भूल गये ? इसी लिए पांचों आचारों का सतत पालन करना है, परन्तु जब तक क्षायिक भाव न आये तब तक पालन करना है। क्षायोपशमिक भावों की तो सतत सुरक्षा करनी ही रही। वे कब चले जायें, कुछ कहा नहीं जा सकता।

✽ गुरु के पास शास्त्रों का अध्ययन करने का मुख्य कारण यह है कि उसके द्वारा स्व-दोष ध्यान में आते हैं। स्व-दोष दर्शन

हेतु शास्त्र हमारे समक्ष दर्पण बन कर आते हैं ।

✱ भूख लगी हैं तब खायें तो भूख का शमन हो जाता है । प्यास लगी हो तब पानी पियो तो प्यास का शमन हो जाता है, परन्तु क्रोध आने पर क्रोध करो तो उसका भी शमन हो जाये, यह बात नहीं है वह तो उल्टा बढ़ता है । माया, मान, लोभ, काम, इर्ष्या आदि सब में यही समझें । यह समस्त मोहनीय का उत्पादन है ।

१९. वा गुण है - भगवान की भक्ति । भक्ति इस लिए कि वह न हो तो आये हुए गुणों की सुरक्षा नहीं होगी ।

हमारी और से परमात्मा के प्रति अनुराग में ज्यों ज्यों वृद्धि होती जाती है, त्यों-त्यों हम पर परमात्मा के अनुग्रह में वृद्धि होती जायेगी ।

बिल्ली के बच्चे को स्वयं उसकी मां पकड़ती है, भक्त को भगवान पकड़ते हैं ।

बंदरी के बच्चे मां को स्वयं पकड़ते हैं । ज्ञानी भगवान को पकड़ता है ।

बंदरी के बच्चे को कूदना नहीं आता, फिर भी मां जितनी कूदती है उतना ही वह कूदता है । क्योंकि वह मां की छाती से चिपका हुआ है ।

इसी प्रकार से भगवान को यदि हम पकड़ लें तो ? यदि हम सम्पूर्ण शरणागति स्वीकार कर ले तो भगवान हमारा सब सम्हाल लेंगे ।

बंदरी का बच्चा जब तक पुष्ट नहीं होता, तब तक वह माता को छोड़ता नहीं है । क्या हम इतना भी नहीं समझते ? हम भगवान को कैसे छोड़ सकते हैं ?

वि. संवत् २०२९ में मनफरा चातुर्मास (वर्षावास) में प्रवेश के समय बाल मुनि पूर्णचन्द्रविजयजी को भोजाभाई कारिया ने अपने कन्धे पर उठा लिया, उस प्रकार अमुक कक्षा के बाद भगवान स्वयं भक्त की रक्षा करता है*।

मद्रास (चैन्नई) में एक बार ऐसी परिस्थिति हुई कि जाने की तैयारी । मैं ने कल्पतरुविजय को कह भी दिया, 'बस, जा

रहा हूँ : वोसिरे... वोसिरे ।' मुंहपत्ति के बोल भी बोल नहीं सकता था ।

परन्तु भगवान ने मुझे खड़ा कर दिया । एक जन्म में दो जीवन का अनुभव हुआ । मुझे तो इसमें प्रत्यक्ष भगवान की कृपा दृष्टिगोचर होती है । नेल्लोर निवासी निराश हो गये - 'हमारी प्रतिष्ठा का क्या होगा ?' मैंने कहा, 'मैं किसी भी तरह आऊंगा ।' वि.संवत् २०५२ में वैशाख माह के शुक्ल पक्ष में प्रतिष्ठा भी हो गई ।

आगमिक पदार्थों को श्रद्धा से ग्रहण किये जा सकते हैं, युक्ति से नहीं । यौक्तिक पदार्थों को तर्क से ग्रहण किया जा सकता है । दोनों में यदि गड़बड़ी हो जाये तो ज्ञान की सूक्ष्मता नहीं है, यह समझें । भक्ति का यह पदार्थ श्रद्धागम्य है, अनुभवगम्य है ।

बिल्ली के बच्चे को माता ने पकड़ लिया तब बच्चे ने क्या किया ? उसने श्रद्धापूर्वक समर्पण किया । यदि समर्पण नहीं किया होता तो ? यदि वह माता के प्रति शंका करता तो ? तो माता उसे बचा नहीं सकती थी ।

यदि ऐसी शरणागति हममें आ जाये तो ...

पूर्व का वैर लेने के लिए रात्रि में नागराज का रूप धारण करके देव आया । गुरु ने शिष्य की छाती पर चढ़ कर छुरी से रक्त निकाल कर नागराज को दिया । सांप चला गया । शिष्य बच गया । प्रातः काल में पूछने पर शिष्य ने कहा, 'गुरु मेरे तारणहार हैं । वे जो करेंगे वह उचित ही करेंगे । मुझे पूर्ण विश्वास है । शंका या अश्रद्धा का कोई कारण नहीं है ।'

गुरु को उसकी योग्यता पर आनन्द हुआ । इसका नाम शरणागति ।

जिस प्रकार बिल्ली एवं बंदरी स्व-सन्तान को अपने समान बनाती है, उस प्रकार भगवान समर्पित भक्त को स्व-तुल्य बनाते हैं ।

हमारी भक्ति और प्रभु की शक्ति, ये दोनों जुड़ जायें तो काम बन जाये ।

तस्मिन् (परमात्मनि) परम-प्रेमरूपा भक्तिः

- नारदीय भक्ति सूत्र

प्रभु के ही परम प्रेम में मन सराबोर हो जाय, यही सर्वस्व एवं तारणहार है, ऐसा भाव ही भक्ति है ।

पुरुषार्थ या उसकी सफलता का अभिमान, भक्ति ही चूर कर सकती है, अन्यथा सफलता का अभिमान हमें मार डालेगा ! अनेक साधकों की साधना अभिमान के कारण धूल में मिल गई ।

‘स्व-पुरुषार्थ से मैं आगे पहुंच जाऊंगा, यह मान कर अब आप मेरी उपेक्षा न करें ! इतनी भूमिका तक आपकी कृपा से ही पहुंचा हूं । अब आप उपेक्षा करेंगे तो कैसे चलेगा ?’ ये किसके उद्गार हैं ? कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्रसूरि के ।

‘अहं’ के बड़े पर्वत को तोड़ने के लिए भक्ति के अतिरिक्त कोई साधन नहीं है । भक्ति के वज्र से अहंता का पर्वत चूर-चूर हो जाता है । अतः प्रथम ‘सोहं’ बन कर नहीं, परन्तु ‘दासोहं’ बन कर साधना करनी है ।

२१. ‘सेव्यो देशः सदा विविक्तश्च’

हमारी साधना में विक्षेप न पड़े, ऐसा स्थान पसन्द करें, एकान्त स्थान । अधिक भीड़ से साधना में विक्षेप पड़ता है । आप यहां अधिक संख्या में नित्य आते हैं यह अच्छी बात है । कितनी ही बार आओ, मैं तो वही का वही हूं, वही वासक्षेप है । अतः आप अधिक संख्या में बार-बार न आवें तो अच्छा ।

परिपक्व के लिए एकान्त स्थान उचित है, अपरिपक्व के लिए नहीं । उसके लिए प्रमाद का कारण बनता है

२२. स्थातव्यं सम्यक्त्वे

‘सम्यक्त्व में स्थिर रहना’

आत्म-तत्त्व की स्पर्शना निश्चय सम्यक्त्व है । जैसा स्वरूप प्रभु का है, वैसा ही मेरा है । केवल कर्म से आच्छादित है, इस बात पर पूर्ण विश्वास-संवेदनात्मक प्रतीति सम्यग्यदर्शन कराता है । प्रभु का ध्यान निश्चय से हमारा ही ध्यान है, यही सम्यग्यदर्शन हमें सिखाता है ।

भगवान ने हमें कदापि भिन्न नहीं माना । हमने अवश्य उन्हें भिन्न माने हैं । भगवान ने हमें भिन्न माना होता तो वे भगवान ही नहीं बनते । जिन्होंने तत्त्व नहीं समझे, वे ही भगवान

को भिन्न मानते हैं ।

आज भी प्रभु हमें, सम्पूर्ण जगत् को सत्-चित्त-एवं आनन्द से परिपूर्ण मानते हैं । अपने जेसा ही स्थान अन्य को देना, इस प्रकार देखना क्या प्रेम का चिन्ह नहीं है ? अपने समान ही भोजन दिया जाये तो उस पर प्रेम का चिन्ह हुआ न ? भगवान हम सब पर प्रेम की वृष्टि कर रहे हैं ।

इस प्रेम की अनुभूति हमारे हृदय में होनी चाहिये ।

प्रभु भी जिसे अपना स्वधर्मी बन्धु मानते हों उन छः काय के जीवों के प्रति क्या अजयणापूर्वक व्यवहार हो सकता है ? प्रभु के परिवार का अपमान कैसे किया जा सकता है ?

सम्यग्दर्शन आते ही समस्त जीवों के प्रति आत्म-तुल्य दृष्टि आती है । जीवों की रक्षा में ही मेरी रक्षा है, यह समझा जाता है ।

‘आत्म सर्व समान निधान महा सुखकन्द;

सिद्धतणा साधर्मिक सत्ताए गुणवृन्द ।’

ये सम्यक्त्वी के उद्गार हैं ।

प्रभु ने जिन्हें प्रिय माना उन्हें मैं प्रिय मानकर जीवन जीऊँ - यही मुनि का लक्ष्य होता है । यदि ऐसा लक्ष्य नहीं हो तो समस्त द्रव्य क्रियाएं मानी जायेंगी, जो प्राण - विहीन कलेवर तुल्य है, बीज बोये बिना कृषक के परिश्रम के तुल्य है ।

२३. ‘विश्वास्यो न प्रमादरिपुः ।’

शत्रु बाहर नहीं है, हमारे भीतर ही है ।

‘खणं जाणाहि पंडिह’ ‘समय गोयम मा पमायए’

भगवान के ये समस्त सूत्र प्रमाद नष्ट करने के लिए ही हैं । अन्य दार्शनिक भी कहते हैं :

‘प्रमाद एव मनुष्याणां शरीरस्थो महारिपुः ।’

• • • • •





श्री. व. ३, भाग्यमान प्रवेश, वि.सं. २०५५

३१-७-१९९९, शनिवार

श्री. व. ३

धण्णा य उभयजुत्ता धम्मपवित्तीइ हुंति अत्रेसिं ।

जं कारणमिह पायं, केसिंचि कयं पसंगेणं ॥१०८॥

❀ भौतिक सुखों की अपेक्षा संयम जीवन में अधिक आनन्द नहीं होता तो चक्रवर्ती अपना राज्य त्याग कर संयम ग्रहण नहीं करता । इन्द्रियों के सुख मात्र काल्पनिक हैं । वस्तुतः कुछ भी नहीं है । मृगतृष्णा के जल में हिरन को पानी दिखाई देता है । मूढ को संसार में सुख प्रतीत होता है, अमूढ को नहीं । यह बात अल्प संसारी को ही समझ में आती है, भवाभिनंदी-दीर्घसंसारी को नहीं, कठोर-कर्मों को नहीं, हलुकर्मों को समझ में आती है । हलुकर्मों शब्द से ही मुझे देवजीभाई (गांधी धाम) याद आ जाते हैं । उनके गुणों से ध्यान आ जाता है । देवजीभाई को हमने कभी आवेश में देखे ही नहीं है । यह हमारे संसार का मापदण्ड है । सर्वज्ञ भले नहीं है, परन्तु शास्त्र हैं, गुरु हैं । उसके द्वारा हम योग्यता जान सकते हैं ।

❀ अयोग्य को दीक्षित करने से क्या होगा ?

दिगम्बर-मत-प्रवर्तक सहस्रमल्ल प्रारम्भ से ही, संसारी जीवन

से ही उद्धत स्वभाव के थे । दीक्षा ग्रहण करके अन्त में उन्होंने अलग चौका जमाया ।

गुरु ने उन्हें दीक्षा नहीं दी थी, परन्तु उन्होंने ने अपने आप ही वेश धारण कर लिया था । उसके बाद दाक्षिण्य से गुरु को विधिपूर्वक उन्हें दीक्षा देनी पड़ी ।

दीक्षार्थी उम्र की अपेक्षा से आठ वर्ष से अधिक और ६५ वर्ष के अन्दर होना चाहिये । आठ वर्ष का छोटा बालक नहीं कहलाता ।

अविवेक का त्याग वास्तविक दीक्षा है । बाह्य त्याग के साथ अविवेक त्यागी विरल होते हैं । बाह्य त्याग तो पशु-पक्षी भी करते हैं, परन्तु मूल बात विवेक की है । विराग विवेक से स्थिर रहता है । कषाय आये तब समझें कि अविवेक प्रविष्ट हो गया है । परित्याग करने योग्य कषायों को अपनाया तो विवेक कहाँ रहा ?

‘कस्मिन्’ द्वार । कौन से क्षेत्र में दीक्षा देनी चाहिये ?

जहाँ भगवान का समवसरण हुआ हो, उनका विचरण हुआ हो, वह भूमि उत्तम मानी गई है ।

जिनभवन, ईक्षु-वन (गन्ने का खेत) जहाँ बरगद-पीपल आदि दूधिये वृक्ष हो, जहाँ आवाज की प्रतिध्वनि होती हो, दक्षिणावर्त्त पानी फिरता हो, वह भूमि दीक्षा के लिए श्रेष्ठ है ।

दीक्षा कहाँ नहीं दी जानी चाहिये ? टूटी-फूटी, खण्डहरवाली, जली हुई स्मशान भूमि, अमनोज्ञ भूमि, खारी भूमि, अंगारोंवाली, विष्टा-उकरडेयुक्त भूमि आदि स्थानों पर दीक्षा नहीं देनी चाहिये ।

दीक्षा के लिए कालशुद्धि : चतुर्दशी, अमावस्या, अष्टमी, नवमी, द्वादशी वर्जित है (हम राजनांद गांवसे कृष्ण पक्षकी चतुर्थी, शनिवार को निकले । यहां प्रवेश भी कृष्ण पक्षकी चतुर्थी शनिवार को हुआ था ।)

दीक्षा हेतु श्रेष्ठ नक्षत्र : ३ - उत्तरा, रोहिणी, अनुराधा, रेवती, पुनर्वसु, स्वाति, अश्विनी आदि । (विशेष गुरु-गम से समझें)

‘उत्साह’ ही मुहूर्त है’ - यों कह कर ज्योतिष की उपेक्षा नहीं की जा सकती, जिनाशा-भंग का दोष लगता है ।

वि. संवत् २०५३, माघ शुक्ला २, सिरिगुप्पा (कर्णाटक) में

प्रतिष्ठा हुई और उसी समय मुसलमानों का आक्रमण हुआ, दुकानों को आग लगा दी, लाखों की हानि हो गई। कर्णाटक में हाहाकार मच गया। आकुल-व्याकुल लोग हमारे पास आये। वहां जाकर हमने चन्दा एकत्रित कराया। आसपास से हुबली, बेंगलोर आदि स्थानों से अनेक लोग आये। कुछ मुसलमान भी आये। अठारह लाख रुपये एकत्रित हो गये। विधि में थोड़ी गड़बड़ी हो जाये तो ऐसी स्थिति भी हो सकती है।

❖ प्रश्न द्वार : दीक्षार्थी को पूछें - तू क्यों दीक्षा ग्रहण कर रहा है ? उसके उत्तर से उसकी योग्यता का पता लग जाता है। 'आपके अतिरिक्त कोई उद्धार कर नहीं सकता, इस असार संसार से।' इसके अतिरिक्त अन्य कोई उद्देश्य नहीं होना चाहिये।

विनयरत्न ने राजा का वध करने के लिए दीक्षा अंगीकार की थी।

वैराग्य अल्प हो तो धर्मकथाओं के द्वारा वैराग्य बढ़ायें। दुःखगर्भित वैराग्य को ज्ञानगर्भित वैराग्य में परिवर्तित करें। साधु के आचार - नियम बताएं। हमारे पू. कनकसूरि महाराज स्पष्ट कहते - 'चाय नहीं मिलेगी, एकासणे करने पड़ेंगे।'।

क्या दीक्षार्थी सच्चित्त आदि का त्याग करता है ? क्या वह वनस्पति पर पांव रखता है ? कि उसे छोड़कर जाता है ? वह खारी भूमि, पानी आदि का त्याग करता है कि नहीं ? उसके भीतर की परिणति हो तो ही जयणा का भाव जागृत होता है। इस प्रकार परीक्षा हो सकती है।

अध्यात्मसार

प्रश्न : करना है आत्मा का अनुभव तो बीच में भगवान की क्या आवश्यकता है ?

उत्तर : भगवान के साथ सम्बन्ध हुए बिना आत्मा को नहीं पहचाना जा सकता। श्वेताम्बर संघ व्यवहार-प्रधान है। निश्चय बताने की वस्तु नहीं है, स्वयं प्रकट होने वाली है।

अतः श्वेताम्बर के पास ध्यान नहीं है यह न मानें। चारित्र हो वहां ध्यान होता ही है, देशविरति में ध्यान अल्प मात्रा में होता है।

व्यवहार के बिना हम निश्चय प्राप्त नहीं कर सकते । व्यवहार कारण है, निश्चय कार्य है

आलम्बन ऊपर चढ़ाता है, गिरते हुए को बचाता है । यदि भगवान का आलम्बन लें तो नीचे कभी नहीं गिरेंगे, उत्तरोत्तर विकास ही होगा ।

देखें - पूज्य उपाध्यायजी महाराज के उद्गार :

श्री अरिजन भव-जलनो तारु, मुज मन लागे छे वारु रे ।
बाह्य ग्रही जे भव-जल तारे, आणे शिवपुर आरे रे. (१)
तप-जप-मोह महातोफाने, नाव न चाले माने रे ।
पण मुज नवि भय हाथो हाथे, तारे ते छे साथे रे । (२)
भक्तने स्वर्ग-स्वर्गथी अधिकुं, जानी ने फल देई रे ।
काया कष्ट विना फल लइये, मनमां ध्यान धरेई रे । (३)
जे उपाय बहुविधनी रचना, जोग माया ते जाणो रे ।
शुद्ध द्रव्य गुण पर्याय ध्याने, शिव दिए प्रभु सपराणो रे । (४)
प्रभु-पद वलग्या ते रह्या ताजा, अलगा अंग न साजा रे ।
वाचक 'जस' कहे अवर न ध्याऊं, ए प्रभुना गुण गाउं रे । (५)

यशोविजयजी प्रकाण्ड पण्डित थे । उन्होंने चिन्तामणि नामक नव्य न्याय के ग्रन्थ को केवल एक दिन में कण्ठस्थ कर लिया था । सातसौ पचास श्लोक यशोविजयजी ने और ५०० विनय विजयजी ने कण्ठस्थ कर लिये । तब एक दिन के लिए पण्डितजी बाहर गये थे ।

आप एक बात समझ लें । भक्त की भाषा भिन्न होती है, तार्किकों की भाषा भिन्न होती है ।

तार्किक कहेंगे - भगवान कुछ भी करते नहीं हैं ।

भक्त कहेंगे - भगवान ही सब करते हैं ।

'देव-गुरु-पसाय' व्यवहार से बोलते हैं, परन्तु क्या आप हृदय से बोलते हैं ?

महान् नैयायिक यशोविजयजी इस स्तवन में कैसे परम भक्त के रूप में प्रतीत होते हैं ? है कहीं तर्क की गन्ध ? है तर्क का तूफान ?

'मेरा हाथ पकड़ कर मोक्षनगर तक भगवान ले जाते हैं' - ऐसे उद्गार भक्त के अलावा कौन प्रकट कर सकता है ?

बिल्ली जिस तरह अपने बच्चों को सुरक्षित स्थान पर रखती है उस प्रकार भगवान भक्त को मोक्ष में ले जाते हैं, ऐसा भक्त को भगवान पर प्रगाढ़ विश्वास होता है ।

भगवान भले वीतराग हैं परन्तु साथ ही साथ पतित को पावन करने वाले और शरणागत के रक्षक हैं, यह आप न भूलें ।

यशोविजयजी कहते हैं - चाहे मोह के भारी तूफान आयें, चाहे जितनी आंधियां आयें, परन्तु मुझे थोड़ा भी भय नहीं है, क्योंकि तारणहार प्रभु मेरे पास हैं ।

भगवान के नाम मेरे पास हैं अर्थात् भगवान मेरे पास हैं । 'नाम ग्रहंता आवी मिले, मन भीतर भगवान' - इस प्रकार उपा. मानविजयजी ने कहा है ।

आप को प्लेन में भी विलम्ब लगता है, भगवान को आने में थोड़ा भी विलम्ब नहीं लगता । आप उनका नाम लें और वे उपस्थित हो जाते हैं । आप अभी तक भगवान की शक्तियों को पहचानते नहीं हैं । भगवान विभु हैं - ऐसा मानतुंग सूरिजी ने कहा है । विभु अर्थात् केवलज्ञान से विश्व-व्यापी । जिसे सर्वत्र प्रभु दिखाई दे, उसे भय किस बात का ?

भगवान हमारी गुप्त से गुप्त प्रवृत्ति भी जानते हैं - क्या यह विश्वास है ? ऐसा जानने के बाद हम अशुभ प्रवृत्ति कर सकते हैं क्या ?

'लोगो जत्थ पड़्डिओ' श्रुतज्ञान में भी लोक प्रतिष्ठित हो तो क्या भगवान में नहीं ?

प्रश्न : इतनी सारी साधनाओं में हम कौन सी साधना करें ? हम उलझन में पड़ गये हैं ।

उत्तर देते हुए उपा. यशोविजयजी म. कहते हैं - असंख्य योग का विस्तार (माया = विस्तार) बहुत लंबा चौड़ा है । शुद्ध द्रव्य-गुण-पर्याय के ध्यान से प्रभु तुरन्त मुक्ति देते हैं ।

विदेहमुक्ति भले यहां प्राप्त न हो, जीवन्मुक्ति प्राप्त हो सकती है । प्रभु के गुण - पर्यायों का ध्यान धरता योगी ऐसी कक्षा पर पहुंचता है कि वह शुक्ल ध्यान का अंश इस काल में भी प्राप्त कर सकता है । यशोविजयजी ने स्वयं यह बात योगविशिका में लिखी है ।

* * * * *



वाकी (कच्छ) चातुर्मास प्रवेश, दिनां २०५५

१-८-१९९९, रविवार
श्रा. व. ४

✧ जैन-शासन में आज भी श्रेष्ठता कायम है जिसका कारण है गीतार्थ जिनाज्ञा का पालन कर रहे हैं। आजानुसार की प्रवृत्ति में शत-प्रतिशत सफलता है, यह आप निश्चित मानें।

✧ मेवाड़ (राजस्थान) में चित्तौड़गढ़ के विद्वान् के रूप में हरिभद्र भट्ट विख्यात थे। साध्वीजी स्वाध्याय कर रहे थे।

संसार सोने के लिए नहीं, समाधि के लिए है। निगोद में नींद लेने का कार्य तो बहुत किया है। यहां जागृति के लिए उद्यम करना है। आयुष्य दर्भाग्रस्थ जलबिन्दु तुल्य है, यह जानते हुए भी मुनि प्रमत्त कैसे होगा? साधु सदा अप्रमत्तता के लिए ही स्वाध्याय में लीन रहते हैं। स्वाध्याय कर रही साध्वीजी के ये उद्गार हरिभद्र के कानों में पड़े: 'चक्रिदुगं हरिपणगं'। अर्थ समझ में नहीं आया। अहं को टकर लगी।

ज्यों ज्यों ज्ञानी अध्ययन करता है, पठन करता है, त्यों त्यों उसे लगता है कि मेरा कितना घोर अज्ञान था? जो अज्ञान का ज्ञान कराये वही सच्चा ज्ञान है।

हरिभद्र भट्ट अर्थ समझने के लिए साध्वीजी के पास गये, तब

उन्होंने उन्हें साधु महाराज के पास भेजा । वे वहां गये । अर्थ बताने के लिए निवेदन किया । 'इसके लिए दीक्षा ग्रहण करनी पड़ती है । दीक्षित हुए बिना हम आगमों के अर्थ नहीं समझाते ।' गुरु की इस बात से हरिभद्र जैनी दीक्षा के लिए तैयार हो गये । इस प्रकार दीक्षित हरिभद्रसूरिजी ने पंचवस्तुक ग्रन्थ की रचना की है ।

मुमुक्षु की परीक्षा -

मुमुक्षु की - साधु की जीवदया की परिणति जानने के लिए जघन्य से छः महिने तक परीक्षा करे, अधिक से अधिक दो वर्षों तक परीक्षा करें । आवश्यकता प्रतीत हो तो चार वर्षों तक भी परीक्षा करें ।

दीक्षा की विधि के समय शिष्य को बांयी ओर रखे ।

दीक्षा-विधि के समय सूत्रों का शुद्धतापूर्वक उच्चारण होना चाहिये ।

रजोहरण अर्थात् ?

हरइ रयं जीवाणं बज्झं अब्भंतरं च जं तेणं ।

रयहरणांति पवुच्चइ कारणकज्जोवयाराओ ॥

हरति रजो जीवानां बाह्यम् आभ्यंतरं च यत् तेन ।

रजोहरणमिति प्रोच्यते कारणे कार्योपचारात् ॥

पंचवस्तुक गाथा - १३२

जिससे बाह्य एवं आभ्यंतर रज का हरण हो वह रजोहरण कहलाता है । आभ्यंतर कर्म-रज दूर करने के लिए 'ओघा' कारण है । कारण में कार्य का उपचार करने से उसे 'रजोहरण' कहा जाता है ।

दीक्षा ग्रहण करने के समय चैत्यवन्दन आदि आवश्यक हैं । यह भक्तियोग है । प्रभु की भक्ति से उत्तम भाव स्थिर रहते हैं । यदि उत्तम भाव न हो तो जागृत होते हैं ।

दीक्षा के बाद भी नूतन मुनि को तुरन्त मन्दिर में ले जाया जाता है । ईशान कोण में माला गिनवाई जाती है । बाद में भी नित्य कमसे कम सात बार चैत्यवन्दन करना पड़ता है । यह सब भक्तियोग की प्रधानता दिखाता है ।

बड़े बड़े संघों में सिपाही आदि की आवश्यकता होती है । उसी प्रकार से यहां दीक्षा-विधि में भी शासनदेवता आदि का स्मरण करना आवश्यक है ।

भक्ति भगवति धार्या

✽ जगत में स्वार्थ के कारण तो भक्ति अनेक व्यक्तियों की की, परन्तु अब प्रभु की निःस्वार्थ भक्ति करनी है। पूनमिया, महुड़ी, नाकोड़ा-भेरु आदि के भक्तों को विशेष सूचना है कि जितनी अपेक्षा छोड़ेंगे, उतना अधिक प्राप्त होगा। मांग-मांग कर कितना मांगेंगे ? हकीकत यह है कि क्या मांगें ? यह भी हम नहीं जानते। नहीं मांगने पर भी भगवान देने वाले हैं - इतना विश्वास होना चाहिये।

✽ कई लोग कहते हैं - महाराज ! हमने जिनालय का कार्य शुरू किया और हमारा पतन शुरू हो गया। ऐसे व्यक्तियों को मैं कहता हूँ - पतन आपके कर्मों के कारण हुआ है। भगवान कभी किसी का बुरा नहीं करते। ये तो अच्छा हुआ कि जिनालय का कार्य पूर्ण हो गया। यदि ऐसी स्थिति कुछ समय पूर्व हुई होती तो आप क्या कर सकते थे ? इसमें भी भगवान की कृपा देखो। सुख में, अनुकूलता में तो सब देखते हैं, दुःख एवं प्रतिकूलता में भी जो भगवान की कृपा देख सकते हैं वे ही सच्चे भक्त हैं।

भक्ति का फल बताते हुए 'शक्रस्तव' में कहा है - समस्त सम्पत्तियों का मूल प्रभु का अनुराग बढ़ता जाता है।

'सर्व - सम्पदां मूलं जायते जिनानुरागः।'

ऐसा प्रेम जग जाये तो बाकी तो ठीक है, प्रभु का पद भी दुर्लभ नहीं है।

प्रभु भक्ति सम्यक्त्व को निर्मल करती है, बोधि एवं समाधि प्रदान करती है।

'आरुग बोहिलाभं समाहिवर मुत्तमं दितु' - लोगस्स

नवकार के बाद 'लोगस्स' सूत्र का महत्त्व है। छः आवश्यक में द्वितीय आवश्यक (चतुर्विंशति स्तव) लोगस्स की महिमा का गान करता है।

सामायिक के परिणाम उत्पन्न करने हों अथवा स्थायी रखने

हों तो भगवान की कृपा चाहिये । अतः द्वितीय आवश्यक में लोगस्स के द्वारा प्रभु-भक्ति बताई है ।

भगवान की स्तुति, स्तवन - मंगल आदि से बोधि-समाधि की प्राप्ति होती है - इस प्रकार उत्तराध्ययन (२९) में कहा है ।

भगवान का संकल्प (सबको सुखी करने का, सबको मुक्ति में ले जाने का संकल्प) भगवान का नाम स्मरण - कीर्तन से हमें स्पर्श करता है ।

✿ हमारे बड़े से बड़े दोष (विषयों की आसक्ति, कषायों में लीनता आदि) प्रभु-भक्ति से दूर होते हैं । कभी आत्म-निरीक्षण करना कि भुझ में माया कितनी है ? लोभ कितना है ? वासना कितनी है ? इन सबका उन्मूलन भक्ति के बिना सम्भव नहीं है ।

जब तक दोषों को थपथपा कर रखेंगे तब तक गुण कैसे आयेंगे ? जब तक आप क्रोध नहीं मिटायेंगे तब तक क्षमा किस प्रकार आयेगी ? आप क्रोध आदि को दूर करें, क्षमा आदि स्वतः ही आ जायेंगे । घर में से कचरा निकालें, स्वच्छता अपने आप आयेगी ।

* * * * *

२६मी जान्युआरीए कच्छना धरतीकंपनी जेम आजे अचानक
धरतीकंप थयो ते पूज्यपाद शासन प्रभावक पुन्यकाय आचार्य भगवंतश्री
कलापूर्णसूरीश्वरजी म.सा.ना आघातजनक समाचार मळ्या ।

सौने खूब ज व्यथा थई । पावापुरी प्रतिष्ठाना संस्मरणो आंख
सामे तरवरवा लाग्या ।

आवा अध्यात्ममूर्तिना काळधर्मना समाचार सौने व्यथा
पहोंचाडे पण तमो बधा तो तेओश्रीनी वाणीमां स्नान करी नीतरी रह्या
छे । वैराग्यभावनी ज्योतमां आ आघातने पचावी तेओश्रीना मार्गे
आगळ वधी खूब-खूब शासन प्रभावना साथे स्वकल्याणना मार्गे आगळ
वधो ।

- एज... अशोकसागरसूरिनी अनुवंदना

म.सु. ४, सुरत.



एक दीक्षा के वर्षादान के अवसर पर पू. देवनागरी के साथ पूजा
वि.सं. १०२१, पी.सं. ११, बौद्ध (कच्छ)

२-८-१९९९, सोमवार

श्रा. व. ५

✿ इक्कीस हजार वर्षों तक शासन-परम्परा चलानी है। इसी कारण से उत्तम गुरु तथा उत्तम शिष्य कैसे होते हैं, उसका यहां वर्णन किया गया है। उत्तम भूमि एवं उत्तम बीज हो तो ही उत्तम फल लगेंगे। यदि भूमि खारी हो और सड़ा हुआ बीज हो तो ? दोनों में से एक भी खराब होगा, तो भी फल उत्तम नहीं आयेंगे।

आर्य देशों के अतिरिक्त अनार्य देशों में आत्मा की चिन्ता है ही नहीं। आत्मा की स्वीकृति ही नहीं है, जो जन्म-पुनर्जन्म करता रहता है।

✿ साक्षात् तीर्थंकर भी जब विधिपूर्वक हाथ जोड़ कर 'करेमि सामाइअं' की प्रतिज्ञा लेते हैं, तब ही उन्हें 'मनः पर्यवज्ञान' उत्पन्न होता है। सीधे सातवे गुणस्थानक की प्राप्ति होती है। यह विधि के प्रभाव का उत्तम उदाहरण है।

सात खमासमण विनय के प्रतीत हैं। प्रत्येक खमासमण में से विनय टपकता है।

शिष्य - 'संदिसह किं भणामि' ?

'आज्ञा दीजिये, क्या कहूं ?'

गुरु - 'वन्दित्ता पवेयह' 'वन्दन करके प्रवेदन करें।' उसके बाद शिष्य खमासमण दे। यहां कितना उत्कृष्ट विनय झलकता है ?

शिष्य संविग्न हो। संविग्न अर्थात् भव-भीरु एवं मोक्षाभिलाषी।

❀ कायोत्सर्ग संयम में सहायक महान् योग है। इसे करना है, पारना नहीं है, फिर भी यहां इस कारण पारना है कि इसके बाद की विधि करनी है। अतः 'एक नवकार का काउस्सग, थोय सुनकर पारें' - यह बोलने में कोई दोष नहीं है। काउस्सग करने की विधि की तरह पारने की भी विधि ही है। प्रत्युत, न पारें तो दोष लगता है।

गुरु सांस रोक कर तीन चपटी में शिष्य का अखण्ड लोच करें। यहां चपटी के लिए 'अट्टा-अष्टा' शब्द का प्रयोग हुआ है।

❀ प्रतिक्रमण - चैत्यवन्दन तो महान् योग है। उस समय बातें तो की ही कैसे जायें ? योग-क्रिया का यह कितना बड़ा अपमान है ? बातें तो ठीक, उपयोग भी अन्यत्र नहीं चाहिये, बैठे-बैठे प्रतिक्रमण किया, बातें की, उपयोग नहीं रखा तो हमने किया क्या ? यह योग भी यदि शुद्धता से न हो पाये, तो अन्य योग क्या करेंगे ?

अभी शशिकान्तभाई को प्रतिक्रमण का महत्त्व समझाया। गणधरों के लिए भी जो अनिवार्य है, वह क्या आपके लिए आवश्यक नहीं है ? प्रतिक्रमण छोड़ कर आप अन्य कोई ध्यान-योग कर नहीं सकते। अन्य समय में कर सकते हैं, परन्तु यह समय तो प्रतिक्रमण के लिए ही है, उसे गौण नहीं किया जा सकता।

❀ श्रुतज्ञान एवं जिन दोनों एकरूप हैं - इस प्रकार 'पुक्खरवरद्दी' सूत्र में प्रतीत होता है। श्रुतज्ञान की स्तुति होते हुए भी प्रारम्भ में भगवान की स्तुति किस लिए ? ऐसे प्रश्न के उत्तर में निर्युक्तिकार कहते हैं - भगवान एवं श्रुतज्ञान भिन्न नहीं हैं, दोनों एक ही हैं।

'जिनवर जिनागम एक रूपे, सेवंतां न पडो भव कूपे', इस प्रकार वीरविजयजी ने इसीलिए कहा है।

भगवान के लिए जो द्रव्यश्रुत है (बोले हुए या लिखे हुए शब्द द्रव्यश्रुत है) वह हमारे भावश्रुत का कारण बन सकता है।

❀ जहां भगवान का नाम है, वहां भगवान है। भगवान की प्रतिमा है, भगवान के आगम हैं, वहां भगवान है। कहां नहीं

है भगवान ? कब नहीं है भगवान ? जब आप स्मरण करें तब भगवान हाजिर है । हमारी समस्त विधियों में चारों प्रकार के (नाम आदि) तीर्थकरों की भक्ति समाविष्ट है ।

‘नमुत्थुणं’ में ‘जे अ अईआ’ में तीनों कालों के तीर्थकरो को वंदना है ।

‘नमुत्थुणं’ में भावजिन की स्तुति है । उसमें आप एकाकार बनें । आपके लिए यही ध्यान बन जायेगा ।

इसीलिए साधु-साध्वी अथवा श्रावक-श्राविका को किसी अलग शिविर की आवश्यकता ही नहीं है । यही ध्यान है ।

हमारी अविधि की बड़ी नुकशानी यही है कि परम्परा गलत पड़ती है । नये आदमी को यही लगता है - यह तो ऐसे ही चलता है । बातें कर सकते हैं, बैठकर कर सकते हैं, नींद ले सकते हैं, मांडली के बिना भी कर सकते हैं ।’ मिथ्या परम्परा का आलम्बन देना, अत्यन्त बड़ा अपराध है ।

कोई अपराध किया हो तो उसे मांडली से बाहर किया जाता है, परन्तु मांडली से अलग प्रतिक्रमण करके आप स्वयं मांडली से बाहर निकल जायें, यह कैसा ?

अध्यात्मसार

‘भक्तिर्भगवति धार्या...’

यदि आप भक्ति को हृदय में धारण करेंगे तो भगवान स्वयं आ ही जायेंगे । ‘मुक्ति थी अधिक तुझ भक्ति मुझ मन वसी’ - इसलिए ही गाया है ।

भगवान महान् है । हम वामन हैं । महान् को वामन किस प्रकार धारण कर सकता है ? घड़ा किस प्रकार सागर को अपने भीतर समाविष्ट कर सकता है ?

यशोविजयजी महाराज ने कहा है -

‘लघु पण हुं तुम मन नवी मावुं,
जगगुरु तुमने दिलमां लावुं रे,
केहने ए दीजे शाबाशी रे,
कहो श्री सुविधि जिणंद विमाशी रे.

प्रभु ! मैं लघु हूँ, फिर भी आप मुझे समाविष्ट नहीं कर सकते । आप महान हैं, फिर भी मैं आपको समाविष्ट कर सकता हूँ । बोलो, शाबाशी किसे दी जाये ? 'मुझ मन अणुमां हे भक्ति छे झाझी' मेरा मन अणु है, अत्यन्त ही लघु है, परन्तु उसमें भक्ति अत्यन्त महान् है । मेरी आराधना की नैया (दरी-तरी) का तू नाविक (माझी) है ।

'अथवा थिर मांही अथिर न मावे' अथवा 'स्थिर में अस्थिर नहीं समा सकता', शायद आप यह कहते हैं तो हे प्रभु ! मैं कहता हूँ - बड़ा हाथी छोटे दर्पण में नहीं आ सकता ? परन्तु प्रभु ! मुझे शक्ति प्रदान करनेवाले आप ही हैं । जिसके प्रभाव से बुद्धि प्राप्त हुई उसे शाबाशी दी जाये ।

भगवान चाहे महान् हों, भारी हों, परन्तु भगवान का नाम सर्वथा हलका एवं सरल है । उस नाम का आलम्बन तो हम ले ही सकते हैं न ? नवकार प्रभु का नाम है ।

'ॐ ह्रीं श्रीं अर्हं नमः ।'

यह सप्ताक्षरी मन्त्र भी 'नमो अरिहंताण' का रूपान्तर है । यह भी नहीं जचें तो केवल 'अरिहंत' अथवा 'ॐ नमः' अथवा 'अर्ह' अथवा 'ॐ' का जाप भी किया जा सकता है ।

समस्त मन्त्रों में प्रभु विद्यमान हैं, यह मत भूलना ।

मन्त्र से हमारा अनुसन्धान प्रभु के साथ अवश्य जुड़ता है । टेलीफोन करने पर अन्य के साथ सम्पर्क होता है, उस प्रकार मन्त्र के द्वारा भगवान के साथ सम्पर्क होता है । ऐसा कोई क्षेत्र नहीं है अथवा ऐसा कोई काल नहीं है कि जब प्रभु का नाम नहीं लिया जा सके । नाम आदि के रूप में ही भगवान सम्पूर्ण जगत् को पावन कर रहे हैं । भगवान का संकल्प इस प्रकार विश्व में कार्य कर रहा है ।

'नामाकृति - द्रव्य - भावैः'

प्रभु को पकड़ रखना चाहो तो उनके नाम को पकड़ो अथवा उनकी प्रतिमा को पकड़ो । ये प्रभु के ही रूप हैं ।

• • • • •



पू. जीतविजयजी म.सा.

पूज्य जीतविजयजी महाराज की स्वर्ग तिथि

३-८-१९९९, मंगलवार

श्रा. व. ६

✽ परोपकार अन्ततोगत्वा स्वोपकार ही है, जब तक यह बात समझ में न आये तब तक हम परोपकार में शिथिल ही रहेंगे। अन्य व्यक्ति मेरी वस्तु क्यों उपयोग में ले ? यदि यह वृत्ति नहीं गई तो समझ लें कि हम परोपकार-रसिक नहीं बने। भगवान के पास स्व-पर का भेद है ही नहीं। 'यह मेरा, यह पराया' - यह वृत्ति क्षुद्र है। गौतमस्वामी आदिने सुधर्मास्वामी को अपने शिष्य सौंप दिये। स्व-पर का भेद मिट गया होगा तब न ? भगवान तो समस्त जीवों के प्रति आत्म-तुल्य दृष्टिवाले थे।

✽ हमारी जीवनभर की समता - सामायिक है। नित्य प्रति समता में वृद्धि होती रहनी चाहिये। इस मुनि-जीवन में समता नहीं आये, कषाय नहीं घटे तो कहां घटेंगे ? क्या तिर्यच में ? नरक में ? निगोद में ?

❖ दो घड़ी के बाद क्या होने वाला है, किसे पता है ? भुज में मैं जिनालय में जाने वाला था, 'परन्तु पहले शोभायात्रा में जाकर आ जाऊँ, फिर जिनालय जाऊँगा।' यह सोचकर शोभायात्रा में गया, परन्तु कौन जानता था कि अब जिनालय में नहीं, मेरा स्थान सीधा होस्पिटल में होगा। पन्द्रह दिनों तक निरन्तर दर्शन नहीं हुए। (गाय ने लगाया तब) 'बहुविम्बो हु मुहुतो' - यह वैसे ही नहीं कहा गया।

❖ 'लैफ्ट' के समय लैफ्ट ही, 'राईट' के समय राईट पैर ही सैनिकों का आगे आता है। लैफ्ट-राईट का प्रश्न नहीं है, अनुशासन का प्रश्न है। यहां जोग में भी खमासमण इत्यादि के द्वारा विनय सीखना है। इसी कारण से इतने खमासमण आदि देने हैं।

गुरु फिर कहते हैं - 'गुरुगुणेहिं, वुड्ढाहि' - 'महान गुणों से तेरी वृद्धि हो।'।

अपनी दीक्षा के दिन दीक्षित को कम से कम आर्यबिल करना चाहिये।

बोलियों का यहां कहीं उल्लेख नहीं है। उपकरणों के चढ़ावे तो आचार्य सम्मत हैं (उपकरणों के चढ़ावे न हों तो भी कोई अविधि नहीं है।) परन्तु नामकरण के चढ़ावे उचित नहीं लगते हैं। इन चढ़ावों के कारण दीक्षादाता आचार्यश्री की हित-शिक्षा गौण हो जाती है।

❖ दो हजार सागरोपम से पूर्व नियमा हम एकेन्द्रिय में ही थे। यह हमारा इतिहास है। अनन्तकाल पूर्व नियमा हम अनन्तकाय में थे। हम बादर वनस्पति में अधिक समय तक नहीं रह सकते। पृथ्वी आदि एकेन्द्रिय में भी असंख्य अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी ही रह सकते हैं, अधिक नहीं। अनन्तकाल की सुविधा तो केवल निगोद में ही है।

'हम तो इस आशा में थे कि आप तो मोक्ष में जायेंगे और हमें भी निकालेंगे, परन्तु आप तो पुनः यहीं आ गये।' इस प्रकार निगोद के हमारे पुराने साथी अव्यक्तरूप से हमारी मजाक करेंगे, अगर हम पुनः निगोद में जायेंगे।

❖ पन्द्रह दुर्लभ पदार्थ -

१. त्रसपन, २. पंचेन्द्रियत्व, ३. मनुष्यत्व, ४. आर्यदेश, ५. उत्तम कुल, ६. उत्तम जाति, ७. रूप समृद्धि - पंचेन्द्रिय पूर्णता, ८. बल (सामर्थ्य), ९. जीवन (आयुष्य) १०. विज्ञान-विशिष्ट बुद्धि, ११. सम्यक्त्व, १२. शील, १३. क्षायिक भाव, १४. केवलज्ञान, १५. मोक्ष ।

इन दुर्लभ पन्द्रह पदार्थों में केवल तीन का ही इस समय अभाव है - (१) क्षायिक भाव, (२) केवलज्ञान और (३) मोक्ष ।

❖ मेरा अनुभव ऐसा है कि निर्मल बुद्धि सदा भगवान की भक्ति से ही आती है ।

‘धिङ्मङ्गपवत्तणं’ - अजितशान्ति में शान्तिनाथ भगवान का यह विशेषण है । धृति-मति के प्रवर्तक भगवान हैं ।

‘जेम जेम अरिहा सेविये रे, तेम तेम प्रकटे ज्ञान’

- वीरविजयजी महाराज

❖ ऐसी कौन सी वस्तु है जो प्रभु से प्राप्त नहीं होती ? भगवान तो सबको देने के लिए तैयार हैं । भगवान में कोई पक्षपात नहीं है, हम लेने में अपात्र ठहरते हैं ।

गुरु सबको समान शिक्षा देते हैं, परन्तु विनीत प्राप्त कर सकता है और अविनीत नहीं प्राप्त कर सकता । दो सिद्धपुत्रों का उदाहरण प्रसिद्ध है - एक वृद्धा का घड़ा फूट गया तब अविनीत ने कहा : पुत्र मर गया । विनीत ने कहा : पुत्र अभी ही आयेगा ।

अर्थघटन करने के लिए निर्मल प्रज्ञा चाहिये । घड़ा फूट गया जिससे मिट्टी, मिट्टी में मिल गई और पानी पानी में मिल गया । उस प्रकार पुत्र भी जन्म भूमि में लौट आयेगा, ऐसा विनीत ने अर्थ-घटन किया, जबकि अविनीत ने अर्थघटन किया कि घड़ा फूट अतः पुत्र मर गया । विनीत का अर्थघटन सच्चा निकला ।

जो वस्तु प्राप्त नहीं हुई हो वह भी भक्ति प्रदान करती है । पं. भद्रंकरविजयजी इसके जीते-जागते उदाहरण थे । पूज्य प्रेमसूरिजी म. के इतने शिष्यों में उनके पास ही ऐसी निर्मल प्रज्ञा कहाँ से आई ? नवकार, प्रभु-भक्ति आदि के प्रभाव से ।

❖ विद्या, मंत्र आदि गुप्त रखने योग्य हैं । ये तो हम ऐसे हैं कि काम थोड़ा करें और गरजे अधिक ।

भक्ति

✽ जितना प्रभु का प्रेम बढ़ता है, उतना पुद्गल का प्रेम घटता है ।

✽ 'मुनिसुव्रत जिन वंदतां, अति उल्लसित तन-मन श्राव रे ।
वदन अनुपम निरखतां, मारा भव-भवना दुःख जाय रे ।
'दिट्ठेऽवि तुह मुह कमले, तिन्निवि नट्ठाइं निरखसेसाइं ।

दारिदं दोहगं जम्पंतर - संचियं पावं ॥'

'निशदिन सूतां-जागतां, हैडा थी न रहे दूर रे ।

जब उपकार संभारिये, तब उपजे आनन्द पूर रे ।'

भगवान के उपकारों को याद न करो तो आनन्द कहां से आये ? निगोद में से बाहर किसने निकाला ? इस स्तर तक किसने पहुंचाया ? मेरे अन्तर में एक भी अवगुण प्रविष्ट नहीं होता, यह स्थिति आपने ही तो दी है । क्या यह आपका कम उपकार है ?

भगवान के प्रभाव से एक-एक गुण आता जाये तो कितने गुण बढ़ जायेंगे ? एक से ग्यारह, ग्यारह से एक सौ ग्यारह । इस प्रकार दस गुने होते जायेंगे ।

यदि एक विनय आ जाये तो ? विनय के बाद विद्या, विवेक, विरति आदि आते ही जायेंगे । इसे गुणानुबंध कहते हैं ।

केवलज्ञान से भगवान विभु हैं ही, किन्तु समुद्घात के चौथे समय में भगवान सच्चे अर्थ में विभु होते हैं, सर्व लोकव्यापी होते हैं । इस चिन्तन से मन को सर्वव्यापी बनाया जा सकता है ।

✽ प्रश्न : छोट सा परमाणु ! उस पर अनन्त सिद्धों की दृष्टि कैसे समा सकती है ?

उत्तर : नाच रही एक नृत्यांगना पर दस हजार मनुष्यों की दृष्टि पड़ सकती है । वह कैसे समाती है ?

दूर-दर्शन के माध्यम से तो करोड़ों की दृष्टि पड़ सकती है । यदि पौद्गलिक दृष्टि पुद्गल पर पड़ सकती है तो केवलज्ञान की दृष्टि क्यों न पहुंचेगी ?

* * * * *



४-८-१९९९, बुधवार

श्रा. व. ७

❖ दीक्षा अंगीकार करने के बाद दीक्षाचार्य नव-दीक्षित भुनि को हितशिक्षा दे, जिसमें १५ पदार्थों की दुर्लभता समझाये । बारह पदार्थ तो इस समय प्राप्त हैं, यह कहें तो चल सकता है । शेष तीन पदार्थ प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करें तो ही बारह पदार्थों को पाने की सफलता है ।

आचार्य की देशना श्रवण करके अन्य व्यक्तियों को भी दीक्षा ग्रहण करने के भाव हों । सुन्दर भवन, बढिया फर्नीचर, गाडी आदि देख कर उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करते हो न ? उस प्रकार दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा होती है ? दीक्षा के प्रसंगों को बार-बार देखने पर उसे प्राप्त करने का मन होना चाहिये ।

❖ दीक्षा से क्या प्राप्त करना है ? साध्य क्या है ? चलने से पूर्व आप की मंजिल निश्चित होती है । दुकान में धन साध्य होता है । यहां क्या साध्य है ? मोक्ष ? वहां जाकर करेंगे क्या ? डोरे-पाटे आदि करेंगे ? वहां सदैव आत्म-स्वभाव में रमणता करनी है, यह आप जानते हैं न ? आत्म-स्वभाव की झलक नहीं प्राप्त की हो तो वहां कैसे प्राप्त हो सकेगी ? क्या मूल्य देकर हम मोक्ष

कहे कलापूर्णसूरि - १ ***** १९७

नामक वस्तु खरीदने के लिए निकले है ?

हेमचन्द्रसूरिजी के योगशास्त्र के बारहवें प्रकाश को देखें - आत्मानुभूति का वर्णन है ।

यशोविजयजी के उद्गार देखें - 'मारे तो बनारस बन्युं ज छे' 'मेरे तो बनने का बना ही है, अर्थात् अनुभव का आस्वाद मैंने कर लिया है । 'हुं तो लोकने वात सीखाउं रे'

वाचक 'जस' कहे साहिबा, ए रीते तुम गुण गाऊं रे'

आत्मानुभव इसी जन्म में होना चाहिये, तो ही जीवन की सफलता है । नहीं प्राप्त हो तब तक उत्कण्ठा रहनी चाहिये, तड़पन चाहिये - अभी तक प्राप्त नहीं हुआ, कब प्राप्त होगा ? कब प्राप्त होगा ? मेरा समय व्यर्थ जा रहा है, आत्मानुभूति की झलक प्राप्त हुए बिना समय व्यर्थ जा रहा है ।

करोड़ रुपयों की दुकान में आप व्यवसाय करेंगे कि ताश खेलेंगे ? आत्मानुभूति प्राप्त हो सके ऐसे इस भव में उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करना चाहिये या पशु-सुलभ भोगों के लिए ?

★ दसवी वस्तु है विज्ञान-विशिष्ट बोध, जो भगवान देते हैं । भगवान कभी तो गुरु के माध्यम से आते हैं, कभी किसी अन्य निमित्त से भी आते हैं ।

अभी नवसारी में रत्नसुन्दरसूरिजी ने पूछा था, 'मुझ पर भगवान की करुणा है, यह मैं कैसे मानूं ?' मैंने कहा, 'आपने दीक्षा क्यों ली थी ?'

'शिविर में गया था । भुवनभानुसूरि ने पकड़ लिया, ले ली दीक्षा ।'

'आपको ही क्यों पकड़ा ? किसी अन्य को क्यों नहीं ?' यही भगवान की कृपा है जो गुरु के माध्यम से आती है । गुरु भी तो आखिर भगवान के ही हैं न ?

दुःख की अपेक्षा सुख भयंकर है । अनुकूलता से साध्य से हम चूक जाते हैं । हम प्रतिकूलता से घबराते हैं । वास्तव में तो यही मित्र है । अनुकूलता से हमारा सत्त्व दब जाता है ।

स्वयं की निन्दा (दुष्कृतगर्हा) सुनने आदि में सत्त्व चाहिये ।

'अणुस्सोओ संसारो, पडिस्सोओ तस्स उत्तारो ।' ऐसी समझ

भगवान देते हैं। यही विज्ञान है। गुरु चौबीसों घण्टे साथ नहीं रहते, परन्तु उनके द्वारा प्रदत्त ज्ञान एवं विवेक साथ रहता है। विवेक-चक्षु प्रदाता गुरु हैं। विज्ञान (विवेक युक्त ज्ञान) प्राप्त हो तो ही अन्य नौ पदार्थों की सार्थकता है।'

भगवती सूत्र में कहा है - साधु के लिए प्रमाद ही आरम्भ है। गृहस्थ के लिए हिंसा आदि आरम्भ है, परन्तु साधु के लिए तो प्रमाद ही आरम्भ है। प्रमत्त अवस्था में (मूर्च्छित अवस्था में) जीव-हत्या न हो तब भी पाप लगता है, अप्रमत्त अवस्था में (अमूर्च्छित अवस्था में) जीवहत्या हो तो भी पाप नहीं लगता। उपयोग में रहे वही सच्चा ज्ञान है जैसे रोकड़े रूपये-सच्चे रूपये कहलाते हैं। उधार ज्ञान काम नहीं लगता। प्रतिफल उपयोग में आने वाला रोकड़ा ज्ञान चाहिये।

'जयं चरे जयं चिद्रे' इत्यादि जागृति बतानेवाले सूत्र सदा दृष्टि के समक्ष रहें तो कहीं भी आपत्ति नहीं आयेगी। जाना हुआ ज्ञान जीवन में उतारना है, मस्तिष्क में संग्रह करने के लिए नहीं है।

निश्चय से सम्यक्त्व नहीं प्राप्त हो तब तक देहाध्यास नहीं टलता, शरीर में आत्म-बुद्धि नहीं टलती। अभी तो हम शरीर से ऊंचे नहीं आते, आत्मा की तो बात ही क्या करें?

ऐसा निश्चय सम्यक्त्व आने के बाद सर्व विरति का भाव सतत रहता है। यदि नहीं रहे तो श्रावकत्व तो ठीक, परन्तु सम्यक्त्व भी नहीं रहेगा।

व्यवहार की श्रद्धा व्यवहार में काम आती है। निश्चय की श्रद्धा निश्चय में काम आती है। व्यवहार में निष्णात बनने के बाद ही निश्चय में निष्णात होना चाहिये। तालाब में तैर-तैर कर दक्ष होने के बाद ही समुद्र में कूदना चाहिये। सीधी ही निश्चय में छलांग निश्चयाभास बन जाती है, प्रमाद-पोषक बनती है। ऐसे अनेक उदाहरण देखे हैं।

सम्यक्त्व एवं ज्ञान ही भवान्तर में साथ आते हैं, चारित्र नहीं। अतः हम सम्यक्त्व एवं ज्ञान को ऐसे सुदृढ़ बनायें कि भवान्तर में भी वे साथ आयें।

हमारा ज्ञान युधिष्ठिर जैसा भावित बना हुआ होना चाहिये।

भीम या दुर्योधन जैसा पाठ नहीं चाहिये, युधिष्ठिर जैसा पाठ चाहिये ।
क्रोध न करें, क्षमा प्रदान करें, यह पाठ ।

एक मत ऐसा है जो गुरु को मानता ही नहीं, आगे जाकर वह भगवान को भी छोड़ देता है । उन्हें क्रियाएं जड़ प्रतीत होती हैं । व्यवहार सब तुच्छ प्रतीत होता है ।

हमारा ज्ञान विश्व को जानने के लिए है ? दूसरों के जानने के लिए है कि स्व को जानने के लिए है ? ज्ञान दो प्रकार के हैं - १. प्रदर्शक, २. प्रवर्तक । प्रदर्शक ज्ञान दिखाने का होता है । प्रवर्तक ज्ञान रत्नत्रयी में प्रवर्तन कराता है । आप किस लिए जानते हैं ? अन्य व्यक्तियों को बताने के लिए ? आप ही नहीं समझे हो तो अन्य को किस प्रकार समझा सकेंगे ? आप ही ने जीवन में नहीं उतारा हो तो दूसरे का भला किस प्रकार कर सकेंगे ?

हमें वक्ता नहीं बनना है, अनुभवी बनना है । पांच सौ साधुओं में वक्ता तो एक ही होता है, शेष सब क्या निकम्मे होते हैं ? नहीं, स्वाध्याय, तप आदि करने वाले मुनियों के दर्शन से भी पापों का क्षय होता है । आपका सम्यक्त्व-विहीन ज्ञान भी अज्ञान बनेगा । चारित्र भी विचित्र बनेगा ।

❖ तीर्थंकरों की अष्ट प्रातिहार्य-समवसरण आदि ऋद्धि मोज मनाने के लिए नहीं हैं । उसे तो वे ही पचा सकते हैं । हम तो थोड़ा मान मिलने पर कूदने लगते हैं, जबकि तीर्थंकर भगवान उक्त ऋद्धि के द्वारा भी पुण्य खपाते हैं । अन्तर पूर्णतः अलिप्त होता है ।

❖ रत्नाकरसूरि ने ठवणी में रख रखे थे । अपरिग्रह के उपदेश के समय सेठ ने पूछा, 'अच्छी तरह समझ में नहीं आ रहा ।' आत्म-निरीक्षण करने पर स्वयं की भूल समझ में आई, परिग्रह-दोष का विचार आया । परिग्रह का त्याग करके शुद्ध साधु बने । फिर 'श्रेयः श्रियां मंगलकेलिसद्य', स्वदुष्कृत गर्हा स्वरूप स्तुति की रचना की, जो आज अमूल्य गिनी जाती है । 'मंदिर छो मुक्ति तणा' उस स्तुति का गुजराती अनुवाद है

❖ मोहनीय की सात प्रकृति नष्ट हो जायें अथवा क्षयोपशम हो, तब ही आत्मा का रूप प्रतीत होता है । इसमें भी भगवान की कृपा चाहिये ।

भगवान की भक्ति आत्मा की शक्ति को जानने के लिए हैं । बचपन से बकरों के समूह में रहा हुआ सिंह अपना सिंहत्व भूल जाता है, उस प्रकार हम भी अपने भीतर रहा हुआ परमात्मत्व भूल गये हैं ।

✽ ओसिया में सिद्धचक्र पूजन का अत्यन्त ही प्राचीन ताम्बे का पट्ट है । सिद्धचक्र पूजन प्राचीन काल से चलता है । किसने कहा यह नया पूजन है ? हम ओसिया गये तब प्रदक्षिणा देते समय सिद्धचक्र का आधा 'मांडला' देखा । मैंने ट्रस्टियों को कहा - दूसरा आधा भाग भी होना ही चाहिये । खोजने पर मिला, उसके साथ जोड़ा, मांडला तैयार हो गया, उसके बाद 'फलोदी' में वि. संवत् २०३५ में सिद्धचक्र पूजन के समय वही ताम्बे का पट्ट मंगवाया गया । मांडला बनाने की आवश्यकता नहीं पड़ी ।

उस समय सिद्धचक्र पूजन पढ़ाने के लिए हिम्मतभाई आये थे ।

• • • • •

अचानक आज्ञे सवारना पूज्यपाद अध्यात्मयोगी आचार्य
भगवन्तना काळधर्मना समाचार मळतां एक आंचको अनुभव्यो ।

सदा अप्रमत्त, स्व-आराधनामां जागृत, परमात्मभक्ति - मग्न
पूज्यश्री जैनशासननी जबरजस्त प्रभावना करवा साथे अनेक आत्माओने
परमात्मभक्ति - नवकार मंत्रना स्मरणमां जोडीने उपकार करता गया छे ।

आपना शिरछत्र जवार्थी दुःख थाय ते सहज छे । समस्त जैन
संघोने तथा विशेषतः कच्छने न पूराय तेवी खोट पडी छे ।

पूज्यश्रीनो आत्मा महाविदेहमां जईने परमात्मपद पामीने
आत्मकल्याण साधी लेशे । आपणने सौने ए मार्गे लई जवा सहायक
बने ए ज प्रार्थना ।

आप बधा खूब ज समजु छे । तेओना गुणोने अनुभवेला छे ।
तेमना गुणो आपणा जीवनमां आवे ए साची श्रद्धांजलि छे ।

अमोए देववन्दन कर्या छे ।

- एज... वज्रसेनविजयनी वंदना

म.सु. ४, साबरमती, अमदावाद.



५-८-१९९९, गुरुवार

श्रा. व. ८

❖ जिन शासन की जघन्य आराधना भी सात-आठ भव में मोक्ष में पहुंचा देती हैं ।

❖ शीलवान्, सत्त्ववान् महापुरुषों के कर-कमलों से दीक्षित होने से निर्विघ्न दीक्षा का पालन होता है । वे महापुरुष भगवान् के साथ हमें जोड़ देते हैं ।

❖ भगवान् की भक्ति चारित्रावरणीय कर्म का क्षय करती है, ऐसा हम सब को अनुभव है ।

❖ सम्यग्दर्शन एवं सम्यग् ज्ञान जहां हो वहां कभी न कभी सम्यक् चारित्र आता ही है । सम्यक् चारित्र आये तो ही सम्यग्दर्शन एवं सम्यग् ज्ञान सच्चे कहलाते हैं । इन्हें परखने की यह कसौटी है ।

‘ज्ञाननी तीक्ष्णता चरण तेह’

- अध्यात्म गीता ।

ज्ञान से चारित्र भिन्न नहीं है । यह जैन दर्शन की विशेषता है । जैन दर्शन के अनुष्ठानों से योग-ध्यान भिन्न नहीं हैं कि जिससे अलग योग-शिविर करानी पड़े, मात्र उन्हें प्रकट करने की आवश्यकता है ।

ज्ञान की तीक्ष्णता अर्थात् ज्ञान का तीव्र उपयोग । जैसा जाना वैसा ही पालन । जानना वैसा ही जीना । उदाहरणार्थ क्रोध की कटुता जानी । जब जब क्रोध आये, तब तब क्रोध के वशीभूत नहीं होना । यह ज्ञान की तीक्ष्णता है । जब जिस ज्ञान की आवश्यकता है तब तब वह ज्ञान उपस्थित हो जाये, आचरण में आ जाये - वह ज्ञान की तीक्ष्णता कहलाती है । कोई वस्तु लेनी-रखनी हो तो पूंज कर, प्रमार्जित करके लेनी-रखनी चाहिये । यह ज्ञान की तीक्ष्णता कहलाती है । यह तीक्ष्णता ही चारित्र है । चारित्र अर्थात् हम अपने स्वामी हैं, ऐसा अनुभव करना, उस प्रकार जीना ।

ज्ञान एकाग्र बनने पर वह ध्यान हो जाता है । जिस समय जो विषय हो उसमें वह एकाकार हो जाता है ।

‘ध्यानं चैकाग्र्य-संवित्तिः’

- ज्ञानसार

एकाग्र बनने में मुझे विलम्ब होता है, किसी भी कार्य में मुझे विलम्ब लगता है, परन्तु जब तक एकाग्र न बनूं तब तक मैं उसे छोड़ता नहीं हूं ।

चित्त की चंचलता को दूर करने वाला एकाग्रता पूर्वक का ज्ञान है ।

ज्ञानसार में ज्ञान के लिए ज्ञानाष्टक, शास्त्राष्टक, अविद्याष्टक, ज्ञान-फल-शमाष्टक ये समस्त अष्टक दिये गये हैं ।

जिस प्रकार मार्ग से परिचित व्यक्ति भी जब तक चलेगा नहीं, तब तक इष्ट स्थान पर पहुंचेगा नहीं, उसी प्रकार से गुणस्थानक की समस्त प्रकृतियों आदि को जानने वाला भी जीवन में उन्हें न उतारे तो गुणस्थानों के मार्ग पर आगे बढ़ नहीं सकेगा ।

ज्ञान में एकाग्र बनने के लिए भी विहित क्रियाएं चाहिये । क्रियाएं छोड़ कर सिर्फ ज्ञान से नहीं चलता ।

❀ मार्ग में आप अधिक समय तक रुक नहीं सकते या तो आप ऊपर जायें या नीचे जायें । नीचे निगोद है, ऊपर मोक्ष है । दोनों स्थानों पर अनन्त काल तक रहने की सुविधा है, व्यवस्था है । मनुष्य जन्म आदि मार्ग में आने वाले स्टेशन हैं । स्टेशनों पर मकान निर्माण करने की भूल मत करना ।

✿ एक ओर चारित्र और दूसरी ओर चिन्तामणि है, कौन बढ़ता है ? चारित्र केवलज्ञान - मोक्ष प्रदान कर सकता है । चिन्तामणि के पास ऐसी शक्ति नहीं है । चारित्र इस जन्म में भी चित्त की प्रसन्नता, समता, लोगों की ओर से पूज्यता प्रदान करता है, परलोक में स्वर्ग-अपवर्ग प्रदान करता है ।

चिन्तामणि इन में से कुछ भी नहीं प्रदान कर सकता । चित्त की प्रसन्नता तो नहीं देता है, यदि हो तो उसे भी लूट लेता है । चिन्ता को बढ़ाने वाला चिन्तामणि कहां और चिन्ता-नाशक चारित्र कहां ?

इन्द्र तो ठीक, विमान का स्वामी बनना हो तो भी सम्यक्त्व चाहिये । तामलि-पूरण आदि तापस इन्द्र बने, परन्तु पूर्व भव में अन्त में सम्यक्त्व प्राप्त कर चुके थे ।

आचार्य भगवंत द्वारा उपयोग में ली गई कामली प्राप्त हो जाये तो कितना आनन्द होता है ? यह कामली आचार्य भगवंत ओढ़ते थे, इस प्रकार हम गौरवान्वित होते हैं ।

क्या इस चारित्र के लिए गौरव नहीं है ? यह चारित्र अनन्त तीर्थकरो, गणधरो, तथा युग-प्रधानों द्वारा सेवित है । कितना गौरव होना चाहिये ?

✿ गुण स्वाभिमानी हैं । बिना बुलाये भी दोष आ जायेंगे । गुणों को निर्मंत्रित करोगे तो ही वे आयेंगे । आने के बाद भी थोड़ा स्वमान आहत होने पर भाग जायेंगे । गुणों के लिए तीव्र उत्कण्ठा होनी चाहिये । उन्हें बार-बार निर्मंत्रित करना पड़ता है । मेंहगे अतिथियों को बार-बार बुलाने पड़ते हैं ।

अतः हे पुण्यवान् ! असंख्य गुणों की खान चारित्र को पाकर तू प्रमाद मत करना । आचार्य इस प्रकार नूतन दीक्षित मुनि को हित शिक्षा प्रदान करते हैं ।

अध्यात्मसार

‘भक्तिर्भगवति धार्या’

गुणों की प्राप्ति एवं सुरक्षा भगवान के प्रभाव से ही होती है । भगवान की सम्पूर्ण आज्ञा का गृहस्थ अवस्था में पालन नहीं होता । हिंसा निरन्तर चालु रहती है । अतः ध्यान में एकाग्रता नहीं

आ पाती । इस कारण चाखि आवश्यक है ।

★ प्रभु के चार निक्षेपा अर्थात् प्रभु के चार स्वरूप ।

प्रभु के नाम, मूर्ति, द्रव्य आदि उनके ही रूप हैं । आगम, तीर्थ आदि भी प्रभु के ही रूप हैं ।

चतुर्विध संघ द्रव्य तीर्थ हैं । भावी तीर्थकर इनमें से बनते हैं । जिनागम भावतीर्थ हैं । जिनागम अर्थात् जिनागमों के अनुसार व्यतीत होने वाला जीवन । कागज पर लिखे हुए शब्द या बोले हुए आगम के शब्द तो द्रव्य-आगम हैं ।

ग्यारह गणधरों को द्वादशांगी बनाने की शक्ति प्रदान करने वाले कौन ? जो मिथ्यात्वी थे, अभिमानी थे, उन्हें नम्र बना कर तीर्थ के उत्तराधिकारी किसने बनाया ? भगवान ने ।

ऐसे गणधर क्या यह मानते हैं कि मैंने अपने ही पुरुषार्थ से दीक्षा ग्रहण की, द्वादशांगी बनाई आदि ? नहीं, वे तो यही मानते थे कि भगवान ने ही सब दिया है और देंगे । उन्होंने भगवान के समक्ष प्रार्थना करते कहा था -

‘आरुग बोहिलाभं समाहिवर मुत्तमं दितु’

‘भगवन् ! हमें आरोग्य, बोधिलाभ एवं उत्तम प्रकार की समाधि प्रदान करो’

गुरु भी आपको स्वयं की ओर से चाखि का दान नहीं देते, भगवान की ओर से देते हैं, पूर्वाचार्यों की ओर से देते हैं । वे तो केवल प्रतिनिधि हैं । इसी लिए उस समय बोला जाता है - ‘खमासमणाणं हत्थेणं’

रसोइया कभी अभिमान नहीं कर सकता कि मैंने सबको जिमाया है । वह यही कहेगा कि सेठ ने जिमाया है

गुरु रसोइया हैं, सेठ भगवान है ।

गुरु शिष्य को कहता है - भगवान के प्रभाव से मुझे प्राप्त हुआ है । अतः आप भी भगवान की भक्ति करना ।

गुरु अपने नहीं, भगवान के भक्त बनाये, भगवान के साथ जोड़ दे वही सच्चे गुरु हैं ।

• • • • •



६-८-१९९९, शुक्रवार

श्रा. व. ९ + १०

✿ पन्द्रह दुर्लभ वस्तुओं में संयम-शील, क्षायिकभाव, कैवल्य एवं मोक्ष सर्वाधिक दुर्लभ है। यद्यपि पन्द्रही वस्तु उत्तरोत्तर अधिकाधिक दुर्लभ हैं।

✿ संयम की भावना होगी तो, इस भव में नहीं तो भवान्तर में तो संयम उदय में आयेगा ही। संभव हो तो इस जन्म में संयम ग्रहण करें।

✿ उत्तरोत्तर वस्तु नहीं प्राप्त करो अथवा प्राप्त करने की इच्छा न रखो तो पूर्व पूर्व की वस्तुएं भी चली जाती हैं।

✿ सम्यक्त्व के ६७ बोल सम्यक्त्व को स्थिर भी रखते हैं, नहीं आया हो तो लाते भी हैं। वह कार्य भी है और कारण भी है।

✿ लाभ की वृद्धि नहीं हो तो दुकान करने का कोई अर्थ नहीं है, उस प्रकार बल, आयुष्य आदि प्राप्त होने के बाद उनके द्वारा सम्यक्त्व की प्राप्ति न हो तो कोई अर्थ नहीं है।

✿ समापत्ति के तीन कारण

१. निर्मलता, २. स्थिरता और ३. तन्मयता।

स्वभावरमणता, सामायिक - ये जैन दर्शन के समापत्ति के लिए शब्द हैं। वि.संवत् २०२६ में पं. भद्रंकर विजयजी महाराज को लिखा, वे प्रसन्न हुए। नवसारी के समीपस्थ जलालपुर में परम शान्ति थी। मैं महिने में पांच उपवास करता। वहाँ के परम शान्त वातावरण में ध्यान लग जाता।

✽ अहिंसा से... निर्मलता... उपशम... दर्शन।

संयम से... स्थिरता... विवेक... ज्ञान।

तप से... तन्मयता... संवर... चरित्र आता है। यह त्रिपुटि सब जगह लागू होती है।

दान से निर्मलता, शील से स्थिरता, तप से तन्मयता।

भाव से तीनों की एकता।

प्रश्न - यह समापत्ति सम्यक्त्व से पूर्व होती है कि बाद में ?

उत्तर - जितने 'करण' अन्तवाले शब्द (अपूर्व करण, यथाप्रवृत्ति करण आदि) हैं, वे सब समाधिवाचक हैं।

करण अर्थात् - 'निर्विकल्प समाधि।'

ध्यान विचार ग्रन्थ पढ़ने के बाद लगा कि समस्त ध्यान-पद्धतियों का इसमें समावेश है।

चार लाख, ६८ हजार से अधिक ध्यान के भेद उसमें बताये गये हैं। आपमेंसे किसी ने पढे हैं कि नहीं ? यह मालुम नहीं है, परन्तु पढ़ने योग्य है, यह अवश्य कहूँगा।

अभव्य जीव भी अनन्त बार यथाप्रवृत्तिकरण करते हैं। यथाप्रवृत्तिकरण अर्थात् 'अव्यक्त समाधि' यों हरिभद्रसूरिजी कहते हैं। चरम यथाप्रवृत्तिकरण चरमावर्त काल में ही आता है।

काल भी पूरक है। अचरम काल न हो तो चरम काल कैसे आता ?

अभव्य जीव को भी 'विषय समापत्ति' होती है, भाव समापत्ति नहीं होती। विषय-समापत्ति के बिना एकाग्रता नहीं आती।

हरिभद्रसूरिजी ने चौथी दृष्टि में समापत्ति का वर्णन किया है।

✽ आत्मशुद्धि को रोकने वाली कर्म-प्रकृति है। यदि इसे हटायें तो आत्मशुद्धि समीप ही है। कर्म-ग्रन्थ का अध्ययन करते

हुए कर्म-प्रकृति गिनते हैं पर उन्हें हटाते नहीं । कर्म-प्रकृति केवल गिनने की नहीं हटाने की भी है ।

हम क्रोध, मान, माया आदि को यथावत् रखकर कर्म-प्रकृतियों को केवल गिनते रहते हैं ।

ध्यान के बिना समापत्ति नहीं होती । समापत्ति ध्यान का फल है ।

प्रश्न : मरुदेवी को समापत्ति कैसे आई थी ? तिर्यचादि भी सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं । उन्हें समापत्ति कहां से आई ?

उत्तर : करणों की प्राप्ति दो प्रकार से होती है - ज्ञानपूर्वक एवं सहजता से, करण एवं भवन । हो जाये वह भवन, करना पड़े वह करण ।

निसर्गाद् अधिगमाद् वा । निसर्ग से हो वह भवन, अधिगम से हो वह करण ।

करण में प्रयत्न है, भवन में सहजता है ।

मानव मरकर मछली बना । वहां सम्यक्त्व प्राप्त हुआ । जाति स्मरण से पूर्व भव के दुष्कृतों के कारण पश्चात्ताप हुआ । यह भवन है ।

जो संस्कार आप डालते हैं वे जन्मान्तर में भी साथ आते हैं । कोई बात मैं वाचना अथवा व्याख्यान में बार-बार कहूं तो समझना कि मैं उसके संस्कार डालना चाहता हूं ।

❖ समापत्ति किसे नहीं है ?

टी.वी. देखनेवालों, व्यापार करनेवालों, अखबार पढ़ने वालों आदि में भी समापत्ति है ।

जिस विषय में रस हो वहां समापत्ति आती है, परन्तु वह आर्त्तध्यानजनित है । अशुभ का अभ्यास अनादि काल का है । शुभ के संस्कार कभी नहीं पड़े ।

❖ योग या ध्यान शिबिरों में (विपश्यना की शिबिरों में) केवल एकाग्रता पर जोर दिया जाता है, निर्मलता पर थोड़ा भी नहीं । निर्मलता-रहित एकाग्रता का कोई मूल्य नहीं है । यह तो बिल्ली को भी सुलभ है । बगुले को भी सुलभ है ।

जिसे भाव-चारित्र प्राप्त हुआ है उसे समापत्ति सिद्ध हुई समझें ।

‘भक्तिर्भगवति धार्या’

★ पांच मिनट भी यदि आपके नेत्र, हृदय आदि भगवान पर जमेगे तो निर्मलता आयेगी, ध्यान सुलभ बनेगा ।

भगवान की भक्ति करेंगे तो भगवान हमारे बन जायेंगे । भगवान जगत् के हैं यह ठीक है, परन्तु जब तक ‘मेरे भगवान’ बनते नहीं हैं तब तक भक्त को सन्तोष नहीं होता ।

अंजन के समय मैं मानता हूँ कि भगवान का अंजन करने वाला मैं कौन ? भगवान ने मेरा अंजन किया । अपने स्वरूप का स्मरण कराया ।

भक्ति अर्थात् सात राजलोक दूर स्थित भगवान को हृदय में बुलाने की कला । यशोविजयजी के मन में प्रविष्ट हुए तो अपने हृदय में क्या नहीं प्रविष्ट हो सकते ? भगवान के प्रवेश के बिना तो ‘पेठा’ शब्द का प्रयोग नहीं किया होगा ।

दूर स्थित भगवान को जो समीप लाये वह भक्ति ।

भक्ति चुम्बक है, जो भगवान को खींच लाती है ।

‘तुम-पण अलगा रहो किम सरशे ? भक्ति भली आकर्षी लेशे ।

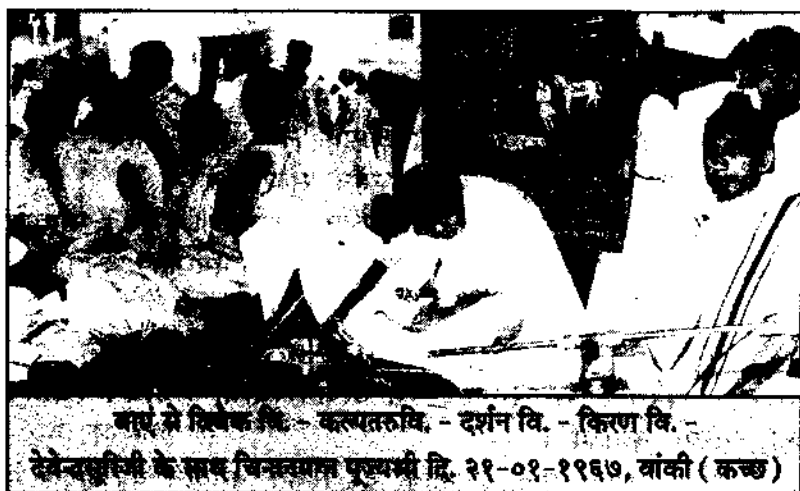
गगने उडे दूरे पडाई, डोरी बले हाथे रही आई’

- मानविजय

पतंग चाहे दूर है, डोरी हाथ में है । भगवान चाहे दूर है, भक्ति हाथ में है । डोरी हाथ में है तो पतंग कहां जायेगी ? भक्ति हृदय में है तो भगवान कहां जायेंगे ?

• • • • •





बाएं से शिवक वि. - कल्पतरु वि. - दर्शन वि. - किरण वि. -
देवेन्द्रसूरीजी के साथ चिन्तामण पुर्यशी दि. २१-०१-१९६७, वांकी (कच्छ)

७-८-१९९१, शनिवार
श्रा. व. ११

शास्त्र के अध्ययन के बिना देशविरति या सर्वविरति का पालन नहीं हो सकता । अतः शास्त्रों का अध्ययन, निदिध्यासन, चिन्तन एवं भावन करना आवश्यक है । भावन कोटि में नहीं आये तब तक ज्ञान अपना नहीं बनता ।

ज्ञानाचार के आठ आचारों में ही इसका निर्देश है ।

अन्तिम तीन आचार : सूत्र, अर्थ, तदुभय ।

सूत्र से श्रुतज्ञान, अर्थ से चिन्ताज्ञान और तदुभय से भावना ज्ञान आता है । सूत्र से शब्दज्ञान, अर्थ से समझ और तदुभय से जीवन समृद्ध बनता है ।

प्रश्न : 'जीवन में उतारना' चारित्राचार में नहीं आता ?

उत्तर : ज्ञान वही सच्चा है जो आचरण में आता है ।

चारित्र ज्ञान से भिन्न नहीं है । परिणतिवाला बने वह ज्ञान ही चारित्र है।

‘ज्ञानदशा जे आकरी, तेह चरण विचारो ।

निर्विकल्प उपयोगमां, नहीं कर्म नो चारो ।’

- उपा. यशोविजयजी महाराज (१२५ गाथाओं का स्तवन)

‘ज्ञाननी तीक्ष्णता चरण तेह’

- देवचन्द्रजी, अध्यात्मगीता ।

‘जिहां लगे आत्म-तत्त्वनुं, लक्षण नवी जाण्युं ।

तिहां लगे गुणठाणुं भलुं, किम आवे ताण्युं ॥’

- यशोविजयजी

गुणस्थानक खींचने से, जोर लगाने से नहीं आता, वेष पहनने से नहीं आता । उसके लिए आत्म-तत्त्व का लक्षण जानना पड़ता है ।

✽ संयम जीवन उत्तम प्रकार से जीने की स्कूल अर्थात् गुरुकुल-वास । यह जानने के बाद भला स्कूल में कौन शिक्षा प्राप्त नहीं करेगा ?

✽ जैन कुल में जन्म मिलने से संयम मिले ही ऐसी बात नहीं है । इस समय एक करोड़ जैन हों तो संयमी कितने ?

दस हजार । निन्नाणवे लाख, नब्बे हजार बाकी निकले । इनमें आत्मज्ञानी कितने ? योगसारकार कहते हैं : द्वित्राः । दो-तीन मिल जायें तो भी बहुत हैं ।

कितना दुर्लभ है आत्म-ज्ञान ?

इन दो-तीनों में अपना नम्बर लगाना है । निराश होकर साधना छोड़नी नहीं है । लोटरी के इनाम तो दो-तीनों को ही लगते हैं, परन्तु अन्य लोग भी आशा तो रखते ही हैं न ?

✽ साधु को चाहिये कि वह संसार की निर्गुणता का बार-बार चिन्तन करें । यह वैराग्य का उपाय है और उससे ही वैराग्य स्थिर रहता है । वैराग्य से ही विरति स्थिर रहती है ।

प्रश्न : भाव से ही विरति का परिणाम पैदा होना यही महत्त्वपूर्ण बात है । इसके लिए ही प्रयत्न करना चाहिये । विधि की कड़ाकूट किस लिए ? विधि-विधान के बिना भी मरुदेवी, भरत महाराजा आदि को चारित्र के भाव आ गये थे । चारित्र के परिणाम के बिना तो केवलज्ञान नहीं होता । वे कोई विधि आदि करने नहीं गये थे । दूसरी बात यह है कि विधि सब कर ली, फिर भी विरति का परिणाम थोड़ा भी नहीं आया, ऐसे भी अनेक उदाहरण हैं । जैसे अंगारमर्दक, विनयरत्न आदि ।

मानो कि शिष्य में विरति के परिणाम प्रथम ही उत्पन्न हो गये हैं तो विधि-विधान की आवश्यकता क्या ? और परिणाम

नहीं उत्पन्न हुए तो सब मिथ्या है। मृषावाद का दोष लगता है।
न हो फिर भी कहना जूठ ही हुआ न ?

उत्तर : विरति का परिणाम ही प्रव्रज्या, वह आपकी बात सत्य है, परन्तु उसका मुख्य साधन यह विधि-विधान है।

बढ़िया खाद आदि सब हो, फिर भी खेती निष्फल न हो ऐसा नहीं है। व्यापार में हानि हो ही नहीं, ऐसा थोड़े ही है ? फिर भी खेती और व्यापार कोई बन्द करता है ? अधिकतर ये विधि-विधान विरति के परिणाम लाने में सहायक होते हैं।

ओषा ग्रहण करते समय कितना आनन्द होता है ? कितनी उमंग होती है, यह अनुभव-सिद्ध है।

(प्रश्न : ओषा लेते समय कितना नाचना चाहिये ?)

उत्तर : थोड़ा ही। आज तो इतना नाचते हैं कि कभी गिर भी सकते हैं। क्या यह कोई नृत्य करने का मंच है ?)

विवाह के बाद जिस प्रकार पति-पत्नी के रूप में दम्पती समाज-मान्य बनते हैं, उस प्रकार दीक्षा-विधि के बाद साधु के रूप में समाज-मान्य बनता है।

शपथ-विधि पूर्ण होने पर ही 'मंत्री' कहलाता है।

रिजर्व बैंक के हस्ताक्षर होने के बाद 'रूपया' कहलाता है। उस प्रकार दीक्षा-विधि के बाद साधु कहलाता है। उसके कार्य से, उसकी परिणति से उसके परिणाम ज्ञात हो सकते हैं। उसे स्वयं को लगता है कि 'मैं अब विधिपूर्वक साधु बन गया हूँ। मुझसे अब अकार्य नहीं होगा।'।

यह सब तो प्रत्यक्ष देखने मिलता है।

इस कारण ही नूतन दीक्षित को उसी समय समस्त संघ वन्दन करता है। शायद भाव से परिणाम जागृत न हुए हों तो भी संघ वन्दन करता है।

व्यवहार-मार्ग इस तरह ही चलता है।

इस वन्दन से, वन्दन लेने वाले का भी उत्तरदायित्व बढ़ जाता है - 'ये सभी मुझे वन्दन करते हैं, तो अब मुझे उसके अनुरूप ही जीवन जीना चाहिये।'।

भरत आदि के उदाहरण यहां नहीं लिया जा सकता। वे कभी-

कभी के हैं, राजमार्ग नहीं। यों तो किसी को घर में ही केवलज्ञान हो जाता है, किसी को अन्य लिंग में भी हो जाता है तो उसका अनुकरण नहीं हो सकता। किसी को लौटरी लगी और वह करोड़पति बन गया, परन्तु उस आशा से अन्य कोई व्यक्ति बैठा रहे तो ?

प्रश्न : चंडरुद्राचार्य के शिष्य को विधि कहाँ थी ?

उत्तर : आप कहाँ सम्पूर्ण बात जानते हैं ? सम्भव है, चपटी जितने बाल बाकी रखें हो और बाद में विधि के समय उनका लोच किया हो। विधि-रहित दीक्षा हो तो क्या केवलज्ञान होगा ?

श्रावक भी लोच कराते हैं। लोच कराने के बाद भी वह घर पर जा सकता था, परन्तु वह घर नहीं गया। दीक्षा ग्रहण करने के लिए ही आग्रह रख कर रहा। उसकी श्रेष्ठता जान कर ही आचार्य ने उसे दीक्षित किया।

योग्यता में तो गुरु से भी आगे बढ़ गये। गुरु से भी पहले केवलज्ञान प्राप्त कर लिया।

यदि आप जिनमत को चाहते हों, तो व्यवहार-निश्चय दोनों में एक का भी त्याग न करें।

व्यवहार से शुभ परिणाम जागृत होते हैं, ज्ञानावरणीय आदि का क्षयोपशम होता है। चैत्यवन्दन विधि चारित्र के परिणाम उत्पन्न करने वाली है।

विधि के द्वारा ही भाव जगते हैं कि मैं साधु हो गया हूँ। व्यवहार के पालन से भाव, जो निश्चय रूप हैं, उत्पन्न होते हैं, भगवान की भक्ति करते-करते ही विरति के परिणाम बढ़ते हैं, यह अनुभव-सिद्ध है।

★ प्रभु को देख-देख कर, ज्यों-ज्यों प्रसन्नता बढ़ती है, त्यों-त्यों आप मानना कि मैं साधना के सच्चे मार्ग पर हूँ। भक्ति-जनित प्रसन्नता कभी मलिन नहीं होती।

अध्यात्मसार

भगवान भक्ति से बंधे हुए हैं। जैसे कोई देव अमुक मंत्र अथवा विद्या से बंधा हुआ होता है। मंत्र बोलते ही उसे उपस्थित होना ही पड़ता है। भक्ति करो तो भगवान को उपस्थित होना ही पड़ता है।

भगवान का पदार्पण नहीं हो तब तक दीक्षा विधि का प्रारम्भ भी नहीं होता । स्थापना तीर्थंकर की यह बात है । तो फिर भगवान हमारे हृदय में न आये तो साधना का प्रारम्भ कैसे हो सकता है ?

स्थापना के अथवा नाम के द्वारा आखिर तो हमें भाव-तीर्थंकर की ही स्तुति करनी है । पोस्टकार्ड पर 'एड्रेस' में आप व्यक्ति का नाम लिखते हैं । मतलब नाम से नहीं है, व्यक्ति से है और वह पोस्टकार्ड मूल व्यक्ति को पहुंच ही जाता है ।

नाम कोई कम बात नहीं है । आपकी अनुपस्थिति में भी बैंक आदि में लेन-देन आपके नाम से ही होता है ।

भगवान जिस प्रकार बोधि प्रदान करते हैं, उस प्रकार उनकी प्रतिमा एवं नाम भी बोधि एवं समाधि प्रदान करते हैं (देखें लोगस्स)

'आरुग्ग बोहिलाभं समाहिवर - मुत्तमं दितु ।' पूर्ण आरोग्य अर्थात् मोक्ष, जो बोधि एवं समाधि से प्राप्त होते हैं । अतः प्रभु ! मुझे बोधि एवं समाधि प्रदान करो ।

यह गणधरों की स्तुति है ।

भगवान की भक्ति से दिन-प्रतिदिन चारित्रावरणीय कर्मों का क्षय होता है और फिर एक दिन आत्मानुभूति होती है ।

इसी लिए सच्चा भक्त भगवान को कदापि भूलता नहीं ।

'निशदिन सूतां-जागतां, हैडाथी न रहे दूर रे ।

जब उपकार संभारिये, तब उपजे आनन्द पूर रे ॥'

- पृ. यशोविजयजी

भक्ति के द्वारा धर्म का अनुबन्ध पड़ता है, जिससे वह भवान्तर में भी साथ चलता है ।

क्षयोपशम भाव की हानि-वृद्धि दिन-प्रतिदिन होती रहती है । यदि बीच में टूट जाये तो ? दस दिनों तक व्यापार बंद रखो तो ?

यदि धर्म को शुद्ध एवं सानुबंध बनाना हो, तो सतत धर्म करना चाहिये । धर्म का सातत्य-भाव ही उसमें मुख्य अंग है, ऐसा पंचसूत्र में लिखा है । भक्ति की धारा कदापि न तोड़ें ।

विमारी (मद्रास में) के समय मेरी भक्ति की धारा टूट गई थी । पुनः उस प्रकार के भावों को जागृत करने में छः माह लग गये थे ।

♦ ♦ ♦ ♦ ♦



बाएं से विवेक वि. और दर्शन वि. के बीच ध्यानासन प्रत्यक्षी
वि.सं. २०२३, पोष सु. ११, वांसी (कच्छ)

८-८-१९९९, रविवार
श्रा. व. १२

✽ साधु धर्म की परिभाषना करने वाला श्रावक होता है ।
उसके योग से ही उसका श्रावकत्व स्थिर रहता है । उसके द्वारा
ही उसमें दीक्षायोग्य १६ गुण प्रकट होते हैं ।

✽ पुरुषार्थ जीव का, अनुग्रह भगवान का ! जिन गुणों
का अभाव है वे गुण भगवान के अनुग्रह से ही प्राप्त होते हैं ।

✽ चैत्यवन्दन आदि की विधि जो दीक्षा अंगीकार करने
के समय की जाती है, उसमें इतनी शक्ति है कि जिससे विरति
के परिणाम जागृत होते हैं और स्थिर रहते हैं । यदि चैत्यवन्दन
में उस समय ऐसी शक्ति थी तो इस समय कुछ भी शक्ति न
हो, ऐसा बन भी कैसे सकता है ?

चैत्यवन्दन वे ही हैं ।

दीक्षा लेकर ऐसे ही परिणाम सदा के लिए रहते हों तो
किसी शास्त्र आदि की रचना अथवा उपदेशों की आवश्यकता ही
नहीं पड़ती । परिणाम घट-बढ़ सकते हैं । इसीलिए यह सब प्रयत्न
है ।

इसी कारण से सिंह + सियार की चतुर्भंगी बताई है ।

कहे कलापूर्णसूरि - १ ***** १३५

❁ व्यवहार छोड़ो तो तीर्थ जाता है ।

निश्चय छोड़ो तो तत्त्व जाता है ।

तीर्थ कलेवर है, तत्त्व प्राण है ।

प्राणहीन कलेवर का मूल्य नहीं है, उस प्रकार कलेवर के बिना प्राण भी रह नहीं सकते । व्यवहार ही निश्चय को प्राप्त करता है । निश्चय का कारण बने वही व्यवहार है । व्यवहार की सापेक्षता बनाये रखे वही निश्चय है ।

दीक्षा-विधि के समय शायद चारित्र के परिणाम न भी उत्पन्न हों, परन्तु तो भी दीक्षा-विधि निष्फल नहीं है, क्योंकि बाद में भी परिणाम जागृत हो सकते हैं । जागृत नहीं हों तो भी दीक्षा-दाता का दोष नहीं है । उन्होंने तो विधि की ही आराधना की है । ऐसा भी हो सकता है कि दीक्षा के बाद वह घर जाये तो भी दीक्षा-दाता निर्दोष है ।

भगवान महावीर के द्वारा दीक्षित नन्दिषेण जैसे भी घर गये हैं । भगवान जानते थे फिर भी उन्होंने उन्हें दीक्षा दी, जिसके लिए नन्दिषेण का ही विशेष आग्रह था । वेश्या के घर बारह वर्ष रहे तो भी वहां नित्य दस व्यक्तियों को प्रतिबोध देते थे । बारह वर्षों में लगभग बयालीस हजार सर्व - विरतिधर शासन को दिये । यह भी तो शासन को लाभ ही हुआ ।

दीक्षा प्रदान करते समय गुरु का आशय ऐसा होता है कि 'यह संसार सागर से पार उतरे, यह मोह की जाल में से मुक्त हो और इसकी मोक्ष-यात्रा में मैं सहायक बनूँ ।'

'दोष लगेगा, मृषावाद लगेगा' ऐसे भय के कारण आचार्य दीक्षा प्रदान करना बंद कर दें तो क्या होगा ? शासन रुक जायेगा ।

भरत आदि को गृहस्थ-जीवन में केवलज्ञान हुआ उसमें पूर्व-जन्म की आराधना कारण है । गृहस्थ-जीवन में केवलज्ञान हुआ यह ठीक है, परन्तु गृहस्थ-जीवन केवलज्ञान का कारण नहीं है । कारण तो पूर्व भव की साधुता की साधना ही है । उनके पाट पर आठ राजाओं को आरीसाभुवन (शीशमहल) में कैवल्य हुआ । वहां भी उनकी पूर्व भव की साधना ही कारण थी ।

आपको दीक्षा-विधि इस कारण बताते हैं कि देखते-देखते, सुनते-सुनते आप में भी दीक्षा ग्रहण करने का भाव जागृत हो ।

साधु की प्रसन्नता देख कर क्या आपको कुछ लगता नहीं ? महाराज कैसे प्रसन्न रहते हैं ? सच्चा सुख यहीं है । अतः यहीं आने योग्य है ।

अध्यात्मसार

भक्ति (सम्यग्दर्शन), सम्यग् ज्ञान, सम्यक् चारित्र प्रदान करती है और अन्त में मुक्तिप्रदान करती है । नवकार एवं लोगस्स दो जिन-शासन के प्रसिद्ध भक्ति-सूत्र हैं । नवकार में सामान्य जिन को नमन है । लोगस्स में नामग्रहण पूर्वक विशिष्ट जिन को नमन है ।

नाम-कीर्तन के द्वारा लोगस्स में गणधरों के द्वारा भगवान की भक्ति हुई है । 'नमुत्थुणं' में द्रव्य-भाव जिन की और 'अरिहंत चेइयाणं' में स्थापना जिन की स्तुति है ।

भाव जिन जितना उपकार करता है, उतना ही उपकार नाम-स्थापना आदि जिन भी करते हैं । भाव जिन के भी दो प्रकार हैं - आगम, नोआगम । समवसरणस्थ जिन का उपयोगवन्त ध्याता भी आगम से भाव निक्षेप से भगवान ही है ।

'जिनस्वरूप थई जिन आराधे, ते सही जिनवर होवे ।'

भक्त की भक्ति एवं भगवान की शक्ति, दोनों मिलने से कार्य होता है । ज्यों-ज्यों भक्त का अनुराग बढ़ता है, त्यों-त्यों भगवान का अनुग्रह बढ़ता ही जाता है ।

योग्य शिष्य प्रत्येक वक्त गुरु को ही आगे करता है ।

उस प्रकार भक्त प्रत्येक वक्त भगवान को आगे करता है । आवश्यक निर्युक्ति में प्रश्न है - नमस्कार किसका माना जाता है ?

नमस्करणीय भगवान का कि नमस्कार-कर्ता भक्त का ?

नमस्करणीय भगवान का माना जाता है, परन्तु हम स्वयं का ही मान बैठे हैं । अमुक नय से करने वाले का भी माना जाता है, परन्तु भक्त की भाषा तो यही होती है - भगवान का ही सब कुछ है ।

भक्त भगवान का मानता है, परन्तु भगवान स्वयं का नहीं मानते । हम भगवान का नय पकड़ कर बैठ गये ।

गुरु कह सकते हैं - मैंने कुछ नहीं किया ।

भगवान कह सकते हैं - 'मैंने कुछ नहीं किया । जो किया

वह तीर्थकर नाम-कर्म खपाने के लिए किया ।' परन्तु वह वाक्य हमारे लिए नहीं है । उनका नय (दृष्टिकोण) हम पकड़ लेंगे तो हम कृतघ्न बन जायेंगे ।

‘जेह ध्यान अरिहंत को, सो ही आत्मध्यान’

यह श्वेताम्बर संघ की प्रणालिका है । आत्म-ध्यान नहीं, प्रभु का ध्यान करता हूं । यही सब कहेंगे ।

हरिभद्रसूरिने कहा है - ‘मैं भगवान को इच्छायोग से नमस्कार करता हूं - ‘नमस्कार हो !’ नमस्कार करनेवाला मैं कौन हूं ?’

सर्वोत्तम अवसर प्राप्त हों, आराधना के सुअवसर प्राप्त हों वे किसके प्रभाव से प्राप्त होते हैं ? भगवान के ही प्रभाव से ।

अन्यथा देह का क्या भरोसा ? अभी-अभी ही मुन्द्रा से समाचार मिला है कि एक साध्वीजी का B.P. Down हो गया है । कहाँ है सब कुछ हमारे हाथ में ?

नैगमनय भगवान का नमस्कार मानता है । नौकर ने अश्व खरीदा, परन्तु गिना जाये किसका ? सेठ का ही गिना जाता है ।

परमात्मा का ध्यान करने से आत्म-ध्यान आने वाला ही है ।
 ✨ भोजन में भूख मिटाने की शक्ति ही न हो तो क्या भूख मिटेगी ? छिलके खाने से क्या भूख मिटेगी ? भगवान में यदि मोक्ष प्रदान करने की शक्ति ही न हो तो क्या वे मोक्ष देंगे ?

‘बोधि एवं समाधि’ आपको भक्ति से मिले । आपने भक्ति की इस कारण मिले कि भगवान ने दिये ?

भगवान के स्थान पर आप किसी अन्य की भक्ति करो - ‘बोधि-समाधि’ प्राप्त नहीं होंगे ।

✨ हरिभद्रसूरिजी ने समस्त दर्शनों का ‘योगदृष्टि-समुच्चय’ में समावेश करके मानो कहा, ‘जैन दर्शन तो समस्त दर्शनों को पीकर बैठा है ।’

प्रश्न : ‘जयवीरराय’ में मार्गानुसारी आदि मांगे हैं, परन्तु जिसे वह प्राप्त हो गया हो वह क्यों ‘जयवीरराय’ बोले ? ६-७ गुण-स्थानकों में रहा हुआ साधु... उसे मार्गानुसारिता से क्या तात्पर्य ?

उत्तर : उन गुणों को निर्मल बनाने के लिए ।

• • • • •



१-८-१९९९, सोमवार

श्रा. व. १३

❖ पंचवस्तुक में लिखी हुई विधि, (आगम की विधि ही लिखी हुई है) हमने देखी। आज भी यही विधि उपयोग में आ रही है, यह जानकर कितना हर्ष होता है ? हमारी शुद्ध परम्परा के प्रति कितना आदर जागृत होता है ?

आपके अन्तर में भक्ति आ गई तो वह प्रतिफल आपको बचा लेगी। ज्ञान में अहंकार या कदाग्रह नहीं आने देगी। 'मैं कहता हूँ वही सत्य है, सही है', विद्वत्ता का ऐसा गर्व विद्वान को हो सकता है, भक्त को नहीं। पूर्व पुरुषों का स्मरण करने से विद्वत्ता का गर्व दूर हो सकता है।

महान् जैनाचार्य कालिकसूरि विशाल गच्छाधिपति थे। वे अविनीत शिष्यों से संतप्त थे। उनकी भूल होने पर उन्हें टोकते समय वे सामने उत्तर देने लगे। अतः सम्पूर्ण शिष्य-मण्डल का परित्याग करके शय्यातर को सूचित करके चले गये। उन्होंने शय्यातर को कहा कि यदि शिष्य अत्यन्त ही आग्रह करें तो ही बतायें, अन्यथा नहीं। सागर नामक आचार्य जो उनके ही प्रशिष्य थे, उनके पास पहुंच गये। सागर आचार्य इस बात से अनभिज्ञ थे। जोरदार

वाचना देने के बाद पूछ, 'वाचना कैसी लगी ?'

‘सरस’ ।

उसके बाद कालिकाचार्य ने अंजलि में से झरते जल की तरह हमारे भीतर पेढी-दरपेढी ज्ञान घटता जा रहा है, यह समझाया । तीर्थंकर भी अभिलाष्य पदार्थों में से अनन्तवां भाग ही कह सकते हैं । उसका अनन्तवां भाग शिष्य-प्रशिष्य आदि क्रमशः ग्रहण करते रहें । ऐसे अल्प ज्ञान का अभिमान क्या ?

उसके बाद शिष्य परिवार आने पर सागराचार्य को पता लगने पर चरणों में गिर कर क्षमा-याचना की । तब तक तो ‘ये वृद्ध मुनि है’ यही मान बैठे थे ।

★ देववन्दन, चैत्यवन्दन आदि के बिना दीक्षा-विधि नहीं होती । इसका अर्थ यही की भक्तिमार्ग ही विरति का प्रवेश-द्वार है ।

दीक्षा जीवन में चार बार सज्झाय ज्ञानयोग के लिए, सात बार चैत्यवन्दन भक्तियोग के लिए है । वह बताता है कि भक्ति ज्ञान से महान् है ।

प्रश्न : उत्तम, आनन्ददायक सामग्री ऋद्धि-समृद्धि होने पर भी पापोदय के कारण उसे छोड़ने की इच्छा हुई । पूर्व भव में दान नहीं देने के कारण इस भव में घर-घर भिक्षा हेतु जाना पड़ता है, अनेक व्यक्ति ऐसा मानते हैं । इस सम्बन्ध में आपके क्या विचार हैं ?

(वि. संवत् २०१७ में राजकोट में दिगम्बर पण्डित को कानजी के भक्तों ने बुलाया । परास्त करने के लिए वह हमारे पास आया । उसने अपनी पण्डिताई प्रदर्शित करते हुए कहा - ‘आप से हम ऊंचे हैं ।’ उस समय मैं कुछ बोला नहीं, परन्तु निश्चय किया कि अब न्याय का अध्ययन करना अनिवार्य है ।)

एक अन्य का मत यह है कि ‘कहीं ठिकाना नहीं । ललाट में भटकना ही लिखा है । इसमें धर्म कहाँ होगा ? रहने, खाने, पीने आदि की व्यवस्था में से ऊंचे आये तो धर्म-ध्यान होगा न ? कपड़े-मकान तो ठीक, उचित समय पर भोजन भी नहीं मिले, पापोदय के बिना ऐसी स्थिति नहीं आ सकती न ? अतः गृहस्थावस्था में रह कर ही परोपकार के काम होते रहें, यही सच्चा धर्म है ।

उत्तर : आप कहते हैं 'पाप के उदय से दीक्षा मिलती है।' हम पूछते हैं - 'पुन्य-पाप किसे कहते हैं?' 'भोगते समय संक्लेश हो वह पाप, और साता (शान्ति) रहे वह पुन्य।' यही सच्चा लक्षण है। पुन्यानुबन्धी पुन्य के उदय से ही गृहस्थ-जीवन का त्याग होता है। पुन्यानुबन्धी पुन्य का उदय हो वही संसार छोड़ सकता है।'

पुन्य-पाप की संक्लेश - असंक्लेश रूप यह व्याख्या की। अब सोचो - अधिक संक्लेश तो गृहस्थ-जीवन में है। साधु को संक्लेश का अंश भी नहीं है। बाहर से आनन्दमय प्रतीत होते पूंजीपति भीतर से कितने दुःखी होते हैं - क्या आप यह जानते हैं ?

संसार के सबसे धनाढ्य व्यक्तिने एक प्रश्न के उत्तर में कहा था, 'संसार में सर्वाधिक दुःखी मैं हूँ। यहां सुख कहाँ है?'

मुमुक्षुपन में मैं जोधपुर में एक घर पर गया। उस धनाढ्य व्यक्ति ने मेरा सम्मान करके मुझे शत-शत धन्यवाद देकर कहा, 'आप सच्चे मार्ग पर हैं। हमारे तो धन्या बढ़ गया है त्यों-त्यों चिन्ता का पार रहा नहीं। चिन्ता... चिन्ता... चिन्ता...। वह व्यक्ति जोधपुर का अत्यन्त धनाढ्य व्यक्ति था।

शशिकान्तभाई : आज उद्योगपति-उद्देगपति हैं।

एक भाई सुखी व्यक्ति को ढूँढने के लिए निकला। सुखी में सुखी जैन साधु है यह जान कर, अत्यन्त भटक कर जैन मुनि जंबूविजयजी म. के पास पहुंचा। दो दिनों तक उसने साधु-चर्या का निरीक्षण किया, फिर पूछा, 'आजिवीका का क्या प्रबन्ध है? पुंजी कितनी है?'

'हम न पैसे रखते हैं, न पैसों का स्पर्श करते हैं। न स्त्री का स्पर्श करते हैं, न पानी का। संघ की व्यवस्था ही ऐसी है कि हमें भोजन की चिन्ता नहीं रहती।' यह सुनकर वह व्यक्ति स्तब्ध हो गया।

मुझे भी कहा गया। 'आप दीक्षा अंगीकार करते हैं? वह भी गुजरात में? वहां क्या है? साधु तो अपने-अपने दांडों से लड़ते हैं।'।

मैंने एक ही उत्तर दिया, 'आप भला तो जग भला ।'
आप देखते हैं - यहां आकर मैंने झगड़ा नहीं किया । हां,
झगड़ा मिटया है सही ।

वि.संवत् २०२३ में मनफरा में झगड़े बहुत थे । मैंने कह
दिया - झगड़े में प्रतिष्ठा नहीं हो सकती । साधु-साध्वियों को गोचरी
बंद करने की बात कही । तब वे झगड़ा निपटने के लिए तत्पर
हुए । झगड़ा निपट गया ।

शशिकान्तभाई ने कहा - तब तो झगड़े वाले संघों में आपको
बुलाना पड़ेगा ।

उत्तर : हमारी बात मानने की तैयारी हो तो हमें बुलाना ।
अन्यथा, कोई मतलब नहीं ।

अचानक मालूम हुआ कि बेणप में झगड़े हैं । बड़े आचार्य
से भी झगड़ा नहीं निपट । भगवान की कृपा से झगड़ा हमारे
जाने से निपट गया ।

❁ 'साधु सदा सुखिया भला, दुःखिया नहीं लवलेश
अष्ट कर्मने वारवा, पहेरो साधुनो वेष ।'

यह आप बोलते हैं सही, परन्तु कब ? वस्त्र बदलते समय,
संसारी का वेष पहनते समय !

साधु के पास समता का, निडरता का, चारित्र का, भक्ति
का, मैत्री का, करुणा का, ज्ञान का सुख है । मैत्री की मधुरता,
करुणा की कोमलता, प्रमोद का परिमल, मध्यस्थता की महक हो,
वैसा यह साधु-जीवन पुन्य-हीन को ही प्रिय नहीं लगता है ।

• • • • •

पुस्तको खूब ज सुंदर छे.

आत्माने ढंढोळता आवा पुस्तको बहार पाडता रहेजो.

आपनु कार्य निर्विघ्ने थाय एवी प्रार्थना.

- आचार्य जयशेखरसूरि

धारवाड, हुबली.



१०-८-१९९९, मंगलवार

श्रा. व. १४

✽ श्रावक धर्म साधु धर्म का पूर्वाभ्यास है । 'श्रावक धर्म का पालन करते-करते मैं साधु-धर्म के योग्य बनूँ' - ऐसी श्रावक की भावना होती है ।

✽ संसार का चक्र चालु रहता है - प्रभु की आज्ञा की विराधना से ।

संसार का चक्र रुकता है - प्रभु की आज्ञा की आराधना से ।

आश्रव संसार का मार्ग है, संवर मुक्ति का मार्ग है ।

यह भगवान की आज्ञा है । निःशंक बन कर प्रभु की यह आज्ञा पालन करने वाला अवश्य ही संसार से तर जाता है ।

✽ जब तक चित्त में संक्लेश हो तब तक स्थिरता नहीं आती । स्थिरता नहीं आने के कारण भगवान में मन नहीं लगता ।

हिंसा आदि के कारण से गृहस्थों का मन संक्लिष्ट रहता है । अतः संयम का सम्पूर्ण पालन नहीं हो सकता । यदि हो सकता होता तो तीर्थंकर अथवा चक्रवर्ती संसार का परित्याग नहीं करते ।

आत्मा के अनन्त खजाने से वंचित रखने के लिए ही मोहराजा ने आपको एक दो लाख या करोड़ का प्रलोभन दिया है ।

कहे कलापूर्णसूरि - १ ***** १४३

हिंसा से चित्त कलुषित होता है, अहिंसा से निर्मल होता है । हिंसा अर्थात् पर-पीडन ।

प्रमाद भी हिंसा है, विशेष कर के साधुओं के लिए ।

गृहस्थों के लिए आरम्भ । पर-पीडन अर्थात् हिंसा ।

पृथ्वी, पानी, वनस्पति आदि का भोग लेकर हम जीवित हैं और आवश्यकता पड़ने पर उसके लिए क्या कुछ नहीं करना ? मनुष्य का कर्तव्य है कि वह स्वयं से अशक्त की रक्षा करे ।

प्रणिधान का अर्थ है - स्वयं से हीन जीवों के प्रति करुणा के साथ भावार्द्र बनता मन ।

अधिक गुणवान के साथ प्रमोद । समस्त जीवों के साथ मैत्री ।

स्वजनों का सम्बन्ध आप छोड़ते नहीं है । भगवान कहते हैं - जगत् के समस्त जीव आपके स्वजन ही हैं । उनके साथ आप सम्बन्ध-विच्छेद कर नहीं सकते । आप यह नहीं कह सकते कि जीवों के साथ मेरा क्या लेना-देना ? आप अपने उत्तरदायित्व से हट सकते नहीं । यदि आप हटने का प्रयत्न करो तो आपको दुगुना दण्ड मिलेगा ।

जीव + अस्ति + काय = जीवास्तिकाय ।

अनन्त जीवों का + अनन्त प्रदेशों का + समूह = जीवास्तिकाय ।

इनमें से एक भी जीव अथवा एक जीव का एक प्रदेश भी शेष रह जाये तो 'जीवास्तिकाय' नहीं कहलायेगा । ऐसा भगवती सूत्र में भगवान ने कहा है ।

भगवान ने किसी को बाकी नहीं रखा । हमने सबको बाकी रखा, केवल अपनी आत्मा को छोड़ कर ।

जीव मात्र के प्रति स्नेहभाव - आत्मभाव- मैत्रीभाव रखे बिना ध्यान नहीं लग सकता । वह ध्यान नहीं, ध्यानाभास हो सकता है ।

समस्त जीवों के साथ आत्मवत् व्यवहार करना - 'आत्मवत् सर्व भूतेषु ।' । ऐसा जैनेतर भी कहते हैं ।

निर्मलता के बिना स्थिरता नहीं आती । स्थिरता के बिना तन्मयता नहीं आती ।

श्रावक-जीवन में ध्यान नहीं किया जाता है, यह बात नहीं है । परन्तु निश्चल ध्यान नहीं आता । ध्यान-अभ्यास अवश्य हो सकता है । संयम से ही निश्चल ध्यान आता है । निर्वात दीप जैसे ध्यान के लिए तो संयम ही चाहिये ।

अहिंसा से पर जीवों के साथ सम्बन्ध

संयम से स्व के साथ सम्बन्ध सुधरता है ।

जीवों की हिंसा करके आप अपने ही भाव-प्राणों की हत्या करते हैं । करुणा, कोमलता, सम्यग्दर्शन के गुण हैं । उनका नाश होता है । जितने अंशों में अहिंसा होती है, उतने अंशों में निर्मलता आती ही है ।

दीक्षा अंगीकार करने से पूर्व मैंने पत्र से पूछा : - 'क्या मुझे ध्यान के लिए चार-पांच घंटे मिलेंगे ?'

पू. कनकसूरिजी ने उत्तर दिया, 'तो तुम गुफा में चले जाओ ।' परोपकार स्वोपकार से अलग नहीं है । ये दोनों एक ही हैं । इसी कारण तीर्थंकर देशना देकर परोपकार करते रहते हैं ।

अहिंसा : सम्यग्दर्शन ।

संयम : सम्यग् ज्ञान ।

जीवाजीवे अयाणंतो... कहं सो नाहीइ संजमं ?

तप : सम्यक्चारित्र

उपकरणों को जयणापूर्वक लेने-रखने की क्रिया 'अजीव संयम' है ।

सत्रह असंयमों को जीतने का नाम संयम है ।

पांच इन्द्रिय, चार कषाय, पांच अव्रत, तीन योग = १७. तीन योग गृहस्थ जीवन में धर्म-प्रवृत्ति करो तभी शुभ, अन्यथा नहीं ।

✱ अठारह हजार शीलांग स्मरण रखने सर्वथा सरल है । देखो -

एकेन्द्रिय के पांच भेद ।

बेइं.-तेइं.-चउ.-पंचें. + अजीव = दस प्रकार से जयणा करनी ।

एक दांडा लेते समय जयणा न की तो अठारह हजार में

से सीधे दो हजार चले जाते हैं ।

अजीव के साथ भी जयणापूर्वक व्यवहार करना है । पू. देवेन्द्रसूरिजी को हमने देखे हैं । संध्या होने पर पोथी आदि को लपेट कर जयणापूर्वक रख देते ।

साधु आहार आदि चार संज्ञा का विजेता होता है । संज्ञा के द्वारा संचालित पशु होते हैं, साधु तो संज्ञा पर नियन्त्रण रखते हैं ।

चार संज्ञा से दस को गुणा करने पर $10 \times 4 = 40$

40×5 इन्द्रिय = 200

200×10 यति धर्म = 2000 (इसलिए मैंने दांडा का पड़िलेहन न करने पर 2000 चले जाते हैं यह कहा था)

2000×3 योग = 6000

6000×3 (करण, करवण, अनुमोदन) = 18 हजार ।

ये 18000 शीलांग हैं । अठारह हजार शीलांग के लिए अन्य भी अनेक रीतियां हैं ।

❖ आप दूसरे को अभयदान दो तो आप स्वयं निर्भय बनोगे ही ।

पालीताना में कुन्दकुन्द विजयजी ने कालग्रहण लेने के लिए हाथ में मोर-पंख लेने पर छिपा हुआ साप भाग गया । आज्ञा के पीछे के ये रहस्य हैं ।

हम आहारी हैं, प्रभु अणाहारी हैं । तप करने पर हम प्रभु के साथ सम्बन्ध बांधते हैं । इसीलिए उपवास के दिन मन तुरन्त ही चिपकता है, क्योंकि चित्त निर्मल होता है । तप के साथ जप किया जाये तो सोने में सुगन्ध मिलती है ।

भक्ति

❖ दूर स्थित भगवान को हृदय में धारण करने की कला भक्ति है । भगवान चाहे जितने समर्थ हों, परन्तु आखिर वे भक्ति के आधीन हैं ।

भगवान की अनन्त करुणा समस्त जीवों पर बह रही है । उन्होंने हमारे साथ सम्बन्ध-विच्छेद नहीं किया । विच्छेद करें भी

कैसे ? उन्हें भगवान बनाने वाले समस्त जीव ही हैं । हम भक्ति करें और भगवान की ओर से कोई प्रतिभाव न आये, ऐसा बनेगा ही नहीं ।

भक्त जब हठ पकड़ता है तो भगवान को आना ही पड़ता है । सचमुच तो आये हुए ही है । हम आये हुए भगवान को पहचानते नहीं हैं । भक्त हठ के द्वारा आये हुए भगवान को पहचान लेने की कला जान लेता है ।

अनुत्तर विमान-वासी देव के प्रश्न का उत्तर भगवान द्रव्य मन का प्रयोग करके देते हैं, तो हमें कुछ भी उत्तर न दें, ऐसा कैसे सम्भव है ?

भगवान कृष्ण अथवा महादेव के रूप में नहीं आते, परन्तु वे आनन्द रूप में आते हैं । भगवान आनन्द-मूर्ति हैं, सच्चिदानन्द हैं । जब जब आप आनन्द से सराबोर हो जाते हैं, तब-तब आप समझ लें कि भगवान ने मेरे भीतर प्रवेश किया है ।

भगवान की शर्त इतनी ही है कि आप मेरा ध्यान धरते समय किसी अन्य का ध्यान मत धरना । यदि एकाग्रता पूर्वक आप मेरा ही ध्यान धरेंगे तो मैं आने के लिए तत्पर ही हूँ । मैंने कब इनकार किया ? सचमुच तो आपकी अपेक्षा मैं अधिक आतुर हूँ ।

* * * * *

रह चलते हुए ज्यों ही पूज्य साहेबजी के कालधर्म के समाचार मिले त्यों पांव ठिठक गये, मन रुक-सा गया । विश्वास ही नहीं हो पाया । मैंने अन्य महात्माओं से बात की तो विश्वास हुआ ।

पूज्य साहेबजी बहुत अच्छे थे । उनकी की भी याद आती है । उनकी सरलता, समता, सहिष्णुता भी याद आई । उनकी सात्विकता और आध्यात्मिकता भी अनूठी थी । श्री शंखेश्वरजी में पूज्य साहेबजी श्री जंबूविजयजी महाराज के पास में नंदीसूत्र का स्वाध्याय करते थे ।

- धर्मधुंधारसूरि

१६-२-२००२



११-८-१९९९, बुधवार
 श्रा. व. ३०

✽ प्रभु के प्रति विनय, गुरु की सेवा आदि ज्यों ज्यों बढ़ती है, त्यों-त्यों आत्म-गुण प्रकट होते हैं और प्रकटे हुए निर्मल बनते हैं ।

प्रभु के अनुग्रह के बिना एक भी गुण हम प्राप्त नहीं कर सकते ।

✽ सम्यग्दर्शन आदि तीनों साथ मिलें तो ही मुक्ति का मार्ग बनता है । एक भी कम होगा तो नहीं चलेगा ।

रत्नत्रयी की प्राप्ति तत्त्वत्रयी के द्वारा होती है ।

तत्त्वत्रयी (देव-गुरु-धर्म) रत्नत्रयी को खरीदने की दुकानें हैं । वहां से क्रमशः दर्शन, ज्ञान, चारित्र मिलते हैं ।

सीरा (हलवा) तैयार करने के लिए आटा, घी, शक्कर चाहिये, उस प्रकार मोक्ष प्राप्त करने के लिए सम्यग्दर्शन आदि तीनों चाहिये ।

भगवान कहते हैं - 'यदि आप मेरी भक्ति करना चाहते हैं तो मेरे परिवार (समग्र जीवराशि) को अपने अन्तर में बसा लें । उसके बिना मैं प्रसन्न होने वाला नहीं हूं ।

✽ प्रश्न था कि पाप के उदय से दीक्षाग्रहण करने की इच्छा होती है, सुख छोड़ कर दुःख में पड़ने की इच्छा होती है ।

घर-घर भिक्षार्थ घूमते, लोच कराते, चिलचिलाती धूप में नंगे पांव घूमते जैन साधु को देखकर कोई अजैन व्यक्ति पाप का उदय मान ले, यह स्वाभाविक है ।

आचार्यश्री उत्तर देते हुए कहते हैं कि जो भोगते हुए संक्लेश हो वह पाप, संक्लेश न हो वह पुण्य । गृहस्थ को तो पल-पल में संक्लेश है । सर्व प्रथम गृहस्थ को धन चाहिये । धन की कोई खान नहीं है । व्यापार, कृषि अथवा मजदूरी सर्वत्र कठोर परिश्रम करना पड़ता है तो क्या यहां संक्लेश नहीं होता ? क्या कोई ऐसा कह सकेगा कि धन उपार्जन करते समय संक्लेश नहीं होता है ? अशान्ति नहीं होती है ? आपने ही कहा है कि जहां संक्लेश होता है वहां दुःख है । तो अब गृहस्थ के लिए पाप का उदय है कि नहीं ?

चाहे जितना मिला हो, फिर भी अधिक प्राप्त करने की तृष्णा है तो यह संक्लेश हुआ कि नहीं ? इच्छा, आसक्ति, तृष्णा - ये सब संक्लेश के ही घर हैं ।

साधु को ऐसा संक्लेश नहीं होता । सब परिस्थितियों में सन्तोष होता है । सन्तोष ही परम सुख है ।

जिस लक्ष्मी के प्रति आसक्ति हो तो मान लें कि वह पापानुबंधी पुण्य के प्रभाव से मिली हुई है ।

मूर्च्छा स्वयं दुःख है । मूर्च्छा महान् संक्लेश है । इस अर्थ में बड़े राजा-महाराजा भी दुःखी हैं । व्यक्ति जितना बड़ा होगा, संक्लेश भी, उतना ही बड़ा होगा, संक्लेश जितना बड़ा होगा, दुःख भी उतना ही बड़ा होगा । आप बड़े-बड़े नेताओं का जीवन देख लीजिये ।

प्राचीन काल में राजाओं को चिन्ता रहती, 'शत्रु राजा ने आक्रमण कर दिया तो ? चलो, बड़ा किला बना लें, शत्रु को ललकारें ।'

आज प्रतिपक्षी राजनेता को पराजित करने के लिए, उसे चुनौती देने के लिए, मत (वोट) प्राप्त करने के लिए, विपक्षी देश को परास्त करने के लिए, अणुबम बनाना आदि अनेक संक्लेश दृष्टिगोचर होते ही हैं ।

प्रश्न : साधुत्व इतना ऊंचा है फिर भी उसे ग्रहण करने

वाले अल्प होने का कारण क्या ?

उत्तर : जौहरी की दुकानें अल्प ही होती हैं । सब्जी की दुकानें ही अधिक होती हैं । फिर उन अल्प साधुओं में भी उच्चकोटि का साधुत्व पालने वाले दो-तीन ही होते हैं । यह काल ही ऐसा है । महाविदेह क्षेत्र में करोड़ों होते हैं ।

मैं संख्या-वृद्धि का हिमायती नहीं हूँ । जिन्हें नहीं सम्हाला जा सके, उन्हें रखना कहाँ ? पशुओं के लिए तो पांजरपोल हैं, परन्तु यहाँ पांजरपोल नहीं हैं ।

पू. भद्रकरविजयजी पंन्यासजी ने कहा था, 'किसी बात की चिन्ता न करें । केवली ने जो देखा था वही हो रहा है । क्या हम केवली से भी बड़े हैं ? उनसे अन्यथा होना चाहिये, ऐसा सोचने वाले हम कौन ?'

आज घर घर में टेलिविज़न है । बचपन से ही टेलिविज़न देखने वाली वर्तमान पीढ़ी हमारी पंक्ति में कहाँ बैठेगी ?

ऐसे युग में इतने व्यक्ति दीक्षित हो रहे हैं यह भी सौभाग्य की बात है । बड़े-बड़े व्यापारी सुख से भोजन भी नहीं कर सकते, प्राप्त सुख का उपभोग भी नहीं कर सकते । 'नहीं मिला' की चिन्ता में जो 'है' वह भी चला जाता है । ऐसी चिन्ता वाला दीन होता है । उदर-पूर्ति करने जितना भी अनेक व्यक्तियों को नहीं मिलता । अनेक व्यक्तियों को व्याज की चिन्ता रहती है ।

ऊपर से अत्यन्त आकर्षक लगने वाले भी बहुत लोग भीतर खोखले हो चूके होते हैं । जब वे हमारे पास अपनी वेदना व्यक्त करते हैं तब उनके सम्बन्ध में ख्याल आता है ।

इसे यदि पुन्योदय कहेंगे तो पापोदय किसे कहेंगे ?

जिसके द्वारा अनासक्ति प्राप्त हो, संक्लेश न हो, वह पुन्यानुबंधी पुन्य कहलाता है । उदाहरणार्थ शालिभद्र, धन्नाजी आदि ।

अध्यात्मसार - भक्ति

भगवान की भक्ति कदापि निष्फल नहीं जाती ।

'भक्ति बढ़ने के साथ आत्मा के आनन्द की, आत्मानुभूति की शक्ति बढ़ती है' - ऐसा देवचन्द्रजी का स्वानुभव है ।

सब कुछ सुलभ है, भक्ति दुर्लभ है । महा पुन्योदय से ही भगवान के प्रति प्रेम जागृत होता है, उसके बाद भक्ति बढ़ती है और फिर उनकी आज्ञापालन करने की इच्छा होती है ।

प्रभु के प्रति सच्चा प्रेम भक्त को साधु बनाता है, अन्त में प्रभु बनाता है, इसमें आश्चर्य ही क्या है ?

ईयल भ्रमरी के ध्यान से भ्रमरी बनती है, उस प्रकार प्रभु का ध्यान करने वाला प्रभु बनता है । वैसे भी प्राकृतिक नियम है : जो जिसका ध्यान करता है, वह वैसा बनता ही है । जड़ का ध्यान करने वाला यहां तक जड़ बनता है कि वह एकेन्द्रिय में पहुंच जाता है । आत्मा की सब से अज्ञानावस्था एकेन्द्रिय में है । मर कर ऐसा वृक्ष बने जो अपने मूल निधान पर फैलाता है । अमुक वनस्पति के लिए कहा जाता है कि उसकी जड़ों के नीचे निधान होता है ।

आगम से भाव निक्षेप से, जितने समय तक आप प्रभु का ध्यान करते हैं, उतने समय तक आप प्रभु ही हैं ।

उस पुत्र-वधू ने आगन्तुक को कह दिया कि सेठ मोची वाड़े में गये हैं । वास्तव में तो सेठ सामायिक में थे, परन्तु उनका मन जूतों में था, मोची वाड़े में था वह बहू समझ गई थी ।

जहां हमारा मन होता है, उस रूप में ही हम होते हैं ।

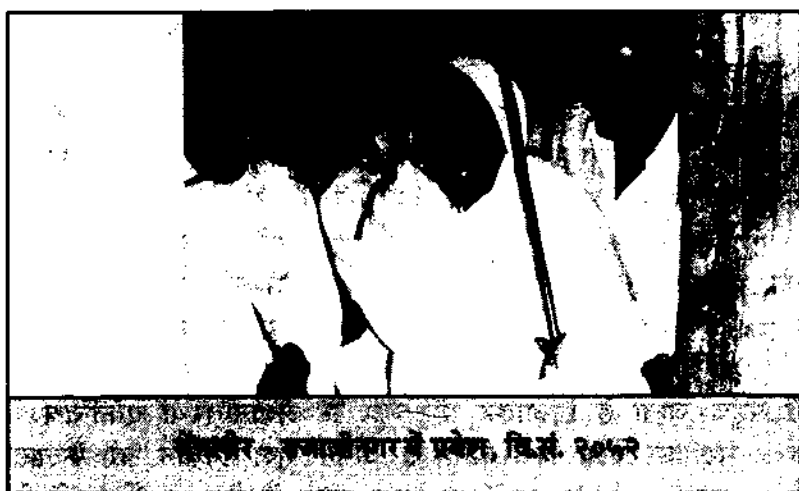
♦ ♦ ♦ ♦ ♦

'हमणा पोणा नव वागे ज आघातजनक समाचार मळ्या के पू. आचार्यश्री कलापूर्णसूरिजी महाराज केशवणा मुकामे सवारे ७.२० वागे काळधर्म पाम्या छे' समाचार सांभळी दिल धडकी गयुं... खेद थयो... वर्तमानकाळमां पहेली हरोळना श्रेष्ठ आचार्य भगवन्त परमात्माना अद्भुतभक्त, जब्बर पुण्यना स्वामी - आराधक आचार्यदेवनी श्रीसंधने न पुराय तेवी खोट पडी गई. अनेक अमंगळ एंघाणीओमां पूज्यश्रीनी उपस्थिति ज अमंगळोने दूर करनारी हती ।

- एज... उपा. विमलसेनविजय

पंन्यास नंदीभूषणविजय

म.सु. ५, मलाड.



१२-८-१९९१, गुरुवार

श्रा. सु. १

✽ जो ग्रन्थ हम पढ रहे हों, उसके प्रणेता के प्रति आदर बढ़ने से हम उस ग्रन्थ के रहस्यों को समझ सकते हैं ।

वास्तव में तो ज्ञान नहीं पढना है, विनय पढना है । गुरु नहीं बनना हैं, शिष्य बनना है ।

इसमें ज्ञान की अपेक्षा विनय आगे बढ जाये, तो मैं क्या करूं ? जानियों ने ही विनय को इतनी प्रतिष्ठा दी है । आप दशवैकालिक, उत्तराध्ययन आदि का अवलोकन कर लें ।

डीसा में एक माली नित्य व्याख्यान में आता । एकबार उसने कहा, 'जिन प्रश्नों को पूछना चाहता हूं, उनका उत्तर स्वयमेव व्याख्यान में मिल जाता है । ऐसा अनेक बार मुझे अनुभव हुआ है । यह प्रभाव व्यक्ति का नहीं, जिनवाणी का प्रभाव है ।

जिनवाणी के प्रति बहुमान की वृद्धि होनी चाहिये ।

अब तक संसार में क्यों भटके ?

'जिणवयणमलहंता' जिन-वचन प्राप्त किये बिना ।

✽ एक ऐसा मत भी है जो मानता है कि साधु की अपेक्षा गृहस्थाश्रम श्रेष्ठ है । 'धन्यो गृहस्थाश्रमः ।' पाप के उदय से उसे

छोड़ने की इच्छा होती है। ऐसे मत का हरिभद्रसूरिजी ने 'पंचवस्तुक' में निराकरण किया है।

अठारहों पापों का त्याग करने वाले को पुण्यशाली कहें कि पापी ? यह पुण्योदय है कि पापोदय ? हरिभद्रसूरि प्रश्न को मूल में से पकड़ते हैं - पुण्य क्या है ? पाप क्या है ? असंक्लेश अर्थात् पुण्य, संक्लेश अर्थात् पाप। गृहस्थों के पास चाहे जितनी समृद्धि हो, फिर भी संक्लेश न हो, ऐसा होता ही नहीं है। समृद्धि अधिक होगी तो संक्लेश अधिक होगा। जहां संक्लेश हो, आसक्ति हो, वहां पुण्योदय कैसा ?

सामग्री में आसक्ति हो तो समझें पापानुबंधी पुण्य। चक्रवर्ती ब्रह्मदत्त का पुण्य कितना था ? समृद्धि कितनी थी ? परन्तु आसक्ति कितनी थी ? वह आसक्ति उसे कहां ले गई ? सातवीं नरक में ले गई।

‘परस्पृहा महादुःखं, निःस्पृहत्वं महासुखम्’

सुख एवं दुःख की यह सीधी, सरल व्याख्या है।

इच्छा से प्राप्त होने वाली वस्तु दुःख ही प्रदान करती है। बिना इच्छा के सहज ही प्राप्त हो जाये उसमें निर्दोष (अनासक्त) आनन्द होता है।

संसार की प्राप्ति इच्छा के द्वारा होती है।

इच्छा का त्याग करने से मोक्ष प्राप्त होता है। वास्तव में तो इच्छा का त्याग ही मोक्ष है।

इच्छा स्वयं बन्धन है, संसार है। इच्छा का त्याग मोक्ष है।

❀ अभी छः महिने पूर्व नई मुंबई नेरूल में अंजन शलाका के समय छोटे बालकों ने एक नाटक किया था - 'टैन्शन-टैन्शन' जिसमें बताया था कि सभी (वकील, डाक्टर, श्रेष्ठी) टैन्शन वाले हैं, केवल साधु ही टैन्शन मुक्त हैं।

दीक्षित को कोई टैन्शन है ? नो टैन्शन, नो टैन्शन, नो टैन्शन।

विषयों की इच्छा भी दुःखदायी है तो विषयों का सेवन तो पता नहीं क्या करेगा ?

जिस वृक्ष की छाया भी कष्टदायी हो तो, उस वृक्ष के फलों की बात ही क्या ?

निर्णय आपको करना है - स्पृहा चाहिये कि निःस्पृहा ?
एकान्त में थोड़ा सोचें, आत्मा को पूछें ।

जो टैन्शन, जो प्रयत्न, जो कष्ट आप संसार के मार्ग में सहन करते हैं, उसमें से थोड़ा सा पुरुषार्थ यदि साधना के मार्ग में किया जाय तो ?

प्रश्न हो सकता है : संसार की जिस प्रकार इच्छा है, उस प्रकार मोक्ष की भी इच्छा है । तो फरक क्या पड़ा ?

हम कहते हैं - आप 'मोक्ष क्या है' यह भी समझे नहीं हैं । मोक्ष अर्थात् इच्छा का त्याग । समस्त प्रकार की इच्छाएं मिटने पर ही मोक्ष प्राप्त होता है ।

इच्छा और मोक्ष ? दोनों परस्पर विरोधी हैं । हां, बहुत तो आपकी भाषा में इतना कहा जा सकता है कि मोक्ष अर्थात् इच्छा रहित होने की इच्छा । यद्यपि बाद में तो इच्छा रहित बनने की इच्छा का भी त्याग करना पड़ता है ।

असद् इच्छा को जीतने के लिए सद् इच्छा की आवश्यकता होती है । दीक्षा ग्रहण करके अध्ययन करने की, तप करने की या साधना की इच्छा होनी ही चाहिये ।

प्रश्न : साधु इतने कष्ट सहन करे तो उन्हें आत्मिक अनुभूति का सुख, अनारोपित सुख कैसा होता है ? कितना होता है ?

उत्तर : संसार का सुख आरोपित है । किसी भी वस्तु में इष्ट-अनिष्ट की कल्पना अविद्याजनित है । सचमुच, कोई भी वस्तु सुख या दुःख देने वाली नहीं है । हमारी अविद्या वहां सुख या दुःख का आरोपण करती है । इसे आरोपित सुख कहते हैं ।

इस दृष्टि से साता वेदनीय - जनित सुख भी ज्ञानियों की दृष्टि में सुख नहीं है, परन्तु दुःख का ही दूसरा स्वरूप है ।

जो आपको अव्याबाध आत्मिक सुख से रोकता है, उस सुख को (वेदनीय - जनित सुख को) श्रेष्ठ कैसे माना जाये ?

आपके एक करोड़ रुपये दबा कर कोई व्यक्ति केवल पांच-दस रुपये दे कर आपको प्रसन्न करने का प्रयत्न करे तो क्या आप प्रसन्न होंगे ? यहां हम वेदनीय कर्म द्वारा प्रदत्त सुख से प्रसन्न हो रहे हैं । ज्ञानियों की दृष्टि में हम अत्यन्त दयनीय स्थिति में हैं ।

साधु का सुख अनारोपित होता है ।

ऐसा सुख कितना होता है उसका भगवती में वर्णन किया गया है । एक वर्ष में तो अनुत्तर विमान के देवों के सुख से भी बढ जाये, वैसा सुख साधु के पास होता है ।

अध्यात्मसार - भक्ति

पानी पिये तो शीतलता प्राप्त होती ही है, पानी के सरोवर के पास बैठने मात्र से भी शीतलता प्राप्त होती है । इसी प्रकार से भगवान के सान्निध्य मात्र से इन्द्रभूति गौतम के अहंकार आदि के ताप टल गये ।

यहां आपको उष्णता की अनुभूति होती है कि शीतलता की ? भगवान के साथ निकटता का अनुभव करने से इस काल में भी हम आत्मिक सुख की शीतलता का अनुभव कर सकते है ।

इसीलिए यशोविजयजी कहते हैं - 'भक्ति भगवति धार्या ।'

यदि दृढतापूर्वक भक्ति की धारणा करें तो भवान्तर में भी वह साथ चलती है । धारणा का काल असंख्यात वर्ष बताया गया है । वज्रनाभ चक्रवर्ती के भव में दीक्षा अंगीकार करके आदिनाथ का जीव अनुत्तर में गया । उसके बाद वे तीर्थंकर के रूप में अवतरित हुए । वहां अध्ययन किया हुआ चौदह पूर्व का ज्ञान साथ चला । यह धारणा है । (अष्टांग योगमें 'धारणा' छद्म योग है ।)

जब जब अरति हो, तब तब आत्म-निरीक्षण करें कि किस कारण से मुझे यह हो रहा है ? राग से, द्वेष से या मोह से ?

जो दोष दृष्टिगोचर हो रहा हो, उसके निवारणार्थ उपाय सोचें ।

तीनों दोषों की एक ही औषधि बताऊँ ? प्रभु की भक्ति ! भक्ति के प्रभाव से तीनों दोष मिट जाते हैं । भक्ति अर्थात् पूर्ण शरणागति ! सम्पूर्ण समर्पण !

विनय समस्त गुणों की जननी है । भक्ति परम विनय स्वरूप है ।

प्रभु के प्रति हमें व्यक्ति-राग नहीं है, गुणों का राग है । शनैः शनैः हमें प्रभु के गुणों के प्रति प्रगाढ राग होता जायेगा ।

भक्ति की धारणा अत्यन्त ही दृढ बनायें ।

.



१३-८-१९९९, शुक्रवार

श्री. सु. २

‘एअरपोर्ट’ वालों का यही धंधा है : जिसे जहां जाना हो वहां की टिकिट देकर वहां पहुंचा देना । तीर्थकरों का यही व्यवसाय है : जिसे मोक्ष में जाना हो उसका उत्तरदायित्व हमारा ।

‘एअर-सर्विस’ की टिकिट के लिए पैसे चाहिये । यहां पैसों का त्याग चाहिये । अरे, इच्छा मात्र का भी त्याग चाहिये ।

आज-कल ‘ट्रेनों’ के संघ निकलते हैं न ? टिकिट आदि का प्रबन्ध संघपति की ओर से होता है । मिलापचन्दजी मद्रास वाले ने एक हजार श्रावकों को रेलगाडी से सम्मेलनशिखरजी आदि की यात्रा कराई थी । डेढ करोड रुपये खर्च हुए थे । यहां भी ऐसा ही है । समस्त उत्तरदायित्व भगवान का है ।

✽ भगवान का शासन हमें सहनशील, साधनाशील एवं सहायताशील बनाता है । जिस व्यक्ति में ये तीन गुण हों उसे ही साधक कहा जाता है ।

साधु को प्रतिकूलता में अधिक सुख प्रतीत होता है । संसारी से उल्टा ‘यदा दुःखं सुखत्वेन’, दुःख जब सुख रूप प्रतीत होता है, तब ही साधना का जन्म हुआ माना जाता है ।

१५६ ***** कहे कलापूर्णसूत्र - १

✿ सन्निपात के रोगी को आप औषधि देने के लिए जाये और वह आपको थप्पड़ भी लगा दे तो भी आप उस पर क्रोध नहीं करते, उसकी दया का ही चिन्तन करते हैं। इसी प्रकार से सम्यग्दृष्टि व्यक्ति अपराधी के प्रति भी दया का चिन्तन करते हैं। क्रोध की तो बात ही कहां ? बेचारा कर्माधीन है, इस का दोष नहीं है, यह तो करुणा - पात्र है, क्रोध-पात्र नहीं।

✿ भगवान का साधु भिखारी नहीं है, चक्रवर्तियों का भी चक्रवर्ती है। उसे जो सुख प्राप्त है, वह देवेन्द्र या चक्रवर्ती के लिए भी दुर्लभ है।

परन्तु वे साधु सहन करने वाले, साधक और सहायक होने चाहिये।

✿ अहिंसा से पुण्यानुबंधी पुण्य होता है।

संयम से संवर और

तप से निर्जरा होती है। यह पुन्य आदि तीनों नौ तत्त्वों में उपादेय है। इन तीनों के मिलन से मोक्ष होता है।

अहिंसा का पालन करें तो संयम पाला जा सकता है।

संयम का पालन करें तो तप पाला जा सकता है। अहिंसा के लिए संयम, संयम के लिए तप चाहिये। इन तीनों में कार्य-कारण भाव है।

✿ प्रमाद गति को रोकने वाला है, फिर वह गति चाहे द्रव्य हो या भाव ! द्रव्य मार्ग की गति और मोक्ष मार्ग की गति को प्रमाद रोकता है।

✿ रामचन्द्रमुनि केवलज्ञान की प्राप्ति की तैयारी में थे तब सीतेन्द्र ने सोचा, 'यदि ये पहले मोक्ष में जायेंगे तो ? नहीं, साथ-साथ मोक्ष में जाना है।' उपसर्ग किये पर रामचन्द्रजी तो ध्यान में अटल रहे, केवलज्ञान प्राप्त किया। सीता पीछे रह गये।

साधना मार्ग में आगे बढ़ने वाला पीछे वाले की प्रतीक्षा करके खड़ा नहीं रह सकता। पीछे वाले को ही दौड़ना रहा।

✿ हम प्रतिकूलता मिटाने का प्रयत्न कर रहे हैं, परन्तु प्रतिकूलता के प्रति घृणा को मिटाने का हम प्रयत्न नहीं करते। परिणाम यह होता है कि प्रतिकूलता मिटती नहीं और अनुकूलता मिलती नहीं।

बलसाड से पूर्व 'अतुल' में मैं गिर पड़ा। भयंकर पीड़ा होने लगी, परन्तु चौबीस घंटे तक तो किसी को बात तक नहीं की।

यदि प्रतिकूलता सहन करने की आदत न हो तो ?

प्रतिकूलता सहन करने की आदत से अन्त में परम सुख का, अनुभव होता है। तेजोलेश्या की अभिवृद्धि का अनुभव इसी जन्म में हो सकता है।

'तेजोलेश्याविवृद्धिर्या...

बारह महीने के पर्याय में तो संसार के सुख की मर्यादा आ गई। अनुत्तर विमान का सुख उच्च कक्षा का है, परन्तु साधु का सुख तो उससे भी आगे जाता है। उसकी कोई मर्यादा नहीं है। स्वयंभूरमण समुद्र का तो किनारा है, परन्तु आत्मिक सुख का कोई किनारा ही नहीं है। तेजोलेश्या अर्थात् सुखासिका !

'मगदयाण' के पाठ में मार्ग का अर्थ सुखासिका किया है। सुखासिका अर्थात् सुखड़ी ! आत्मा जिसका आस्वादन प्राप्त कर सके वह सुखासिका ! अध्यवसायों की निर्मलता से ऐसी सुखासिका का आस्वाद मिलता है।

अन्य सुख संयोगों से मिलते हैं, इच्छा से मिलते हैं। यह सुख संयोगों के बिना, इच्छा के बिना मिलता है। अरे, मोक्ष की इच्छा भी चली जाती है।

'मोक्षोस्तु वा मास्तु'

- हेमचन्द्रसूरि

मोक्ष का सुख यहीं प्राप्त होता है, अतः अब उसकी परवाह नहीं है।

भक्ति की यह खुमारी है अथवा तो कहो कि आत्म-विश्वास है : मोक्ष प्राप्त होगा ही। अब किस बात की चिन्ता है ?

ऐसे सुखी साधु को पाप का उदय मानना क्या बुद्धि का दिवाला नहीं है ? पाप के उदय से गृहस्थ जीवन मिला है। चारित्र मोहनीय कर्म प्रकृति अशुभ कि शुभ ?

मुक्ति का सुख परोक्ष है। जीवन्मुक्ति का सुख प्रत्यक्ष है। जिसे मुक्ति का सुख चाहिये, उसे जीवन्मुक्ति के सुख का अनुभव करने के लिए प्रयत्न करना चाहिये। उसके लिए प्रभु-भक्ति आवश्यक है।

अध्यात्मसार - भक्ति

तस्मिन्(परमात्मनि)परमप्रेमरूपा भक्तिः - नारदीय भक्तिसूत्र ।

जीव का मुख्य लक्षण ज्ञान है । उससे ही वह अजीव से भिन्न बनता है । जहां ज्ञान होता है वहां प्रेम भी होगा ही । प्रेम प्रतीक है । ज्ञान स्वरूप है । चेतन अन्य चेतन के साथ प्रेम करे, परन्तु अज्ञानी जीव शरीर के साथ प्रेम कर बैठता है । शरीर पुद्गल है । जो प्रेम प्रभु के साथ करना था, वह पुद्गल के साथ हो गया । सर्वथा विपरीत हो गया । 'जीवे कीधो संग, पुद्गले दीधो रंग ।' बात खतम । आत्मा दूषित हो गया ।

जीव प्रेम-रहित कदापि बन नहीं सकता । वह प्रेम कहीं न कहीं तो होने वाला ही है ।

कहीं मानना मत, वीतराग भगवान प्रेम-रहित बन गये हैं । प्रभु का प्रेम तो क्षायिक भाव का बन कर पराकाष्ठा पर पहुंच गया है । परम वात्सल्य एवं परम करुणा से वह पहचाना जाता है ।

सम्यग्दृष्टि के लक्षणों में यह प्रेम ही अभिव्यक्त हुआ है । शम, करुणा, अनुकम्पा आदि प्रेम ही व्यक्त करते हैं । दूसरों को स्वयं की दृष्टि से देखना प्रेम है । सिद्ध भगवान सभी को अपने समान पूर्ण रूप से देखते हैं । क्या यह कम प्रेम है ? प्रेम के बिना दया, करुणा, अनुकम्पा आदि हो ही नहीं सकते । हमें अब प्रेम का स्थान बदलना है । अब प्रेम पुद्गल से प्रभु की ओर ले जाना है ।

प्रभु को प्राप्त करने के चारों योगों में प्रेम दृष्टिगोचर हो रहा है । प्रीति, भक्ति में तो स्पष्ट रूप से प्रेम है ही ।

वचन-आज्ञा में भी प्रेम स्पष्ट है ही । प्रेम न हो उसकी बात क्या आप मानेंगे ? वचन अर्थात् आज्ञा-पालन ।

असंग - जिसके प्रति प्रेम हो उसके स्वरूप के प्रति भी प्रेम होगा ही । जिसके प्रति प्रेम हो उसके साथ ही एकमेक हुआ जा सकता है । असंग अर्थात् पुद्गल का संग त्याग कर प्रभु के साथ एकमेक बन जाना ।

मित्र के प्रेम या शादी के प्रेम में भी ऐसा ही है ।

दूसरों का प्रेम छोड़ने पर ही प्रभु के साथ मिल सकते हैं ।
चौथे योग का केवल नाम असंग है, परन्तु सचमुच तो प्रभु का संग ही है । असंग तो केवल पुद्गल से करना है ।

‘प्रभु ! हमारे शत-शत पुन्य से अरूपी होने पर भी आप रूप धारण करके आये हैं’ ये प्रेम के उद्गार हैं ।

अभी जिज्ञासु साधक मेजिस्ट्रेट आये थे । प्रकृति का नियम है कि जिसे जो चाहिये वह उसे प्राप्त करा देती है । यदि नहीं मिले तो साधना में कमी समझे । साधना के लिए कोई मार्ग-दर्शन न हो तो प्रभु स्वयं आकर मार्गदर्शक बनते हैं ।

उन्होंने कहा, ‘मैं मुसलमान हूँ । अपने धर्म के अनुसार मैं निरंजन-निराकार का ध्यान करता हूँ, परन्तु पकड़ नहीं सकता हूँ । मन कुछ समय में छटक कर चला जाता है ।

मैंने कहा : उपाय बताऊँ ?

हम संसारी रूपी हैं । अरूपी निरंजन को भला हम कैसे पकड़ सकते हैं ? अतः हमें साकार-रूपी प्रभु को पकड़ कर प्रारम्भ करना चाहिये ।’

उन्होंने यह बात स्वीकार कर ली । शंखेश्वर पार्श्वनाथ का चित्र भी स्वीकार कर लिया ।

‘अक्षयपद दिये प्रेम जे, प्रभु नुं ते अनुभव रूप रे,
अक्षरस्वर गोचर नहीं, ए तो अकल अमाप अरूप रे।’

यह असंग योग का वर्णन है ।

• • • • •

‘कहुं कलापूर्णसूरि’ नुं बहुमूल्य नजरणुं हमणां ज हाथमां
आव्युं.

पूज्यश्रीनी आ वाचना-प्रसादी अनेक आत्माओने सुलभ करी
आपवाना तमे आदरेला सम्यक् प्रयास बदल तमने खूब-खूब
धन्यवाद...

- आचार्य विजयरावसुंदरसूरि



बेंगलूर - राजाजीनगर प्रतिष्ठान, प्रसंग, दिनांक १९९९

१४-८-१९९९, शनिवार

श्रा. सु. ३

❖ देवों की तरह हरिभद्रसूरिजी का असंख्यात वर्ष का आयुष्य नहीं था । हमारे जितना ही था । वे शासन के, संघ के, व्याख्यान के विहार आदि के कार्य भी करते ही थे, फिर भी अल्प जीवन में उन्होंने जो विराट कार्य किया है, उसे देख कर मस्तक झुक जाता है उनके चरणों में ।

❖ 'श्रावकों की अपेक्षा हमारा जीवन श्रेष्ठ है । कम से कम हम भीख तो नहीं मांगते । यहां हम दान पुन्य आदि करते हैं और वहां लोच आदि के कितने अधिक कष्ट ?' ऐसा विचार करने वाला वर्ग पहले था यह बात नहीं है, आज भी है ।

❖ हम साधु भी कभी कभी घृणा के कारण सोचते हैं कि इसकी अपेक्षा तो दीक्षा ग्रहण न की होती तो... ऐसे विचारों से भवान्तर में भी चारित्र्य नहीं मिलेगा, ऐसा कर्म हम बांध लेते हैं ।

❖ हम चाहते हैं - उसे स्वभाव बदलना चाहिये । मैं कहता हूं - यह असम्भव है । हमारा स्वभाव हम बदल सकते हैं । यह अपने हाथ में है । सृष्टि नहीं बदली जा सकती, दृष्टि बदली जा सकती है । गांव नहीं बदला जा सकता, गाड़ी बदली जा

सकती है । परिस्थिति नहीं बदली जा सकती, मनःस्थिति बदली जा सकती है ।

✿ अन्य को जो दें वह अपने लिए सुरक्षित हुआ समझें ।
धन, ज्ञान, सुख, जीवन, मृत्यु, दुःख, पीड़ा आदि सभी ।

हम अन्यो को ज्ञान दें तो अपना ज्ञान सुरक्षित ।

हम अन्य को धन दें तो अपना धन सुरक्षित ।

अन्य को सुख प्रदान करें तो अपना सुख सुरक्षित ।

अन्य को जीवन दें तो अपना जीवन सुरक्षित ।

✿ स्वयं जो तर सकता है वही दूसरों को तार सकता है ।
स्वयं आंखों से देखने वाला व्यक्ति ही अन्य व्यक्तियों को मार्ग बता सकता है ।

स्वयं गीतार्थ मुनि ही अन्य व्यक्तियों को मार्ग बता सकते हैं ।

✿ हरिभद्रसूरिजी का कथन है कि महा पुन्योदय हो तो ही प्राप्त सामग्री का त्याग करके साधुत्व स्वीकार करने की इच्छा होती है ।

✿ दीक्षा अंगीकार करने के बाद भी किसी भी प्रकार की आकांक्षा प्रतिबंधक है । तपस्वी, विनयी, सेवाभावी, शान्तमूर्ति, भद्रमूर्ति, विद्वान, प्रवचनकार आदि के रूप में अपनी प्रतिष्ठा खड़ी करने की वृत्ति साधुता में रुकावट बनती है ।

✿ संसार स्वार्थमय है । व्यापारी भले ही कहे - 'आप घर के हैं, आपके पास कैसे ले सकते हैं ? परन्तु सचमुच तो वह लिये बिना रहेगा ही नहीं । सुनार जैसा तो सगी बहन या पुत्री को भी नहीं छोड़ता ।

गृहस्थ जीवन में आरम्भ - परिग्रह, हिंसा, असत्य आदि के बिना चलता ही नहीं । इन सबका त्याग किये बिना पंच परमेष्ठियों में से एक भी पद प्राप्त नहीं होता ।

हिंसा, असत्य आदि से युक्त संसार महा पुन्योदय तो ही छोड़ने की इच्छा होती है ।

विष-मिश्रित अन्न की तरह अनुकूलताएं परिणाम में भयंकर विपाक देने वाली हैं और इस कारण ही वे त्याज्य हैं ।

संयम एवं समाधि के सुख का जो साधु अनुभव करते हैं

उनके लिए यह बात है । बाकी यहां आकर जो साधुत्व का पालन नहीं करते वे तो उभय-भ्रष्ट हैं ।

‘निर्दय हृदय छःकायमां, जे मुनि वेषे प्रवर्ते रे ।

गृह-यति लिंगथी बाहिरा, ते निर्धन गति वर्ते रे ॥

- यशोविजयजी १२५ गाथा का स्तवन

यहां यदि साधुत्व का सम्यक् प्रकार से पालन नहीं करें तो पुनः यह साधुत्व प्राप्त होना प्रायः असम्भव है । चौदह पूर्वी भी अनन्त की संख्या में निगोद में पड़े हैं, यह स्मरण रखने योग्य है ।

गुरु का सामान्य उलाहना (उपालंभ) सहन नहीं हो तो परिणाम कैसा होता है ? यह भुवनभानु केवली चरित्र में बताया गया है ।

एक चौदह पूर्वी नींद में पड़े थे । नींद अत्यन्त प्रिय लग रही थी । उन्हें स्वाध्याय प्रिय नहीं लगता था । गुरु ने उपालंभ दिया तो उनसे सहन नहीं हुआ । वे मृत्यु के बाद निगोद में गये ।

❖ बड़े शहरों में व्याख्यान में केवल वृद्ध लोग ही आते हैं । वे भी पर्युषण तक आते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि मानो साधुओं को आमदनी करने के लिए ही बुलाये हों । सोलापुर जैसे में भी पर्युषण के बाद व्याख्यान बंद रखने जैसी स्थिति हो गई थी ।

❖ गुरु आपको कब कहें ? उपालंभ सुनकर आप प्रसन्न हों तो ! यदि आपके चेहरे पर थोड़ी भी अप्रसन्नता दिखाई दे तो गुरु आपको कहना कम कर देंगे अथवा कहना बन्द भी कर देंगे ।

गुरु द्वारा दिये गये उपालंभ के प्रत्येक वचन को जो चन्दन के समान शीतल माने उस भाग्यशाली शिष्य पर ही गुरु की कृपा बरसती है ।

धन्यस्योपरि निपतत्यहितसमाचरणधर्मनिर्वापी ।

गुरुवदन-मलय-निःसृतो वचनरसश्चन्दनस्पर्शः ॥

- प्रशमरति

प्रमाद मधुर लगता है, अत्यन्त ही मधुर । जो मधुर लगता है उसे दूर करना कठिन होता है । ‘सुगर कोटेड’ विष है यह प्रमाद । मित्र का चोला पहन कर आने वाला शत्रु है यह प्रमाद !

उसे पहचानने में चौदह - पूर्वी भी धोखा खा गये हैं ।

प्रमाद एव मनुष्याणां शरीरस्थो महारिपुः ।

शत्रु होने पर भी प्रमाद इतना मधुर लगता है कि गुरु भी उसके समक्ष कड़वे लगते हैं । जब गुरु के वचन कड़वे लगें तब समझ लें कि अब अहित अत्यन्त ही निकट है ।

अध्यात्मसार : भक्ति

प्रेम करने का स्वभाव मनुष्य का ही नहीं, जीव मात्र का होता है । अविवेकी जीव शरीर पर तथा शरीरधारी जीव पर प्रेम कर बैठता है । यह पुद्गल का प्रेम है । प्रेम तो आत्मा पर, आत्मा के गुणों पर करने योग्य है ।

राजुल को सखियों ने कहा, 'हमने तो प्रथम से ही कहा था कि ये श्यामवर्ण हैं । श्यामवर्ण वाले खतरनाक होते हैं । इस बात का अब विश्वास हो गया न ? चलो, अभी तक कुछ नहीं बिगड़ा । किसी अन्य के साथ विवाह हो सकेगा ।

यह सुनते ही राजुल ने सखियों को चुप कर दिया - 'मैं उन वीतरागी के साथ ही राग करूंगी ।'

रागी का राग, राग बढ़ाता है । वीतराग का राग, राग घटाता है । राग आग है । विराग बाग है । राग जलाता है, विराग उज्ज्वल करता है । राजुल ने विराग का मार्ग अपनाया ।

आप यदि प्रभु के साथ प्रगाढ़ प्रेम बांधेंगे तो सांसारिक व्यक्ति एवं वस्तु का प्रेम स्वतः ही घट जायेगा, तुच्छ प्रतीत होगा । सचमुच तो यह तुच्छ ही है । मोह वश यह हमें प्रिय एवं श्रेष्ठ प्रतीत होता है ।

ज्यों ज्यों प्रभु के प्रेम में वृद्धि होती जायेगी, त्यों त्यों संसार का प्रेम घटता जायेगा । प्रभु के साथ प्रेम करना अर्थात् प्रभु का नाम, मूर्ति, गुण आदि से प्रेम करना, प्रभु के चतुर्विध संघ से प्रेम करना, सात क्षेत्रों के प्रति प्रेम करना, प्रभु के परिवार रूप समग्र जीवराशि पर प्रेम रखना । प्रभु-प्रेमी के प्रेम की व्याप्ति इतनी बड़े कि उसमें समग्र ब्रह्माण्ड का समावेश कर ले । कोई शेष न रहे ।

‘सब्वे जीवा न हंतव्वा... न परियावेअव्वा...’

यह भगवान की आज्ञा है । प्रभु-प्रेमी को प्रभु की आज्ञा प्रिय न लगे यह कैसे हो सकता है ?

जिस प्रकार पूनम के चन्द्रमा को देखकर सागर में ज्वार उठता है उस प्रकार प्रभु-भक्त प्रभु को देखकर उल्लास में आता है ।

शरद पूर्णिमा के दिन समुद्र देखा है ? चन्द्रमा को मिलने के लिए मानो समुद्र ऊंचा-ऊंचा उछलता है । भक्त भी भगवान को मिलने के लिए तरसता है ।

• • • • •

आपना शिरछत्र गुरुदेव अने अमारा अनन्य उपकारी, ज्ञान-संस्कारदाता गुरु पूज्यपाद आ.भ.श्री वि. कलापूर्णसूरीश्वरजी म.सा.ना अचानक काळधर्मना समाचार मळतां अंतरमां वीजकडाका जेवो आंचको लाग्यो । क्षणभर तो उंडी गमगीनी साथे अवाचक थड जवायुं । आ अंगे पत्र क्यां लखवो एनी मूझवणमां विलंब थयो छे । हवे आ पत्र द्वारा अमे अमारा वती ए दिव्यपुरुषना दिव्य आत्माने भावांजलि अर्पीए छीए । पूज्यपादश्रीनी वसमी विदायथी वर्तमान जैनशासननो प्रबळ पुण्यसितारो खरी पड्यो छे. आध्यात्मिक जगतनो शत-शत तेजे झळहळतो आदित्य अस्ताचले ढळतां ए जगतमां तो खरेखर घोर अंधारना ओछया छवाया छे एवुं लागे छे अने लागशे । हवे भले कदाच आपणा प्रवर्तमान संघमां विद्वत्ता अने शासनप्रभावनाना झाकझमाळ घणाय जोवा मळ्शो, परंतु विशिष्ट प्रभुभक्ति, वैराग्यना रसझरणा, आत्मसाधना अने वात्सल्य - प्रेम - सहानुभूति - करुणा आदि गुणोनो वैभव ए महापुरुष पासे जे हतो एना दर्शन दुर्लभ बनी जशे ।

आप सौ उपर आवेली संघ - समुदायनी क्षेम-कुशलतानी जवाबदारी एज गुरुवर्यनी अदृश्य कृपाथी आप वहन करी शकशो, एमां शंका नथी । मांडवीमां प्रवचनसभामां पण अमे पूज्यश्रीना गुणानुवाद साथे श्रद्धांजलि आपेली ।

- एज... अचलगच्छ्रीय गणि महाभद्रसागरनी वंदना

१५-३-२००२, मांडवी-कच्छ



१५-८-१९९९, रविवार
श्रा. सु. ४

❖ नित्य छः घंटों तक भगवान क्या कहते होंगे ? सम्यक्त्व पानेवाले व्यक्तियों का सम्यक्त्व निर्मल बनता है । नहीं प्राप्त हुआ हो उसे सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है । पाये हुए गुण निर्मल बनते हैं । ऐसा सामर्थ्य भगवान की देशना में होता है ।

❖ ध्यान को तीक्ष्ण बनाने वाला ज्ञान है । उपयोग की तीव्रता का नाम ज्ञान है । अपना नाम हम कभी भूलते नहीं हैं । प्रभु का नाम हम फिर भी भूल सकते हैं । अपने नाम में अपना तीव्र उपयोग है । अतः वह हम नहीं भूलते । उसी प्रकार से प्रभु का नाम और प्रभु के सूत्र भूलाने नहीं चाहिये ।

❖ मूर्ति में फिर भी हम भगवान मानते हैं, परन्तु आगमों में अक्षरों में भगवान है - यह शिक्षा हमने नहीं ली । अन्य दर्शनों में इस सम्बन्ध में बहुत है ।

जिनालय बंद हो या रात्रि का समय हो तो वहां मानो नहीं जा सकते, परन्तु भगवान का नाम न लिया जा सके ऐसा कोई क्षेत्र या ऐसा कोई काल नहीं है । हमारी श्रद्धा इतनी सशक्त बने कि भगवान के नाम में भी भगवान के दर्शन हो, भगवान

के आगमों में भी भगवान के दर्शन हों तो काम बन जाये ।

‘मन्त्रमूर्ति समादाय देवदेवः स्वयं जिनः ।

सर्वज्ञः सर्वगः शान्तः सोयं साक्षाद् व्यवस्थितः ॥’

पद्यानुवाद :

‘प्रभु-मूर्तिमां छे शुं पड्युं ? छे मात्र ए तो पत्थरो ।

प्रभु-नाममां छे शुं पड्युं ? छे मात्र ए तो अक्षरो ॥’

एवुं कहो ना सज्जनो, साक्षात् आ भगवान छे ।

निज मंत्र-मूर्तिनुं रूप लई, पोते ज अहीं आसीन छे ॥’

(हरिगीत)

शिष्यों द्वारा नींद में खलेल डालने के कारण एक आचार्य ने आगमों की वाचना देना ही बंद कर दिया । इतने महान् आचार्य को भी मोह प्रभु तथा प्रभु के नाम को भूला दे तो हम किस विसात में हैं ? यहां दर्शन मोहनीय का आक्रमण हुआ ।

मोहनीय कर्म आपको अपनी जाति बताने नहीं देता, तो भगवान को कैसे जानने देगा ?

नाम युक्त ही स्थापना, द्रव्य एवं भाव होता है । नाम विहीन शेष तीन निक्षेप नहीं हो सकते ।

मूर्ति सामने है, परन्तु किसकी है ? महावीर स्वामी की मूर्ति है ।

‘महावीर स्वामी’ यह नाम उनकी मूर्ति के साथ जुड़ा हुआ होगा ही ।

आप किसी शहर में जायें और वहां किसी को मिलना हो, परन्तु उसका नाम आप भूल गये हैं तो आप उस व्यक्ति को कैसे मिल सकोगे ? किस प्रकार पूछ सकोगे ? नाम व्यक्ति की पहचान करने में सहायक है ।

सामान्य व्यक्ति का नाम भी इतना मूल्यवान होता है तो भगवान के नाम के मूल्य की तो बात ही क्या करें ?

भगवान के दर्शन, सिर्फ दर्शन के खातिर ही नहीं करने हैं, भगवान बनने के लिए करने हैं । भगवान कब बना जा सकता है ? भगवान कैसे हैं ?

वीतराग भगवान राग-द्वेष रहित हैं । हमें भी वैसा ही बनना

है, यह ध्यान रहे ।

मंत्र एवं मूर्ति के रूप में साक्षात् भगवान हमारे समक्ष हों, फिर माला गिनते समय नींद आयेगी ? निमन्त्रण देकर आपने भगवान को बुलाये हैं, फिर आप नींद करें तो क्या भगवान का अपमान नहीं कहा जायेगा ?

मैं वाचना दूँ और आप नींद करें तो क्या कहा जाये ?

प्रभु-नाम या प्रभु-आगम के प्रति प्रेम हो तो क्या नींद आयेगी ?

पानी मंगवाने पर शिष्य पानी ही लाता है, केरोसीन नहीं लाता । यह नाम का ही प्रभाव है । तो प्रभु बोलने पर प्रभु ही आते हैं, अन्य कौन आयेगा ? अपने नाम के साथ प्रभु जुड़े हुए हैं ।

नाम के साथ आकृति (मूर्ति) भी प्रभु के साथ जुड़ी हुई है ।

चार प्रकार के भगवान हैं - नाम, स्थापना, द्रव्य तथा भाव ।
नामजिणा जिणनामा, ठवणजिणा पुण जिणिंद पडिमाओ ।
दव्वजिणा जिणजीवा, भावजिणा समवसरणात्था ॥

-चैत्यवन्दन भाष्य

इन चारों रूपों में भगवान समस्त क्षेत्रों में और सर्व कालों में व्यापक है । यहां भी है, वहां भी है । अत्र-तत्र-सर्वत्र है । केवल उन्हें देखने के लिए श्रद्धा के नेत्र चाहिये ।

श्रद्धा के नेत्रों के बिना मूर्ति में तो क्या, साक्षात् भाव भगवान में भी भगवान दृष्टिगोचर नहीं होंगे ।

★ हम मद्रास (चैन्नई) गये तब (वि. संवत् २०४९) पानी प्राप्त करने के लिए पंक्तियां देखीं । पानी की वहां अत्यन्त तंगी थी । साहूकार पैठ में सत्रह लाख का नित्य पानी का व्यापार होता था । तब पानी का मूल्य समझ में आता है ।

पानी तीन कार्य करता है १. दाह का शमन करता है, २. मलिनता दूर करता है, ३. प्यास बुझाता है । उस प्रकार भगवान का नाम भी तीन कार्य करता है । १. कषाय का दाह, २. कर्म की मलिनता और ३. तृष्णा की प्यास दूर करता है ।

पानी का एक नाम है - 'जीवन' । पानी के बिना क्या

हमारा कार्य चलता है ? जब पानी के बिना नहीं चलता, तो भगवान के बिना कैसे चलेगा ?

चार निक्षेपा में भव्य जीवों के लिए अत्यन्त ही उपकारक दो हैं : नाम एवं स्थापना । भाव जिन की नहीं, आप नाम एवं स्थापना की ही उपासना कर सकते हैं । एक युग में चौबीस ही भाव भगवान हैं । शेष काल में नाम एवं स्थापना ही उपकार करते हैं ।

जो लोग भाव को ही आगे करके नाम-स्थापना को गौण गिनते हैं, वे अभी तक वस्तु-तत्त्व समझे ही नहीं हैं ।

भाव भगवान सामने होते हुए भी जमालि, गोशाला आदि तर नहीं सके, क्योंकि हृदय में भाव उत्पन्न नहीं किया । भाव वन्दक को पैदा करना है । उसके बिना साक्षात् भगवान भी तार नहीं सकते । भाव प्रकट हो जाय तो नाम या स्थापना भी तार सकते हैं ।

प्रभु के साथ एकता किये बिना समकित भी प्राप्त नहीं होता तो चारित्र तो प्राप्त हो ही कैसे सकता है ?

पंचवस्तुक : प्रतिवादी को उत्तर देते हुए हरिभद्रसूरिजी ने कहा है - साधु को घर-बार की आवश्यकता नहीं है । निश्चय से उसका निवास आत्मा में है । अतः ऐसी समता उत्पन्न हुई होती है कि कोई भी आवास के द्वारा चलाया जा सकता है । कई बार हम बस स्टेशन पर भी रहे हुए हैं ।

♦ ♦ ♦ ♦ ♦

अध्यात्मयोगी महान विभूति जिनभक्तिमां तन्मयता प्राप्त करनार
आचार्य भगवंत श्री वि. कलापूर्णसूरि म.सा.ना कालधर्मना समाचार
जाणीने घणुं ज दुःख थयुं छे । आचार्य भगवंतमां अनेक गुणो हता ।
तेमांय अध्यात्मयोग अने जिनभक्ति मोखरे हता । आवा महान पुरुषना
काळधर्मना अकस्मात समाचार मळतां दुःख थाय ते स्वाभाविक छे ।
चतुर्विध संधनी साथे देववन्दन कर्या ।

- एज... आचार्य स्थूलभद्रसूरिनी अनुवन्दना

म.सु. ६, चित्रदुर्ग.



१६-८-१९९९, सोमवार

श्रा. सु. ५

'देवबन्दन' आदि सूत्रों में ऐसी शक्ति है कि वे अनादिकालीन चारित्र मोहनीय आदि कर्मों का क्षय करके हमारे भीतर विरति के परिणाम उत्पन्न करें। तीर्थंकर भी जब हाथ जोड़ कर सामायिक के पाठ का उच्चारण करते हैं, तब उनमें विरति के परिणाम उत्पन्न होते हैं।

परिणाम तो हमारे भीतर पड़े हुए ही हैं, परन्तु ये सूत्र, क्रिया आदि उन्हें प्रकट करने वाले पुष्ट कारण हैं।

जो शक्ति एवं सामर्थ्य नवकार, इरियावहियं, लोगस्स आदि में है, वह सामर्थ्य नूतन रचनाओं में नहीं है।

अंजार में डो. यू.पी.देढिया कहने लगे कि समस्त सूत्र प्राकृत में हैं। वे हमें समझ में नहीं आते। यदि गुजराती में रचना की जाये तो वे अत्यन्त उपकारक सिद्ध होंगी।

इन दोनों में कांच एवं चिन्तामणि जितना फरक है। उन पवित्र सूत्रों के रहस्यार्थ, मंत्र-गर्भितता आदि गुजराती में कैसे उतारा जा सकता है? अर्थों को समाविष्ट करने की जो शक्ति प्राकृत में है, वह गुजराती में कहां से लायें? संस्कृत की गरिमा गुजराती

में कहां से लायें ? 'राजा नो ददते सौख्यम् ।' इस वाक्य के आठ लाख अर्थ होते हैं । पंजाबी युवकों को उत्तर देने के लिए समयसुन्दरजी ने आठ लाख अर्थ करके बताये थे ।

'लोगस्स' का नाम है - नामस्तव । नामस्तव अर्थात् नाम के द्वारा भगवान की स्तुति । एक प्रतिक्रमण में कितने लोगस्स आते हैं ? गिन लेना ।

काउस्सग में लोगस्स के स्थान पर लोगस्स ही चलता है । नवकार नहीं चलता । यह विधि है । लोगस्स नहीं आता हो तो उनके लिए नवकार ठीक है ।

सूर्य-चन्द्र का प्रकाश सूर्य-चन्द्र में ही सीमित नहीं रहता, चारों ओर फैलता है । रत्नों आदि का प्रकाश स्व में ही सीमित रहता है । भगवान का ज्ञान-प्रकाश स्व में ही सीमित नहीं रहता, सर्वत्र फैलता है । इसीलिए प्रभु को 'लोगस्स उज्जोअगरे' (ज्ञानातिशय) कहा जाता है । लोक में उद्योत करने वाले प्रभु हैं । अतः वे धर्मतीर्थ की स्थापना कर सके हैं । 'धम्म - तित्थयेरे' (वचनातिशय) 'जिणे' (अपायापगमातिशय) 'अरिहंते' (पूजातिशय) यहां चार अतिशय भी समाविष्ट है ।

पंचवस्तुक

प्रश्न : हमारे रहने के लिए मकान है । साधु के रहने का स्थान कौन सा ?

उत्तर : तत्त्व से साधु आत्मा में ही रहते हैं । परम समता में मग्न रहने के कारण चाहे जैसे स्थानों में राग-द्वेष आदि नहीं करते ।

धर्मशाला अच्छी हो या बुरी, उसमें आप राग-द्वेष नहीं करते । उस प्रकार साधु भी राग-द्वेष नहीं करते । साधु दूसरों के द्वारा निर्मित स्थान पर ठहरते हैं, वे स्वयं निर्माण नहीं करते - नहीं करते । यदि वे अपने लिए बनाये तो 'ममेदं स्थानम्' यह मेरा है, इस प्रकार ममत्व होता है ।

प्रश्न : साधु को गृहस्थों की तरह आहार पानी न मिलने पर, कष्ट होता होगा न ?

उत्तर : साधु जो भूख-प्यास सहते हैं, उसमें उन्हें संक्लेश नहीं होता, परन्तु आनन्द होता है, क्योंकि वे जानते हैं कि इससे असाता वेदनीय आदि कर्मों का क्षय होता है। अरे, कई बार तो जान-बूझकर उपवास आदि करके वे भूख सहन करते हैं। भगवान का छद्मस्थ जीवन देखें। कितनी कठोर तपस्या ?

यद्यपि यह तप सबके लिए अनिवार्य नहीं है। जैसी जिसकी शक्ति और भावना। केवल लोच अनिवार्य है। यह धैर्य एवं सत्त्व बढ़ाने के लिए है। लोच आदि के काय-क्लेश से साधु पाप-कर्म की उदीरणा करते हैं। भविष्य में आने वाले पाप-कर्मों को अभी से ही उदय में लाकर नष्ट करने से भावि के उतने पाप-कर्मों का क्षय हो जाता है, जिससे साधु आनन्द मानते हैं।

★ कालग्रहण में शीघ्र उठना, सावधानी रखना आदि क्यों ? क्योंकि ऐसी प्रक्रिया में से गुजरने पर, उसके बाद भी ऐसी जागृति एवं ऐसा अप्रमाद बना रहे। योगोद्बहन में जागृति के संस्कार डाले जाते हैं।

व्याधि मिटाने के लिए रोगी कड़वे उकाले, औषधियों आदि प्रेम से लेते हैं, उपवास करते हैं, परहेज पालते हैं, उस प्रकार यहां भी साधु सब प्रेम से करते हैं क्योंकि वे कर्म-रोग नष्ट करना चाहते हैं।

कड़वी औषधि नहीं पिये, गरिष्ठ भोजन करे, परहेज न पाले तो रोगी की क्या दशा होगी ? रोग की वृद्धि होगी। अनुकूलता से हमारा कर्म-रोग बढता है।

दाल-सब्जी का ठिकाना न हो, रोटी पेट में जाये ही नहीं ऐसी हो, उस समय क्या आपको आनन्द होगा ? सच्च कहना। सचमुच आनन्द होना चाहिये। शुद्ध गोचरी से आनन्द आना चाहिये।

उद्वेगपूर्वक आहार लो तो धूम्र दोष लगता है, याद है न ? अनुकूल भोजन हो परन्तु निर्दोष न हो, तब मन की स्थिति कैसी होती है ? मन में गुप्त आनन्द होता हो तो भी सचेत हो जाना।

★ भगवान का प्रभाव तो देखो। किसी भी स्थान पर जैन साधु को आहार-पानी प्राप्त न हो ऐसा हो ही नहीं सकता। वहां एक भी जैन परिवार न हो तब भी आहार-पानी प्राप्त हो

ही जायेगा ।

✽ सौराष्ट्र के खेरवा गांव में समस्त अजैन लोग जैन साधु को भावपूर्वक भिक्षा प्रदान करते हैं । आचार्यों का सामैया भी करते हैं । जब उन्हें पूछा गया कि सब कहां गये ? एक वयोवृद्ध व्यक्ति ने कहा, 'धंधे के लिए सब बाहर गये हैं, मैं यहां रुका हूं और यहीं पर रहूंगा । साधु-साध्वियों की भक्ति के लिए मैं यहां रुक गया हूं । मेरे पिताजी यही चाहते थे । आज जो हमारी अच्छी स्थिति है तो इस सेवा-भक्ति के कारण ही है ।

आज कोई जैन बच्चा भी ऐसा मिलेगा कि जो सेवा-भक्ति के खातिर गांव में रुके, गांव न छोड़े ?

भक्ति : धनाढ्य या सुखी हो उसके कारण मनुष्य आदरणीय नहीं बनता, परन्तु यदि वह परोपकारी, दानी हो तो आदरणीय अवश्य बनता है ।

भगवान सिर्फ गुणवान या ज्ञान-समृद्ध ही नहीं हैं, परन्तु वे परोपकारी एवं दानी भी हैं । उनके गुण विनियोग के स्तर तक पहुंच चुके हैं ।

भगवान ने सबको दान दिया तब वह ब्राह्मण बाहर गया था । भगवान के दीक्षा ग्रहण करने के बाद निर्धन स्थिति में ही वह अपने आवास पर आया । पत्नी के कहने से भगवान के पास मांगने के लिए जाने पर मुनि-अवस्था में भी भगवान ने उसे वस्त्र का दान दिया । सहज परोपकार की वृत्ति के बिना ऐसा नहीं हो सकता ।

प्रभु के नाम में भी उपकार की शक्ति है -

‘प्रभु नाम की औषधि, सच्चे भाव से खाय ।

रोग-शोक आवे नहीं, दुःख-दोहग मिट जाय ॥’

परन्तु अटूट श्रद्धा होनी चाहिये ।

✽ हमारा संसार का प्रेम परिवर्तित होकर यदि प्रभु पर प्रवाहित होने लगे तो समझ लेना कि साधना का मार्ग खुल गया है ।

‘प्रगट्यो पूरण राग, मेरे प्रभु शुं प्रगट्यो... ।’

प्रभु ! मेरे हृदय में आपके प्रति जो प्रेम की बाढ़ आई है, उसकी तुलना समुद्र के साथ करूं कि नदी के साथ करूं ?

चन्द्रमा भले आकाश में है, चांदनी धरती पर है और समुद्र

को उल्लसित करती है ।

भगवान चाहे मोक्ष में है, परन्तु गुण रूपी चांदनी समग्र पृथ्वी पर फैली हुई है ।

अन्धे व्यक्ति के लिए सूर्य क्या और चन्द्रमा क्या ? उसके पास चांदनी का प्रकाश नहीं पहुंचता । उसके हृदय के द्वार बंद है, उसके पास भगवान की कृपा की किरणें नहीं पहुंच सकती ।

प्रभु के गुणों की सुगन्ध सर्वत्र है, उसके लिए 'नाक' चाहिये ।

प्रभु की गुण-चांदनी सर्वत्र है, उसके लिए 'आंखें' चाहिये ।

'सम्पूर्ण मण्डल-शशांक-कला-कलाप' भक्तामर के इस श्लोक के अर्थ का विचार करना । जौहरी को पता लग जाता है कि 'यह पत्थर नहीं है, हीरा है ।'

भक्त को पता लग जाता है - यह प्रभु कृपा है, सामान्य बात नहीं है । सम्पूर्ण भक्तामर प्रभु-नाम की स्तुति ही है । देखने की दृष्टि चाहिये । भक्त का हृदय चाहिये, आपके पास ।

जहां भगवान के गुण हों वहां भगवान होंगे कि नहीं ? जहां गुण हों वहां द्रव्य होगा ही । द्रव्य के बिना गुण रहेंगे कहां ? जहां चांदनी है वहां चन्द्रमा होगा ही ।

दर्पण रख कर देखें । स्वच्छ जल की थाली भर कर रखें । हृदय को दर्पण के समान स्वच्छ बनायें । प्रभु-चन्द्र ये रहे ।

♦ ♦ ♦ ♦ ♦

हाल हमणा ज पूज्यश्रीना समाचार मळ्या । भूकंप करतां
पण जोरदार आंचको अने घ्रासको हृदयने हलबलावी गयो ।

अमारो एक आलंबन स्तंभ तूटी गयो । आदर्शनुं दर्पण
चूर थई गयुं । अमो स्वयं व्यथित छीए । आपश्रीओने शुं आश्वासन
आपी शकीये ? छत्तां स्वस्थ रहीने कर्तव्यनी आवी पडेली शिलाने
संभाळजो ।

- एज... आपना ज बंधुओ
जिनचंद्रसागरसूरि - हेमचंद्रसागरसूरि
१६-२-२००२, सुरत.



१७-८-१९९९, मंगलवार

श्रा. सु. ६

❖ नाथ अर्थात् अप्राप्त गुणों की प्राप्ति कराने वाले तथा प्राप्त गुणों की रक्षु करने वाले एवं दुर्गति में जाते जीवों को बचाने वाले । छोटे बच्चों की तरह हाथ पकड़ कर वे बचाते नहीं हैं । वे अपने परिणामों की रक्षा करके हमें बचाते हैं । हमारे परिणाम तीव्र अशुभ बने उससे पूर्व ही भगवान हमें शुभ अनुष्ठानों में जोड़ देते हैं ।

राग-द्वेष के निमित्तों से ही दूर रहें तो तत्सम्बन्धी विचारों से कितने बच सकते हैं ? आत्मा निमित्तवासी है । हम जैसे मनुष्यों के साथ रहते हैं उसका वैसा प्रभाव तो होने वाला ही है । जो हम पढते हैं उन ग्रन्थों का प्रभाव पड़ेगा ही । जहां रहते हैं उस स्थान का भी प्रभाव पड़ेगा ही

❖ प्रतिकूलता के समय भी सहनशीलता का अभ्यास रखा होगा तो चाहे जितने दुःखों के समय भी हम विचलित नहीं होंगे । लोच, विहार आदि ऐसे अभ्यास के लिए ही हैं । पढना ही अभ्यास नहीं है । विहार, लोच, गोचरी आदि भी उत्कृष्ट प्रकार के अभ्यास हैं ।

दीक्षा ली तब मैं तो तीस वर्ष का था, परन्तु ये (पू. कलाप्रभ

विजयजी, पू. कल्पतरु विजयजी) आठ-दस वर्ष के थे, फिर भी हम सब एकासणे में आ गये क्योंकि यहां का वातावरण ही ऐसा था ।

दीक्षा लेकर आने के बाद राजस्थान में अनेक व्यक्ति पूछते - 'ये बाल मुनि कहां से उठा लाये ?' गुरु महाराज कहते - 'इनके पिता साथ हैं ।'

अनेक व्यक्ति बाल-दीक्षा का विरोध करते, उठा ले जाने की भी बातें करते । उन सबको मुंहतोड़ जवाब दिया जाता ।

संयमी का जीवन अर्थात् असुरक्षा का जीवन । उसको फिर सुरक्षा कैसी ? अज्ञात घरों में जाना । ज्ञात घरों में तो जाने का अभी अभी शुरू हुआ है । असुरक्षा में रहने से हमारे साहस, सत्त्व, आत्म-विश्वास आदि गुणों की वृद्धि होती है ।

यहां आने के बाद शक्ति न हो तो भी तप करना ही पड़ेगा, ऐसी बात नहीं है । एक साधु वर्षी तप, ओली, मासक्षमण आदि करे, अतः दूसरों को भी करना पड़े, ऐसी बात नहीं है । शास्त्रकार कहते हैं -

सो हु तवो कायव्वो, जेण मणो मंगुलं न चितेइ ।

जेण न इंदियहाणी, जेण य जोगा ण हायंति ॥

तत् हि तपः कर्त्तव्यं, येन मनोसुंदरं न चिन्तयति ।

येन न इन्द्रिय - हानिः, येन च योगाः न हीयन्ते ॥

- पंचवस्तुक २१४

जिस तप में बोललें चढानी पड़ें, इन्जैक्शन लेने पड़ें, बैठ कर क्रियाएं करनी पड़ें, आंखें अशक्त हो जायें, देह सर्वथा शिथिल हो जाये, ऐसा तप करने का शास्त्रकार स्पष्ट निषेध करते हैं ।

❖ साधु की भिक्षा के दो नाम हैं - गोचरी एवं माधुकरी । गाय एवं भ्रमर दोनों घास एवं पुष्पों को पीड़ा पहुंचाये बिना थोड़ा-थोड़ा लेते हैं । अतः उनके नाम पर से गोचरी एवं माधुकरी (गो = गाय, मधुकर = भ्रमर) शब्द बने हैं ।

❖ साधु का जीवन ही ऐसा है । यदि उत्तम प्रकार से पालन किया तो इस जीवन में सुख और परलोक में भी सुख ।

जो द्रव्य-दीक्षित बन कर केवल उदरपूर्ति के लिए ही भिक्षार्थ घूमते हैं, उनका जिनेश्वर भगवान ने निषेध किया है । उनके पाप

का उदय है, यह अवश्य कहा जा सकता है । ऐसे न तो साधु हैं, न गृहस्थ हैं, वे उभयध्रष्ट हैं ।

‘लहे पाप-अनुबन्धी पापे, बल-हरणी जन-भिक्षा ।

पूरव भव व्रत खण्डन फल ए, पंचवस्तुनी शिक्षा ॥’

- ३५० गाथा का स्तवन

इसी पंचवस्तुक का भाव यशोविजयजी म. ने इस प्रकार प्रदर्शित किया है ।

गृहस्थ जीवन में ध्यान की स्थिरता नहीं आने के कारण उस सम्बन्ध में कहते हैं - ‘अधिकतर गृहस्थ चिन्ता में पड़े होते हैं - धन की, सरकार की, गुण्डों की, चोरों की आदि अनेक प्रकार की अन्य हजारों चिन्ताओं के कारण ध्यानमें स्थिरता आना कठिन है ।

अब बात रही परोपकार की । गृहस्थ केवल अन्नदान करते हैं, जबकि साधु अभयदान देते हैं । अभयदान से कोई बड़ा दान नहीं है । गृहस्थ जीवन में सम्पूर्ण अभयदान देना सम्भव नहीं है । अभयदान के लिए चोर की प्रसिद्ध वह कथा बाद में कहेंगे ।

भक्ति : चैत्यवन्दन भक्तियोग है, स्वाध्याय ज्ञानयोग है । चारित्र्ययोग का पालन करना है तो भक्तियोग और ज्ञानयोग क्यों ? ये दोनों चारित्र्य को पुष्ट करने वाले हैं । यदि आप भक्ति एवं ज्ञान छोड़ दें तो चारित्र्य रुष्ट होकर चला जायेगा । वह कहेगा - उन दोनों के बिना मैं आपके पास रह नहीं सकता ।

जिनालय में आप केवल १५ मिनट ही निकालते हैं ? सात चैत्यवन्दन कैसे करते हैं ? उनका निरीक्षण करें । भक्ति के बिना चारित्र्य कैसे टिकेगा ?

स्वयं को एकान्त में पूछें - तुझे किसके प्रति अधिक राग है ? किसके प्रति राग रखने से अधिक लाभ है ?

❀ आत्मा स्वामी है, देह सेवक है । इस समय किराये पर रखा है । इसे एकाध समय भोजन, थोड़ा सा आराम देना ऐसा तय किया है । अब यदि सेवक ही सेठ बन जाये तो क्या विचारणीय नहीं है ? घोड़ा ही यदि घुड़सवार का स्वामी बन रहा हो तो क्या विचारणीय नहीं है ? इन्द्रियों के घोड़े की लगाम हमारे हाथ में है ?

यदि हमारे पास इन्द्रियों को, देह को नियन्त्रण में रखने की शक्ति नहीं है तो समर्थ की शरण में, भगवान की शरण में जाना चाहिये ।

यदि संयम का सम्यक् प्रकार से पालन करना हो तो भक्ति के बिना उद्धार ही नहीं है, मैत्री के बिना उद्धार नहीं है । मैत्री के द्वारा जीवों के साथ सम्बन्ध और भक्ति के द्वारा भगवान के साथ सम्बन्ध सुधरेगा । इसके बिना चारित्र की शुद्धि नहीं है, प्राप्ति नहीं है, यह लिख रखना ।

संयम भले ही मिल गया, परन्तु सुरक्षा के लिए भक्ति-योग एवं ज्ञान-योग की आवश्यकता होगी ही । अतः मैं कितने ही दिनों से 'भक्ति भगवति धार्या' पर अटक गया हूँ ।

परमात्मा के द्वारा भुलाये गये आत्मा को खोज निकालना है । न मिले तब तक परमात्मा को छोड़ना नहीं है । 'कब्जे आव्या ते नवि छोड़ुं' आदि पंक्तियों के द्वारा महापुरुष हमें सिखाते हैं कि प्रभु को कभी मत छोड़ना । मैं भी आपको यही सिखाता हूँ कि प्रभु को मत छोड़ना । भगवान के पास हठ लेकर बैठ जाओ - प्रभु ! मैं आपको कभी नहीं छोड़ूंगा ।

❀ किसी चन्दे में अधिक से अधिक कितना देंगे ? और पुत्र को कितना देंगे ? पुत्र को सब दे देंगे ।

भगवान हमारे परम पिता हैं । उन्होंने अपना समस्त श्रुत-खजाना गणधरों को दिया । स्वयं देशना देकर फिर किसको देशना देने की आज्ञा देते हैं ? गणधर को देशना देने की आज्ञा देते हैं । शिष्य पुत्र ही हैं ।

ज्ञान (समझ) बढ़ने के साथ भगवान के प्रति प्रेम बढ़ता ही है । तो ही कह सकते हैं कि समझ बढ़ी है । समझ बढ़ने पर यशोविजयजी को प्रभु में ही सर्वस्व दिखने लगा । अन्त में कह दिया, 'ज्ञान के सागर का मन्थन करते-करते मुझे भक्ति का अमृत मिला है, यही सार है ।'

समझ की यही कसौटी है ।

भाव तीर्थकर के प्रति प्रेम कब प्रकट होगा ? जब नाम, मूर्ति पर प्रेम होगा तब । इस समय भगवान ने हमारी परीक्षा की

है, कर रहे हैं, यह मान लीजिये । भगवान देख रहे हैं - 'यह भक्त मेरे नाम एवं मूर्ति पर कितना प्रेम रखता है, थोड़ा यह देखने तो दो । जो मेरे नाम एवं मूर्ति पर प्रेम नहीं रख सकता, वह मुझ पर प्रेम रखेगा, यह माना नहीं जा सकता ।

❀ द्रव्य का द्रव्य में संक्रमण नहीं है, गुणों का संक्रमण है । चांदनी है, वहां चन्द्रमा है । गुण हैं वहां प्रभु हैं । गुणों के रूप में सर्वत्र प्रभु विराजमान हैं ।

प्रभु का प्रेम अर्थात् गुणों का प्रेम, साधना का प्रेम । गुणों पर प्रेम प्रकट हुआ है तो गुण आयेंगे ही । व्यक्ति एक-दूसरे में संक्रान्त नहीं होता परन्तु गुण संक्रान्त होते हैं । शक्कर, आटा + घी में जाये तो सीरा बन जाये, दूध को मधुर बना दे । उस प्रकार भगवान भी गुणों के रूप में आकर हमारे जीवन को, हमारे व्यक्तित्व को मधुर बना देते हैं ।

* * * * *

अमे तो वडस्माथो छ'री' पालता शंखेश्वरजीना संघमां हता अने सभाचार मळ्या । अध्यात्मयोगी आ.श्री कलापूर्णसूर म. नो स्वर्गवास थयो । आघात लाग्यो । केवा उत्तम योगी हता ? मने तो अंगत रीते गया वर्षे के.पी.ना अने भेरुतारकना प्रसंगोमां जे निकटतामां रहेवानुं मळ्युं ते मारा जीवननी यादगार क्षणो बनी रही । मारा उपर तेओनो कृपापूर्ण दृष्टिपात मने मळ्यो छे । तेओ तो पोतानी साधना आगळ धपाववा वधु उंचा स्थाने पधार्या छे । आपणी पास तेमना जीवननो एक श्रेष्ठ नकशो मूकी गया छे ।

तमो बधाने खूब ज आघात लाग्यो हशे ! अने आवा स्वजन सूरि गुरुवरनो विरह वसमो होय छे. सरोवरने हंसनो वियोग वेठवो मुश्केल होय छे पण हंस तो ज्यां पण जाय त्यां शोभा अने सन्मानने पामे छे ।

आम साव अचानक ज चाल्या जशे 'आवजो' कहेवा पण नहीं रोकाय एवी कल्पना न हती । पण आ तो कुदरतनो अकाट्य कायदो छे, जे मान्या विना छूटको नथी ।

- एज... प्रद्युम्नसूरिनी अनुवंदना

२४-२-२००२, शंखेश्वर.



श्रीलंका में भूगर्भीय, जैविकी के भस्म, वि.सं. १०५१

१८-८-१९९९, बुधवार

श्रा. सु. ७

❖ आगमों पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीकाएं न हों तो वास्तविक अर्थ समझ में नहीं आयेगा । अतः चूर्णि, टीका आदि भी आगमों के जितने ही उपकारी हैं । अर्थ को नहीं मानें तो भगवान की, सूत्र को नहीं मानें तो गणधरों की आशातना होती है, क्योंकि इनके आद्य प्ररूपक वे हैं ।

❖ विद्या से विवाद नहीं करना है, विवेक जगाना है । विवेक से वैराग्य, विरति, विज्ञान आदि प्रकट होते हैं ।

हमने यह मान लिया - वैराग्य तो मुमुक्षु को होता है, साधु को उसकी आवश्यकता नहीं है । वैराग्य के बिना चारित्र स्थिर कैसे होगा ? ज्ञान बढ़ता है, उस प्रकार वैराग्य बढ़ना चाहिये । दोषों की निवृत्ति एवं गुणों की प्राप्ति कराये वही सच्चा ज्ञान है । ज्ञान से यदि अभिमान आदि की वृद्धि हो तो अज्ञान किसे कहा जायेगा ? दीपक से अंधकार की वृद्धि हो तो दीपक किसे कहेंगे ? प्रभु-भक्ति, वैराग्य आदि गुण ज्ञान से बढ़ने चाहिये । ज्ञान, भक्ति, वैराग्य तीनों साधना में आवश्यक हैं ।

❖ दीक्षा अर्थात् चौरासी लाख जीवायोनि के जीवों को

अभय-दान का घोषणा-पत्रक ! दया, करुणा के बिना दीक्षा टिकती नहीं है । यह केवल मन से नहीं चलता, व्यवहार में आना चाहिये । साधु इन्हें व्यवहार में लाते हैं । गृहस्थ ऐसा नहीं कर सकते ।

मंडिक चोर की कथा : वध-योग्य चोर को अन्य रानियों ने एक ही दिन के लिए बचाया और भक्ति की, जब कि अमानिती रानी ने जीवनभर के लिए अभयदान दिया । खाने-पीने के लिए सादे में सादा खाना-पीना दिया । श्रेष्ठतम मिठाई से चोर को अभयदान अधिक प्रिय लगा । सचमुच जीव को सर्वाधिक प्रिय अभयदान है ।

मरते हुए को बचाना अभयदान है, अहिंसा है ।

जीवित व्यक्ति को सहायता करना दया है ।

हृदय में छलकती करुणा दो तरह से प्रकट होती है - नकारात्मकता से और हकारात्मकता से । अहिंसा करुणा का नकारात्मक प्रकार है और दया हकारात्मक ।

जीवों को कत्लखाने से बचाना अहिंसा है ।

उन जीवों को पांजरापोल में निभाना दया है ।

अहिंसा के जितना ही महत्त्व दया का है । कभी कभी इससे भी अधिक है । मरते हुए जीव पर शायद सभी दया करेंगे, परन्तु जीवित पर दया विरले ही करते हैं ।

अहिंसा से प्रधान रूप से संवर-निर्जरा होती है, दया से पुन्य होता है । साधु के लिए अहिंसा मुख है, गृहस्थों के लिए दया मुख है ।

जीवों को पीड़ा न हो उसकी सावधानी साधु रखे ।

जीवों का जीवन-यापन सुखपूर्वक हो, उसकी सावधानी गृहस्थ रखे । अहिंसा अभयदान से टिकती है और दया दान से टिकती है दान-रहित दया केवल बकवास है ।

✽ गुरु शिष्यों का स्वजनों आदि से वियोग करा कर पाप नहीं करते, आत्मा के भुलाये गये क्षमादि स्वजनों के साथ मिलाप कराते हैं ।

संयम जीवन में शुद्ध उपयोग पिता है । धृति (आत्मरति) माता है ।

समता पत्नी है । सहपाठी साधु ज्ञाति है ।

- ज्ञानसार

इससे भी आगे बढ़कर गुरु प्रभु के साथ मिलन करा देते हैं ।

लोच, विहार आदि के द्वारा विकसित सहनशीलता आजीवन काम आती है । उसके बाद थोड़ा सा दुःख विचलित नहीं कर सकता ।

भक्ति :

हम जैन साधुओं के रूप में पहचाने जाते हैं । जैन साधु अर्थात् जिन का साधु । जिस भगवान से हम पहचाने जाते हैं, उसी भगवान को हम भूल जायें तो क्या कृतघ्न नहीं कहलायेंगे ?

साधु किसी भी घर पर भिक्षा लेने जाये, कोई चार्ज नहीं । सुलभता से गोचरी आदि मिल जाय । यह किसका प्रभाव है ? भगवान का प्रभाव है । उस भगवान को हम कैसे भुला सकते हैं ?

भगवान विद्यमान थे तब भी लोग अपने हृदय में उनका नाम ही रखते थे, स्थापना के द्वारा ही उपासना करते थे । भगवान के मोक्ष-गमन के बाद भी नाम एवं स्थापना में कोई फरक नहीं पड़ा । वे तो वही के वही हैं । उनकी कल्याण-कारकता भी वही है ।

भगवान के प्रति भक्ति नहीं जागती हो तो मानें कि मैं दीर्घ संसारी हूँ । अल्पकालीन संसार वाले को भगवान प्रिय लगते ही हैं । अल्पकाल में जो स्वयं भगवान बनने वाला है, उसे भगवान प्रिय न लगें, यह कैसे चलेगा ? जिसे भगवान प्रिय न लगें वह भगवान नहीं बन सकता ।

यशोविजयजी तो यहां तक कहते हैं - 'मुक्ति से भी मुझे भक्ति प्रिय है । जहां भक्ति न हो ऐसी मुक्ति से मुझे क्या काम है ?'

भक्त समस्त जीवों में भी धीरे-धीरे भगवान देखता है । आज वह भगवान नहीं है, परन्तु कल वह भगवान बनने वाला ही है ।

जीव शिव ही है । आज का बीज, कल का वृक्ष है । माली बीज में वृक्ष देखता है । भक्त जीव में शिव देखता है ।

यत्र जीवः शिवस्तत्र, न भेदः शिव-जीवयोः ।

न हिंस्यात् सर्व-भूतानि, शिव-भक्ति-समुत्सुकः ॥

- अन्य दर्शन

हम भी मानते हैं -

जिनो दाता जिनो भोक्ता, जिनः सर्वमिदं जगत् ।

जिनो जयति सर्वत्र, यो जिनः सोहमेव च ॥

- शक्रस्तव

आवश्यक निर्युक्ति में...

प्रश्न : केवलज्ञान का प्रमाण कितना ?

उत्तर : गुण-गुणी का अभेद । इस दृष्टि से जघन्य से दो हाथ (कूर्मापुत्र) और उत्कृष्ट से चौदह राजलोक (समुद्घात के समय) । सामान्य देहधारी का उत्कृष्ट से ५०० धनुष ।

यह पदार्थ केवलज्ञान का ध्यान करते समय अत्यन्त ही सहायक बन सकता है ।

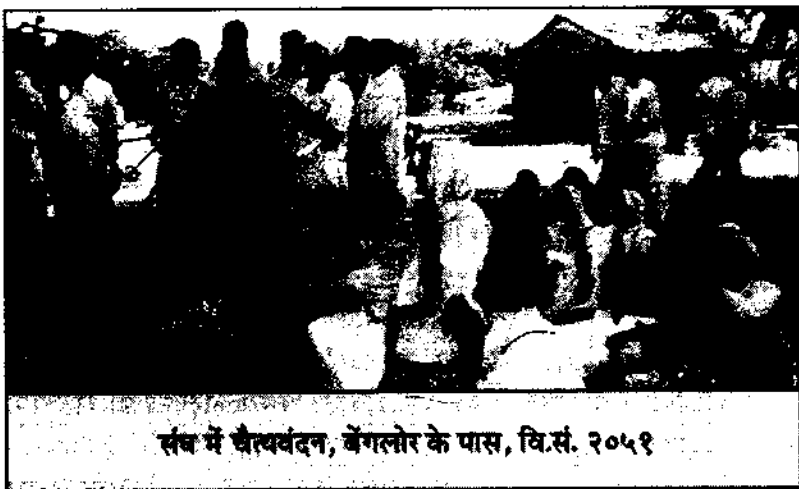
वि. संवत् २०२८ में लाकड़िया चातुर्मास में मैं एक कमरे में बैठा लिख रहा था । अचानक प्रकाश फैला । देखा तो खुली हुई छोटी खिड़की में से बादल हटने से सूर्य की किरणें आई थी । क्षयोपशम की खिड़की खुले तो ज्ञान का उजाला फैले ।

समुद्घात के चौथे समय में केवली सर्वलोकव्यापी बने तब उनके आत्म-प्रदेश हमें स्पर्श करते हैं । प्रभु मानो सामने से मिलने आते हैं । प्रत्येक छः माह के बाद इस प्रकार प्रभु हमें मिलने आते ही हैं । हम प्रभु को कब मिलते हैं ?

सकल जीवराशि के प्रेम से जो केवली बने वे अन्त में इस प्रकार मिलने आर्येंगे ही न ? अब तो मोक्ष में जाना है, फिर कब मिलेंगे ? केवली चाहे कर्म-क्षय करने के लिए करते हों, परन्तु उसमें अपना भी तो कल्याण है न ? प्रधानमन्त्री चाहे किसी भी कारण से आपके गांव में आये, परन्तु आपके गांव के मार्ग आदि तो व्यवस्थित हो जायेंगे न ?

• • • • •





संघ में दैत्यवन्दन, बेंगलोर के पास, वि.सं. २०५१

१९-८-१९९९, गुरुवार

श्रा. सु. ८

❖ श्री संघ में, तीर्थ में भगवान ने अपनी शक्ति इस प्रकार भरी जिससे इक्कीस हजार वर्ष तक चले । उस तीर्थ की सेवा हम करें तो उस शक्ति का संक्रमण हम में हो जाये ।

यदि रावण के अभिमान से, दुर्योधन के क्रोध से रामायण-महाभारत का सृजन हो सकता हो तो क्या गुणों का सृजन नहीं हो सकता ? दुर्योधनों की अपेक्षा क्या गुणों की शक्ति कम है ?

एक संगीतकार, शिल्पकार, शिक्षक कितनों को तैयार करता है ? तो एक तीर्थकर कितनों को पहुंचा सकेंगे ? भगवान आदिनाथ का केवलज्ञान असंख्य पाट-परम्परा तक चलता रहा ।

❖ सम्यग्दर्शन होने पर जीव को ख्याल आता है - मैं बै-बै करती बकरी नहीं हूं । मैं मोती का चारा चुगने वाला हंस हूं, गर्जना करने वाला केसरी सिंह हूं । मैं जन्म-मरण के चक्कर में पिसने वाला पामर कीट नहीं हूं, परमात्मा हूं ।

‘अजकुलगत केसरी लहे रे, निज पद सिंह निहाल ।

तिम प्रभु-भक्ते भवी रहे रे, आतम शक्ति संभाल ॥’

-पू. देवचन्द्रजी

✧ भगवान की उपस्थिति में कर्म (मोहराजा) टिक नहीं सकते । सूर्य की उपस्थिति में जैसे अन्धकार नहीं ठहर सकता । प्रभु के सान्निध्य में अधिकाधिक रहें, आपकी समस्त समस्या हल हो जायेगी । हम प्रभु से जितने दूर रहेंगे, संकट उतने समीप रहेंगे । हम प्रभु के जितने समीप होंगे, संकट उतने दूर रहेंगे । आप इस बात को हृदय पर वज्र के अक्षरों से लिख डालो ।

पंचवस्तुक

साधु प्रभु की आज्ञानुसार जीने वाला साधक है, खसठ (प्रमादी साधु) नहीं है । खसठों के लिए पू. जीतविजयजी कहते - 'भरुच के पाडे बनना पड़ेगा ।' ऊंचा-नीचा भरुच देखा है न ? उस समय वहां नल नहीं थे । भिश्ती पखालों में पाडों पर पानी लाते थे । ऐसी हित-शिक्षाएं दे-देकर पू. जीतविजयजी ने वागड समुदाय की वाटिका में कनक - देवेन्द्रसूरि जैसे पुष्पों का सृजन किया था ।

✧ साधु दिन में कितनी बार 'इरिया वहिय' करते हैं ? दस-पन्द्रह बार भी हो जाय । 'इरियावहिय' मैत्री का सूत्र है । कोई भी अनुष्ठान, जीवों के साथ टूटी हुई मैत्री का तार पुनः जुड़ जाने पर ही सफल होता है - यह बताने के लिए 'इरियावहिय' की जाती है । नवकार नम्रता का, करेमि भंते समता का, उस प्रकार इरियावहिय मैत्री का सूत्र है ।

✧ लोह डूबता है, लकड़ा तैरता है, लकड़े का आलम्बन लेने वाला भी तरता है । धर्मी तरता है, अधर्मी डूबता है, धर्मी का आलम्बन लेने वाला भी तर जाता है ।

जिस धर्म को भगवान भी नमस्कार करते हैं, वह धर्म भगवान से महान् गिना जाता है । भगवान भी धर्म के कारण महान् हैं । धर्म महान् या तीर्थकर महान् ? इस प्रश्न का उत्तर यह है । तीर्थकर केवल अमुक समय तक ही देशना देते हैं । शेष समय में आधार किसका ? धर्म का । भगवान या गुरु निमित्त कारण ही बन सकते हैं । उपादान कारण तो हम ही हैं । पुरुषार्थ तो हमें ही करना पड़ेगा ।

पुरुषार्थ में रुकावट डालने वाला प्रमाद है ।

आपको किस पर विश्वास है ? प्रमाद पर विश्वास है कि पुरुषार्थ

पर ? शत्रु होते हुए भी प्रमाद को बहुत थपथपाया । मित्र होने पर भी धर्म-पुरुषार्थ की कायम उपेक्षा ही की है । चौबीस घण्टों में प्रमाद कितना ? पुरुषार्थ कितना ? पुरुषार्थ हो तो भी किस सम्बन्ध में होगा ? विपरीत दिशा का पुरुषार्थ तो बहुत किया । पल-पल में सात कर्म तो हम बांधते ही हैं । वे कर्म शुभ बांधना हैं कि अशुभ ?

अभी ही भगवती सूत्र में उल्लेख देखा :

‘प्रमाद कहां से आया ? योग (मन-वचन-काया) से ।

योग कहां से ? शरीर से । शरीर कहां से ? जीव से आया ।’ यह जीव ही सब का मूलाधार है । इसकी शक्ति को जागृत करो । यह सोता हुआ सिंह है । जागने के बाद कोई इसके सामने टिक नहीं सकता ।

१५८ प्रकृतियां भले चाहे जितनी सशक्त प्रतीत होती हो, परन्तु वे तब तक ही सशक्त हैं, जब तक आत्मसिंह सोया हुआ है । सिंह गर्जना करे, छलांग लगाये, फिर बकरियां कहां तक ठहरेंगी ?

✽ नेपोलियन ने एक बार सेना को आदेश दिया, ‘शत्रु का भय है, सेना की छावनियों में कोई प्रकाश नहीं करे ।’ फिर वह देखने के लिए निकला - देखा तो ‘सब से बड़ा जनरल ही प्रकाश जला कर अपनी प्रिया को पत्र लिख रहा था ।’

नेपोलियन बोला, ‘आपको मालुम नहीं है, आज क्या आदेश है ? आदेश का उल्लंघन करके प्रिया को पत्र लिखा न ? अब पत्र में नीचे लिखो - ‘मैंने अपने नेता की आज्ञा का उल्लंघन किया है, अतः मेरा नेता मुझे अभी ही गोली से उड़ा देगा ।’ यह अन्तिम पंक्ति होगी ।’

और सचमुच ही नेपोलियन ने उस सेना के जनरल को गोली से भून दिया ।

एक सामान्य सम्राट् की आज्ञा के अनादर का ऐसा परिणाम होता है तो तीर्थंकर की आज्ञा का अनादर करने का क्या फल होगा ? थोड़ी कल्पना करें ।

आज्ञा में अवरोध रूप प्रायः अपना प्रमाद ही होता है, यह न भूलें । हमारा जीवन प्रमादमय है ।

प्रमाद पांच प्रकार का तो अनेक बार सुना है । कभी आठ प्रकार बताऊंगा ।

इस विषम काल में यदि प्रभु भक्ति मिल गई तो समझना कि भव सागर का किनारा आ गया ।

‘एकबार प्रभु वन्दना रे, आगम रीते थाय’ ‘इक्को वि नमुक्कारो’ एक बार भी प्रभु की झलक दिख जाये तो जीवन सफल ।

भगवान के दर्शन भी उसे ही प्राप्त होते हैं, जिसमें विरहाग्नि हो । विरह जितना उत्कट होगा, मिलन उतना ही मधुर होगा । प्यास जितनी उत्कट होगी, जल उतना ही मधुर लगेगा । भूख जितनी उत्कट होगी, भोजन उतना ही मधुर एवं स्वादिष्ट लगेगा ।

‘दरिसण दरिसण रटतो जो फिरुं, तो रणरोझ समान’

आनन्दघनजी की उपर्युक्त पंक्ति में प्रभु-विरह कितना उत्कट दिख रहा है ?

हम प्रभु-विरह के बिना प्रभु-दर्शन पाना चाहते हैं । गर्मी के बिना बादल भी नहीं बरसता तो प्रभु कैसे बरसे ? इस समय शीतल वातावरण है, थोड़ी भी गर्मी नहीं है तो बादल कहां बरसता है ?

प्रभु-मिलन (केवलज्ञान-प्राप्ति) तो क्षणभर में ही, अन्तर्मुहूर्त में ही होने वाला है, परन्तु उसके लिए जन्म-जन्म की साधना चाहिये, प्रभु-विरह की उत्कट तड़पन चाहिये ।

❖ यथाप्रवृत्तिकरण यों असंख्य प्रकार से है, परन्तु मुख्य दो प्रकार हैं - चरम यथाप्रवृत्तिकरण एवं अचरम यथाप्रवृत्तिकरण ।

असंख्य यथाप्रवृत्तिकरण होने के बाद अन्तिम ऐसा यथाप्रवृत्तिकरण आता है जो उसे अपूर्वकरण में ले जाता है । अपूर्वकरण ऐसा वज्र है, जो राग-द्वेष की तीव्र गांठ को छेद डालता है । राग-द्वेष की गांठ के भेदन के बाद प्रभु के दर्शन होते हैं जैसे बादल हटने पर चन्द्रमा के दर्शन होते हैं ।

❖ हरिभद्रसूरि का वचन अर्थात् आगम-वचन । हरिभद्रसूरि के बाद हुए प्रत्येक आचार्य ने ऐसी मुहर लगा दी है । वे कैसे गीतार्थ एवं शासन समर्पित महापुरुष होंगे ? उनके ग्रन्थ पढ़ो । आपको उनका हृदय पढ़ने को मिलेगा ।

* * * * *



२०-८-१९९९, शुक्रवार

श्रा. सु. ९

❖ श्रावक की समग्र प्रवृत्ति चारित्रावरणीय कर्म के क्षय के लिए ही होनी चाहिए । कभी प्रसंग आने पर वह दीक्षा अंगीकार करने के लिए तैयार हो जाय । प्रव्रज्या के बाद प्रतिदिन साधु की दिनचर्या कैसी हो, यह जानने का श्रावक का अधिकार है ।

❖ **पड़िलेहन :** साधु कोई भी वस्तु पड़िलेहन किये बिना काम में नहीं ले । गोचरी के लिए जाते समय भी वह दृष्टि - पड़िलेहन करे । एक बार गुरु ने शिष्य को इस सम्बन्ध में थोड़ा सचेत किया ।

शिष्य को हुआ कि बार-बार क्या देखना है ? अभी तो मैंने देखा है ।

झोली खोली तो भीतर बिच्छु था ।

कई बार देखे बिना तरपणी ले जाते समय भीतर डोरा, पूंजणी आदि पड़े रहते हैं । अनेक बार ऐसा होता है । अतः देखना आवश्यक है ।

मैं छोटा था । स्थंजिल जाने की उतावल थी । गंजी उतार कर कील पर टांग दिया । पांच-दस मिनट के बाद वैसे ही पहन लिया । देखा तो छः इंच लम्बा बिच्छु था, परन्तु उसने डंक नहीं

लगाया । हमारा घर बिच्छुओं का घर था । सफाई करते समय १०-१५ बिच्छु तो निकलते ही, परन्तु मुझे कभी बिच्छु ने काटा नहीं । 'धर्मो रक्षति रक्षितः ।'

प्रत्येक क्रिया जयणापूर्वक की जानी चाहिये । जयणा न रखी तो हमें तो दोष लगा ही समझो । फिर चाहे जीव-हिंसा नहीं भी हुई हो । साधु के लिए प्रमाद ही हिंसा है ।

जिसके हृदय में प्रभु हो उसे क्या प्रमाद होगा ? प्रमाद नहीं, प्रमोद होगा । प्रभु-भक्ति आते ही प्रमाद प्रमोद में बदल जाता है ।

✽ मद्रास में बड़े-बड़े डाक्टरों को मिलना हुआ है । उनमें भगवान की भक्ति देखने को मिली । वे कहते - 'हम तो निमित्त हैं । भगवान करेंगे तो अच्छा होगा । ईश्वर की प्रेरणा से हुआ । ईश्वर ने किया । हम कौन हैं ? हम तो केवल निमित्त हैं ।' ऐसे उद्गार सुने जाते हैं । हम होते तो क्या कहते ? कहने के खातिर 'देव-गुरु-पसाय' कहते हैं, परन्तु भीतर अभिमान भरा हुआ ही होता है ।

✽ पड़िलेहन-विधि जैसी इस समय करते हैं, वैसी यहां 'पंचवस्तुक' में बताई गई है ।

पड़िलेहन आदि हम बहुत जल्दी करते हैं ।

हमें शीघ्रता की पड़ी है । ज्ञानियों को जीवों की पड़ी है । पड़िलेहन शीघ्र करने से मोक्ष-मार्ग पर धीरे-धीरे पहुंचते हैं, धीरे करने से शीघ्र पहुंचते हैं । इसमें समय बिगड़ता नहीं है, सफल होता है । स्वाध्याय करके आखिर क्या करना है ? 'ज्ञानस्य फलं विरति ।'

भक्ति

पड़िलेहन भी आज्ञा रूप एक भक्ति ही है ।

✽ प्रभु के प्रति प्रेम अर्थात् उनके गुणों के प्रति प्रेम । प्रभु के गुण अनन्त हैं, अनन्तानन्त हैं । प्रत्येक प्रदेश में दूंस-दूंस भरे हैं गुण ।

वही गुण हमारे भीतर भी हैं । अनन्त खजाना हमारे पास होते हुए भी हम प्रमाद में हैं, नींद में हैं, भगवान कहते हैं - थोड़ा तो जाग कर देखो । अनन्त का खजाना आपके पास ही

है । आप इन्द्रियों के सुख में मूढ बन कर पड़े रहो, यह मोह को अत्यन्त प्रिय लगता है, क्योंकि यदि आपकी मूढता चली जाये तो मोह की पकड़ छूट जाये और आप अनन्त की ओर झांक सको ।

मोह की अधीनता से कर्म बंधते हैं ।

भगवान की अधीनता से कर्म टूटते हैं ।

प्रभु ही मोह-जाल में से हमें मुक्त कर सकते हैं ।

पुद्गल के प्रेम से मुक्त होने के लिए प्रभु का प्रेम चाहिये ।

प्रेम आत्मा का स्वभाव है, उसे छोड़ा नहीं जा सकता है ।

परन्तु उसका रूपान्तर किया जा सकता है । पुद्गल का प्रेम प्रभु में जोड़ा जा सकता है ।

शब्द आदि पुद्गल के गुण हैं । ज्ञान आदि आत्मा के गुण हैं । हमें कौनसे गुण प्रिय हैं ? जो गुण प्रिय लगेंगे वे मिलेंगे ।

✽ प्रभु का शरणागत निर्भय होता है । यदि भय हो तो समझें कि अभी तक प्रभु का सम्पूर्ण शरण स्वीकार नहीं किया ।

✽ प्रभु के गुण एवं प्रभु, प्रभु का नाम एवं प्रभु, प्रभु की मूर्ति एवं प्रभु एक ही हैं ।

✽ नदी की बाढ़ जब तटों को तोड़ कर बहने लगती है तब कुँए, तालाब, नदियाँ आदि जल से छलछला उठते हैं । उस समय वहाँ कोई भेद नहीं रहता । प्रभु के साथ एकता हो जाती है, ध्याता, ध्येय और ध्यान की एकता हो जाती है तब सब एक हो जाता है ।

✽ किसी भी पदार्थ के प्रति आसक्ति न हो, ऐसा जीवन कब बनता है ? जब प्रभु के प्रति प्रेम जगता है, जब प्रभु के साथ एकात्मता हो जाती है ।

♦ ♦ ♦ ♦ ♦





मुक्तम में प्रधास्ते हुए पूज्यश्री, बेंगलोर के कर, विस. १०५१

२१-८-१९९९, शनिवार

श्रा. सु. १०

अल्प संसारी को भगवान की वाणी (आज्ञा) प्रिय लगती है, तदनुसार जीवन यापन करना प्रिय लगता है। यही मोक्ष का सच्चा उपाय है। आज्ञा का उल्लंघन ही भव-परिभ्रमण का कारण है। कर्म-बंध का मुख्य कारण प्रभु की आज्ञा की विराधना ही है।

✽ प्रमाद नहीं अप्रमाद, शुभ योग, सम्यक्त्व आदि आ जायें तो हमारे प्रयाण की दिशा बदल जाये, मोक्ष की दिशा आ जाये और पहले का विपरीत पुरुषार्थ अनुकूल पुरुषार्थ हो जाये।

कर्म बांधने में, भोगने में पुरुषार्थ होता ही है, परन्तु अब वह कैसा करना चाहिये, यह निश्चित करना है। मैं कहता हूँ कि पुरुषार्थ करना ही है तो विपरीत पुरुषार्थ क्यों किया जाये? अविपरीत पुरुषार्थ ही क्यों न किया जाये?

✽ यह करें, यह न करें आदि बारीक-बारीक बातों का उपदेश इस लिए दिया गया है कि हम वक और जड़ हैं। नट का निषेध किया हो, तो नटी का नाटक देखने वाले और प्रेरक गुरु को डांटने वाले हम हैं। जितनी वक्रता तथा जड़ता अधिक होगी उतना ही विधि-निषेध का उपदेश अधिक होगा। मनुष्य

जितना जंगली एवं असभ्य होगा, कायदे-कानून उतने ही अधिक होंगे । कायदे-कानून का बढ़ना, मनुष्य की बढ़ती हुई असभ्यता का द्योतक है, विकास का नहीं ।

❖ पडिलेहण-गोचरी मौनपूर्वक होने चाहिये । गोचरी तो इस प्रकार होनी चाहिये कि पास में किसी को मालूम ही न पड़े कि यहां गोचरी आदि कुछ चल रहा है ।

❖ साधु को क्रोध नहीं करने की प्रतिज्ञा देने का प्रश्न ही नहीं है । दीक्षा ग्रहण की तब से यह प्रतिज्ञा है ही । जब जब क्रोध आता है, तब-तब उस प्रतिज्ञा में अतिचार लगता है । साधु का नाम ही क्षमाश्रमण है । दस प्रकार के यति धर्मों में प्रथम धर्म क्षमा है । सामायिक का अर्थ समता होता है । समता का अभ्यास ज्यों-ज्यों बढ़ता जाता है, त्यों-त्यों आनन्द बढ़ता जाता है ।

क्रोध से अप्रसन्नता और समता से प्रसन्नता की वृद्धि होती है ।

सम्यक्त्व सामायिक एवं चारित्र सामायिक दीक्षा के समय ही स्पष्ट आलावा के उच्चारणपूर्वक उच्चरया जाता है । योगोद्वहन अर्थात् श्रुत सामायिक की साधना ।

संक्लेश संसार का एवं समता मोक्ष का मार्ग है

‘क्लेशे वासित मन संसार, क्लेश-रहित मन ते भवपार ।’

संक्लेश से चौदह पूर्वी निगोद में गये हैं और असंक्लेश से ‘मारुष मातुष’ वाक्य को भी स्मरण नहीं रख सकने वाले माषतुष मुनि केवलजानी बने है ।

❖ जिस प्रकार नरक का जीव नरक से, कैदी कैद से भाग छूटना चाहता है, उस प्रकार से मुमुक्षु संसार से छूटना चाहता है । करोड़पति का पुत्र भी विषयों को विष-तुल्य माने ।

पांच लक्षण भीतर रही उत्कट मुमुक्षुता को बताते हैं :

१. शम : गुरु चाहे जितने कटु वचन कहें, परन्तु वह क्रोधित नहीं होगा ।
२. संवेग : मोक्ष की तीव्र इच्छा अर्थात् आत्म-शुद्धि की तीव्र इच्छा होगी ।

३. निर्वेद : नरक से ही नहीं, स्वर्ग के सुखों से भी विरक्त होगा, निर्धनता से ही नहीं, धनाढ्यता से भी विरक्त होगा ।
४. अनुकम्पा : दुःखी जीवों के प्रति करुणाद्रि हृदय होगा । छः जीव निकायों के वध में अपना स्वयं का वध होता देखेगा ।
५. आस्तिक्य : देव-गुरु के वचनों पर पूर्ण विश्वास होगा । अतः वह पूर्णतः समर्पित होगा ।

ऐसा जन्म बार-बार नहीं मिलेगा । कृपया आत्म-साधना का कार्य बाद में करने के लिए न रखें । ऐसी सामग्री पुनः कहां मिलेगी ? नैया किनारे लगने की तैयारी है और क्या हम प्रमाद करेंगे ? यह मैं अपने हृदय की बात करता हूं ।

✻ साम सामायिक (सम्यक्त्व सामायिक) के लक्षण ।

यहां शङ्कर, द्राक्ष से अनन्त गुने मधुर परिणाम होते हैं । विशुद्ध लेश्या के प्रभाव से शङ्कर के बिना ही मधुरता आ जाती है । तीन लेश्या टलती हैं और तेजोलेश्या शुरू होती है, तब से आनन्द की, प्रसन्नता की वृद्धि होगी ही ।

जीव-मैत्री एवं जिन-भक्ति ये दोनों साम-सामायिक की प्राप्ति के उपाय हैं । मैत्री एवं जिन-भक्ति इन दोनों की वृद्धि होगी तो जीवन में मधुरता की अनुभूति प्रत्यक्ष देखने मिलेगी । अनुभव करके देखें । यदि कटुता हो तो समझें कि अभी तक हृदय में कषाय विद्यमान है ।

जिन-भक्ति जीव-मैत्री आदि के संस्कारों को पटुता, अभ्यास एवं आदर से इतने सुदृढ करने चाहिये कि भवान्तर में वे साथ आयें ।

* * * * *





२२-८-१९९९, रविवार

श्रा. सु. ११

❖ स्वयंभूरमण जैसा समुद्र भी छोटा पड़े, इतनी करुणा भगवान के हृदय में भरी हुई है। उस भव में ही नहीं, सम्यक्त्व से पूर्व के भवों में भी परोपकार बुद्धि सहज होती है। शास्त्रकारों ने उनके सम्यक्त्व को वरबोधि तथा समाधि को वर समाधि के रूप में बताया है। अन्य जीव अपने मोक्ष की साधना करते हैं, जबकि भगवान स्व-मोक्ष के साथ अन्य व्यक्तियों के मोक्ष को भी साधते हैं। स्वयं ही नहीं, अन्य व्यक्तियों को भी जिताये वही नेता बन सकता है। भगवान उच्च नेता हैं - 'जिणाणं जावयाणं' हैं।

उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम, विमध्यम, अधम एवं अधमाधम - इन छः प्रकारों में उत्तमोत्तम के रूप में केवल तीर्थंकर भगवान को गिने हैं।

यहां चुनाव नहीं है। वे स्वयं अपने गुणों से बिना प्रतिद्वंद्वी के चुन कर आते हैं। हम धर्मकारी हैं परन्तु धर्मदाता नहीं हैं। भगवान धर्मदाता हैं, बोधि-दाता हैं।

इसी लिए भगवान को धर्म ने अपना नायक बनाया है।

दीक्षा के समय 'करेमि भंते' के द्वारा सामायिक के पाठ का

हम उच्चारण करते हैं । सामायिक अर्थात् समता । इसके बिना साधना का प्रारम्भ नहीं हो सकता । झगड़ा करके आप माला गिन देखे, मन नहीं लगेगा । सरोवर में किसी भी स्थान पर एक छोटा सा कंकड़ फेंको, उसकी तरंगें सर्वत्र फैल जायेंगी, ठेठ किनारे तक फैल जायेंगी । सरोवर की तरह जगत् में भी अपने शुभ-अशुभ कार्यों की तरंगें फैलती हैं । जीवास्तिकाय एक है, दो नहीं । एसीलिए 'सर्वपाणभूअजीवसत्ताणं आसायणाए' - इस तरह पगामसज्जाय में कहा है, सकल जीवराशि से क्षमा-याचना की है । समस्त जीवों पर मैत्री ही करनी है । कभी निर्गुणी के प्रति मध्यस्थता रखनी पड़े तो भी वह मैत्री एवं करुणा से युक्त ही होनी चाहिये ।

मुंबई जाकर प्रति वर्ष गृहस्थों की रकम बढ़ती ही जाती है । साधु जीवन में इस प्रकार क्या समता बढ़ती है ? साधु जीवन के अनुष्ठान ही ऐसे हैं जो समता की वृद्धि करते हैं । 'तपोधनाः, ज्ञानधनाः, समताधनाः, खलु मुनयः' कहा गया है ।

ज्ञान की सम्पत्ति बढ़ती है त्यों समता बढ़ती है । इसीलिए ज्ञान के बाद 'शमाष्टक' ज्ञानसार में रखा है ।

पीयूषमसमुद्रोत्थं, रसायनमनौषधम् ।

अनन्यापेक्षमैश्वर्यं, ज्ञानमाहुर्महर्षयः ॥

-ज्ञानसार - ज्ञानाष्टक

✽ बचपन में मेरे पास दो ग्रन्थ आये थे - केशरसूरिकृत 'आत्मज्ञान - प्रवेशिका' और मुनिसुन्दरसूरिकृत 'अध्यात्म - कल्पद्रुम ।'

इन्हें पढ़ने के बाद अध्यात्म की रुचि प्रकट हुई । मारवाड़ में पुस्तकें बहुत कम मिलती थी । किसीने पुस्तकें लिखी तो हमारे काम आई । तो अपना ज्ञान भी अन्य के लिए उपकारक बने, क्या वैसा कुछ नहीं करना ? गृहस्थों के पास धन सम्पत्ति है । वे उसे देते हैं । हमें ज्ञान प्रदान करना है ।

ज्ञान का वितरण करने से कभी घटता नहीं है, प्रत्युत बढ़ता ही रहता है ।

ज्ञान के अनुसार समता आती है, धनराशि के अनुसार ब्याज आता है ।

❖ 'श्वासमांहे सो बार संभारूं' इस प्रकार हमारे पूर्वज कह गये हैं और हमारे में से अनेक केवल सांस देखने में पड़ गये । सांस मुख्य बन गया और परमात्मा उड़ गये । घड़ी को केवल देखनी नहीं है । उसके द्वारा सिर्फ समय ज्ञान प्राप्त करना है । कुछ व्यक्ति समयज्ञान छोड़ कर केवल घड़ी देखने में लग गये ।

एकाग्रता के बिना ध्यान नहीं होता । निर्मलता के बिना एकाग्रता नहीं आती । भगवान की भक्ति के बिना निर्मलता नहीं आती । जहां भगवान नहीं है वहां कुछ भी नहीं है । वह ध्यान नहीं है, बेहोशी है ।

❖ मोक्ष का सुख भले परोक्ष है, समता का यही है, प्रत्यक्ष है ।

❖ जैसे हमारे पूर्वजन्म के संस्कार होंगे, हमें पुस्तके भी वे ही प्रिय लगेगी । इस समय संस्कारों का जो पुट हम देंगे, आगामी जन्म में वे ही हमारे साथ चलेंगे ।

❖ दक्षिण में जाकर लोगों की दृष्टि में भले ही हम शासन-प्रभावक बने, परन्तु यह सब तुच्छ है । महात्मा तैयार हों, वही सच्ची शासन-प्रभावना है । महात्माओं को तैयार करने के लक्ष्य से ही 'वांकी' में चातुर्मास किया है ।

❖ पू.पं. भद्रकरविजयजी के पास तीन वर्ष रह कर प्रत्यक्ष देखने को मिला कि संघ के साथ, जीवों के साथ, मुनियों के साथ कैसा समतामय व्यवहार करना चाहिये । उनका जीवन मूर्तिमंत समता था ।

❖ मैं भगवान के भरोसे हूं । कोई निश्चित नहीं होता कि क्या बोलना है ? मैं तो केवल प्रभु से प्रार्थना करता हूं - 'दादा ! तू बुलायेगा वैसा बोलूंगा । सभा के लिए योग्य हो वैसा मुझसे बुलवाना । वैसे ही शब्द तू मेरी जबान पर डालना ।'

❖ साम सामायिक मधुरता लाती है । मन-वचन-काया में उसकी झलक दृष्टिगोचर होती है । दिखावे की मधुरता नहीं, परन्तु जीवन का अंग होती है । इस मधुरता से देव-गुरु-आगमों आदि के प्रति भक्तिभाव प्रकट होता है, चतुर्विध संघ के प्रति बहुमानभाव प्रकट होता है ।

❖ कामली, दांडો, ઓઘો આદિ 'મેરે' હૈ, પરન્તુ ભગવાન 'મેરે' હૈ એસા કબી લગા ? 'જીવમાત્ર મેરે' હૈ, એસા કબી લગા ?

‘સર્વે તે પ્રિય બાન્ધવાઃ ન હિ રિપુરિહ કોપિ ।

મા કુરુ કલિકલુષં મનો નિજ સુકૃતવિલોપિ ॥

- શાન્ત સુધારસ

સર્વે તુજ પ્રિય બંધુ છે, નથી શત્રુ કોઈ,
झगड़ो करी मन ना बगाड़, जशे सुकृत भाई !

♦ ♦ ♦ ♦ ♦

પૂજ્યશ્રીના આઘાતજનક સમાચાર સાંભળી શોક સંતપ્ત હૃદયવાલો
एवो विचारमूढ बनी गयो हूं के आपश्रीने शुं लखुं ? अने शुं न
लखुं ? काई ज समजातुं नथी ।

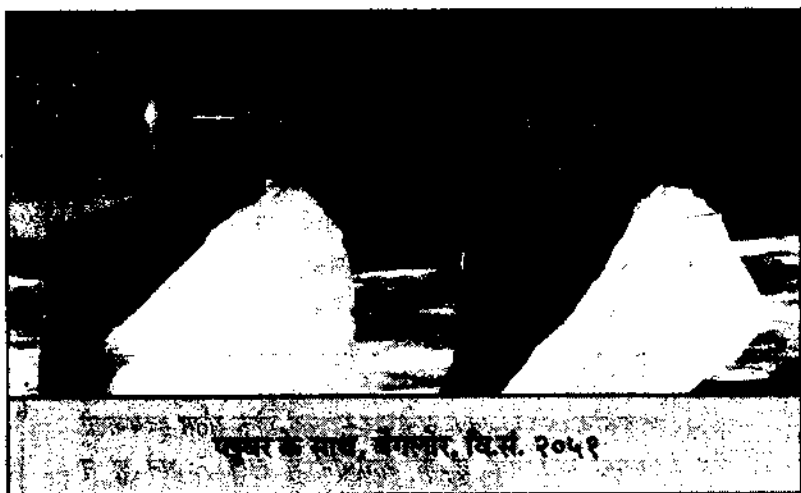
પ્રાતઃ સમયે નાકોડા તીર્થના બત્રે મૈનેજરોએ મારી પાસે આવીને
कालधर्मना जे समाचार आप्या ते सांभलतांनी साथे हुं एकदम रड़ी
पड्यो, हृदय भांगी पड्युं, अंतर शून्य थई गयुं, काई ज करवानुं
मुझे नही, मन्दिर पण ठेठ साड़ा बार वाग्या पछी जई शक्यो ।

સવા મહિનાના અલ્પ સત્સંગમાં પૂજ્યશ્રી દ્વારા પ્રાપ્ત થયેલ અનહદ
वात्सल्यभावना कारणे अत्यारे पण अनुभवाइ रहेल आन्तरिक सान्निध्य
कालधर्मना समाचार सांभळतांनी साथે જ જાણે झुंटावाइ गयुं ।

સવા મહિનાના સાન્નિધ્ય દરમ્યાન પૂજ્યશ્રી સાથે કરવા મલેલ
परमात्मभक्तिना अनुष्ठानरूप चैत्यवंदन - देववन्दन - लागलगाट
अनेकानेक स्तवन आ बहुं याद करुं हूं अने आंखोमांथी आंसुओ
टपके छे अने आ रुदनना कारणे पत्रलेखननी गति पुनः पुनः स्तंभित
थइ जती होवाथी अहीं सुधीनो पत्र लखतां दोढ कलाक व्यतीत थइ
गयो छे अने हवे छेवटे नरेन्द्रभाईने आपनी पાસે આવવા માટે અહીંથી
रवाना थवानो गोडीनो समय थइ जवाना कारणे मनना बधा ज भावोने
मनमां ज दबावीने पत्र परणे पूरे करुं हूं ।

- एज... मुनि रैवतविजयनी वंदना

१६-०२-२००२, नाकोड़ा तीर्थ.



२३-८-१९९९, सोमवार
श्रा. सु. १२

❖ जिसने अहिंसा रूपी सिद्धशिला पर निवास नहीं किया, वह ईषत्प्राग्भास सिद्धशिला पर निवास नहीं कर सकता ।

इषत्प्राग्भास सिद्धशिला कार्य है, अहिंसा कारण है ।

‘शिवमस्तु सर्व जगतः’ में आया हुआ शब्द ‘शिवा’ का अर्थ अहिंसा होता है । प्रश्न व्याकरण में अहिंसा के पर्यायवाची शब्दों में ‘शिवा’ शब्द भी है । ‘अहं तित्थरमाया’ ‘मैं अहिंसा, शिवा, करुणा, तीर्थकर की माता हूँ,’ करुणा के बिना कोई भी तीर्थकर नहीं बन सकता । अतः समस्त गुणों को उत्पन्न करने वाली, शेष व्रतों की रक्षा करने वाली अहिंसा ही है ।

हृदय कठोर हो तो समझें - अनन्तानुबंधी कषाय है । जब तक यह होगा तब तक सम्यग्दर्शन नहीं होगा । जब तक सम्यग्दर्शन न हो तब तक गुण भी अवगुण कहलायेंगे । अवगुण तो अवगुण हैं ही ।

सम्यग्दर्शन की जननी अहिंसा है, मैत्री है, प्रभु-भक्ति है । कठोर-हृदयी व्यक्ति मैत्री या भक्ति नहीं कर सकता ।

एक तो अनन्तानुबंधी कषाय हो और साथ में मिथ्यात्व हो तो फिर पूछना ही क्या ?

पड़िलेहन, काजा निकालना आदि साधु के आचार, अहिंसा को परिपुष्ट करने वाले हैं। पड़िलेहन करते समय, काजा निकालते समय आप ऐसी भावना भायें - 'ओह ! मेरे प्रभु ने कैसा उत्तम धर्म बताया है ? कैसी करुणा झलकती है प्रत्येक अनुष्ठान में ?

यहां कोई क्रिया छोटी नहीं है। काजा निकालने की क्रिया से भी केवलज्ञान होता है।

✿ इर्यासमित साधु को देखकर इन्द्र ने प्रशंसा की। अश्रद्धालु देव ने परीक्षार्थ मार्ग में चींटियां और सामने से दौड़ता हुआ पागल हाथी तैयार किया। साधु मरने के लिए तत्पर हो गये पर वे चींटियों पर नहीं चले। हाथी ने उन्हें उठा कर जहां अधिक चींटियां थी उस भूमि पर फेंका। उस समय भी खुद को चोट लगने की चिन्ता न करके चींटियों के प्रति करुणामय विचार करते साधु को देख कर देव नत-मस्तक हो गया और उसने क्षमा याचना की।

✿ पड़िलेहन के छः दोष :

१. आरभडा : उल्टा करना अथवा शीघ्रता से करना।
 २. संमर्दा : मसलना, उपधि पर बैठना, किनारे मुड़े हुए होना।
 ३. अस्थान स्थापना : अस्थान पर रखना।
 ४. प्रस्फोटना : झटकना।
 ५. विक्षिप्ता : प्रतिलेखित वस्त्र को फेंकना।
 ६. वेदिका : पांच प्रकार से अविधिपूर्वक बैठना।
- ये छः पड़िलेहन के दोष हैं।

भक्ति

मुनिचन्द्रविजय : कई विद्वान मानते हैं कि जैन दर्शन में भक्ति के लिए कोई जगह नहीं है, वह तो सिर्फ पुरुषार्थ का मार्ग है। और भक्ति को ही आप मुख्य बता रहे हैं। जैन दर्शन में कोई भक्ति-शास्त्र है ? या जैन शैली के अनुरूप भक्ति-शास्त्र की रचना की जा सकती है क्या ?

पूज्यश्री : जग चिन्तामणि, वीतराग स्तोत्र, लोगस्स, नमुत्थुणं, ललितविस्तरा, शक्रस्तव, चैत्यवन्दन भाष्य (२४ द्वार, २०७४ प्रकार)

(‘सव्वोवाहि विसुद्धं एवं...’) गुरु भक्ति में वांदणा, गुरु वन्दन भाष्य, नव स्मरण आदि हम जैनों के भक्तिशास्त्र हैं ।

‘भत्तीइ जिणवरिदाणं... सिज्झंति पुव्वसंचिआ कम्मा ।’

सुयगडंग में वीर स्तुति अध्ययन (तेरापंथी में मांगलिक के रूप में प्रयुक्त होता है ।) से मरणान्तक कष्ट दूर होते हैं ।

‘जम्बूस्वामी ने पूछा - ‘मैंने महावीर स्वामी को नहीं देखे । आपने यदि देखे हैं तो आप उनका वर्णन करें । इसके उत्तर में सुधर्मास्वामी ने भगवान महावीर का आबेहूब वर्णन किया है जो सुयगडंग वीर-स्तुति अध्ययन के रूप में समाविष्ट हैं ।

आपके पास बुद्धि है, लिखने की शक्ति है । इन सबका संकलन करके भक्तिशास्त्र के विषय में लिखा जा सकता है । भक्ति के मूल स्रोत गणधर भगवन्त हैं ।-

नाम आदि चार प्रकार से भक्तिदर्शक सूत्रों की झलक :

नाम : लोगस्स (नामस्तव, लोगस्स कल्प आदि साहित्य, ‘साहित्य विकास मण्डल’ आदि द्वारा प्रकाशित ।)

स्थापना : अरिहंत चेइआणं सूत्र ।

द्रव्य : जे अ अईआ सिद्धा ।

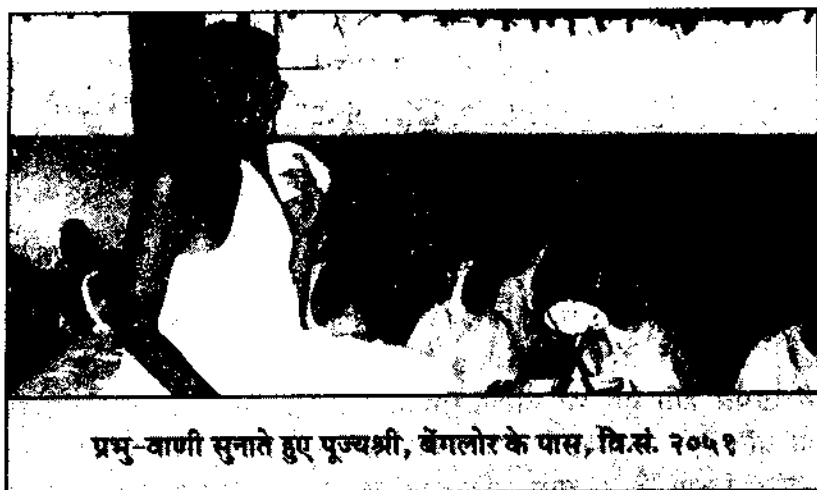
भाव : नमुत्थुणं सूत्र ।

✽ सूर्याभ देव ने भक्ति के लिए भगवान की स्वीकृति मांगी । नृत्य, नाट्य आदि प्रारम्भ किया । साधु-साध्वीजी बैठे रहे । प्रभु-भक्ति हो रही हो तब बैठने से स्वाध्याय जितना ही लाभ होता है ।

✽ भगवान में गुणों का तथा पुन्य का प्रकर्ष है । सामान्य केवली में पुन्य का इतना प्रकर्ष नहीं होता । भगवान के गुण और पुन्य दूसरों के काम लगेंगे ही । आत्म-कल्याण से तत्त्व मिलता है । परोपकार से तीर्थ चलता है ।

• • • • •





२४-८-१९९९, मंगलवार
श्रा. सु. १३

डूबते को जहाज, अन्धकार में भटकने वाले को दीपक, मारवाड़ में मध्यान्ह में वृक्ष, हिमालय की शीत में अग्नि प्राप्त हो, उस प्रकार हमें इस असार संसार में तीर्थ प्राप्त हुआ है ।

सम्यग्दर्शन राजमार्ग हैं । मार्गानुसारिता वहां पहुंचने की पगडंडी है । जब मार्ग भूल जायें तब हमें स्वतः ही सही रास्ता नहीं मिलता । किसी भोमिये की आवश्यकता होती है । जिन मनुष्यों की पैदल चलने की आदत है, जो कभी मार्ग भूले हैं, उन्हें यह बात समझ में आयेगी । भगवान भी इस भव-अटवी में हम भूले हुआओं के लिए भोमिये हैं । इस संसार में अनेक मत भेद हैं । इनमें हम हमारे योग्य मत को पकड़ लेते हैं । हम भगवान द्वारा प्रदर्शित मार्ग नहीं पकड़ते, हमें जो ठीक लगता है वह मार्ग हम पकड़ लेते हैं और उसे सच्चा मान लेते हैं । ऐसी मनःस्थिति को बदलने वाले भगवान हैं ।

✽ जब भी मोक्ष प्राप्त होगा तब कर्म-बन्धन के हेतुओं से नहीं, कर्म-निर्जरा के हेतुओं से प्राप्त होगा ।

मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग संसार मार्ग है ।

कहे कलापूर्णसूरि - १ ***** २०१

सम्यक्त्व, विरति, अप्रमाद, अकषाय, शुभयोग मोक्ष-मार्ग हैं । हमें किस मार्ग पर चलना है ? मार्ग अनेक दृष्टिगोचर होंगे । उस समय मस्तिष्क सन्तुलित रखकर एक जिनोपदिष्ट निश्चित मार्ग पर चलने का निर्णय करना होगा ।

❖ हमारे देह को हम कितना सम्हालते हैं ? उसे थोड़ा भी कष्ट न हो उसका पूरा ध्यान रखते हैं । ऐसा ही व्यवहार यदि जगत् के समस्त-जीवों के साथ, छाःकाय के जीवों के साथ हो तो ही पड़िलेहन आदि क्रियाएं जयणापूर्वक हो सकती हैं ।

न्याय, योग एवं चौदह विद्याओं के पागामी ब्राह्मण कुल में उत्पन्न होते हुए भी हरिभद्रसूरिजी जिनाज्ञा, आज्ञा-विहित अनुष्ठानों के प्रति ऐसे समर्पित थे कि उन्होंने प्रत्येक अनुष्ठान का बहुमानपूर्वक वर्णन किया है । चाहे पड़िलेहन का हो या अन्य कोई अनुष्ठान हो । आज बड़े-बड़े साधक भी कहते हैं - प्रभु भी कब तक ? कभी न कभी तो छोड़ने ही पड़ेंगे । आखिर तो आत्मा में ही लीन बनना है, परन्तु मैं कहता हूं कि भगवान कभी भी छोड़ना नहीं है । भगवान छोड़ने पड़े ऐसी स्थिति यहां नहीं आयेगी । समग्र भारत में यह प्रचार है । दिगम्बरों में तो खास, परन्तु श्वेताम्बरों ने बराबर भक्ति-मार्ग पकड़ रखा है ।

चौदह गुणस्थानक भी प्रभु की सेवा है ।

निमित्तकारण का आलम्बन नहीं लिया जाये तो शुद्धात्मप्राप्तिरूप कार्य कहां से मिलेगा ? देवचन्द्रजीकृत चन्द्रप्रभस्वामी का स्तवन देखें ।

जहाज के बिना समुद्र पार नहीं किया जा सकता, उस प्रकार भगवान के बिना संसार से पार नहीं जाया जा सकता । धर्म-स्थापना करके भगवान तारते हैं, उस प्रकार हाथ पकड़ कर भी तारते हैं । भगवान मार्ग दर्शक हैं, उस प्रकार स्वयं मार्ग-रूप (मग्गो) भी हैं, भोमिया-रूप भी हैं ।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र मोक्षमार्ग है यह बराबर है, परन्तु यदि प्रभु के प्रति प्रेम न हो तो ज्ञान, दर्शन, चारित्र प्राप्त ही नहीं होंगे ।

यशोविजयजी यहां तक कहते हैं कि 'ताहरूं ध्यान ते समकितरूप, तेहि ज ज्ञान ने चारित्र तेह छेजी,' भगवान का ध्यान ही दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र है ।

❖ सर्व विरति का हमें सूक्ष्म अभिमान है । इसीलिए स्वाध्याय पर जोर तो देते हैं, परन्तु भक्ति पर नहीं । स्वाध्याय करेंगे, पुस्तकें पढ़ेंगे, लिखेंगे, व्याख्यान देंगे, प्रसिद्धि का यही मार्ग है न ? भगवान पर प्रेम कहां है ?

जिस प्रकार माता जबरदस्ती भी बालक को भोजन खिलाती है, उस प्रकार महापुरुष भी हमें जबरदस्ती भक्ति में जोड़ते हैं । इसीलिए तो दिन में सात बार चैत्यवन्दन करने का विधान है ।

जग चिन्तामणि में नाम आदि चारों से भगवान की भक्ति हो सकती है, यदि करनी ही हो तो । जग चिन्तामणि नित्य तीन बार, चौविहार उपवास में एक बार और त्रिविहार उपवास में दो बार बोलते हैं, परन्तु क्या आप कभी उसके अर्थ की गहराई में उतरे हैं ?

‘भक्तिर्भगवति धार्या’ - यहां ‘धार्या’ लिखा, ‘कार्या’ नहीं ।

भक्ति धारण करना मतलब कि जन्म-जन्म में साथ आये, उस प्रकार भक्ति के दृढ़ संस्कार डालना ।

उपयोग ध्यान का ही पर्यायवाची शब्द है । उपयोग अर्थात् जागृति, सावधानी, अनुष्ठान, उपयोगयुक्त हो तो ही निरतिचार होगा ।

❖ ठाणेणं-कायिक, मोणेणं-वाचिक, ज्ञाणेणं-मानसिक ध्यान । इस प्रकार कार्योत्सर्ग में तीनों योगों का ध्यान आ गया ।

❖ पं. भद्रंकरविजयजी महाराज कहते - ‘लोगस्स’ समाधि सूत्र है, जिसका दूसरा नाम ‘नामस्तव’ और तीसरा नाम ‘लोकोद्योतकर’ है । यहां लोक का अर्थ लोकालोक लेना है । मीरां, कबीर, चैतन्य आदि अजैन भी प्रभुनाम-कीर्तन के माध्यम से समाधि तक पहुंच सके हैं । लोगस्स प्रभुनाम - कीर्तन का सूत्र है ।

❖ जगचिन्तामणि के समय ‘सकलकुशलवल्ली’ बोलने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि ‘सकल’ का भावार्थ ‘जगचिन्तामणि’ में आ जाता है ।

❖ जो अप्राप्त गुणों को प्राप्त करा दे, प्राप्त गुणों की रक्षा करे वह नाथ अथवा जो असत्प्ररूपणा से रोके, सत्प्ररूपणा में जोड़े वह नाथ, योग-क्षेम करे वह नाथ ।

भगवान जगन्नाथ हैं । भगवान जगत्कृष्ण हैं, दुर्गति से बचा कर सद्गति में ले जाते हैं । कत्तखानों से बचा कर गायों को पांजरापोलों में न भेजे जायें तो ? दुर्गति से रोक कर भगवान हमें यदि सद्गति में न भेजें तो ?

‘जगबांधव’ भगवान हमारे सच्चे बन्धु हैं । आपत्ति के समय बन्धु ही काम आते हैं, दूसरे तो सब भाग जाते हैं । संकट के समय सम्पूर्ण जगत् भले ही आपको छोड़ दे, भगवान कभी नहीं छोड़ेंगे । ‘जगभाव-विअकृष्ण’ भगवान जगत् के भावों के ज्ञाता हैं ।

‘जगचिन्तामणि’ में ये समस्त नाम भगवान हुए ।

‘अद्वावयसंद्विविरूवं’ तथा ‘रिसह सितुंजि’ से ‘सासय बिबाइ पणमामि’ तक स्थापना भगवान, ‘उक्कोसय सत्तरिसय’ से द्रव्य भगवान, ‘संपइ जिणवर वीस’ से भाव भगवान की स्तुति हुई ।

♦ ♦ ♦ ♦ ♦

पूज्यपादश्रीना देवलोक धयाना समाचार सांभळी वज्रघात अनुभव्यो । जीवनभर भक्तिना माध्यमे प्रभु साथे ऐक्य अनुभवो आ काळना महान योगीए विदाय लीथो । हैयुं अंदरमां रडी रह्युं छे । हवे आवा परमात्मभक्त बीजे क्यां जोवा मळरो ? परमात्मभक्ति, जीवमैत्री अने जड विरक्तिनो त्रिवेणी संगम पूज्यश्रीमां जोवा मळ्यो हतो । वि.सं. २०५५मां सुरतना पांच दिवस दरम्यान पूज्यपादश्रीजीनी साथे रहेवा मळ्युं हतुं ते दिवसो हजु पण याद आवे छे । पूज्यश्रीना अलौकिक गुणोथी आकर्षाईने योगदृष्टिना अजवाळ भाग-३ तेमना करकमलमां समर्पण करवानी भावना जागी हती, जे साकार बनता विशेष आनंद अनुभवायो हतो ।

पूज्यश्री आ काळना महान संत, अव्वल कोटिना परमात्मभक्त, ओलिया फकीर, शांतिना फिरस्ता, शांतिना दूत, शांतिनो पैगाम हता. जीवनभर खीलीने पोतानी सुवास चोमेर फेलावीने एक कमळ अकाळे करमाई गयुं । एक दीवो पोतानो प्रकाश फेलावीने अचानक बुझाई गयो । हवे पूज्यश्रीना मार्गे आपणे सौ चालीए । पूज्यश्री जे कंटों कंडारी गया छे तेना उपर चाली कृतकृत्य बनीए ।

- एज... मुक्तिदर्शनविजयनी वंदना

म.सु. १३, मुंबई.



चैत्यवर्द्धन करते हुए गुजराती, बेंगलोर के पास, वि.सं. २०५१

२६-८-१९९९, गुरुवार

श्रा. सु. १५

अन्यून, अतिरिक्त, विपर्यास - इनके आधार पर पड़िलेहन के आठ भांगे होंगे । इनमें अन्यूनारिक्त (अधिक भी नहीं, कम भी नहीं) एक भांगा शुद्ध ।

पड़िलेहन का समय कब ?

कोई कहता है - मुर्गा बोलता है तब, कोई कहता है अरुणोदय होने पर।

कोई कहता है - प्रकाश आ जाये तब, कोई कहता है : हाथ की रेखाएं दिखाई दें तब ।

कोई कहता है - उपाश्रय में एक-दूसरे का मुंह दिखाई दे तब ।

सही समय है सूर्योदय से थोड़ा पहले । चरम पोरसी में प्रतिक्रमण स्वाध्याय आदि होने के बाद ।

✽ प्रथम प्रहर का चौथा भाग बाकी रहे तब प्रातः उधाड़ा-पोरसी आती है ।

✽ हमारे द्वारा समस्त जीवों को सन्तोष प्राप्त हो तो ही संयम सार्थक बनता है । यदि एक जीव भी आप से असन्तुष्ट होगा तो साधना में मन नहीं लगेगा ।

देह के किसी भी भाग में चोट लगे, पीड़ा हमें होगी, पूरे देह

में होगी ।, क्योंकि पूरा देह एक है, उसी प्रकार से जीवास्तिकाय के रूप में हम एक हैं । आत्मा असंख्य-प्रदेशी है, उस प्रकार जीवास्तिकाय अनन्त प्रदेशी है । जीवास्तिकाय समस्त जीवों का संग्रह है । एक भी जीव बाकी रहे तब तक तो जीवास्तिकाय नहीं ही कहा जायेगा, परन्तु एक जीव का एक प्रदेश बाकी रहे तब तक भी जीवास्तिकाय नहीं कहा जायेगा । यह जीवास्तिकाय एक है ।

जीवास्तिकाय का स्वरूप : द्रव्य से अनन्त जीव - द्रव्य, क्षेत्र से लोकाकाश व्यापी; काल से नित्य, अनादि-अनन्त; भाव से अरूपी वर्ण आदि से रहित ।

जीवास्तिकाय का लक्षण : उपयोग । उपयोग चेतना लक्षण से जीव एक ही है । ये पढे बिना पड़िलेहन, जयणा आदि सच्चे अर्थ में नहीं आती । जब तक जीवास्तिकाय के इस पदार्थ को आत्मसात् न करें, तब तक संयम नहीं पाला जा सकता ।

समुदाय, समाज, देश, मनुष्य के रूप में हम एक हैं । आगे बढ़ कर जीव के रूप में हम सब एक हैं । दृष्टि अत्यन्त विशाल बनानी पड़ेगी । समस्त जीवों को समाविष्ट कर ले वैसी विशाल दृष्टि बनानी पड़ेगी ।

भगवन् ! मैं मूढ़ हूँ । हित-अहित से अनभिज्ञ हूँ । तेरी कृपा से अहित को जान कर उससे रुकूँ । आप ऐसा करें कि मैं समस्त जीवों के साथ उचित प्रवृत्ति वाला बनूँ ।

जीवास्तिकाय एक है । इसमें कर्मकृत भेद नहीं आता । सिद्ध-संसारी समस्त जीवों को जोड़ने वाला जीवास्तिकाय है ।

शब्द, रूप, रस आदि भी नास्तित्व रूप से आत्मा में हैं ।

एक प्रदेश भी कम हो तो जीवास्तिकाय नहीं कहलायेगा, तो हम यदि एक भी जीव को हमारी मैत्री में से बाकी रखेंगे तो मोक्ष कैसे मिलेगा ?

जीव के रूप में हम व्यक्ति चेतना हैं । जीवास्तिकाय के रूप में हम समष्टि चेतना हैं । इसीलिए किसी भी जीव को सुखी या दुःखी बनाने के प्रयत्न से हम ही सुखी या दुःखी बनते हैं ।

‘खामेभि सव्व जीवे’ इस भावना पर तो हमारा सम्पूर्ण पर्वाधिराज पर्युषण पर्व अवलंबित है ।

❖ मुख्य वस्तु पंचाचार हैं । उनकी रक्षा के लिए ही अन्य सब महाव्रत आदि हैं ।

भक्ति

भक्ति दर्शनाचार में आती है, जो अन्य चारों में सहायक बनती है । भक्ति जानकारी में मिले तो सम्यग्ज्ञान, विश्वास में मिले तो सम्यग्दर्शन, कार्य में मिले तो सम्यक् चारित्र, तथा तप में मिले तो सम्यक् तप बने ।

भक्ति तीनों सामायिकों (श्रुत, सम्यक्त्व एवं चारित्र सामायिक) को लाने वाली है । इसी कारण से कोई भी सामायिक ग्रहण करते समय भगवान की भक्ति (देववन्दन आदि) की जाती है ।

भगवान, अभय, चक्षु, मार्ग आदि के दाता हैं ।

अभय अर्थात् चित्त-स्वास्थ्य ।

मन नहीं लगना, अस्तव्यस्त रहना भय है । यह शिकायत भगवान ही दूर कर सकते हैं । चित्त की विह्वलता भय से ही आती है - सूक्ष्म निरीक्षण करने पर यह ज्ञात होगा ।

‘भय चंचलता हो जे परिणामनी रे.’

- आनन्दधनजी

‘भय मोहनीय चउदिशि’

चारों ओर भय है, केवल एक भगवान का भक्त निर्भय है । प्रसन्नता अभय में से ही उत्पन्न होती है ।

जब चित्त अप्रसन्न हो तब भगवान की भक्ति करके देखो, प्रसन्नता रुमझुम करती हुई आयेगी ।

खून करने वाला अथवा चोरी करने वाला स्वयमेव भयभीत होता है । रात्रि में नींद नहीं आती, यह बड़ा भय है, परन्तु छोटे-छोटे भय तो हम सब में हैं ही ।

चित्त स्वस्थता अभय है । स्व में रहना स्वस्थता है ।

स्व अर्थात् आत्मा । भगवान स्व में रहना सिखाते हैं ।

आत्मदेव हमारे पास ही है, हम स्वयं ही हैं ।

जिस प्रकार राजा के दर्शन करना हो तो द्वारपाल रोकता है, उस प्रकार आत्मा के दर्शन दर्शनावरणीय रोकते हैं । भगवान कहते हैं - आप अपने आत्मदेव के दर्शन करें । उसके लिए भगवान स्वयं आपको आंखें प्रदान करते हैं । भगवान चक्षु-दाता हैं ।

‘हृदय नयन निहाले जगधणी, महिमा मेरु समान’

- आनन्दधनजी ।

* * * * *



बेंगलोर - चातुर्मास प्रवेश, वि.सं. २०५१

२७-८-१९९९, शुक्रवार

भा. व. १

❖ औषधि लेने से रोग अवश्य मिटता है, धर्म-सेवन (आरोग्य + बोधि + समाधि) से कर्मरोग अवश्य मिटता है ।

पूर्ण आरोग्य अर्थात् मोक्ष ।

इससे सिद्ध है कि हम रोगी हैं ।

रोगी को चाहिये वह रोग मिटाने के प्रयत्न करे ।

शारीरिक रोग का अनुभव होता है । कर्म-रोग का अनुभव नहीं होता ।

सन्निपात के रोगी को यह मालुम नहीं होता कि मैं रोगी हूँ । शराबी को खबर नहीं होती कि मैं नशे में हूँ । उस प्रकार हमें भी कर्म-रोग का ख्याल नहीं आता ।

शराबी और मोहाधीन में क्या कोई फर्क है ? दोनों में बेहोशी है । एक में बेहोशी स्पष्ट दिखती है, दूसरे की बेहोशी देखने के लिए सूक्ष्म दृष्टि चाहिये ।

मिथ्यात्व मदिरा है । वह असमंजस में डालता है । शरीर ही मैं हूँ । यह भान करता रहता है ।

देह में आत्मबुद्धि ही मिथ्यात्व है ।

ज्ञानमय आत्मा स्वयं अपने को हड्डियां एवं विष्टायुक्त देह मानता है, यह कैसा ? योगाचार्य इसे अविद्या कहते हैं ।

आत्मा नित्य, शुचि, स्वाधीन है, देह अनित्य, अपवित्र और पराधीन है ।

✽ मिथ्यात्व गये बिना प्राप्त द्रव्य चारित्र लाभदायक नहीं बनता । द्रव्य चारित्र वाला यहां भी उहंडता करता है ।

✽ देव के साथ अभेद साधो या तो देह के साथ अभेद साधो । दो में से कहीं तो एकता करनी ही है । आपको कहां एकता करनी है ?

देह को पसन्द करना है कि देव को ? देव के लिए देह छोड़ना है कि देह के लिए देव को छोड़ना है ?

✽ बहिरात्मदशा - हेय ।

अन्तरात्मदशा - उपादेय ।

परमात्मदशा - ध्येय है ।

जब तक परमात्म-दशा प्रकट न हो तब तक परमात्मा को प्राण, त्राण और आधार समझ कर साधना करनी चाहिये ।

✽ शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा आदि लक्षण दिखने लगें तो समझें कि मिथ्यात्व का जोर घट रहा है, सम्यक्त्व का सूर्योदय हो रहा है ।

सम्यक्त्व को शुद्ध रखने के लिए दर्शनाचारों का पालन अत्यन्त आवश्यक है । प्रथम ज्ञानाचार है क्योंकि ज्ञान से तत्त्व दिखाई देते हैं और फिर उस प्रकार श्रद्धा हो सकती है ।

आत्मा के प्रमुख दो गुण हैं - ज्ञान, दर्शन, जिन में ज्ञान ही प्रधान है ।

गुण अनन्त आतम तणा रे, मुख्यपणे तिहां दोय ।

तेहमां पण ज्ञानज वडुं रे, जेहथी दंसण होय रे'

- विजयलक्ष्मीसूरि

✽ आत्म-निरीक्षण करते रह कर नित्य देखना है - औषधि से कितने अंशों में रोग दूर हुआ ? धर्म से कर्म कितने अंशों में नष्ट हुए ?

देह में रह कर ही देह का मोह छोड़ना ही खास आध्यात्मिक

कला है । केवलज्ञान इसी देह में होगा । अयोगी गुणस्थानक इसी देह में मिलेगा ।

देह को नहीं छोड़ना है, परन्तु उसकी आसक्ति छोड़नी है । काशी में जाकर करवत लेने की भगवान की आज्ञा नहीं है । देह में आत्मबुद्धि छोड़ने की भगवान की आज्ञा है ।

मकान में निवास वाला जिस प्रकार स्वयं को मकान से अलग देखता है, उस प्रकार देह से स्व को भिन्न देखो । यही वास्तविक योगकला है ।

मकान जल रहा हो तब आप जलते नहीं है । मकान की अपेक्षा आपको अपने प्राण अधिक प्रिय है, परन्तु यहां यह बात भुला दी जाती है । आत्मा से देह प्रिय लगता है ।

हम सब रोगी हैं । साधु हों या संसारी - सबका यहां उपचार चलता है । हम साधु होस्पिटल में भरती हुए हैं । हमें हमारा रोग अत्यन्त ही खतरनाक लगा है । आप श्रावक घर रह कर औषधि लेते हैं ।

रोगी को डाक्टर की बात माननी पड़ती है । औषधि नहीं ले, अपथ्य का त्याग न करे तो रोग कैसे मिटेगा ?

यहां भी यथाविहित व्रत-नियम आदि का पालन न हो तो कर्म रोग कैसे मिटेगा ?

प्रत्येक बात में तीर्थकरों एवं शास्त्रों को सामने रखें, तो ही धर्म-कार्य की सिद्धि होगी ।

शास्त्रे पुरस्कृते तस्माद्, वीतरागः पुरस्कृतः ।

पुरस्कृते पुनस्तस्मिन्, नियमात् सर्वसिद्धयः ॥

- ज्ञानसार, शास्त्राष्टक

सम्यक्त्वही प्रत्येक स्थान पर भगवान को, भगवान के शास्त्र को सामने अवश्य रखता है । पहले शास्त्र नहीं हैं, पहले भगवान का प्रेम है । इसी लिए प्रथम दर्शन, पूजा है । ये प्रभु-प्रेम के प्रतीक हैं । उसके बाद भगवान के शास्त्र भी प्रिय लगने लगेंगे ।

जिन्हें भगवान प्रिय नहीं लगे, उन्हें भगवान के शास्त्र भी प्रिय नहीं लगेंगे । वे पण्डित बन कर शास्त्र पढ़ें भले ही, परन्तु प्रभु के साथ वे डोर नहीं जोड़ सकेंगे । इसीलिए चार योगों में

प्रथम प्रीतियोग, फिर भक्तियोग है और तीसरे नंबर में वचनयोग है ।

पहले भगवान के साथ प्रेम करो, उसके बाद शास्त्रों पर प्रेम उत्पन्न होगा, आज्ञा पर प्रेम उत्पन्न होगा । भगवान के साथ प्रेम किये बिना आज्ञा एवं शास्त्र की बात केवल बकवास है ।

स्थान, वर्ण आदि योग भी प्रभु-प्रेम हो तो ही सफल होते हैं । भगवान के साथ अभेद साधना हो तो देह का अभेद छोड़ना पड़ेगा ।

एक खास बात यह है कि जिस समय जो क्रिया करते हों, उस समय आपका सम्पूर्ण उपयोग उसमें ही होना चाहिये । तो ही क्रिया फलदायक बनती है । ऐसी क्रिया प्रणिधान पूर्वक की कहलाती है ।

हमारा लोभ भयंकर है । ओघा भी बांधते हैं और दूसरे भी दो-तीन कार्य साथ-साथ करते रहते हैं । एक भी कार्य अच्छा नहीं होता ।

समस्त इन्द्रियों का उपयोग एक ही कार्य में होना चाहिये ।

पड़िलेहन के समय केवल नेत्र ही नहीं, कान, नाक आदि भी सावध होने चाहिये । कान, नाक आदि के द्वारा भी जीव जाने जा सकते हैं ।

✽ ज्ञानसार में जिस प्रकार साध्यरूप पूर्णता अष्टक प्रथम बताया गया है, उस प्रकार छः आवश्यकों में भी सामायिक रूप साध्य प्रथम है । उसके साधन चतुर्विंशति स्तव आदि छःओं आवश्यक कार्य-करण भाव से जुड़े हुए हैं ।

✽ वि.संवत् २०१६ में आधोई में उत्तराध्ययन जोग में मैं अस्वस्थ हो गया । यू.पी. देढिया ने बताया कि टी.बी. है । पलांसवा के सोमचंदभाइ ने कहा - टी.बी. नहीं है । उन्होंने औषधिओं के द्वारा मुझे नीरोग कर दिया । मैंने इसमें भगवान की कृपा देखी ।

✽ भगवान पर मैं क्यों जोर देता हूं ? मैं जोर नहीं देता । शास्त्र ही सर्वत्र भगवान को ही आगे करते हैं । मैं क्या करूँ ?

* * * * *



२८-८-१९९९, शनिवार

श्रा. सु. २

✽ साधुधर्म शीघ्र मुक्ति में जाने का उपाय है । श्रावक धर्म उनके लिए है जो अभी तक साधु धर्म के पालन में असमर्थ हैं, पालने के इच्छुक हैं, पर असमर्थ हैं ।

✽ हमारे भीतर आया हुआ गुण अन्य को दें तो वह अक्षय बनता है, आनन्दकर बनता है । लेने की अपेक्षा देने में अत्यन्त ही आनन्द होता है ।

परोपकारी स्व-पर, दोनों पर उपकार करता ही है । एक भी उपकार ऐसा नहीं है, जहां स्व-पर उपकार नहीं होता हो ।

कल्याण तो हमें अपनी आत्मा का ही करना है तो फिर छः जीवनिकाय के रक्षा की बात बीच में कहां से लाये ? उन जीवों की रक्षा के बिना आत्मकल्याण होता ही नहीं ।

अतः आज भगवती टीका में आया -

संयम अर्थात् छः जीवनिकाय की रक्षा से पर रक्षा ।

संवर अर्थात् विषय-कषाय से स्वरक्षा ।

संयम पर रक्षार्थ है, संवर स्व-रक्षार्थ है । दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं ।

❖ भगवान की आज्ञा

अवलंबिऊण कज्जं जंकिंचि समायरंति गीयत्था ।

थेवावराह बहुगुण, सव्वेसिं तं पमाणं तु ॥

ण य किं चि अणुत्तायं पडिसिद्धं वावि जिणवरिदिहिं ।

तित्थगराणं आणा कज्जे सच्चेण होअव्वं ॥

- पंचवस्तुक २७९, २८०

‘किसी निमित्त का आलम्बन लेकर जो कुछ भी गीतार्थ आचरण करते हैं, थोड़ा दोष और अधिक लाभ हो वैसे कार्य प्रमाणभूत हैं ।

भगवान ने किसी भी वस्तु का निषेध नहीं किया या विधान नहीं किया, परन्तु किसी भी कार्य में सच्चे हृदय से रहो, यही भगवान की आज्ञा है ।’

❖ पुष्टि एवं शुद्धि इन दोनों को ध्यान में रखें । ज्ञान एवं दर्शन की पुष्टि होनी चाहिये । दोषों (कर्मों) की शुद्धि होनी चाहिये । प्रत्येक अनुष्ठान में यह होने चाहिये ।

वैद्य विवेचन आदि देकर प्रथम शुद्धि करता है, उसके बाद वसन्त-मालती आदि के द्वारा पुष्टि करता है ।

साधु-जीवन की प्रत्येक क्रिया-प्रतिक्रमण, पड़िलेहन, चैत्यवन्दन आदि सभी ज्ञान आदि की वृद्धि करने वाली हैं । सूक्ष्मता से देखें ।

कई क्रियाएं ज्ञान आदि की वृद्धि के लिए हैं, पुष्टि के लिए हैं । कई क्रियाएं कर्म की शुद्धि के लिए हैं ।

❖ इरियावहियं-जीवमैत्रीसूत्र, तस्स उत्तरो-शुद्धिसूत्र और कायोत्सर्ग में लोगस्स ध्यानसूत्र है ।

❖ काथिक ध्यान - ठाणेणं - कायोत्सर्ग मुद्रा ।

वाचिक ध्यान - मोणेणं - लोगस्स मानसिक रूप से बोलना ।

मानसिक ध्यान - ज्ञाणेणं - मानसिक विचारणा, तीर्थकरो क गुणों की ।

❖ कायोत्सर्ग तीर्थकरो के द्वारा आचरित उत्कृष्ट ध्यान है ।

प्रश्न : कायोत्सर्ग में आत्मध्यान कहाँ आया ?

उत्तर : परमात्मा में आत्मा आ ही गया है । मन, वचन, काया तीनों को परमात्ममय ही बनाना है । परमात्मा अर्थात् परम

शुद्ध आत्मा । उसका ध्यान अर्थात् आत्मा का ही ध्यान ।

✿ जिस प्रकार मान सरोवर में हंस रमण करते हैं, उस प्रकार मुनियों के मन में सिद्ध रमण करते हैं ।

ऐसे मुनि अरूपी एवं दूर स्थित सिद्धों के हमें यहां दर्शन कराते हैं ।

मुनिओं के मन में रमण करते सिद्धों को देखने के लिए हमारे पास श्रद्धा के नेत्र चाहिये ।

नेत्र चार प्रकार के होते हैं -

चर्म चक्षु : चौरिन्द्रिय से लेकर सब को ।

अवधिज्ञान के नेत्र : देव-नारक को ।

केवलज्ञान के नेत्र : केवली + सिद्धों को ।

शास्त्र के नेत्र : साधुओं को ।

✿ दो हजार सागरोपम पूर्व हम निश्चित रूप से एकेन्द्रिय में थे । इतने समय में यदि हम मोक्ष में न जायें तो पुनः एकेन्द्रिय में जाना पड़ेगा ।

यही हमारा भूतकाल है । यदि मोक्ष में न जायें तो यही हमारा भविष्यकाल है ।

T.V., सिनेमा आदि के पीछे पागल बनने वाली वर्तमान पीढ़ी को देखकर हमें चिन्ता होती है कि इनका क्या होगा ? ये अपने नेत्रों का कैसा दुरुपयोग करते हैं ? इन्हें पुनः नेत्र कैसे मिलेंगे ? नेत्र भारी पुण्य से प्राप्त हुए हैं । इनका दुरुपयोग न करें । शास्त्रों का पठन करो । जयणा का पालन करो, जिनमूर्ति के दर्शन करो । ये ही नेत्रों का सदुपयोग है ।

✿ शास्त्र हृदय में, जीवन में जीवंत चाहिये । हमारा जीवन पल-पल में उसके उपयोग से युक्त चाहिये । यही सच्चा शास्त्र है । भण्डार में पड़ी हुई पुस्तकें तो स्याही एवं कागज हैं, केवल द्रव्यशास्त्र है । शास्त्रानुसारी जीवन ही भाव-शास्त्र है ।

✿ जिस प्रकार योद्धा ढाल से तलवार आदि के प्रहारों को रोकते हैं, उस प्रकार साधक क्रोध आदि के प्रहारों को क्षमा आदि से रोकते हैं ।

✿ क्रिया करते समय सूत्र केवल सुनने ही नहीं हैं, उनका

अनूच्चारण (अनु+उच्चारण) भी करना है, तो ही क्रियाओं में जान आयेगी ।

❖ कायोत्सर्ग बढ़ने के साथ समाधि बढ़ती है । इसीलिए लोगस्स को समाधिसूत्र, परमज्योति सूत्र कहा गया है । 'साहित्य विकास मण्डल' की ओर से 'लोगस्स स्वाध्याय' पुस्तक प्रकाशित की गई है, जो पठनीय है ।

चित्त विक्षिप्त हो तब नवकार,

चित्त स्वस्थ हो तब लोगस्स गिनो ताकि लोगस्स का अनादर न हो ।

ऐसा कोई मत कहना कि जैनों में ध्यान नहीं है । यहां तो छोट बालक भी ध्यान करता है । नवकार या लोगस्स का काउस्सग करते हैं वह ध्यान नहीं तो और क्या है ?

धीरे धीरे प्रयत्न करने पर लोगस्स के काउस्सग में भी अपूर्व आनन्द प्राप्त होने लगेगा ।

❖ आत्मा तो आनन्द का भण्डार है । यदि वहां से आनन्द की प्राप्ति नहीं होगी तो अन्य कहां से प्राप्त होगी ? आत्मा में से, स्वयं में से जो आनन्द प्राप्त नहीं कर सकता उसे संसार के किसी कोने में से आनन्द प्राप्त नहीं होगा ।

❖ स्वप्न में भी ध्यान, काउस्सग, स्वाध्याय, चैत्यवन्दन आदि चल रहे हों, मन आनन्द में लीन रहता हो तो समझें कि साधना कार्य करने लग गई है ।

❖ चैत्यवन्दन क्या है ? यदि यह सम्यक् प्रकार से जानना चाहो तो एक बार आप 'ललितविस्तरा' अवश्य पढ़ें । वहां परम समाधि के बीज किस प्रकार विद्यमान हैं, यह आप जान पायेंगे ।

'नमुत्थुण' की आठ सम्पदाओं से भगवान की महत्ता, अत्यन्त करुणा-शीलता आदि जानने मिलेंगे । सिद्धार्थ को इससे ही प्रतिबोध प्राप्त हुआ था ।

भगवान की इस धरोहर के यदि हम उत्तराधिकारी नहीं बनें तो कौन बनेगा ? पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी पुत्र ही बनता है न ?

भगवान हमारे परम पिता हैं, हम सुपुत्र बने हैं कि नहीं, यह हमें जांच करनी है ।

♦ ♦ ♦ ♦ ♦



२९-८-१९९९, रविवार
भा. व. ३

धर्म मंगल ही करता है । अधर्म, अमंगल-अहित ही करता है । मंगल का दूसरा नाम सुख है । घर से निकलते समय मंगल करते हैं, परन्तु वह द्रव्य मंगल है । धर्म संसार के समस्त मंगलों में उत्कृष्ट है : 'धम्मो मंगलमुक्खिट्ठं ।' धर्म का मूल विनय है । इसलिए नवकार महामंगल कहलाता है । मंगलाणं च सर्व्वेसि पढमं हवइ मंगलं ।

धर्म को लगे कि हममें योग्यता है तो ही वह हमारे भीतर आता है । अधर्म योग्यता-अयोग्यता कुछ भी नहीं देखता । वह तुरन्त झपट कर आता है, जबकि धर्म योग्यता के बिना आता ही नहीं है ।

योग्यता के लिए परवाह करनी पड़ती है, अयोग्यता के लिए कुछ भी आवश्यक नहीं है ।

थोड़ी योग्यता नहीं दिखे तो धर्म खिड़की में से झांक कर ही भाग जाता है, भीतर आता ही नहीं । इसी कारण से धर्माचार्य सर्व्व प्रथम योग्यता देखते हैं । अतः शास्त्रकार अयोग्य को धर्म-सूत्र देने का निषेध करते हैं ।

पू. कनकसूरिजी निःस्पृह शिरोमणि थे । उन्हें प्रसिद्धि की कोई अपेक्षा नहीं थी । यदि वे सोच लेते तो अनेक शिष्य कर सकते थे । योग्यता प्रतीत न होने पर वे दूर ही रहे ।

✽ मद्रास में रशिया (रुस) का तत्त्वजिज्ञासु आया था । उसके लिए वह हिन्दी का अध्ययन करके आया था । खरतरगच्छ के प्रमुख मोहनलालजी ढ़्ढा उसे लेकर आये थे । 'मुझे तत्त्वज्ञान सीखना है ।' ऐसी उसकी बात जानकर उसे तत्त्वज्ञान प्रवेशिका का प्रथम पाठ सिखाया गया । वह अत्यन्त ही प्रसन्न हुआ ।

क्या आपमें ऐसी जिज्ञासा है ? हमारे पास आप क्यों आते हैं ? धन्धा अच्छा चले, स्वास्थ्य अच्छा रहे, इसलिए ?

✽ त्याग, वैराग्य, करुणा, भक्ति, मैत्री के संस्कार प्रगाढ़ किये बिना भवान्तर में वे आपके साथ नहीं आयेंगे । अतः नित्य इन सब के संस्कार सुदृढ करने हैं ।

✽ दूसरे जीवों का क्षायिक सम्यक्त्व हो तो भी 'वरबोधि' नहीं कहलाता । भगवान का क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भी 'वरबोधि' कहलाता है । वह परोपकार और करुणा की वजह से ही ।

ऐसे करुणामय, करुणासागर भगवान् अन्यत्र कहां मिलेंगे ?

वे पटु, अभ्यास एवं आदर से वैराग्य आदि को संस्कार देकर ऐसे सुदृढ बनाते हैं कि वे भवान्तर में भी साथ चलते हैं ।

✽ पू. पं. भद्रंकरविजयजी महाराज को पूछा : 'आपने नवकार को ही क्यों पकड़ा ?' वे कहते - 'इन समस्त सूत्रों के विधि-विधान देखने पर लगता है कि इनमें निहित सब जीवन को कब उतारेंगे ? सूत्रों से भी नहीं तो अर्थ से कि तदुभय से तो कैसे उतार सकेंगे ? अतः मैंने सोचा, 'सब तो नहीं पकड़ा जा सकेगा । एक नवकार को बराबर पकड़ लें तो भी हमारा उद्धार हो जाये । इस कारण एक नवकार बराबर पकड़ा है ।'

✽ पटु, अभ्यास एवं आदर इन तीनों को (वैशेषिक दर्शन प्रथम पाद) अजैन लोग भी मानते हैं, परन्तु मतिज्ञान के प्रकारों के रूप में हमें भी वह मान्य है, इस प्रकार जम्बूविजयजी महाराज ने बताया था ।

✽ पं. मुक्तिविजयजी 'अभिधान कोश' एवं प्राकृत व्याकरण का वृद्धावस्था में भी पुनरावर्तन करते थे । उत्तर में कहते - भवान्तर

में भी इन्हें साथ ले जाना है ।

संस्कृत भाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था । कठिनतम ग्रन्थों को भी सरलता से पढ़ सकते थे, पढ़ा सकते थे और शुद्धीकरण (संशोधन) करके नोट बनाते । इस प्रकार की १७ नोट सांत्तलपुर के भण्डार में हैं ।

❖ ग्रन्थ सिर्फ पढ़ने का कोई अर्थ नहीं है । उसका बार-बार पठन करके उन्हें भावित बनाने से ही वे फलदायी बनते हैं ।

क्या हम पुराने ग्रन्थों को कभी सम्हालते हैं ? एक ग्रन्थ को क्या हम दूसरी-तीसरी बार पढ़ते हैं ?

कोई व्यापारी कभी अर्जित धनराशि को खो नहीं देता । हम पढ़ा हुआ भूल जाते हैं । सम्पत्ति को सम्हालते नहीं हैं ।

ज्ञान ही हमारी सम्पत्ति है । यही भवान्तर में हमारे साथ चलेगी । पुस्तकें, बोक्ष, भक्त, शिष्य आदि कोई साथ नहीं चलेगा ।

कम से कम इतना करें । नवकार से लगा कर आवश्यक सूत्रों को पूर्ण रूपेण भावित करें । अन्यथा हमारी क्रिया उपयोग-शून्य बन जायेगी । उपयोग शून्य क्रिया का कोई मूल्य नहीं रहेगा ।

मैं आवश्यक सूत्र सीख रहा था, तब मुझे भी रस नहीं आता था, परन्तु अर्थ आदि जानने के बाद अत्यन्त रस आने लगा । आप प्रबोध टीका, ललित विस्तार पढ़ें । आपको आवश्यक सूत्रों के रहस्य समझ में आयेंगे ।

महान तपस्वी पू. भुवनभानुसूरि महाराजा ने उस पर विवेचन लिखा है । विवेचन का नाम है 'परम तेज' । उसे भी आप पढ़ सकते हैं ।

❖ अजैन लोगों का 'गायत्री मंत्र' ज्ञान का मंत्र है । नवकार 'अध्यात्म मंत्र' है । 'नवकार मंत्र' गणधर भगवन्तों का हमें प्राप्त उत्कृष्ट दान है । इसकी संभाल रखेंगे तो हम पुरस्कार के पात्र ठहरेंगे और यदि उसको नष्ट किया तो दण्ड के पात्र बनेंगे ।

❖ मोक्ष की साधना के संक्षिप्त उपाय छः आवश्यकों के अलावा अन्यत्र कहीं नहीं है । पैतालीस आगमों का सार आवश्यकों में है । पैतालीस आगम इन का विस्तार मात्र है ।

❖ ध्यान अर्थात् एकाग्रता की संवित्ति ।

ध्यान अर्थात् स्थिर अध्यवसाय ।

एकाग्रतापूर्वक काउस्सग करें तो सफल होते हैं, अन्यथा प्रतिज्ञा-भंग होता है ।

आप एक ही लोगस्स का भले काउस्सग करें, परन्तु ऐसी एकाग्रतापूर्वक करें कि सफल बने ।

❖ चाबी से जिस प्रकार ताले खुलते हैं, उस प्रकार आवश्यक सूत्रों से अनन्त भण्डार खुलते हैं ।

आगमों की चाबी 'नंदी, अनुयोग और विशेषावश्यक भाष्य' इन तीनों में है ।

❖ तपागच्छ के उत्तमविजयजी ने खरतरगच्छीय देवचन्द्रजी के पास विशेषावश्यक भाष्य का अध्ययन किया था ।

फिर देवचन्द्रजी ने अचलगच्छीय ज्ञानसागरजी के पास विशेषावश्यक का अध्ययन किया था । देवचन्द्रजी ने कहीं भी दादा के स्तवन, गीत आदि बनाये हों ऐसी जानकारी नहीं है । उन्होंने 'ज्ञानसार' पर 'ज्ञानमंजरी' टीका लिखी है । उन्होंने यशोविजयजी को भगवान के रूप में सम्बोधित किये हैं ।

ऐसे ग्रन्थ हमारे लिए वास्तव में भगवान बन कर आते हैं । जिनागम भी जिनस्वरूप हैं । वर्तमान युग में जिनागम बोलते हुए भगवान हैं । मूर्ति तो बोलती नहीं है, आगम बोलते हैं ।

❖ प्रतिमा अनक्षर बोध देती है, केवल संकेत से समझाती है । आगम अक्षर बोध देते हैं । क्या प्रतिमा के संकेत हम समझ सकेंगे ? उनकी मुद्रा कहती है - मेरी तरह पचासन लगा कर स्व में एकाग्र बनो, उपयोगवंत बनो । जब क्रिया में उपयोग मिलेगा तब तुरन्त ही अमृत का रसास्वाद मिलेगा ।

जितने गुण भगवान के हैं, वे समस्त हमें प्रदान करने के लिए हैं ।

‘न विकाराय विश्वस्योपकारायैव निर्मिताः ।

स्फुरत्कारुण्यपीपूष - वृष्ट्यस्तत्त्वदृष्टयः ॥

- ज्ञानसार

पिबन्ति नद्यः स्वयमेव नाम्भः

परोपकाराय सतां विभूतयः ॥

आपको जो प्राप्त हुआ है वह दूसरों को दो । इस शासन

के प्रभाव से जो गुण, शक्ति, आदि प्राप्त हुए हैं, उन्हें शासन के लिए काम में लो ।

व्याख्यान, वाचना, पाठ, लेखन, अध्यापन आदि करो तब ऋणमुक्ति की भावना विकसित करें । आप ये नहीं मानें कि 'मैं उपकार करता हूँ ।'

हरिभद्रसूरि प्रत्येक ग्रन्थ के अन्त में लिखते थे कि इस ग्रन्थ के द्वारा जगत् के जीव दोष-मुक्त बनें, ताकि मैं ऋण-मुक्त बन सकूँ ।

• • • • •

आजें अहीं सोसायटीना देससरी प्रतिष्ठाना माहोलमां ज पूज्यपाद अध्यात्मयोगी आचार्यदेवश्रीना आघातजनक समाचार सांभळी आंचको अनुभव्यो । चतुर्विध श्रीसंघ साथे देववंदन कर्या ।

बस ए पछी आखो दिवस पूज्यश्रीना ज विचारो मनमां घूमण्या करे छे । गत वर्षे अमारा तारक गुरुदेवश्रीना स्वर्गगमन पछी एम लाग्या करतुं के पूज्यपाद बापजी महाराजनी परंपराना संस्कारेना अवशेषो पूज्यपाद अध्यात्मयोगी आचार्य भगवंतश्रीना जीवनमां जीवंत जोवा मळे छे अने ए गणत्रीए ज पूज्यपादश्रीनी याद आवतां अंतरमां आश्वासन अनुभवतुं हतुं ।

पूज्यपाद आचार्य भगवंतश्रीनी विशाल भक्तगण अने मोटा महोत्सवो वच्चे पण अलिप्तता-अंतर्मुखता, स्वाध्याय प्रेम - सतत पोताना कर्तव्य प्रत्येनी सजागता बाह्यदृष्टि आटली ऊंची भूमिका पर पहुँच्या होवा छां अष्टप्रवचनमाताना पालन माटेनी अद्भुत काळजी वगैरे गुणो आजें नजर सामे तरवयां करे छे ।

पूज्यपादश्री जिनशासनना सितारा हता । बाह्यभूमिकामां प्रचंड पुण्यना स्वामी अने छां अंतरंग भूमिकामां महावैरागी हता ।

आजें पूज्यपादश्रीने गुमावीने आपश्रीए ज नहीं पण आपणे सहूए घणुं घणुं गुमाव्युं छे ।

हवे तो आपणा जीवनमां शेष बचेल पूज्यपादश्रीनी स्मृतिनुं आलंबन लईने आगळ वधवा माटे मथवानो प्रयत्न करवो रह्यो ।

- एज... पंच्यास नरत्नविजयनी वंदना
(पू. भद्रंकरसूरिजीना)

म.सु. ४, लीबडी.



पू. कनकसूरेश्वरजी म.सा.

पू. कनकसूरिजी की ३६वीं स्वर्गतिथि

३०-८-१९९९, सोमवार

भा. व. ४

❀ शरीर मोक्ष का परम साधन है। इसके बिना धर्मारधना नहीं हो सकती। अतः इस देह को टिका रखने के लिए साधु को आहार ग्रहण करना है। 'अहो जिणेहिं असावज्जा...'

❀ हम यहां इस बागड़ समुदाय में कैसे आये? कमलविजयजी के पिताजी ने एक बार फलोदी में चातुर्मास स्थित पू. विजयलब्धिसूरिजी को पूछा था, 'वर्तमानकाल में श्रेष्ठ संयमी कौन है? तब लब्धिसूरिजी ने पू. आचार्य श्री कनकसूरिजी का नाम दिया था।

तब कमलविजयजी गृहस्थ जीवन में थे। उन्होंने यह याद रखा था। मुझे दीक्षा तो ग्रहण करनी थी रामचन्द्रसूरिजी के पास, क्योंकि उनके जैन प्रवचन पढ़ने से वैराग्य हुआ, परन्तु कमलविजयजी ने पू. कनकसूरिजी के पास दीक्षा ग्रहण करने निश्चय किया और फलोदी के कंचनविजयजी भी वहां थे।

इस प्रकार भगवान ने ही मुझे यहां भेजा। मैं तो प्रथम से ही भगवान पर भरोसा रखने वाला था। वे जो करेंगे वह

ठीक ही करेंगे । ऐसा दृढ़ विश्वास था ।

मद्रास का अनुभव :

बहुतों ने कहा - 'वे धूर्त हैं । जाने जैसा नहीं है, परन्तु भगवान के संकेत से, भगवान के भरोसे हम मद्रास गये । वहां भी मुहूर्त सम्बन्धी विघ्न आये परन्तु टल गये और प्रतिष्ठा धूम-धाम से हुई । मैं इसमें भी भगवान की कृपा मानता हूं ।

हमारा प्रथम चातुर्मास (वर्षावास) तो फलोदी में ही हुआ । दूसरा चातुर्मास यों तो पू. कनकसूरि के साथ राधनपुर निश्चित हुआ, परन्तु पू. बापजी महाराज की इच्छा जान कर अहमदाबाद की ओर प्रयाण हुआ । प्रथम गोचनाद मुकाम पर ही गेस की तकलीफ होने पर पू. बापजी महाराज की ओर से इनकार आने पर सांतलपुर चातुर्मास निश्चित हुआ । राधनपुर में भद्रसूरिजी का चातुर्मास निश्चित हो चुका था । अध्ययन के लिए हमारा (कलाप्रभविजयजी, रत्नाकरविजयजी, देवविजयजी, तरुणविजयजी के साथ, दोनों बालमुनिओं को सम्हालना मुश्किल हो जाय । अतः एक कल्पतरुविजयजी को सांतलपुर रखे) चातुर्मास राधनपुर हुआ । वहीं हरगोवनदास पंडितजी के कहने से पाठशाला में व्याख्यान शुरू हुए । (कलाप्रभविजय के भी व्याख्यान वहीं पर शुरू हुए)

पर्युषण में भी तीन दिन व्याख्यान दिये ।

उसके बाद मांडवी में वि.संवत् २०१३ में और आधोई में वि.संवत् २०१६ में ये दो ही चातुर्मास पू. आचार्यश्री विजयकनकसूरिजी की निश्रा में मिले, परन्तु अन्तर के आशीर्वाद पूर्णतः प्राप्त हुए ।

भगवान ही सब भला करेंगे, इस बात पर पूर्ण भरोसा था ।

✽ भोजन में तृप्त करने की शक्ति है कि हममें ?

जल में प्यास बुझाने की शक्ति है कि हममें ?

यदि हम में ही शक्ति हो तो छिलके खाकर, पेट्रोल पीकर भूख प्यास शान्त करो । क्या ऐसा हो सकेगा ?

आप में ही मुक्ति पाने की शक्ति हो तो भगवान के बिना ही साधना में आगे बढ़ो । क्या ऐसा हो सकेगा ?

तृप्ति में जिस प्रकार भोजन पुष्ट कारण है, उस प्रकार मुक्ति में भगवान पुष्ट कारण है । बिछ्री या बंदरी के बच्चे बन कर जाओ भगवान के पास । भगवान सब सम्हाल लेंगे ।

♦ ♦ ♦ ♦ ♦



प्रवचन करवाते हुए पूज्यश्री, सुन्दरनगर, दि. १९-१-१९९९

३१-८-१९९९, मंगलवार

भा. व. ५

❖ वैद्य रोगी की स्थिति जान कर औषधि देता है । रोग की अवस्था में जो औषधि शुरू हो, वह स्वस्थ होने पर बंद हो जाती है और स्वस्थता में जो शुरू हो, वह रोगी की अवस्था में बंद हो जाती है ।

भगवान भी जगत् के धन्वन्तरी वैद्य हैं ।

हम जैसे रोगियों को सामने रखकर नियम बनाये गये हैं । किसी समय जिसका विधान हो तो किसी समय उसका निषेध भी हो सकता है ।

‘संयम खप करता मुनि नमिये, देशकाल अनुमाने ।’

मुनि भी देश-काल के अनुसार चलें । इस समय उत्सर्ग का वर्णन चल रहा है । गीतार्थ द्रव्य-क्षेत्र आदि के अनुरूप नियमों में परिवर्तन भी कर सकते हैं ।

❖ अशुभ निमित्तों से दूर रहें तो ही हम अशुभ भावों से दूर रह सकते हैं । इसीलिए तीर्थकर स्वयं भी गृहस्थ जीवन का त्याग (अशुभ निमित्तों का त्याग) करके दीक्षा अंगीकार करते हैं ।

भगवान के लिए आवश्यक है तो क्यारे लिए नहीं ? श्रावक

कहे कलापूर्णमुरि - १ ***** २२३

भी अभिग्रह आदि धारण करते हों तो क्या साधु धारण नहीं करेंगे ?

❖ कच्छ जितनी कमाई भी यदि मुंबई में न हो तो आप क्या करेंगे ? हम भी संसार छोड़ कर यहां आये । यहां आने के बाद भी कमाई में वृद्धि नहीं की तो क्या विचारणीय नहीं है ?

मुझे याद नहीं है कि मैंने कभी प्रमाद किया हो या समय बिगाड़ा हो ।

मुक्ति के पथिक के लिए प्रमाद में रहना नहीं चल सकता ।

❖ साधु जब गोचरी (भिक्षा) लेने निकलते है तब द्रव्य आदि अभिग्रह धारण करके निकलते है । अभिग्रह धारण करने में भी प्रसन्नता होती है ।

उनकी प्रसन्नता की संसारी को ईर्ष्या होगी । आपकी प्रसन्नता कोई नहीं देखेगा तो आपके पास कौन आयेगा ?

प्रसन्नता चुम्बकीय तत्त्व है जो अन्य व्यक्तियों को अपनी ओर आकर्षित करती है । वर्तमान समय में भी साधु चक्रवर्ती से भी अधिक प्रसन्नता का स्वामी बन सकते है ।

❖ साधु-साध्वी तीर्थ के सेवक हैं । इतना ही नहीं, वे स्वयं भी तीर्थरूप है, अर्थात् आप उस स्थान पर हैं जहां आपको भगवान भी प्रणाम करे । तीर्थ को तीर्थकर प्रणाम करते हैं - 'णमो तित्थस्स ।'

इस तीर्थ के प्रभाव से ही प्रलयकाल के मेघ रुक रहे हैं । ऐसे तीर्थ की प्राप्ति की कितनी खुमारी होती है ?

आम्रभट्ट अत्यन्त उदार था । वह कहीं विजयी होकर आया था । राजा कुमारपाल ने उसे स्वर्ण मुद्राओं से थैले भर कर दिये, हीरों का हार भी दिया । बाहर निकलने पर याचकों द्वारा घेर लिया जाने पर सब कुछ दान में दे दिया, हीरों का हार भी याचकों को दे दिया ।

पाटन में सर्वत्र प्रशंसा होने लगी ।

ईर्ष्यालु व्यक्तियों ने कुमारपाल के कान भरे कि आप से भी अधिक आम्रभट्ट की प्रशंसा हो रही है । दान तो आपका और ख्याति उसकी ? यह तो आपका अपमान है । आप इसका आशय समझ लें । अपार लोकप्रियता के द्वारा राज्य छीनने की यह पूर्व

भूमिका है ।

महाराजा कुमारपाल कोधित हो गये । दूसरे दिन आग्रभट्ट उनकी अप्रसन्नता जान गया ।

राजा - 'क्यों इतना दान ?'

आंबड - 'आप नहीं, यह दान मैं ही कर सकता हूँ ।'

'क्यों ?' महाराजा क्रोध से आगबबूला हो उठे ।

'आप तो देथली के ठाकरड़े त्रिभुवनपाल के पुत्र हैं और मैं अठारह देशों के स्वामी महाराजा कुमारपाल का दास हूँ । मैं यदि दान नहीं करूंगा तो कौन करेगा ?'

राजा का क्रोध शान्त हो गया ।

राजा के सेवक में दासत्व की इतनी खुमारी हो तो हमें भगवान के दासत्व की कितनी खुमारी होनी चाहिये ? दासत्व की खुमारी हो तो चैत्यवन्दन आदि क्रिया तुच्छतापूर्वक नहीं होती ।

अन्यत्र हमें रस आता है, परन्तु भगवान की भक्ति में ही रस क्यों नहीं ? कहां गई दासत्व की खुमारी ?

भक्ति :

इन्द्रभूति भगवान के शिष्य बने और त्रिपदी के द्वारा अन्तर्मुहूर्त में द्वादशांगी बनाई । वह शक्ति भगवान के द्वारा ही प्रकट हुई । पूर्व अवस्था में कहां थी यह शक्ति ? भगवान के प्रभाव से ही ईर्ष्या, मान, अविरति, क्रोध, प्रमाद आदि दोष नष्ट हो गये ।

चंडकौशिक में अपने आप आठवे देवलोक में जाने की क्या शक्ति थी ? कि भगवान के प्रभाव से शक्ति उत्पन्न हुई ?

बीज में वृक्ष बनने की शक्ति है तो बनाओ वृक्ष को कोठी में रख कर । जैसे बीज के लिए धरती आवश्यक है, उस प्रकार भक्त के लिए भगवान आवश्यक है ।

भगवान के प्रभाव से ही हम संसार के पथिक मुक्ति के पथिक बन सकते हैं ।

अब आप ही सोचो - उपादान प्रबल है कि निमित्त ?

चैत्यवन्दन रह जायेगा तो जोग में दिन जायेगा, इस भय से चैत्यवन्दन आप चूकते नहीं हैं, परन्तु क्या आपने कभी सोचा है कि जो चैत्यवन्दन भूल जाने से दिन पड़ता हो, उसमें कितने रहस्य

भरे होंगे ?

भगवान की भक्ति भरी है चैत्यवन्दन में ।

सिर्फ नाम के सहारे अन्य दर्शनी समाधि तक पहुंचे हैं, तो हम भगवान की भक्ति की उपेक्षा कैसे कर सकते हैं ?

रामकृष्ण परमहंस जब मां काली को देखते या नाम सुनते तो वे भावावेश में आ जाते थे ।

प्रभु का नाम, प्रतिमा या आगम आपके पास है तो प्रभु आपके पास ही हैं । कहीं नहीं गये हैं भगवान ।

‘जगचिन्तामणि’ सूत्र आगम है न ? आवश्यक सूत्र है ।

उसके अर्थ, रहस्य आदि पर चिन्तन करेंगे तो नाच उठेंगे । ‘अट्टा - वय संठविअरूव’ अष्टापदपर स्थित मूर्तियों के समक्ष गौतम स्वामी स्तुति करते हुए कहते हैं - ‘अष्ट कर्म - नाश करने वाले, कराने वाले चौबीसों तीर्थकर ।’

यहां गौतम स्वामी मूर्ति में साक्षात् भगवान को देखते हैं ।

आदिनाथ भगवान ने पुण्डरीक स्वामी को सिद्धक्षेत्र पर ही रह जाने को कहा । नेमिनाथ ने पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्राप्त करके जरा विद्या नष्ट करने का कहा । महावीर स्वामी ने अष्टापद यात्रा के द्वारा चरम शरीरीपन बताया । ये सब दृष्टान्त बताते हैं कि भाव तीर्थकर की भक्ति जितना ही लाभ स्थापना तीर्थकर की भक्ति देती है ।

‘अष्टापद की यात्रा से उसी भव में मोक्ष मिलता है ।’

भगवान की यह बात जान कर ही तापसों ने अष्टापद यात्रा के लिए कमर कस ली थी ।

उत्कृष्ट काल से १७० तीर्थकर, नौ करोड़ केवली, नौ हजार करोड़ (नब्बे अरब) साधु और नब्बे अरब साध्वी ।

इन सबको जगचिन्तामणि में वन्दन होता है । यदि भाव से करो तो कितना लाभ है ?

• • • • •





१-१-१९१९, बुधवार

भा. व. ६

❖ पालन करने में भले कष्टदायी हो, परन्तु जिसका फल लाभदायी हो वहां कष्ट नहीं लगता । व्यापारी को व्यापार में, किसान को खेती में, मजदूर को मजदूरी में कष्ट होता है, फिर भी सामने लाभ प्रतीत होने से कष्ट नहीं लगता । इसी प्रकार से साधु को भी मोक्ष का लाभ दिखने से कष्ट नहीं लगता ।

❖ लखपति का लक्ष्य करोड़पति बनने का, करोड़पति का लक्ष्य अरबपति बनने का होता है, उस प्रकार श्रावक का लक्ष्य साधु बनने की ओर एवं साधु का लक्ष्य सिद्धि की ओर होना चाहिये । ऐसा न हो तो साधक उस स्थान पर भी रह नहीं सकता । श्रावक को श्रावकत्व में या साधु को साधुत्व में यदि बना रहना हो तो भी अगला लक्ष्य होना ही चाहिये ।

❖ श्रावक की उत्कृष्ट भूमिका की अपेक्षा भी साधु की जघन्य भूमिका में अनेक गुनी अधिक विशुद्धि होती है । जितनी शुद्धि अधिक होगी, उतना आनन्द अधिक होगा । बारह महिनों में ही साधु अनुत्तर विमान के देवों को भी प्रसन्नता में जीत लेता है । फिर तो जो आनन्द बढ़ता रहे उसका वर्णन करने के लिए उपमा नहीं है ।

कहे कलापूर्णसूरि - १ ***** २२७

कपड़ों में से मैल निकलने पर उज्ज्वलता बढ़ती है, उस प्रकार मन में से अशुद्धि नष्ट होने पर प्रसन्नता बढ़ती है। यही सच्चा आनन्द है, घर का आनन्द है।

❖ बाह्य तप पहले क्यों ? आवश्यक क्यों ? अभ्यन्तर तप को बल प्रदान करने वाला बाह्य तप है। मैं मेरे अनुभव से कहता हूँ कि जिस दिन उपवास आदि किये हों, उस दिन साधना में ज्यादा वेग आता है।

❖ साधु को आहार की लोलुपता नहीं होती। वे केवल साधना के लिये आहार ग्रहण करते हैं। वे भोजन इस लिए करते हैं कि इन्द्रियां शिथिल न हो जायें, सहायक धर्म नहीं मिटे, सहनशीलता घट न जाये, और स्वाध्याय में हानि न हो।

इच्छानुसार भोजन (गुलाब जामुन, रसगुल्ले आदि) प्राप्त हो तो ही ग्रहण करूंगा, ऐसा अभिग्रह नहीं हो सकता। यह तो आसक्ति कहलाती है।

❖ हम अपने शिष्य परिवार को जैसा बनाना चाहते हों, वैसे पहले हमें बनना पड़ेगा। आप एकासणा, स्वाध्याय, संयम, सेवा आदि गुणों से विभूषित शिष्य चाहते हों तो आप पहले ये गुण अपने भीतर उतारें।

❖ गोचरी की आठ पद्धतियां :

१. ऋज्वी (सीधी) : क्रमशः सीधे गली में जाना, नहीं मिले तो पुनः स्थान पर।
२. गत्वा प्रत्यागति : गली के दोनों ओर। सीधे जाकर पुनः सामने की ओर।
३. गोमूत्रिका : साम-सामने गोमूत्र की धार के आकार में घरों में जाना।
४. पतंगवीथी : पतंगे की तरह अनियत घरों में जाना।
५. पेयः : सन्दूक के समान चौरस आकार में घरों में जाना।
६. अर्द्धपेयः : आधे सन्दूक के आकार में घरों में जाना।
७. अभ्यन्तर शंबुक : गांव के भीतर से प्रारम्भ करके बाहर के घरों में आना।
८. बाह्य शंबुक : बाहर से प्रारम्भ करके भीतर पूरा करना।

❖ दस प्राणों में आयुष्य जाये तो नौ प्राण निरर्थक। वह

भी सांस लो तो टिकेगा । यहां भी श्रुत, सम्यक् सामायिक आयुष्य एवं सांस के स्थान पर है ।

आवश्यक निर्युक्ति में सामायिक के तीन प्रकार बताये हैं :

१. श्रुत, २. सम्यक् और ३. चारित्र सामायिक ।

‘आया सामाइए, आया सामाइअस्स अट्ठे’

- भगवती सूत्र

आत्मा सामायिक है, सामायिक का अर्थ है -

‘भगवई अंगे भाखियो, सामायिक अर्थ,

सामायिक पण आतमा, धरो शुद्धो अर्थ’

- यशोविजयजी रचित - १२५ गाथा का स्तवन ।

शंका : तो फिर समस्त जीवों में सामायिक घट जायेगी ।

समाधान : संग्रह नय से घटती है । नय पद्धति जैनदर्शन की मौलिक विशेषता है ।

नय पद्धति जाने बिना अनेक घोटाले हो जाते हैं ।

संग्रह नय से समस्त जीव सिद्ध के समान है । व्यवहार नय जिस समय जो हो वह मानता है, कर्मसत्ता को आगे रख कर चलता है, उसके बिना व्यवहार नहीं चलता, ‘मेरे उधार पैसे वहां पड़े हैं । मुझे माल दो । आप वहां से वसूल कर लें ।’ क्या ऐसे बाजार में चलता है ? अतः आत्म-स्वभाव में रमणता हो वहां सामायिक समझें ।

यह सामायिक कैसे प्राप्त की जाये ? उसके उपाय शेष पांच आवश्यकों में क्रमशः मिलते जायेंगे ।

✿ ज्ञान पढने से नहीं, विनय-सेवा से आता है । इसीलिए अभ्यन्तर तप में विनय का स्थान स्वाध्याय से पूर्व रखा गया है । विनय करने पर ज्ञान की प्राप्ति होती है, स्वाध्याय हो सकता है । विनय से प्राप्त ज्ञान से अभिमान नहीं आता ।

विनय कौन कर सकता है ? जो स्वयं को लघु, तुच्छ मानता है वही विनय कर सकता है । जो तुच्छ मानता है वही प्रायश्चित्त कर सकता है ।

मुख्य आभ्यन्तर तप है परन्तु बाह्य तप उसे पुष्ट करता है ।

बाह्यं तदुपबृंहकम् ।

- ज्ञानसार

चैत्यवन्दन के समय भाव उत्पन्न क्यों नहीं होते ? जिनका मैं चैत्यवन्दन करता हूँ, वे कैसे हैं ? उनका स्वरूप अभी तक हम नहीं समझे ।

अर्थ जानेंगे, भगवान की महिमा समझेंगे, त्यों त्यों आनन्द की वृद्धि होगी । आनन्द की वृद्धि के साथ शुद्धि की वृद्धि होती है और शुद्धि की वृद्धि के साथ आनन्द की वृद्धि होती है ।

इस प्रकार यह अमृतचक्र है । एक दूसरे पर आधारित है । एक से दूसरे को प्रोत्साहन मिलता है ।

अजितनाथ भगवान के समय में सर्वोत्कृष्ट मानवों की आबादी थी । उस समय तीर्थंकर भी सर्वत्र थे - १७०, नौ करोड़ केवली एवं नौ हजार करोड़ (नब्बे अरब) मुनि थे ।

इस समय बीस तीर्थंकर हैं । दो करोड़ केवली एवं दो हजार करोड़ (बीस अरब) साधु हैं । अब उत्सर्पिणी में तेईसवे तीर्थंकर के समय में उत्कृष्ट से १७० तीर्थंकर होंगे ।

एक तीर्थंकर का परिवार : दस लाख केवली, सो करोड़ मुनि (एक अरब) होता है ।

* * * * *

पूज्यपाद अध्यात्मयोगी सूरिदेवना काळधर्मना समाचार हमणां
ज सांभळ्या । आंचको अनुभव्यो । देववन्दन कर्तुं ।

पूज्यश्रीनी विदायथी मात्र आपना समुदायने ज खोट पडी
छे एवुं नथी । आपणे बधा दरिद्र बन्या छीए... आप सहुनी वेदनामां
अमारुं पण समवेदन जाणशो ।

आपना उपर आवी पडेली जवाबदारी सुंदर रीते वहन करवानुं
सामर्थ्य आपने मळी रहे ए ज प्रभु पासे प्रार्थना ।

महापुरुषोनी अणधारी विदाय शून्यता थोडी वार उभी करे
छे । परंतु तेओ दिव्य रूपे अनेक गणी वधु शक्ति साथे आपणी
साथे होय छे... आपने पण आ वातनी प्रतीति थरो ज...

आप स्वस्थ बनी जशो । संघने निश्रा आपी पालीताणा पथारो...

- एज... मुनिचंद्रसूरिनी अनुवंदना

म.सु. ४, गांधीनगर



२-१-१९९९, गुरुवार

भा. व. ७

परमात्मा ने भूमिका के भेद से साधु धर्म एवं श्रावक धर्म दो प्रकार के धर्म बताये हैं, क्योंकि जीवों की भूमिका वैसी होती है। दृढ़ मनोबली साधु एवं हीन मनोबली श्रावक बनते हैं।

साधु धर्म अर्थात् भगवान की आज्ञा का पूर्ण रूपेण पालन।

श्रावकत्व अर्थात् भगवान की आज्ञा का अपूर्ण परन्तु श्रद्धामय पालन।

✽ अभी भगवती में भगवान के लिए विशेषण आया - 'उप्पन्ननाणदंसणे' उत्पन्न केवलज्ञानवाले लिखा, परन्तु 'नाणदंसणधरे' नहीं लिखा - वह यह बताता है कि केवलज्ञान उत्पन्न करना पड़ता है, जो कोई भी जीव कर सकता है। अन्य दर्शनों की तरह यहां अनादिकाल से ज्ञान नहीं है, यहां उत्पन्न हुआ है।

बचपन में मुझे में अध्यात्म के प्रति रुचि थी, परन्तु यह पता नहीं था कि कौनसा सच्चा अध्यात्म है और कौनसा गलत है? परन्तु पुन्ययोग से मुझे प्रथम से ही भक्ति पसन्द थी, मानो भगवान निरन्तर मार्ग-दर्शन करते रहे हों।

किसी ने मुझे गृहस्थ जीवन में (खेरागढ में) कानजी की

पुस्तक देते हुए कहा, - 'इसमें सच्चा अध्यात्म है, पढ़ना ।'

पुस्तक खोलते ही भीतर पढ़ने को मिला, 'उपादान ही मुख्य है । निमित्त अकिंचित्कर है ।'

मैंने तुरन्त पुस्तक रख दी और उस व्यक्ति को कहा, 'यह अध्यात्म नहीं है ।'

मैं समस्त साधु-साध्वीयों को बताना चाहता हूँ कि जहां देव-गुरु की भक्ति न हो, वहां किसी अनुष्ठान में सच्चा अध्यात्म न मानें ।

पू. देवचन्द्रजी महाराज कहते हैं : 'कोठी में हजार वर्षों तक बीज पड़े रहेंगे तो भी वे वैसे के वैसे ही पड़े रहेंगे, परन्तु उन्हें भूमि में बोया जाये तो ?

'बीजे वृक्ष अनन्तता रे, प्रसरे भू-जल योग' - पू. देवचन्द्रजी

उस प्रकार हम भी भगवान के संयोग को पाकर अनन्त बन सकते हैं । बीज को यदि भूमि, पानी आदि प्राप्त नहीं हो तो वह अपने आप वृक्ष नहीं बन सकता, उसी प्रकार जीव अकेला ही शिव नहीं बन सकता ।

इस बात की ओर आप किसी का ध्यान नहीं है, जिसका मुझे बहुत ही दुःख है । क्यों किसी की दृष्टि नहीं जाती ?

पू. देवचन्द्रजी महाराज ने प्रथम स्तवन में 'प्रीतियोग' बताया है । षोडशक योगविशिका आदि में प्रीतियोग बताया है, वह प्रभु का प्रेम समझें ।

प्रभु के प्रेम के कारण ही मार्ग भूल नहीं पाये हैं । इसी कारण 'सुहगुरुजोगो' प्रभु के पास नित्य मांगते हैं ।

जिस व्यक्ति के ऊपर गुरु होगा, वह कभी पथ-भ्रष्ट नहीं होगा ।

गांव के लिए मटके बनाने का उत्तरदायित्व कुम्हार का है, उस प्रकार जीव में से शिव बनाने का उत्तरदायित्व भगवान का है ।

यदि मिट्टी को कुम्हार नहीं मिले तो अपने आप मटका नहीं बन पायेगा । भगवान के बिना हम भी भगवान नहीं बन पायेंगे ।

पंचवस्तुक :

✻ गोचरी के लिए भोजन के समय ही जायें, आगे-पीछे न जायें, क्योंकि ऐसा करने में पूर्व-कर्म - पश्चात्-कर्म का दोष

लगता है ।

❖ क्यों हम इतना बकवास करते हैं ? क्यों अपनी शक्ति नष्ट करते हैं ? मौन रखने से ऊर्जा की वृद्धि होती है । मौन अर्थात् वाणी का उपवास । मन से विचारों की खलबली छोड़ें । मन का उपवास करो ।

मौन रहे वह मुनि है । वाणी पर संयम रखने वाला वाचंयम है । सिर्फ गोचरी करते समय ही नहीं, अन्य समय में भी जो मौन रहता है वह मुनि है । इस प्रकार का मौन आयेगा तो शक्ति का संचय होगा ।

मन, वचन, काया से हम कमाई करते हैं कि नष्ट करते हैं ? संघट्टा लेते समय जैसे हम नहीं बोलते, उस प्रकार पड़िलेहन-गोचरी आदि के समय भी नहीं बोलना चाहिये ।

भक्ति :

हे आत्मन् ! अब मैं तुझे कभी दुर्गति में नहीं भेजूंगा । इतना निश्चित करो । अन्य पर नहीं तो अपनी आत्मा पर तो दया करो ।

❖ जिनको दीक्षा ग्रहण करने को नहीं मिला वे नहीं मिलने का खेद करते हैं और हम यदि आलस करें तो ?

संयम सफल करने के लिए दो वस्तु सरल हैं - भक्ति तथा ज्ञान । अन्य परिषद आदि तो हम सहन नहीं कर सकते । भक्ति बढ़ने के साथ आनन्द बढ़ता है । भक्ति का सम्बन्ध आनन्द के साथ है ।

महापुण्योदय से हमें भक्ति करने की इच्छा हुई, अन्यथा इच्छा भी कहाँ होती ?

हम भक्त के लिए समय निकाल सकते हैं, परन्तु स्वयं भक्त बन कर परमात्मा के लिए समय नहीं निकाल सकते ।

यदि प्रेमलक्षणा भक्ति का अभ्यास करना हो तो उपा. यशोविजयजी की चौबीसी कण्ठस्थ कर लो । फिर आपको क्रमशः एक के बाद एक सोपान मिलते जायेंगे ।

भगवान के साथ प्रेम में कहीं भी जोखिम नहीं है । जीवों के साथ प्रेम करने में राग उत्पन्न हो सकता है । प्रेम बहुत कपटी शब्द है ।

भगवान पर प्रेम अर्थात् भगवान के गुणों (ज्ञान आदि) के प्रति प्रेम, किसी व्यक्ति पर नहीं । गुरु पर प्रेम अर्थात् गुरु तत्त्व के प्रति प्रेम । कोई व्यक्तिगत प्रेम नहीं है ।

प्रभु-भक्त के मन में भी आरोह-अवरोह होता रहता है । इसी लिए आपको किन्हीं स्तवनों में प्रभु का उत्कट प्रेम दृष्टिगोचर होगा तो किन्हीं स्तवनों में प्रभु का उत्कट विरह प्रतीत होगा ।

श्रद्धा की वृद्धि करने के लिए ज्ञान आवश्यक है । ससभंगी, नय, द्रव्य-गुण पर्याय आदि का ज्ञान श्रद्धा की वृद्धि करता है । श्रद्धा-ज्ञान की वृद्धि के साथ भक्ति तात्त्विक बनती जाती है । यदि उसमें चारित्र सन्मिलित हो जाये तो तो बात ही क्या करनी ?

‘सुमतिनाथ गुणशुं मिलीजी’ यहां भगवान के गुणों पर प्रेम अभिव्यक्त हुआ है । इष्ट वस्तु प्राप्त होने पर हमारे चेहरे पर मुस्कान आ जाती है । भक्त के लिए तो भगवान ही इष्ट वस्तु है, अन्य कुछ भी नहीं ।

जल में तेल डालो । वह फैल जायेगा । उस प्रकार हमारे हृदय में प्रभु प्रेम फैल जाना चाहिये ।

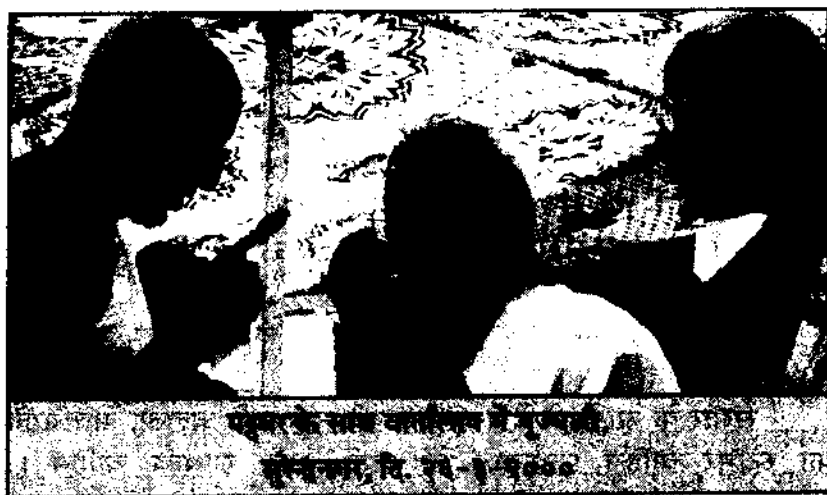
* * * * *

अध्यात्मयोगी, अजोड़ शासन प्रभावक, कच्छ वागड
देशोद्धारक, प.पू.आ.भ.श्री कलापूर्णसूरि म.सा.नी चिर विदायथी
शासनने न पूरी शकाय एवी खोट पड़ी छे ।

विश्वमां फेलायेली अशांतिमां एन्ध्रेक्ष - प्लेग अने अणुयुद्धना
वादळ घेराया छे त्वारे आवा पुन्यशाळी आचार्य भगवंतनी हाजरी खूब
ज जरुरी हती । जे नमस्कार मंत्रनी आराधना द्वारा आवनार संकट
समये ढालरूप थया होत ।

गत वर्षे पालीताणाना चातुर्मासमां प.पू.आ.भ.श्रीनुं उपनिषद्
माणवा मळ्युं अने वाचना द्वारा अमारा कर्णयुगलो धन्य बन्या हता ।

- एज... अचलगच्छ्रीय सर्वोदयसागर
(प.पू.आ.भ.श्री गुणसागरसूरि म.सा.ना शिष्य)नी वंदना
म.व. ११, देवलाळी.



३-९-१९९९, शुक्रवार
भा. व. ८

❀ जो तारता है वह तीर्थ है । जिस व्यक्ति को डूबने की आशंका हो, वही तैरने के लिए उत्कण्ठा बताता है । क्या आपको यह लगता है कि हम डूब रहे हैं ?

डूबते हुए प्राणी को बचाने का कार्य तीर्थ का है ।

विषय-कषायों में फंसना अर्थात् डूबना । डूबता हुआ मनुष्य बचना चाहता है, कैदी कैद में से छूटना चाहता है, उस प्रकार धर्मात्मा संसार से मुक्ति चाहता है ।

आश्चर्य की बात यह है कि कई जीव बार-बार कारागार में जाना चाहते हैं ।

वह वणिक जान बूझकर कारागार में जाने के लिए अपराध करने लगा । पूछने पर बोला - 'मैंने वहां व्यापार किया है । अब दूसरी बार जाऊंगा तो वसूली हो सकेगी न ?'

आप तो ऐसे नहीं हैं न ?

कारागार जैसे संसार में बार-बार जाने की इच्छा तो नहीं होती है न ? आपके तो हिसाब बाकी नहीं रहे हैं न ?

जर-जमीन-जोरू ये तीन आसक्ति एवं झगड़े के मूल हैं ।

कहे कलापूर्णसूरि - १ ***** २३५

हमने ही यह संसार अपने हाथों खड़ा किया है, घटाने का कहीं नाम नहीं है। अभी संसार में जन्म-मृत्यु चालु है, क्या वह बराबर है ? कि थकान लगती है ?

★ देह का त्याग उतना ही मोक्ष का अर्थ नहीं है। केवलज्ञानी हो कि संसारी हो सभी का भी देह छूटता है। देह छूटने के साथ कर्म छोड़ना ही मोक्ष है। देह छूटने के साथ विषय-कषायों के संस्कार साथ ले जाना मृत्यु है।

सात जन्मों तक सर्व विरति प्राप्त हो जाये तो मृत्यु को मोक्ष में अवश्य बदल सकते हैं।

संसार के सागर में देश-विरति की नाव नहीं चलती, सर्वविरति का स्टीमर चाहिये। केवल वेष नहीं, भाव साधुत्व चाहिये।

छःकाय की रक्षा के साथ आत्मा (शुभ अध्यवसायों) की रक्षा करे उसे भाव साधुत्व प्राप्त होता है।

★ आज-कल श्रावकों की तत्त्वरुचि घटी हुई दिखती है। आज से ६०-७० वर्ष पूर्व कैसे तत्त्व-जिज्ञासु श्रावक थे ? आज कहां है ?

आज आप छुट्टीयों के कारण अधिक संख्या में आते हैं, परन्तु वास्तव में क्या आपको जिनवाणी श्रवण में रस है ?

★ यह तीर्थ उत्तम बना है। उसे पर्यटन एवं भ्रमण का स्थान नहीं बनायें। वासक्षेप न मिले तो निराश मत होना। गुरु के मुंह से 'धर्मलाभ' सुना, आशीर्वाद मिल गया, कार्य हो गया। भीड़ अधिक होने से वासक्षेप भी डाल नहीं सकता। डाक्टर का भी इनकार है।

पंचवस्तुक :

सिर्फ कष्ट सहन करने से ही आत्म-शुद्धि हो जाती हो तो बैल, मजदूर (श्रमिक) आदि अनेक कष्ट सहन करते हैं। इसमें आज्ञापूर्वक की आत्म-शुद्धि का लक्ष्य होना चाहिये।

‘जो कष्टे मुनि मारग थावे, बलद थावे तो सारो ।

भार वहे जे तावड़े भमतो, खमतो गाढ प्रहारो ॥’

- उपा. यशोविजयजी द्वारा विरचित ३५०

गाथा का स्तवन ।

अभिग्रह धारण करने से सत्त्व की वृद्धि होती है, क्षुधा आदि परिषह सहन करने की शक्ति आती है और अहंकार, मोह, ममत्व आदि दोष मिटते हैं ।

भगवान् आदिनाथ को ४०० दिनों तक भिक्षा प्राप्त नहीं हुई थी । किस कारण से ? हम होते तो कभी का संकेत कर देते । यह तो ठीक कच्छ-महाकच्छ आदि ४००० सह दीक्षितों ने भी दीक्षा ग्रहण करने से पूर्व भोजन की व्यवस्था के लिए पूछा नहीं । वे कितने समर्पित होंगे ?

जिस प्रकार स्वर्ण को अग्नि आदि की परीक्षा में से गुजरना पड़ता है, उस प्रकार संयमी को परिषहों की अग्नि में से गुजरना पड़ता है ।

लोच आदि स्वेच्छा से सहन करने की आदत के कारण अनायास ही आने वाले परिषह आदि सरलतापूर्वक सहन कर सकते हैं । लोच के समय सहन करने वाले हम, इसके अलावा प्रसंग पर कोइ बाल खींचे तो क्या सहन करेंगे ?

बाल तो आज कोई नहीं खींचेगा, परन्तु आपको अपमानित करने वाले शब्द कहेंगे । तब आप क्या करेंगे ?

गाली तो नहीं देता है न ? ऐसा सोचना ।

गाली देने पर डण्डा तो नहीं लगाता न ?

डण्डा मारे तो जान से तो नहीं मारता है न ?

जान से मारे तो धर्म को नष्ट तो नहीं करता न ?

इस प्रकार यदि सोचेंगे तो कभी क्रोध नहीं आयेगा ।

आक्रोश, तर्जना, घातना, धर्मभ्रंश ने भावे रे,
अग्रिम अग्रिम विरहथी, लाभ ते शुद्ध स्वभावे रे...

- उपा. यशोविजयजी सज्जाय-छट्टा पाप-स्थानक

❖ पापक्षय, इर्यापथिकी, वंदना आदि आठ कारणों से कायोत्सर्ग होता है । 'पावक्खवणत्थ इरियाइ'... चैत्यवन्दन भाष्य ।

❖ सुखलाल पंडित ने कहा था कि प्रतिक्रमण के सूत्र अन्य आचार्यों के द्वारा रचित हैं । उन्हें प्रश्न पूछा गया - 'तो फिर गणधर भगवंत प्रतिक्रमण में कौनसे सूत्र बोलते थे ?'

फिर सुखलालजी ने स्वीकार किया कि सूत्र गणधरों के द्वारा ही रचित हैं ।

✿ नागेश्वर तीर्थ में सर्व प्रथम दर्शन किये तब लगा कि मानो साक्षात् पार्श्वनाथ मिल गये । पूरी नौ हाथ की काया ! भोपावर में शान्तिनाथ की जयपुर में महावीर स्वामी आदि की कायोत्सर्ग मुद्रा में मूर्तियां हैं । ऐसी मूर्तियों के समक्ष कायोत्सर्ग का अभ्यास करने जैसा है ।

अलौकिक तेजवाली मूर्तियों के दर्शन से सम्यक्त्व निर्मल होता है । जब मैं अहमदाबाद जाता हूं तब मूलिया, महावीर स्वामी, जगवल्लभ अवश्य जाता हूं । साक्षात् महावीरस्वामी याद आते हैं, परन्तु आप स्वयं शान्त हो तो ही अनुभूति होती है । क्या यहां (वांकी में) हमेशा महावीरस्वामी के शान्त चित्त से दर्शन करते हैं ? संध्या के समय घी के दीपक के प्रकाश में कैसे सुन्दर सुशोभित लगते हैं ? आपको शंखेश्वर दादा की याद आ जायेगी ।

✿ भक्ति हमारी, परन्तु शक्ति भगवान की । भगवान की कृपा से अपनी शक्तियां व्यक्त होती रहती है । भगवान ही हमारी शक्तियों को बाहर लाने के मुख्य हेतु है । गौतमस्वामी इसका उत्तम उदाहरण है । उनका अभिमान विनय में बदल गया । उनकी समस्त विनाश-गामिनी शक्तियां विकास-गामिनी बन गई ।

अरिहंत की भक्ति से हमारी श्रद्धा, मेधा, धृति, धारणा, अनुप्रेक्षा आदि की वृद्धि होती रहती है ।

✿ अइमुत्ता ने अपने पिता को कहा, 'मुझे दीक्षा ग्रहण करने का इनकार मत करना । यदि आप मुझे मृत्यु से बचा सकते हो तो मैं दीक्षा ग्रहण नहीं करूं ।' माता-पिता चुप हो गये ।

सौ वर्ष के वृद्ध भी मृत्यु नहीं चाहते ।

उस वृद्ध ने भैस देखकर उसे यम समझ कर कहा, 'मैं बीमार नहीं हूं । बीमार तो वह है ।'

साधुत्व अर्थात् मृत्युंजयी मंत्र । साधु को कभी मृत्यु का भय नहीं होता । वे हमेशा बोलते हैं - 'आहारमुवहिदेहं सर्व्वं तिविहेण वोसिख्' वे हमेशा आहार, उपधि तथा देह का त्याग करके ही सोते हैं ।

क्या मृत्युंजयी तप-जप चाहिये ?

मृत्युंजयी तप है - मासक्षमण ।

मृत्युंजयी जप है - नवकार महामंत्र । नवकार मंत्र का नाम

है - मृत्युंजयी मंत्र । मृत्यु नहीं होती, यह बात नहीं है, नवकार से मृत्यु में असमाधि नहीं होती । समाधि में मरना अर्थात् मृत्यु पर विजयी होना ।

नवकार का जाप तो फलदायी होगा यदि आप काले कार्य और काला धन्धा नहीं करो ।

(आगन्तुक लोगों को नवकारवाली गिनने की प्रतिज्ञा दी गई)

• • • • •

समस्त जैन संघ माटे जे घेघुर वडला समान हता, जेमनी हाजरी मात्रथी जैन संघ सुखसातामां हतो, जेमना दर्शनमात्रथी भवोभवना पातिकनो भूको बोलाई जतो हतो, जेमना नामस्मरणमां प्रभुभक्तिनी अनुभूति थती हती, जेमनुं नाम श्रवण थतां ज दूर-दूर रहेलाने पण प्रभुमस्तीनी अने परम अध्यात्मभावनी अनुभूति थवा मांडती हती, जेमना रोमेरोममां जैनशासन हतुं, जेमना श्वासोच्छ्वासमां जीवमात्र प्रत्ये परम मैत्रीपूर्ण करुणा हती । कारण के जेमना हृदयमां देक धबकारे प्रभुना साक्षात्कारे ध्वनि प्रगट थतो हतो ने जेमना प्रत्येक पलकारे प्रभु नयनो द्वारा हैयामां आवी सर्व आत्मप्रदेशव्यापी थता हता । विशेष शुं लखवुं...? जेमनामां एकबाजु परमात्माना वासनी सुवास हती, तो बीजी बाजु जीवमात्र प्रत्ये छलकती करुणा हती । ए पूज्यपादश्रीनी दया हवे याद ज करवानी रही ! हजी मन मानतुं नथी, उंडे उंडे एम थया करे छे आ समाचारने बदले अफवा ज होय, तो केवुं सारुं !

जीवमात्रनी वेदना जेनी संवेदना हती, एवा पूज्यपादश्रीना देव-अतिथि बनवाना समाचारथी अकल्प्य वेदना अनुभवी रह्यो छुं । आप सहना तो छत्र, तारणहार, सर्वस्व हता । जे मार पर पण पूज्यपादश्रीनो जे अनन्य अनुग्रह वरस्यो छे, ते हजी पण हृदयपट परथी भूंसातो नथी । आवा अप्रमत्त अध्यात्मयोगी पूज्यश्री तो आ पांचमा आरामां पण चौथा आरानी आराधना करी-करावी जीवनेने धन्यतम बनावी गया । पण आपनुं ! अमारुं ! आ समस्त जैन संघनुं हवे मातृवात्सल्यदायक शरण कोनुं ?

खरेखर ! वेदनाथी कलम अटकी गई छे ।

- पं. अजितशेखरविजयनी वंदना

म.सु. ४, बोरिवली (पूर्व), मुंबई.



पुष्पकौ का उत्तरीयवि ग्रहण करते हुए दीपबंद गाड़ी, साथ में
केशुभाई पटेल, बीरभाई, महासुखभाई आदि, दि. २६-३-१९००

४-९-१९९९, शनिवार

भा. व. ९

❖ सिद्धान्तों का स्वाध्याय बढ़ने पर संयम की शुद्धि एवं स्थिरता बढ़ती है, भगवान के साथ अभेद-भाव से मिलन होता है । चारित्र मतलब प्रभु का मिलन । सन्त एवं योगी प्रभु के साथ मिल सकते हैं ।

जाण चारित्र ते आतमा, शुद्ध स्वभावमां रमतो रे ।

लेश्या शुद्ध अलंकर्यो, मोह वने नवि भमतो रे ॥

ऐसे चारित्र तक किस प्रकार से पहुंचा जा सकता है ?

ज्ञान के अनुसार श्रद्धा, श्रद्धा के अनुसार चारित्र, चारित्र के अनुसार ध्यान और ध्यान के अनुसार भगवान मिलते हैं ।

साधनों में न्यूनता रखते हैं, इसीलिए ही भगवान नहीं मिलते ।

चले बिना, लक्ष्य (मंजिल) कैसे आयेगा ? खाये बिना तृप्ति कैसे मिलेगी ? सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्रभु-प्राप्ति का उपाय है । यह उपाय न करें तो प्रभु कैसे मिलेंगे ? मार्ग तो मिल गया, परन्तु चलना तो पड़ेगा ही न ?

दीक्षा ध्येय की समाप्ति नहीं है, साधना की पूर्णाहुति नहीं है, सचमुच तो साधना का प्रारम्भ है ।

मिथ्यात्व गुणस्थानक भी सच्चे अर्थ में अपुनर्बधक (मित्रादृष्टि) में घटित होता है। गुण का स्थान वह गुणस्थानक। बाकी ओष से मिथ्यात्व गुण-स्थानक तो एकेन्द्रिय को भी है, उस प्रकार हमें भी हो तो फरक क्या रहा ?

बाहर से भले ही हमारी बहुत ही प्रशंसा होती हो, परन्तु यह कोई अपनी साधना का प्रमाणपत्र नहीं है। लोगों के कहने से हम श्रेष्ठ नहीं बन सकते। अभी हम जानते अवश्य हैं, परन्तु दूसरों को बताने के लिए। जब तक उक्त ज्ञान अपनी साधना में नहीं लगायेंगे, तब तक आत्म-कल्याण नहीं होगा।

प्रीति, भक्ति, वचन, असंग - इन चार योगों में स्थिर, दृढ़ रहें तो कहीं भूलें नहीं पड़ेंगे।

जिनेश्वर विहित ऐसा कोई अनुष्ठान नहीं है जिसमें आत्मशुद्धि न हो। हानि का कोई अंश नहीं और लाभ का पार नहीं।

✽ नगर-प्रवेश के समय पैर पूंजने चाहिये, परन्तु यदि लोग कोई उल्टी-सीधी शंका करने लगे तो पैर न भी पूंजे।

✽ मातृ के वेग को कभी न रोकें। रोकने से नेत्रों को हानि होगी।

✽ अभी हमारे लिए शास्त्र ही तीर्थकर हैं। शास्त्रों का बहुमान भगवान का बहुमान है।

शास्त्रे पुरस्कृते तस्माद्, वीतरागः पुरस्कृतः ।

पुरस्कृते पुनस्तस्मिन्, नियमात् सर्वसिद्धयः ॥

शास्त्र आगे किये, उन्होंने भगवान को आगे किये और भगवान को आगे करने पर सर्व सिद्धियां प्राप्त होंगी ही।

✽ अर्थ पुरुषार्थ दान धर्म के साथ, काम पुरुषार्थ शील धर्म के साथ, धर्म पुरुषार्थ तप धर्म के साथ, मोक्ष पुरुषार्थ भाव धर्म के साथ सम्बन्धित है।

✽ कदम-कदम पर देह में से अशुचि निकलती है। देह की शुद्धि जल से हो सकती है। आत्मा भी कदम-कदम पर चाहे जितनी सतर्कता रखे तो भी अशुचि से लिप्त होता रहता है। इसी कारण से प्रत्येक अनुष्ठान से पूर्व 'इरियावहियं' आवश्यक है।

✽ पूर्णानन्दसूरिजी (वल्लभसूरिजी के) नित्य १०८ बार

‘इरियावहियं’ जपते । मोह का कार्य मलिन बनाने का है, भगवान का कार्य निर्मल बनाने का है । ‘इरियावहियं’ हमारा भाव-ज्ञान है । भगवान की भक्ति हमारा भाव-ज्ञान है ।

इरियावहियं जीव मैत्री, नवकार जिन-भक्ति का सूत्र है ।

✽ जहां मैत्री होगी, वहां प्रमोद, करुणा एवं मध्यस्थता होगी ही । प्रमोद, करुणा एवं मध्यस्थता मैत्री को टिकानेवाले परिवल हैं ।

✽ अशुभ भावों का मूल दो कनिष्ठ इच्छाएं हैं :

१. मुझ पर कोई कष्ट न आये, मेरे समस्त दुःख मिट जायें ।

२. संसार के समस्त सुख मुझे ही प्राप्त हों ।

इनमें से ही अशुभ भाव उत्पन्न होते हैं । द्वेष, तिरस्कार, ईर्ष्या, असूया, माया, लोभ आदि दोष इनमें से ही उत्पन्न होते हैं ।

अब इन दो अशुभ भावों को दूर करने के लिए शुभ भाव जगायें ।

१. कोई पाप न करो जगत् में

२. कोई दुःखी न बनो जगत् में ।

दूसरों के लिए शुभ भावनाओं का झरना प्रवाहित करने पर हमें ही सुख का प्रवाह प्राप्त होता है ।

यदि दुःख नष्ट करने हों तो पाप नष्ट करने होंगे, क्योंकि दुःख का मूल पाप है ।

क्या आपका कोई मित्र है ? आप मित्र के दुःख से दुःखी होते हैं न ? उसे दूर करने के लिए कुछ प्रयत्न करते हैं न ?

अब जगत् के समस्त जीवों को मित्र बनायें । आपको स्वहित की चिन्ता हो तो भी पर-हित की चिन्ता करो । पर-हित की चिन्ता किये बिना, स्व-हित हो ही नहीं सकता ।

मैत्रीभावना की अपेक्षा करुणा-भावना सक्रिय है, क्योंकि करुणा में दुःखी का दुःख दूर करने का प्रयत्न है ।

अमेरिका के प्रेसिडेंट अब्राहम लिंकन ने कीचड़ के खड्डे में फंसे हुए शूकर को स्वयं बाहर निकाला ।

यह करुणा कही जाती है -

परहित-चिन्ता मैत्री, पर-दुःख - विनाशिनी करुणा ।

पर-सुख - तुष्टिर्मुदिता, परदोषोपक्षणमुपेक्षा ॥

इन चारों भावनाओं का स्वाध्याय करना हो तो एक पुस्तक

है, जिसका नाम है 'धर्म बीज ।' प्रस्तावना भद्रंकर विजयजी की है, लेखक हैं - तत्त्वानन्द विजय ।

इन चार भावनाओं के बल पर ही भगवान को अष्ट प्रातिहार्यादि की ऋद्धि प्राप्त हुई है ।

'तुभ्यं योगात्मने नमः' वीतराग स्तोत्र में हेमचन्द्रसूरि ने कहा है । योगी को ये चार भावनाएं स्वयं सिद्ध होती हैं ।

शान्तसुधारस भावना में विनयविजयजी कहते हैं - 'योगी चाहे जितनी साधना करता हो, परन्तु भावनाओं के बिना शान्त रस का आस्वादन नहीं कर सकता ।

दुर्ध्यान की भूतनिर्या इन भावनाओं से भाग जाती है ।

भक्ति :

'जगचिन्तामणि' अद्भुत भक्ति सूत्र है ।

हमारे सूत्र दो विभागों में बंटे हुए हैं - मैत्री, भक्ति में ।

नवकार, नमुत्थुणं, जगचिन्तामणि आदि भक्ति-सूत्र है ।

इरियावहियं, तस्स उत्तरी, वंदितु आदि सूत्र मैत्रीसूत्र हैं ।

नमस्कार में नमस्करणीय की वृद्धि होती रहे, त्यों त्यों फल में वृद्धि होती जाती है ।

दान में जैसे लेने वालों की वृद्धि होने पर फल की वृद्धि होती जाती है ।

दुकान में ग्राहक बढ़ने पर जैसे कमाई बढ़ती जाती है ।

• • • • •

आ काळना अद्भुत प्रभुभक्त रूपे तेओश्री समग्र संघमां सुप्रसिद्ध
हता । ए प्रभुभक्तिना प्रधान परिणाम रूपे आंतरविशुद्धिने तो तेओश्री
वर्या ज हता, परंतु एनी साथोसाथ सामान्यजनने नजरे आवे एवी
पनोती पुन्याइ पण वर्या हता । एमनी अद्भुत प्रभुभक्ति तथा श्री
नमस्कार निष्ठाने हार्दिक भावांजलि ।

- एज... वि. सूर्योदयसूरि

गणि राजरत्नविजय

म.सु. ४, अंधेरी.



पूज्यश्री से गुजरात के मुख्यप्रधान केशूभाई पटेल
आशीर्वाद ग्रहण करते हैं, सुरुद्वार, दि. २६-३-२०००

५-१-१९९९, रविवार
भा. व. १०

पुत्र व्यसनों में फंस जायें तो पिता दुःखी हुए बिना नहीं रहेंगे। हम भी यदि दोषों से ग्रस्त हो जायें तो क्या अपने परम पिता परमात्मा दुःखी नहीं होंगे ?

हमने भगवान का आश्रय नहीं लिया इसलिए ही दुःखी हैं। जब तक भगवान का आश्रय नहीं लेंगे तब तक दुःखी होंगे ही।

स्वतन्त्रता अर्थात् मोह की परतन्त्रता, यह अभी तक जीव को समझ में नहीं आता। मोह की अधीनता से मुक्त होने के लिए भगवानकी पराधीनता तो स्वीकार करनी ही पड़ेगी।

भगवान आपको पराधीन बनाना नहीं चाहते। दूसरों की तरह वे आपको वाड़े में कैद करना नहीं चाहते, परन्तु वास्तविकता यह है कि ऐसी पराधीनता के बिना हमारा उद्धार नहीं होगा। इसे पराधीनता नहीं कहा जाता, परन्तु इसे समर्पणभाव कहते हैं।

❀ हरिभद्रसूरि को अनेक व्यक्ति कहते - 'आप नये-नये प्रकरणों की रचना करते हैं, जिससे लोग आपके प्रकरणों को ही पढ़ेंगे और आगम छोड़ देंगे।'।

वे उत्तर देते - 'मेरे ग्रन्थों के पठन से आगमों को पढ़ने

की रुचि बढ़ेगी । आगम रूपी सागर में प्रवेश करने की ये तो नाव हैं । नाव भला सागर की विरोधी कैसे हो सकेगी ?

✽ एक साधु ही जगत् में ऐसे है जो स्वयं दुर्गति से बचकर अनेक अन्य व्यक्तियों को भी बचाते है । जिस प्रकार तैराक तैरता है और तैराता है ।

चारित्रविजय कच्छी ने जब पालीताना में बाढ़ आई तब एकसौ मनुष्यों को बचाये, उस प्रकार साधु जीवों को बचाते हैं ।

✽ पतंजलि ने लिखा - 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ।'

यशोविजयजी ने लिखा - 'संक्लिष्टचित्तवृत्तिनिरोधः ।'

यह व्याख्या जैन दर्शन की हो गई । अशुभ विचारों का ही निरोध करना योग है । शुभ का निरोध नहीं करना है ।

पातंजल योग-दर्शन की उपाध्याय महाराज की टीका का भी पं. सुखलालजी ने भाषान्तर किया है

✽ देह के तीन दोष : वात, पित्त, कफ ।

आत्मा के तीन दोष : मोह, द्वेष, राग ।

शरणागति, दुष्कृतगर्हा और सुकृत अनुमोदना, मोह आदि तीनों दोषों को क्रमशः नष्ट करते हैं ।

✽ हम करते सब कुछ हैं । शायद विधिपूर्वक भी करते हैं, परन्तु उपयोग नहीं होता । यह उपयोग लाने के लिए ही मेरा इतना परिश्रम है ।

पांच प्रकार के अनुष्ठान विष, गरल, अननुष्ठान, तद्धेतु और अमृत हैं, जिनमें में से तीन वर्जित हैं ।

उपयोग तीव्र बने , एकाकार बने, तो ही तद्धेतु अनुष्ठान बन सकता है । हमारा अनुष्ठान अमृत नहीं तो तद्धेतु अनुष्ठान तो बनना ही चाहिये ।

✽ विज्ञान अणुबम आदि से मारना सिखाता है, जबकि धर्म एवं धर्माचार्य जीना और जिलाना सिखाता है ।

आज का जमाना विचित्र है । मनुष्य स्वयं जीना नहीं चाहता और न अन्य को जिलाना चाहता है ।

दूसरों को मारने के प्रयोग हमारी ही मृत्यु को निमंत्रण देते हैं, इस भव में भी ।

मच्छर, चींटी आदि मारने की दवा ? दवा(औषधि) तो जीवन देती है, औषधि क्या मारती है ? यदि औषधि मारेगी तो जीवन कौन देगा ?

चींटियों आदि को मारने के चौक आदि के भूल कर भी कभी प्रयोग न करें । जो वस्तु सूक्ष्म जंतुओं को हानि पहुंचाती है, वह अमुक अंशों में मनुष्य को भी हानि पहुंचाती ही है ।

❖ विश्वास्यो न प्रमादरिपुः । आराधना से च्युत करने वाला है प्रमाद-शत्रु । मोह की विजय तब ही होगी न ? यदि हम प्रमाद में पड़ जायें !

मद्य, विषय, कषाय, निद्रा, निन्दा (विकथा) - ये पांच प्रमाद हैं ।

भगवती में ये आठ प्रमाद बताये गये हैं : १. अज्ञान, २. संशय, ३. मिथ्याज्ञान, ४. मति भ्रंश, ५. राग, ६. द्वेष, ७. धर्म में अनादर और ८. योगों में दुष्प्रणिधान ।

समस्त प्रमाद अज्ञान में से उत्पन्न होते हैं । अतः सर्वप्रथम अज्ञान को लिया है । हमने अनन्तकाल एकेन्द्रिय में निकाला है न ? तीव्र अज्ञान-तीव्र मोह है वहां ।

सीप है कि चांदी ? यह संशय है । विपरीत ज्ञान मिथ्या ज्ञान है । जैसे सीप में चांदी की बुद्धि ।

पुद्गल में चेतन का भ्रम, यही अविद्या है । अनित्य में नित्य, अपवित्र में पवित्र, अचेतन में चेतनबुद्धि अविद्या है । देह अनित्य, अपवित्र, अचेतन है फिर भी हमारी बुद्धि उल्टी है ।

मतिभ्रंश - बुद्धि की भ्रष्टता । मिथ्याज्ञान का यह फल है । सम्यक्त्व से मिथ्यात्व नष्ट होता है, मति भ्रंश भी नष्ट होता है, परन्तु राग-द्वेष विद्यमान रह सकते हैं । धर्म में अनादर भी विद्यमान रह सकता है । मन-वचन-काया ठीक प्रकार से न जुड़े, यह भी प्रमाद है ।

धर्मानुष्ठान के समय तीनों योगों की चंचलता दुष्प्रणिधान है । इस आठ मुंह वाले प्रमाद राक्षस का विश्वास करने योग्य नहीं है ऐसा उपाध्याय महाराज कहते हैं ।

जो विश्वास हमें भगवान एवं गुरु पर करना चाहिये, वह विश्वास हमने प्रमाद पर कर लिया है ।

❖ ध्येया आत्मबोधनिष्ठा । वैसे ही आत्मबोध नहीं होगा,

पहले परमात्मा को पकड़ने पड़ेंगे ।

खोई हुई आत्मा परमात्मा के द्वारा मिलेगी । जिस दिन आपका मन परमात्मा में लग गया, उस दिन आपको आत्मा मिल गया समझें ।

अपनी आत्मा की हम जितनी चिन्ता नहीं करते, उससे अधिक चिन्ता परमात्मा करते हैं ।

आत्मबोध होने के बाद भी परमात्मा के शासन की उपेक्षा नहीं करनी है । यह क्षयोपशम भाव है, कभी भी जा सकता है ।

• • • • •

एकाएक मोटे धड़ाको थयो होय एम पूज्यपादश्रीजीना कालधर्मना समाचार सवारे ९.०० वागे मळ्या । सकळ संघ साथे देववंदनादिक कर्या ।

ज्यारे जिनशासनना गगनमां अंधकार गाढ बनतो व्यापी रह्यो छे त्यारे आ घटना अतिशय आघातजनक बनी । आपणे महासंयमी, उक्तृष्ट प्रभुभक्त, वात्सल्यमय पूज्यश्रीजीने गुमावीने शुं नथी गुमाव्युं ?

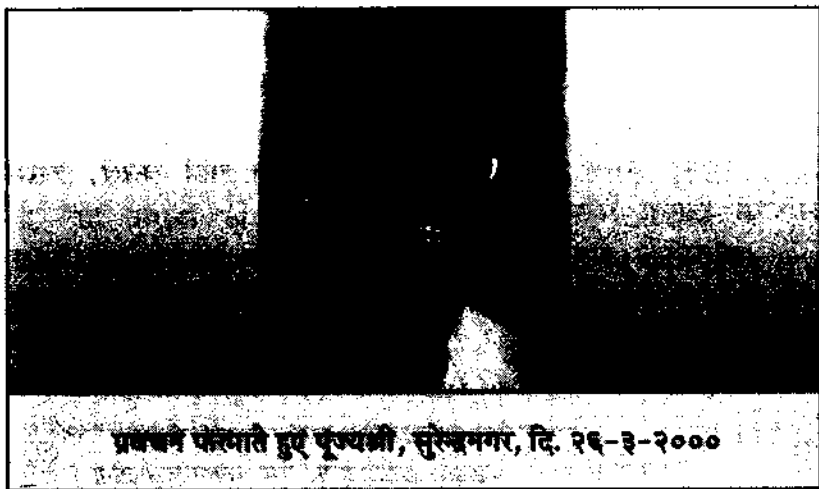
आपणा बेघाघट्टु संयमजीवन सामे आ अपूर्व आदर्श हतो । ते महात्मा, देवात्मा बन्या छे । हवे ते भरतक्षेत्रना जिनशासनना राहबर बने । आपणने साथ आपे । जिनशासननी मशाल लईने आपणी सौनी आगळ रहीने दोट मूके । शुं हशे भावी ...? आवी केटली थप्पडो खावानी आवशे ? समजातुं नथी ।

तमे सहु वियोगना आघातथी खूब पीडाता हशो । पण तेवुं न करता । तेओ उर्ध्वगति पाय्या छे । तेमनी पाछळ साची श्रद्धांजलि तो तेमनी भावनाओने जीवनमां मूर्तिमंत करीए तेमां छे..

तत्त्वदर्शनने खूब आघात लाग्यो छे । चिंता न करता । हुं संभाळी लईश...

- एज... चन्द्रशेखर वि.नी वंदना

म.सु. ४, भायखला.



प्रवचन फैलाते हुए पूज्यश्री, सुस्वमनगर, दि. २६-३-२०००

६-९-१९९९, सोमवार

भा. व. ११

✿ ज्ञान से श्रद्धा बढ़ती है। ज्ञान एवं श्रद्धा से चारित्र बढ़ता है। ज्ञान-रहित श्रद्धा उधार होती है। ज्ञान से प्राप्त श्रद्धा स्वयं की होती है। पहले सिर्फ गुरुजनों पर भरोसा था। उसके बाद स्वयं समझा हुआ होता है। प्रथम श्रद्धा विचलित हो सकती है, दूसरी नहीं।

ज्ञान + श्रद्धा दोनों साथ मिलकर चारित्र लाते ही हैं।

ये तीनों मिलकर मोक्ष लाते ही हैं। इसीलिए 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान चारित्राणि मोक्ष मार्गः'। यहां 'मार्ग' में एक वचन, तीनों अलग-अलग नहीं, परन्तु साथ मिलें तो ही मोक्ष होता है, ऐसा दिखाता है।

✿ सम्पूर्ण नवकार का 'नमो अरिहंताणं' में समावेश हो जाता है, क्योंकि अरिहंत पंच परमेष्ठिमय है। दीक्षा ली तब मुनि, गणधरों के गुरु बनने पर आचार्य, पाठ दिया तब पाठक-उपाध्याय, अरिहंत तो स्वयं हैं ही, सिद्ध भी होने वाले ही हैं।

'लोकोत्तमो निष्प्रतिमस्त्वमेव, त्वं शाश्वतं मङ्गलमप्यधीश।

त्वामेकमर्हन् शरणं प्रपद्ये, सिद्धिर्षिसिद्धर्ममयस्त्वमेव ॥'

- सिद्धसेनदिवाकरसूरि, शक्रस्तव

लोकोत्तम मंगल चार हैं - अरिहंत, सिद्ध, साधु एवं धर्म । शक्कर का निर्माण दूध आदि को भी मधुर बनाने के लिए हुआ है । उस प्रकार अरिहंत भी अन्य को मंगलभूत बनाने वाले हैं । अरिहंत ही लोकोत्तम हैं, अप्रतिम हैं, शाश्वत मंगल हैं, शरण हैं । एक अरिहंत में अन्य तीनों मंगल समाविष्ट हैं । (सिद्ध + ऋषि + धर्म = सिद्धर्षिसिद्धर्ममयः)

❖ मेरा मोक्ष निश्चित होने वाला ही है । अब मैं अरिहंत को छोड़ने वाला नहीं हूँ । यह मेरा दृढ निर्णय है । ऐसी दृढता से अरिहंत को पकड़ लो तो उद्धार होगा ही ।

पुल पर चलने वाले को भयंकर नदी का भी भय नहीं है । अरिहंत को पकड़ कर चलने वाले को भयंकर संसार का भी भय नहीं है । पुल तो फिर भी टूट सकता है, हमें नदी में डुबा सकता है, परन्तु अरिहंत का शरण संसार में कभी डुबा दे, ऐसा न कभी हुआ है, न कभी होगा ।

कैसे हैं अरिहंत ?

‘गुण सघला अंगीकर्या, दूर कर्या सवि दोष ।’ हमने सब उल्टा किया है, समस्त दोष भीतर भर कर बैठे हैं ।

गुणों के सम्मान के कारण कोधित दोष जाते-जाते प्रभु को कह गये कि हमें रखने वाले अनेक हैं । हमें आपकी थोड़ी भी परवाह नहीं है । जैसे उदंड शिष्य जाते-जाते गुरु को कह जाता है कि मुझे रखने वाले अनेक हैं, आपकी थोड़ी भी जरूरत नहीं है ।

वहां से खाना हुए दोष हमारे भीतर प्रविष्ट हो गये ।

साक्षात् भाव-अरिहंत नहीं मिले तो भी आप चिन्ता न करें । नाम-स्थापना-द्रव्य के रूप में अरिहंत भी पुल बन कर हमारे समक्ष आकर खड़े हैं ।

क्या इस पुल पर श्रद्धा है ? जगत् में अन्य सब स्थानों पर श्रद्धा है । सिर्फ यहीं नहीं है क्या ? पुल पर जितनी श्रद्धा है उतनी भी श्रद्धा क्या अरिहंत पर नहीं है ?

❖ दीक्षा अंगीकार करने से पूर्व मुझे अनेक व्यक्ति कहते - ‘गुजरात में साधु दांडों से लड़ते हैं । वहां जाकर क्या करोगे ?’

मैं कहता, 'आप भला तो जग भला । मैं अच्छा बन गया तो सब अच्छा होगा'

भगवान के भक्त का कभी अहित नहीं होता । विघ्न आते ही नहीं ।

❖ कामी भगवान का भक्त बन सकता है परन्तु भक्त कामी नहीं बनता । उदाहरणार्थ तुलसीदास रत्नावली के प्रति आसक्त थे । फिर भक्त बने ।

‘जहां राम वहां नहीं काम, जहां काम वहां नहीं राम,
तुलसी दोनों ना रहें, रवि-रजनी इक ठाम ।’

- तुलसीदास

❖ गोचरी की आलोचना में जीवमैत्री, जिनभक्ति, गुरुभक्ति तीनों हैं । इरियावहियं से जीवमैत्री, लोगस्स (चतुर्विंशति स्तव) से जिन-भक्ति, गुरु समक्ष करने से गुरु-भक्ति ।

❖ सर्वाधिक बड़ा दोष अपना मनमौजी स्वभाव है । इच्छानुसार मैं करूं । इसे हम उत्तम गुण मानते हैं, स्वतन्त्रता मानते हैं, परन्तु ज्ञानी कहते हैं कि यही बड़ी परतन्त्रता है ।

न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति । स्त्री जिस प्रकार किसी अवस्था में स्वाधीन स्वतंत्र नहीं होती । बचपन में माता-पिता के, यौवन में पति के, वृद्धावस्था में पुत्र के आधार पर जीवन यापन करती है । (ऐसी सतियों की भगवान ने भी प्रशंसा की है) उस प्रकार शिष्य भी कभी स्वतंत्र नहीं रहता ।

आजकल यह मर्यादा लुप्त होती जा रही है । स्त्री-स्वतंत्रता के आन्दोलन चलते हैं । एक तो बन्दर और ऊपर से उसे मदिरा-पान कराया जाता है । ऐसे भयंकर वातावरण में पूर्व के प्रबल संस्कारों के बिना दीक्षा ग्रहण नहीं की जा सकती । यह मैं अपने अनुभव के आधार पर कह सकता हूं ।

❖ शिष्य के लिए भगवद्भक्ति की तरह गुरुभक्ति भी आवश्यक है । पंचसूत्र में लिखा - ‘गुरु-बहुमानो मोक्षो ।’ गुरु के बहुमान से तीर्थंकर मिलते हैं । गुरु के बहुमान से ऐसा पुण्य उपार्जित होता है जिससे इस जीवन में भी तीर्थंकर मिलते हैं । किस प्रकार ? समापत्ति के द्वारा, ध्यान के द्वारा - इस प्रकार

हरिभद्र ने कहा है -

‘गुरुभक्तिप्रभावेन, तीर्थकृद्दर्शनं मतम् ।’

- हरिभद्रसूरि

✿ जब हम गुरु-वन्दन करते हों तब वे व्याक्षिप्त, प्रमत्त (नींद में) विपरीत मुंह किये, आहार-नीहार करते हुए या करने के लिये तत्पर नहीं होने चाहिये । (ऐसे समय गुरु-वन्दन न करें)

✿ स्थंडिल, मातृ के वेग को रोकने से अत्यन्त हानि होती है । अतः कभी रोकें नहीं । होस्पिटल में जाना पड़े, उसकी अपेक्षा पहले से ही हमें अपना स्वास्थ्य सम्हालना चाहिये । हमें ही अपना वैद्य बनना है ।

अध्यात्मसार :

एक प्रमाद समस्त दोषों को खींच लाता है । अतः उन्हें जीतने के लिए आत्मबोध की निष्ठा रखें । इसके लिए ‘सर्वत्र एव आगमः पुरस्कार्यः ।’ सर्वत्र आगमों को आगे रखें । ‘नमो अरिहंताणं’ आगमों का सार है ।

प्रश्न : सामायिक निर्युक्ति के प्रारम्भ में नवकार की व्याख्या क्यों ?

उत्तर : नवकार सामायिक से भिन्न नहीं है, यह बताने के लिए व्याख्या की है । नवकार सामायिक का आदि सूत्र है ।

✿ आत्मा अतीन्द्रिय है । हेतु-तर्क से पता नहीं लगेगा । अनुभवगम्य ही है आत्मा ।

‘त्यक्तव्याः कुविकल्पाः’ आगमों के अध्ययन से कुविकल्प नष्ट होते हैं । जब तक निर्विकल्प दशा का अनुभव न हो तब तक कुविकल्प-निरोध का अभ्यास करें ।

‘स्थेयं वृद्धानुवृत्त्या’ सदा वृद्ध का अनुसरण करें । सब युवा चाहिये, वृद्ध नहीं, ऐसी हठ करने वाले उस राजा की कथा आपको याद होगी ।

‘साक्षात्कार्यं तत्त्वम्’ आत्म तत्त्व का साक्षात्कार करना है, ऐसी तीव्र भावना होनी चाहिये ।

‘आत्मसाक्षात्कार किये बिना मरना नहीं है’, ऐसा दृढ़ निर्णय करें । जिस प्रकार श्रावक का निर्णय कि दीक्षा लिये बिना मरना नहीं है, उस प्रकार साधु का मनोरथ आत्म-साक्षात्कार

का होना चाहिए ।

आत्मसाक्षात्कार अर्थात् परमात्मा का साक्षात्कार । जिस क्षण परमात्मा दिखेंगे, उसी क्षण आत्मा दिखेगी ।

परमात्मा ही कहेंगे - तू और मैं एक ही हैं । अतः परमात्मा या आत्मा का दर्शन एक ही है ।

दरिया से मौज, मौज से दरिया नहीं है जुदा ।

हम से नहीं जुदा है खुदा, और खुदा से हम ।

इन समस्त बातों का जीवन में अनुभव करके मैंने ये आपको बताया है - ऐसा यशोविजयजी लिखते हैं - अनुभववेद्यः प्रकारोयम्

• • • • •

तत्रभवता प्रेषितं पुस्तकं 'कल्यु कलापूर्णसूरि' इति
समधिगतं । समवगतश्च तत्रगतं तत्त्वं किञ्चित् । भवतः पुस्तक-
सम्पादन-पद्धतिरतीव रमणीयतरा ।

पुस्तक-पठनावसरे संविदितानुभूति-रेतादशी यत् तत्रश्रीमतां
श्रीमतां पूज्यप्रवराणां कलापूर्णसूरीश्वराणां सन्निकटस्थान एव उपविश्य
यथा श्रूयते साक्षात् रूपेण वाचना / प्रवचनं वा एतादृग्वैलक्षण्यमनुभूय
प्रमुदितं आस्माकीनं अन्तक्षेतः ।

एतत्सम्पादन-कार्य-कौशल्येन भवद्भ्यां प्रकृष्टपुण्यकर्म
समुपार्जितम् ।

एतदर्थं धन्यवादाहौ भवन्तौ ।

पुस्तक-प्रेषण-कार्येण भवद्भ्यामावाम् निश्चितरूपेणोपकृतौ ।

पुनः स्मरणीयौ आवामिति -

- जिनचन्द्रसागरसूरिः,

- हेमचन्द्रसागरसूरिश्च

पालीताणा.



७-९-१९९९, मंगलवार

भा. व. १२-१३

अपराध नहीं करने वाले को दण्ड नहीं मिलता । राग-द्वेष नहीं करने वाले को कर्म बंधते नहीं हैं । राग-द्वेष करना ही अपराध है । अपराधी को दण्ड मिलता ही है । सिद्धों को दण्ड नहीं मिलता, क्योंकि वे अपराध करते नहीं ।

मल्लिनाथ भगवान को स्त्री बनना पड़ा । अच्छेश हुआ, परन्तु कर्मसत्ता ने नियम नहीं बदला ।

इस कर्मसत्ता से मुक्त करने वाली धर्मसत्ता है ।

मरुदेवी माता को कर्मसत्ता से मुक्त कराने वाले भगवान के दर्शन थे ।

✽ जब से संसार है, तब से तीर्थकर भगवान हैं ही । तीर्थकर अनेक बार मिले होंगे, परन्तु योगावंचकता कभी नहीं मिली । जब तक यह जाना न जाय कि तीर्थकर या गुरु मेरे तारणहार हैं, तब तक योगावंचकता प्राप्त नहीं होती ।

गोशाला एवं गौतम दोनों को भगवान महावीर मिले थे । एक को फलीभूत हुए, दूसरे को नहीं हुए । एक को योगावंचकता मिली, दूसरे को नहीं मिली ।

☆ गाड़ी में बैठने के बाद आपने क्या पुरुषार्थ किया ?
फिर भी आप मुंबई से यहाँ आ गये न ?

भगवान के श्रुत-चारित्र्य धर्म की गाड़ी में बैठ जाओ । स्वयमेव मुक्तिनगरी में पहुँच जायेंगे । हमें सिर्फ उसमें बैठने का प्रयत्न करना है । सिर्फ समर्पित हो जाना है । बाकी सब कुछ भगवान सम्हाल लेंगे ।

सागर में तूफान आता है तब नाविक का मानना पड़ता है, वे कहे जैसे करना पड़ता है । उसी तरह मोह के तूफान में देव-गुरु की बात माननी पड़ती है ।

मेघकुमार को दीक्षा ग्रहण करने की प्रथम रात्रि को ही विघ्न उत्पन्न हुआ, तब उन्होंने भगवान महावीर की बात मानी, जिससे उनका जीवन-रथ उन्मार्ग पर जाता बच गया । जो भगवान को जीवन-सारथि बनाता है उसे कहीं भी इधर-उधर भटकना नहीं पड़ता ।

संयम से हिंमत हारे हुए निराश मेघमुनि में भगवान महावीर ने आशा का संचार किया, भगवान ने उनमें हिंमत भर दिया, अनुकूलता की अभिलाषा के स्थान पर प्रतिकूलता के प्रति प्रेम जगाया ।

सुखशीलता ने संसार में हमें डुबाया है ।

सहनशीलता ने संसार से उद्धार किया है ।

पूर्व जन्म में क्या सहन किया था वह भगवान ने मेघकुमार को याद कराया । एक योजन का मांडला बनाया, जिसमें दूसरे जीवों का विचार किया । दूसरों के विचार से ही धर्म शुरू होता है ।

उस हाथी का एक गुण ध्यान में रखने योग्य है - कि उसने नीची दृष्टि किये बिना आगे पांव नहीं रखा ।

मेघकुमार के जीव ने खरगोश (शशक) को बचाया था ।

सेचनक ने हल्ल-विहल्ल को बचाया था ।

हाथी में इतना विवेक आने का कारण कर्मविवर, तथाभव्यत्व का परिपाक था ।

जीव भगवान को प्रिय हैं । जीवों को प्रिय बनायें तब हम भगवान के प्रिय बन ही जाते हैं । उसे बहुत बड़ा इनाम मिलता है ।

समझ के बिना किया गया धर्म भी मेघकुमार बना सकता है तो समझपूर्वक किया हुआ धर्म क्या नहीं कर सकता ?

हाथी क्रोधी, अभिमानी, और खाने के सम्बन्ध में असिष्णु होते हैं, फिर भी ढाई दिनों से भूख-प्यास सह कर उसने अपना पांव ऊपर उठाये रखा, क्योंकि निःस्वार्थ भाव से वह केवल एक खरगोश को बचाना चाहता था । यह कोई साधारण बात नहीं थी ।

अतः प्रसन्न हुई कर्मसत्ता ने खरगोश को बचाने वाले हाथी को मेघकुमार बनाया । उसे भावी तीर्थंकर श्रेणिक के समान पिता मिले । और भाव-तीर्थंकर महावीर देव के समान गुरु मिले ।

भगवान का शरण स्वीकार कर लो, फिर आपको कुछ नहीं करना है । आप भक्ति करते-करते ही भगवान बन जायेंगे ।

झाड़वर अपने साथ ही अपनी गाड़ी में बैठने वालों को भी गन्तव्य स्थान पर पहुंचा देता है । झाड़वर स्वयं पहले पहुंच जाये और अन्य व्यक्ति बाद में पहुंचे, ऐसा कभी नहीं होता ।

भगवान भी ऐसे ही हैं । भगवान स्व-पर धर्म का प्रवर्तन, पालन, वशीकरण करते हैं । वे ही धर्म-सारथि बन सकते हैं । जिस प्रकार सारथि को घोड़ों का तथा गाड़ी का प्रवर्तन, पालन एवं वशीकरण करना होता है ।

किसी भी व्यक्ति या गुरु की ओर से धर्म प्राप्त हो, परन्तु उसका मूल स्थान तो भगवान में ही मिलेगा । भगवान ने धर्म का ऐसा वशीकरण किया है कि वह भगवान को छोड़ कर कहीं जायेगा नहीं । जिस प्रकार सारथि के पास अश्वों का वशीकरण होता है ।

भगवान के मोक्ष में जाने के बाद भी उनके गुण और शक्ति इस विश्व में होते ही हैं ।

भगवान के गुणों का, नाम का, मूर्ति का स्मरण, श्रवण, दर्शन यहां बैठे-बैठे भी हम कर सकते हैं ।

जैन दर्शन मूल से किसी वस्तु का अभाव नहीं मानता । हमारे लिए पूर्णतः कोई अनुपस्थित नहीं है । उसके साथ के संयोग का ही अभाव होता है ।

हम छद्मस्थ हैं, शायद हम भगवान को नहीं देख सकते, परन्तु वे तो हम सबको देखते ही हैं न ?

भक्ति

जैन दर्शन में भक्ति सूत्र कौनसा है ? यह मत पूछो । कौनसा सूत्र भक्तिसूत्र नहीं है ? यह पूछो । समस्त सूत्र भक्ति - सूत्र हैं, क्योंकि सभी भक्ति उत्पादक है ।

जगचिन्तामणि में नाम आदि चारों प्रकार से अरिहंत हैं ।

नाम दो प्रकार से १. सामान्य अरिहंत-जगचिन्तामणि आदि ।
२. विशेष-ऋषभ आदि - रिसहसत्तुंजि आदि ।

स्थापना-सत्ताणवई सहस्सा... तिअलोए चेइए वंदे, तीनों लोकों के बिम्बों को वन्दन / चैत्य अर्थात् जिन-प्रतिमा, जिनालय । तीन लोकों के चैत्यों (जिनालयों) की संख्या :

१७ हजार, ५६ लाख, ८ करोड, ३२सौ और बयासी ।

द्रव्य जिन -

तीआणगइ । तीनों काल के जिनेश्वरों को वन्दन ।

भाव जिन -

संपइ जिणवर वीस ।

* * * * *

जेमना हृदयमां हरक्षणे वीतराग परमात्मा श्री शंखेश्वर पार्श्वनाथनी
अविस्मरणीय भक्ति हती अने जेमना शास्त्रीय रागे गवाता स्तवने
सांभळवाथी आनंदनी अनुभूति थती हती ।

प्रभु-प्रेमना प्याला पीवरावती दिव्य-वाणी अने जेमनी वाचना
द्वारा प्रगट थयेल ग्रन्थ (कहे कलापूर्णसूरि) द्वारा वांचनारना हृदयमां
प्रसन्नता प्रगटावनार तथा भीतरमां भगवाननो आविष्कार करावी भक्ति
द्वारा आत्मामां समाधिनुं बीज रोपावनार आपणा सौना महान उपकारी
एवा परम गुरु आचार्य भ. कलापूर्णसूरेश्वरजी अचानक आपणने साची
दिशाओ बतावी, प्रभु आज्ञापालक बनावी मोक्ष-मार्गे श्री सीमंधर स्वामी
पासे चाल्या गया.

- अहिंसा महासंघ

द : बाबुभाई कडीवाळ



पूज्यश्री का सुन्दरान में प्रवेश, दि. २५-३-१९९९

८-९-१९९९, बुधवार

भा. व. १४

❖ हम पर समस्त पूर्वाचार्यों का उपकार है। यदि उन्होंने शासन नहीं चलाया होता तो ? जंजीर की प्रत्येक कड़ी की तरह प्रत्येक का उपकार है।

❖ जिन्हें प्राप्त हुआ है उन्हें प्रभु के प्रेम से ही प्राप्त हुआ है। प्रभु के प्रेम की झलक प्राप्त करने वालों ने स्वयं को पूर्ण रूप से सौंप दिया। हम तो अधिकतर रखकर थोड़ा सा देते हैं।

भगवान को सर्व प्रथम पहचानने वाले मानव गौतम थे। वे आये तो थे वाद करने के लिए परन्तु बन गये शिष्य। मिथ्यात्व चला गया, सम्यक्त्व आ गया। अप्रमत्त तक की भूमिका गौतम को किसके द्वारा मिली ? केवल भगवान के प्रेम के प्रभाव से ही मिली।

मुंबई के दानवीर भाणेकलाल चुनीलाल ने मुझे कहा, 'मैंने सबको सब प्रकार की छूट दी कि ले सको उतना ले लो, परन्तु मेरे पास कोई एक लाख लेने वाला नहीं मिला। एक पचास हजार लेने वाला मिला।' मनुष्य कितना मांग सकता है ? अपने भाग्य से अधिक नहीं मांग सकता।

भगवान सर्वस्व देने के लिए तैयार हैं । हम कितना लेंगे ? मांगो तो आज ही सम्यक्त्व मिल जाये ।

‘जिनभक्तिरत चित्त ने रे, वेधक रस गुण प्रेम रे ।

सेवक जिनपद पामशे रे, रससिद्ध अय जेम रे ।’

लोहे के समान आत्मा को प्रभु-गुण के प्रेम का वेधक रस स्पर्श करे तो आत्मा परमात्मरूपी स्वर्णत्व से चमक उठती है ।

वह वेधक रस प्राप्त हो या न हो, यह अपने हाथ में नहीं है, परन्तु प्रभु-गुणों का प्रेम अपने हाथ की बात है ।

❖ ‘मेरे भाग्य में कहां चारित्र है ?’ यह कहने वाला यह कभी नहीं कहता कि ‘मेरे भाग्य में कहां भोजन है ?’

आज का भाग्य कल का अपना पुरुषार्थ है । आज का पुरुषार्थ ही कल का भाग्य बनेगा ।

❖ कोई अष्टांग योग बताये, कोई अन्य ध्यान पद्धति बताये । भगवान ने सामायिक बताई जो समस्त ध्यान-पद्धतियों को टक्कर मारती है । सामायिक भगवानने केवल कही नहीं, उसे जीवन में उतारी है । सामायिक में समस्त अनुष्ठानों का संग्रह है । ‘सर्वज्ञ कथित सामायिक धर्म’ पुस्तक प्रकाशित हुई है वह देखें ।

हमारे पास आई हुई सामायिक ग्वाले के हाथ में आये हुए चिन्तामणि के समान है जो कौए उड़ाने के लिए फैंक देता है ।

❖ नवकार, करेमि भंते के अतिरिक्त अन्य सूत्र अपने-अपने शासन में गणधरों के भिन्न-भिन्न होते हैं । शब्दों में अन्तर होता है, अर्थ में अन्तर नहीं होता, इसी लिए तीर्थकर के द्वारा कथित में कोई अन्तर नहीं आता । अनन्त तीर्थकरों ने जो कहा है, वही वे कहेंगे । इसीलिए सीमंधर स्वामी से सुना हुआ निगोद का वर्णन कालिकाचार्य के पास सुनने पर भी सौधर्मेन्द्र को ऐसा ही लगा ।

जिसका सिर फिर गया हो वही आगम में परिवर्तन करता है, कि परिवर्तन करने की इच्छा करता है ।

❖ जितनी दृष्टि खुलती है, उतनी श्रेष्ठता दिखती है ।

मुनिचन्द्रसूरिजी को कुछ रोगी में उत्तम पुरुष (श्रीपाल) दिखाई

दिया । सिद्ध तो समस्त संसारियों को भी सत्-चित् + आनन्द से पूर्ण देखते हैं ।

❖ मंत्र, विद्या, सिद्धि आदि अनेक दृष्टि से लोगस्स सूत्र महत्त्वपूर्ण है । कायोत्सर्ग में भी उसका प्रयोग किया जाता है । कायोत्सर्ग में वह ध्यानात्मक बनने पर उसके बल की वृद्धि होती है । कोई भी वस्तु सूक्ष्म बनने पर उसका बल बढ़ जाता है । इसमें बोधि, समाधि प्राप्त करने की कला है । अन्य समस्त मंत्र-यंत्र आदि से यह बढ़ जाता है । इस सूत्र से हमारा चित्त प्रसन्न होता है, जो प्रसन्नता संसार में सबसे दुर्लभ है, करोड़ों डोलर व्यय करने पर भी प्राप्त नहीं होती, यहां बिना पैसे लोगस्स आपको चित्त की प्रसन्नता देने के लिए सज्ज है । क्योंकि लोगस्स में तीर्थंकरों का भावपूर्वक का कीर्तन है ।

एवं मए अभिथुआ = सामने विद्यमान की स्तुति । भगवन् ! आप मेरे समक्ष विद्यमान हैं । मैंने आपकी स्तुति की है ।

आप यदि इस लोगस्स को जीवन में उतारना चाहो तो मैं कहूँ, अन्यथा मौन रहूँ ।

आपके समक्ष तो केवल फोन का भूंगला है, फिर भी आप व्यक्ति के साथ बात करते हैं । लोगस्स, नवकार, मूर्ति आदि भी भूंगले हैं, जो हमें प्रभु के साथ जोड़ देते हैं । एक में यंत्र-शक्ति है, दूसरे में मंत्र-शक्ति है ।

प्रतिमा, नवकार आदि अरिहंत है । अरिहंत के साथ जोड़ने वाले हैं, ऐसा अभी तक चित्त में लगा नहीं । इसी कारण मन प्रभु में चिपकता नहीं है ।

लोगस्स आदि हमेशा के हो गये, ऐसा आपको लगता है, तो दुकान, पत्नी आदि भी क्या हमेशा के नहीं हैं ? वहां स्वार्थ है तो क्या यहां स्वार्थ नहीं है ? सच्चा 'स्वार्थ' ही यहां है । स्वार्थ का अर्थ समझें । स्व अर्थात् आत्मा, अर्थ अर्थात् प्रयोजन ।

❖ 'तित्थयश मे पसीयंतु' भगवन् ! मुझ पर प्रसन्न हों । 'प्रसीद भगवन् मयि ।' भगवान कभी अप्रसन्न होते हैं ? भगवान अप्रसन्न नहीं हैं, परन्तु हम प्रसन्न हो जायें तो भगवान प्रसन्न हुए माने जाते हैं ।

भगवान की पूजा का फल यही है, चित्त की प्रसन्नता ।
 'अभ्यर्चनादर्हतः मनःसमाधिः ततश्च निःश्रेयसम्... अतो हित
 त्वृजनम् न्याय्यम्' - ऐसा उमास्वाति म. कहते हैं ।

भगवान की अर्चना आदि से ज्ञानावरणीय आदि चार घाती
 कर्मों का नाश होता है । ज्ञान प्राप्त कराने के कारण ज्ञानावरणीय कर्म ।

दर्शन प्राप्त कराने के कारण दर्शनावरणीय कर्म ।

चारित्र प्राप्त कराने के कारण मोहनीय कर्म ।

अज्ञास प्राप्त कराने के कारण अन्तराय कर्म को प्रभु भक्ति
 नष्ट करती है ।

❀ गुरु का जितना बहुमान करें, वह भगवान का ही बहुमान
 है । 'जो गुरुं मन्त्रइ सो मं मन्त्रइ' जो गुरु को मानते हैं, वे मुझे
 मानते हैं । यह भगवान ने कहा है । गुरु-तत्त्व की स्थापना भी
 भगवान ने ही की है न ?

यों भिन्न प्रतीत होते हैं, परन्तु वैसे गुरु एवं देव एक ही
 है । अरिहंत स्वयं देव भी है, गुरु भी है । गणधरों के गुरु ही
 है । दुनिया के देव है । अरिहंत दोनों पद सम्हालते हैं ।

जैनेतर दर्शन की तरह हमारे यहां देव और गुरु आत्यंतिक
 रूप से भिन्न नहीं है ।

उत्तराध्ययन में कहा है - 'प्रभु स्तुति, कीर्तन आदि से ज्ञान-
 दर्शन आदि के रूप में बोधि-लाभ प्राप्त होता है ।' तदुपरान्त इसी
 भव में वह जीवन्मुक्ति की अनुभूति कराता है ।

• • • • •

पूज्य आचार्य प्रवरश्री कलापूर्णसूरिजी म. के स्वर्गवास का समाचार
 जान कर मन अत्यन्त पीड़ा से भर उठा है । वे इस सदी के महान् आचार्य
 थे । स्वाध्याय, परमात्म-भक्ति से परिपूर्ण उनका जीवन प्रेरणायोग्य
 है । उनके महान्, संयममय आध्यात्मिक जीवन की अनुमोदना करते हुए
 हम अपनी श्रद्धांजलि अर्पण करते हैं । दिव्यात्मा को नमन करते हैं ।
 - खरतरगच्छेय उपा. मणिप्रभसागरनी वंदना
 १६-२-२००२, मालपुरा.



१-१-१९९९, गुरुवार

भा. व. ३०

‘नाम ग्रहंतां आवी मिले, मन भीतर भगवान...’

प्रभु-नाम मन्त्र का, मूर्ति का स्मरण-दर्शन करने से, परमात्मा के केवलज्ञान आदि गुणों का ध्यान करने से मानो साक्षात् प्रभु हमारे समक्ष खड़े हो, मानो वे भक्त को बुला रहे हों ऐसे अनुभव होते हैं ।

भक्त को विचार आता है कि यह स्वप्न है क्या ? दिखते हुए भगवान मेरे हृदय में प्रविष्ट हो गये हैं । भगवान मानो मुझे बुला रहे हों, अंग-अंग में व्याप्त हो गये हों वैसे अनुभव होते हैं । ऐसे अनुभव प्रतिमा-शतक में यशोविजयजी ने बताये हैं ।

क्या यह बात सत्य होगी ? वीतराग, सिद्धशिला पर स्थित भगवान इस काल में कैसे आ सकते हैं ?

जैनों के मत से मोक्ष में गये हुए भगवान नीचे आते नहीं । राम, कृष्ण, शंकर आदि दर्शन देते हैं, परन्तु वीतराग कैसे दर्शन देंगे ? उपाध्याय यशोविजयजी म. जैसे प्रखर विद्वान भी ऐसे शब्द लिखें तो अनुभव-रहित बात तो होगी ही नहीं ।

कौन सी बात सत्य है ? दोनों बातें सत्य हैं ।

सिद्ध में गये हैं वे नीचे नहीं आते यह बात भी सत्य है और यशोविजयजी महाराज की बात भी सत्य है ।

भक्त की भाषा लोक से तो अलग होती है, परन्तु शास्त्रों से भी अलग होती है, फिर भी शास्त्र-विरुद्ध नहीं कही जायेगी । शास्त्र से अतिकान्त अनुभव सामर्थ्य योग है ।

भक्त को वीतराग परमात्मा मिले बिना नहीं रहेंगे, यह बात भी सत्य है ।

यदा ध्यायति यद् योगी, याति तन्मयतां तदा ।

ध्यातव्यो वीतरागस्तद्, नित्यमात्मविशुद्ध्ये ॥

- योगसार

हमारा चारों ओर भटकता उपयोग जब प्रभु-नाम-मूर्ति आदि में जाये तब वह उस आकार में बन जाता है ।

हमारा उपयोग जिसका ध्यान करेगा उस आकार को पकड़ लेगा ।

❖ प्रतिमा का निषेध करके आप मुक्ति का मार्ग हार गये । भगवान ने कोई अपनी पूजा के लिए मूर्ति-नाम आदि का नहीं कहा । यह सब बताने के लिए यशोविजयजी ने 'प्रतिमा-शतक' की रचना की है ।

नाम आदि चार का चिन्तन करने से चेतना प्रभुमय बन जाती है । दूर की वस्तु भी उस समय साक्षात् सामने दिखती है, सिर्फ एकाकारता होनी चाहिये ।

तुमही नजीक, नजीक सब ही है ।

तुम न्यारे तब सब ही न्यारे ।

यशोविजयजी महाराज किस अपेक्षा से ऐसा कहते हैं ?

भगवान दूर है तो दूर, निकट है तो निकट है, परन्तु दूर-निकट कैसे बनते हैं ?

चेतना प्रभु में एकाकार बनती है, तब प्रभु निकट हैं और चेतना प्रभु में एकाकार नहीं बने तब प्रभु दूर है, यही बात है ।

पांचसौ-हजार वर्ष के बाद भी कोई भक्त-हृदयी उत्पन्न हो तब ये समस्त वाक्य उपयोग में आयें, इस कारण रचे गये हैं ।

'वीतराग है' यों कह कर आप किसी भोले व्यक्ति को भले ही

समझायें परन्तु मैं नहीं समझूंगा । मुझे तो आपसे ही प्राप्त करना है । आप ही देंगे । यह मेरी बाल-हठ है ।' भक्त की यह भाषा है ।

आप भगवान के समक्ष बालक बन जाओ । भगवान आपके हैं । भगवान को प्राप्त करने के लिए बालक बनना पड़ता है । यहां विद्वानों का काम नहीं है ?

आपकी चेतना अन्यत्र लगी हुई है, इसीलिए प्रभु मिलते नहीं है ।

‘ध्यान पदस्थ प्रभावथी, चाख्यो अनुभव स्वाद ।’

- उपा. मानविजयजी-पद्मप्रभ स्तवन

‘पदस्थ’ अर्थात् नामरूप पद का ध्यान ।

कर्मक्षय से विदेह-मुक्ति मिलती है । भक्ति से इसी जीवन में मिलनेवाली मुक्ति जीवन्मुक्ति है । भक्त ऐसी मुक्ति का यहीं पर अनुभव करता है ।

इस काल में नहीं होने पर भी भक्त को भगवान के द्वारा यह ‘जीवन्मुक्ति’ देनी ही पड़ती है ।

उसके बाद भक्त खुमारी से कह उठता है - ‘अब मुझे मोक्ष की भी परवाह नहीं है ।’ ‘मोक्षोऽस्तु वा मास्तु’ ‘मुक्ति से अधिक तुज भक्ति मुज मन बसी’

इस काल में भी भक्ति मुक्ति को खींच सकती है ।

भक्त बन कर देखो । मीरां, नरसी मेहता आदि को उनके भगवान मिलते हैं तो क्या हमें नहीं मिलेंगे ?

यशोविजयजी महाराज को मिले तो क्या हम को नहीं मिलेंगे ?

तीर्थ है तब तक तीर्थंकर को आन्तरिक देह से यहां रहना ही पड़ता है, नाम आदि से रहना ही पड़ता है ।

‘नामाकृति द्रव्यभावैः’ चार रूपों से भगवान सर्वत्र सदा सब को पवित्र कर रहे हैं ।’ हेमचन्द्रसूरि यह वैसे ही तो नहीं कह रहे होंगे ।

‘नामे तुं जगमां रह्यो, स्थापना पण तिमही,

द्रव्ये भवमांहि वसे, पण न कले किमहि’

- ज्ञानविमलसूरि

इन शब्दों पर कभी तो गहराई से सोचो ।

भगवान का नाम या 'नमो अरिहंताणं' हम सामान्य रूप में लेते हैं, परन्तु गहराई से देखो तो उसमें ही भगवान दिखाई देंगे । आप अपने नाम भूल जायें, भगवान के नाम को मत भूलना । वह श्लोक याद है न ?

‘मन्त्रमूर्ति समादाय...’

दस हजार रूपयों का चैक मिल गया तो दस हजार रूपये मिल ही गये ऐसा हम मानते हैं । भगवान का नाम मिल गया तो भगवान ही मिल गये माना जायेगा ।

ब्रिटिश काल में कोलकाता के एक कोलेज में शिक्षक ने अपनी अंगूठी निकाल कर कहा, 'इसके भीतर होकर कौन निकल सकेगा ?'

एक विद्यार्थी ने कागज में अपना नाम लिखकर वह अंगूठी में से निकाल दिया । कागज में लिखा था - 'सुभाषचन्द्र बोस ।'

व्यक्ति और व्यक्ति का नाम भिन्न नहीं है । व्यवहार से भी यह समझ में आता है न ? आपके नाम से कितने ही काम नहीं चलते ?

बुद्धिजीवियों को यह समझ में नहीं आयेगा । इसके लिए हृदयजीवी-प्रभुजीवी बनना पड़ेगा ।

कोई द्रव्य अन्य द्रव्य में प्रवेश नहीं कर सकता, परस्पर अप्रवेशी है, परन्तु प्रभु का नाम हमारे हृदय में प्रवेश कर सकता है, अंग-अंग में एकाकी भाव प्राप्त कर सकता है ।

‘जयवीरराय’ में क्या कहा है ? मुझ में कोई प्रभाव नहीं है कि मैं यह सब प्राप्त कर सकूँ परन्तु तेरे प्रभाव से ‘भवनिव्वेओ आदि’ प्राप्त होता है । ‘होउ ममं तुह प्पभावओ भयवं ।’

पिता के सामर्थ्य पर विश्वास है, परन्तु परमात्मा के सामर्थ्य पर विश्वास नहीं है ।

पुत्र सुपुत्र बने तो पिता का धन प्राप्त कर सकता है, उस प्रकार हम आज्ञापालक बनें तो प्रभु की प्रभुता प्राप्त कर सकते हैं ।

प्रतिमा आलम्बन के लिए है । धीरे-धीरे आदत पड़ने पर वैसे ही भगवान सामने दिखने लगेंगे ।

जिस प्रकार जल-पात्र में सूर्य दिखाई देता है, उस प्रकार भक्त को मूर्ति में भगवान दिखाई देते हैं। क्या जल-पात्र में दिखने वाला सूर्य सच्चा नहीं है ?

वि.संवत् २०३७ में मनफरा में बहिर्भूमि जाते समय तालाब में सूर्य के प्रतिबिम्ब के प्रकाश से भी गर्मी लगती, सिर दुःखता था ।

बोलो, कौनसा सूर्य सच्चा ? ऊपर वाला सूर्य सच्चा कि तालाब में प्रतिबिम्बित सूर्य सच्चा ? कौनसे भगवान सच्चे ? ऊपर वाले भगवान सच्चे कि हृदय में आये हुए भगवान सच्चे ? दोनों सच्चे हैं ।

तालाब का जल मलिन होगा तो प्रतिबिम्ब नहीं दिखेगा । यदि हमारा चित्त भी कलुषित होगा तो भगवान नहीं आयेंगे । भगवान नहीं भागे, परन्तु हमने उन्हें भगा दिये । हमारी प्रसन्नता प्रभु की प्रसन्नता सूचित करती है, अर्थात् चित्त प्रसन्न होते ही भगवान का वहां प्रतिबिम्ब पड़ता है ।

बोधि-समाधि जीवन्मुक्ति है और पूर्ण आरोग्य विदेह-मुक्ति है । ये दोनों मुक्ति गणधरों ने लोगस्स में भगवान के पास मांगी है ।

❖ दीक्षा अंगीकार किये ४५ वर्ष हो गये । उससे भी पूर्व बचपन से ही मैंने भगवान को पकड़े हैं । आगे बढ़ कर कहूँ तो कितने ही भवों से भगवान पकड़े होंगे, यह पता नहीं है । मुझे लगता है कि भवो-भव भगवान साथ में है ।

साधना के लिए धैर्य चाहिये । शीघ्रता से आम नहीं पकते, हां बबूल पकते हैं । भगवान को पाने के लिए कई जन्म लग जाय तो भी परवाह नहीं ऐसा धैर्य चाहिए ।

❖ 'नाम ग्रहंतां आवी मिले, मन भीतर भगवान ।'

मानविजयजी की इस पंक्ति के आधार पर ही पुस्तक का नाम 'मिले मन भीतर भगवान' रखा है ।

मोहनीय का जितने अंशों में हास हुआ हो, उतने अंशों में हम सहज स्वभाव में स्थिर बन सकते हैं । उस समय हम सिद्धों के साथ मिलन कर सकते हैं । तब भक्त को ऐसा लगता है - 'मेरी प्रेमसरिता प्रभु के महासागर में मिल गई है ।'

नामस्तव (लोगस्स) की महिमा कितनी है, उसका पता उपधान से लगेगा । उसे प्राप्त करने के लिए आपको कितना तप आदि करना पड़ता है ? यह समझें । उसकी महिमा समझ में आयेगी । इसीलिए 'लोगस्स' एवं 'नमुत्थुणं' दोनों के उपधान अलग रखे हैं ।

महानिशीथ में कहा है - प्रभु का नाम इतना पवित्र है कि शील-सम्पन्न साधक यदि उसे जपें तो बोधि, समाधि एवं सिद्धि शीघ्र प्राप्त करता हैं ।

लोगस्स का काउस्सगग जीवन में आये अतः यह सब कहा है ।

हमारे संघ में १००८ लोगस्स का काउस्सगग करने वाले हैं । हिम्मत्तभाई ३४६ लोगस्स का काउस्सगग नित्य करते हैं । उन्होंने एक बार तो सम्पूर्ण रात्रि काउस्सगग में निकाली थी ।

* * * * *

परम पूज्य आचार्य भगवंतना काळधर्म पाय्याना आघातजनक समाचार सांभल्या । मारा जेवा केटलाये साधकोए शीळी छत्रछया गुमावी । नाव अधवच्चे रही अने काळे आवी कारमी पळ आपी । सहगनुं रण ओळंगवा जेवी दशा थई गई । मारा जीवन पर तेमनी जे कृपा वरसी छे, वात्सल्य मळ्युं छे तेनुं वर्णन लखवा शब्दो नथी । तेमना चरणनी रज मारा मस्तके पड़ी तेनुं मने गौरव छे । पाट पर बेसी केवा निःस्पृहभावे अने मा-बाळकने शीखवे तेम वाचना आपता ते दृश्य आंख सामे खडुं थाय छे । आंख गद्गद थई । हवे कोण बाकीनो मार्ग कपावशे ? तमारी सौनी मनोदशा पण आवी ज छे । त्यां कोण कोने शुं कहे ?

पू.श्री माटे मारी अंतिमयात्राना दर्शन करवानी भावना हती, पण कांतिभाईए विगत जणावी एटले मननी भावना शमाववी पड़ी छतां ज्यां । मारी भावना व्यक्त थाय तेवुं कार्य सोंपशो अने मने ऋणमुक्त करशो । बाकी तो...

गुरुवर तेरे चरणों की, मुझे धूल मिल गई ।

चरणों की रज पा कर, तकदीर बदल गई ॥

- सुनंदाबहेननी वंदना

१६-२-२००२, एलिसब्रीज, अमदावाद.



महसूखभाई से बात-बिगरी कल्ले के पूरखी,
सुन्दरगढ़ दि. २९-१-२०००

१८-९-१९९९, शनिवार

भा. सु. ८

धर्मसंग्रह ग्रन्थ के दूसरे भाग में साधु की विस्तारपूर्वक चर्या बताई है । प्रथम भाग में श्रावक धर्म का वर्णन है ।

प्रत्येक विधि का सूक्ष्मता से निरीक्षण करने पर मालुम होगा कि तीर्थकरों की जीवों पर कितनी करुणा है ?

सादड़ी में चालू मांडली में चारित्रभूषणविजयजी के पात्र में से एक कुत्ता मेथी का लड्डू ले गया था ।

इसीलिए वापरने से पूर्व ऊपर-नीचे एवं आसपास में देखने का विधान है ।

गोचरी लेने के लिए घूमते, पसीने से तर-बतर जैन साधु को देख कर एक विशेषज्ञ वैद्य उनके पीछे-पीछे चल कर उपाश्रय में आया । वह मानता था कि तत्काल यदि ये साधु आहार ग्रहण करेंगे तो मुनि में दोषों का प्रकोप होगा, परन्तु साधु महाराज तो पच्चक्खाण पार कर सत्रह गाथा का स्वाध्याय करके वापरने के लिए बैठे, जिससे देह में धातु सम हो गई । बाद में वापरने के लिए बैठने के कारण वैद्य सर्वज्ञोक्त विधान पर झुक पड़ा । कैसा सर्वज्ञ का शासन !

भयंकर भूख लगी हो तब सत्रह गाथा का स्वाध्याय भी सतहत्तर

गाथा के जितना लाभ देता है ।

❖ धर्म करने पर केवल हमें ही नहीं, सम्पूर्ण जगत् को लाभ प्राप्त होता है । किस प्रकार ? पक्खी सूत्र में धर्म के कैसे विशेषण प्रयुक्त किये हैं ?

हिए सुए खम्मे निस्सेसिए आणुगामियाए... ।

अर्थात् समस्त जीवों के लिए कल्याणकारी यह धर्म है ।

इसीलिए कहा जाता है कि 'एक साधु सम्पूर्ण जगत् की रक्षा करता है ।'

❖ गोचरी लाने के बाद भी उसमें से अन्य साधुओं की भक्ति करनी है । गृहस्थों में, श्रावकों में तो साधर्मिक भक्ति के लिए चढ़ावे बोले जाते हैं । मद्रास (चेन्नई) में 'फले चून्दड़ी' का चढ़ावा एकावन लाख में गया था । कोई नहीं ले तो भी आग्रह करने वाले को लाभ होता ही है । विधि एवं भक्ति बिना का निमन्त्रण पूरण सेठ की तरह निष्फल होता है, जबकि विधियुक्त का निमन्त्रण जीरण सेठ की तरह सफल बनता है । भले उसे भगवान का लाभ नहीं मिला, परन्तु उसका निमन्त्रण सफल हो गया । पूरण सेठ को भले ही भगवान का लाभ मिला, परन्तु तो भी उसका दान निष्फल हुआ ।

लाट देश के लोग देने का दिखावा बहुत करते हैं, परन्तु देते कुछ भी नहीं । इसे 'लाटपंजिका' कहते हैं ।

आपने क्या डफोल शंख की कहानी सुनी है ? मांगो उससे दुगुना देने का कहे, परन्तु देता कुछ भी नहीं ।

हमें मांडवी में एक ऐसा डफोल शंख मिल गया । उपधान में तीन नीवी लिखवा गया और बोला, 'मैं भीलड़ियाजी आदि में ट्रस्टी हूँ । कोई भी कार्य हो तो कहना । फिर 'आठसौ रूपयों की आवश्यकता है' कह कर रू. ८०० लेकर गया वह गया । पुनः लौट ही नहीं ।

सूरत के हमारे चातुर्मास के बाद हसमुख नामक एक लड़का फोन पर बात करके सूरत के ट्रस्टियों के पास रू. ६०,००० (साठ हजार) ले गया ।

फोन पर बोलता था : 'मैं मुमुक्षु हूँ । आचार्य महाराज की पुस्तक छपवाने के लिए रू. २५-३० हजार की आवश्यकता है ।

भेजें । उन्होंने हमारे विश्वास से रकम भेज दी । हमें मद्रास जाने पर पता लगा । पत्र आया जिसमें लिखा था - आपके कथनानुसार साठ हजार रूपये भेज दिये गये हैं ।

ये डफोल शंख के नमूने हैं ।

डफोल शंख अर्थात् बोले अधिक परन्तु करें कुछ भी नहीं, दें कुछ भी नहीं । अनेक आदमी भी ऐसे ही होते हैं ।

✽ अशुद्ध भाव संसार है ।

शुद्ध भाव संसार से पार है ।

अनुस्रोत अर्थात् संसार चले तदनुसार चलना ।

प्रतिस्त्रोत अर्थात् संसार से विपरीत चलना ।

प्रतिकूलता का स्वागत करना मोक्षमार्ग है ।

✽ हमारा मन संक्लिष्ट न बने उसकी तीर्थकर भगवंतों ने सावधानी रखी है । ज्यों ज्यों भगवान की भक्ति में वृद्धि होती जायेगी, त्यों-त्यों भावों की विशुद्धि बढ़ती जायेगी ।

‘उत्तम संगे रे उत्तमता वधे’

- देवचन्द्रजी

‘जिन उत्तम गुण गावतां, गुण आवे निज अंग’

- पद्मविजयजी

हमें प्रभु प्रिय है, परन्तु प्रभुता चाहना अर्थात् लघु बनना । लघु बनने का अर्थ है महान् बनना, महान् बनना अर्थात् लघु बनना ।

लघुता होगी वहां भक्ति प्रकट होगी ।

भक्ति होगी वहां मुक्ति प्रकट होगी ।

• • • • •

अनुभव-ज्ञान

घणा शास्त्रोना पारंगत पंडितोने जे अनुभव ज्ञान नथी होतुं ते साचा भक्तमां होय छे. कारण के अनुभव ज्ञानमां केवळ बुद्धि प्रवेश करवा असमर्थ छे. परमात्ममय बनेली बुद्धि जेने प्रज्ञा कहीए छीए ते अनुभव ज्ञान बने छे. ए प्रज्ञावडे आत्मा जणाय छे.



गुजरात के C.M. केशुभाई पटेल को वासक्षेप झलते हुए
पूज्यश्री, वि.सं. २०५३, सुरेन्द्रनगर

११-१-१९९९, रविवार

भा. सु. ९

पूर्व तीर्थकरों की भक्ति किये बिना तीर्थकर भी तीर्थकर बन नहीं सकते । बीस स्थानकों में मुख्य प्रथम पद तीर्थकर है, शेष उनका परिवार है ।

परमात्मा के प्रति प्रेम का तीव्र प्रकर्ष होने पर भक्तियोग का जन्म होता है ।

✽ जीव के प्रति किया गया प्रेम जीव को शिव बनाता है ।

गुणी जीवों के प्रति प्रमोद-बहुमान होना चाहिये । उनका सम्मान करने से उनके समस्त गुण हमारे भीतर आ जाते हैं । आज तक कोई भी जीव गुणी के बहुमान के बिना गुणी नहीं बन सका । व्यापारी के पास प्रशिक्षण लेने के बाद ही व्यापारी बना जा सकता है, उसी प्रकार से गुणी की सेवा के द्वारा ही गुणी बना जा सकता है ।

तीर्थकर के जीवन में दो वस्तु दिखाई देगी :

१. प्रभु के प्रति अगाध प्रेम !
 २. प्रभु के साथ जुड़े जगत् के जीवों के प्रति प्रेम !
- ये दोनों समस्त शास्त्रों का सार है ।

❖ धर्मात्मा के कुल में जन्म पाना, भगवान-गुरु आदि उत्तम निमित्त मिलना कोई साधारण बात नहीं है ।

आत्मा निमित्त वासी है । मन्दिर में अलग ही भाव आते हैं, थियेटर में अलग । यह तो अनुभव सिद्ध ही है । अब तो थियेटर में जाने की भी आवश्यकता नहीं है । टेलिविजन लाकर आपने घर को ही थियेटर बना दिया है । यह अत्यन्त खतरनाक है । इसके परिणाम अच्छे नहीं होंगे ।

❖ बाईस वर्ष पूर्व रजनीशभाई कच्छ-मांडवी में आने वाले थे । कच्छ के महाराजा का मांडवी स्थित 'विजय पैलेस' आश्रम के रूप में परिवर्तित होने की तैयारी में था । मैंने लाकड़िया के बाबूभाई मेघजी को बात की, 'यह उचित नहीं हो रहा है ।' फिर तो ऐसी स्थिति बन गई कि उनका आगमन रुक गया । वे अमेरिका चले गये । यह कच्छी आदमी की विजय थी ।

हम दक्षिण में पांच-छ वर्ष रहे । वहां की स्थानीय प्रजा मूलभूत रूप से हिंसक है । स्थान-स्थान पर बकरों की बलि दी जाती है, जबकि हेमचन्द्रसूरि एवं कुमारपाल के प्रभाव से गुजरात, राजस्थान, कच्छ में ऐसा देखने को नहीं मिलेगा । कच्छ में तो ऐसे मुसलमान बसते हैं जिन्होंने अपने जीवन में मांस कभी देखा नहीं, खाया नहीं । मांडवी में एक मुसलमान मालिश करने के लिए आया था । वह कहता था - 'मैं मांस नहीं खाता, सम्पूर्ण रामायण मुझे कण्ठस्थ है, रामायण पर प्रवचन भी करता हूं ।

यह यहां की भूमि का प्रभाव है ।

जैनों में तप के संस्कार सहज हैं । छोटे लड़के भी खेल-खेल में अट्टाई कर लेते हैं । यहां अमित नामक साढ़े बारह वर्ष का एक लड़का है । पर्युषण में उसने हंसते-खेलते अट्टाई कर ली । मुझे तो बाद में ध्यान आया । ये हैं जैन कुल के संस्कार !

❖ मुनिचन्द्रविजय : भगवान जीरण सेठ के घर क्यों नहीं गये ? पूरण (अभिनव) सेठ के घर क्यों गये ?

पूज्यश्री : भगवान हैं । उनके जीवन के लिए हम क्या कह सकते हैं ? परन्तु यह प्रेरणा ले सकते हैं कि जहां परिचित एवं भक्त हों, वहां पर ही गोचरी के लिये जाना चाहिये, अन्यत्र

नहीं, साधु में ऐसी भावना नहीं होनी चाहिए । वह चाहे जहां जाये । अपरिचित एवं अज्ञात व्यक्तियों के वहां विशेष करके जायें, और वहेराये बिना भी लाभ प्राप्त किया जा सकता है, यह भी संकेत दिया । उसके बाद ज्ञानी को प्रश्न पूछने पर उन्होंने पूरण सेठ की अपेक्षा जीरण सेठ को पुण्यशाली बताया ।

दूसरों को भोजन कराये बिना अथवा गाय, कुत्ते आदि को खिलाये बिना यहां का आर्य पुरुष कभी भोजन नहीं करता था ।

✽ इस समय भयंकर अकाल है । एक बूंद भी वर्षा नहीं हुई है । स्थान-स्थान पर पांजरापोल ढोरों से भर गई है । सांतलपुर में अभी ही पांजरापोल शुरू हुई है । दो ही दिनों १८०० ढोर आ गये । ऐसी दशा में हम सबकी जागृत होने की आवश्यकता है ।

वि.संवत् १९४२-४३ में मैं यहां था तब दुर्भिक्ष था । उस समय जैनों ने रूपयों की ऐसी वृष्टि की कि सरकार भी देखती रह गई । केन्द्र सरकार ने भी जैनों को धन्यवाद दिया ।

‘भक्ति भगवति धार्या ।’

हम हृदय में अनेक व्यक्तियों को धारण करते हैं । व्यापारी, ग्राहक, माल आदि सब मन में धारण करते हैं । वकील असीलों के सम्बन्ध में सब याद रखते हैं, मन में धारण करते हैं, इस प्रकार सब लोग, सब कुछ धारण करते हैं, परन्तु भगवान को कौन धारण करता है ? भगवान किसके मन में हैं ? भगवान को कब हृदय में धारण करते हैं ? जब तक हम मन्दिर में होते हैं । मन्दिर में से बाहर निकलने पर भगवान भी हमारे हृदय में से बाहर निकल गये, हमने अपना जीवन ऐसा बना दिया है ।

भगवान भले ही चौदह राजलोक दूर हो, परन्तु भक्ति से भक्त उन्हें हृदय में बसा सकता है ।

प्रत्येक भक्त जानता है कि सीमंधर स्वामी भरतक्षेत्र में कभी नहीं आते, आ भी नहीं सकते, फिर भी प्रार्थना करते हैं कि ‘श्री सीमंधर जगधणी ! आ भरते आवो ।’ यह जूठ नहीं कहा जायेगा ? हमारा उपयोग जब भगवन्मय बना तब हम स्वयं भगवान बन गये । इसे ही कहा जाता है कि हृदय में भगवान आ गये ।

घड़े का ध्यान धरने से हम घटमय बन गये । हमारा उपयोग

घटमय बन गया । घटमय या धनमय अनेक बार बने । अब भगवन्मय क्यों न बने ?

ज्ञान में एकाग्रता नहीं होती, ध्यान में एकाग्रता होती है ।

इसी लिए वीरविजयजी कहते हैं -

‘तुमे ध्येयरूपे ध्याने आवो, शुभवीर प्रभु करुणा लावो,
नहीं वार अचल सुख साधंते, घड़ी दोय मलो जो एकांते’

वीरविजयजी ने कहा है - ‘केवल दो घड़ी भगवान में हमारा उपयोग रहे तो काम बन जाये ।’

जिसके हृदय में भगवान की भक्ति नहीं है, उसके लिए भगवान दूर हैं । जहां भक्ति है उसके लिए भगवान यहीं हाजिर हैं ।

गोशाले के पास ही भगवान थे, फिर भी भाव से दूर ही थे । सुलसा भगवान से दूर थी फिर भी भक्ति से भगवान उसके लिए निकट थे । दूर रहे भगवान को समीप लाने, हृदय में प्रवेश कराने का नाम भक्तियोग है । उसके लिए ही लाखों अरबों रुपये खर्च करके इन मन्दिरों का निर्माण कराया है ।

यदि भगवान के प्रति प्रेम-भाव जागृत हुआ तो सब पैसे वसूल हैं । अन्यथा जैन लोग मूर्ख नहीं हैं कि करोड़ों रुपये मन्दिरों में लगाये । जैन लोग समृद्ध हैं, उसका कारण भी जिन-भक्ति एवं जीव-दया है ।

आप यदि दान का प्रवाह चालु रखेंगे तो लक्ष्मी आये बिना नहीं रहेगी ।

• • • • •

‘कहे कलापूर्णसूरि’ पुस्तक मल्युं. आध्यात्मिक वाचनाओनुं
सरस संकलन कर्युं छे. अध्यात्म-योगी पूज्य आचार्य-भगवंतनी पाने-
पाने विविध मुद्राओ द्वारा दर्शन पण थाय छे. तत्त्वना खजानाथी भरपूर
छे. खरेखर ! तमारं संपादन दाद मांगी ले तेवुं छे.

- आचार्य विद्यानंदसूरि



पूज्यश्री के दर्शनार्थ लोगों की भीड़, सुरेन्द्रनगर, वि.सं. २०५६

(पू. कल्पतरुविजयजी, पूर्णचन्द्रविजयजी एवं मुनिचन्द्रविजयजी का भगवती के जोग में आज प्रवेश हुआ)

२०-९-१९९९, सोमवार

भा. सु. १०

गोचरी के बाद ही पच्चक्खाण पारने होते हैं। पहले कैसे पारे जायें ? गोचरी प्राप्त होगी ही, ऐसा विश्वास है क्या ?

‘प्राप्त हो जाये तो संयम-वृद्धि, अन्यथा तपोवृद्धि।’ यह सोचकर गोचरी लेने के लिए निकलना है।

आज-कल जिस प्रकार वापरने से पूर्व ‘दशवैकालिक’ की १७ गाथाओं का स्वाध्याय है, उस प्रकार ‘दशवैकालिक’ की रचना से पूर्व भी ‘आचारांग’ आदि का स्वाध्याय था ही। ऋषभ आदि के तीर्थों में भी उन-उन ग्रन्थों का स्वाध्याय था ही।

✽ क्षयोपशम हमारा कितना मन्द है ? याद रखा हुआ तुरन्त ही भूल जाते हैं। आश्चर्य की बात यह है कि भूलने योग्य अपमान आदि तो भूलते नहीं हैं, परन्तु नहीं भूलने योग्य आगमिक पदार्थों को तुरन्त ही भूल जाते हैं।

✽ राग-द्वेष का क्षय या उपशम करें तो ही कर्मबंध रुकता है।

समग्र द्वादशांगी का सार है कि राग-द्वेष का क्षय करके समता भाव का आश्रय करें ।

राग-द्वेष दो चोर लुटेरे हैं ।

राग ने रीसा दोय खवीशा, ये है दुःख का दिसा ।

आपके पास धन-माल है । यदि यह बात लुटेरे को मालुम हो जाये तो फिर वह क्या करेगा ? वह आपका पीछा नहीं छोड़ेगा । आपके गली में प्रविष्ट होते ही वह आपको तुरन्त पकड़ लेगा, आपको लूट लेगा । ये राग-द्वेष भी ठीक अवसर देखकर आप पर टूट पड़ेंगे ।

गत रविवार को नैलोर (A.P.) में दोपहर में खुले कार्यालय में लुटेरा आया, छुरा भोंक दिया, लहू-लुहान करके लूट-मार करके भाग गया । यदि नाम बताया तो जान से मार डालने की धमकी दी । इनकी अपेक्षा भी राग-द्वेषरूपी लुटेरे खतरनाक हैं ।

साधुओं को गोचरी वापरते समय राग-द्वेष से परे रहना है । राग-द्वेष के प्रसंग प्रायः गोचरी वापरने के समय होते हैं ।

‘हे जीव ! भिक्षाटन में तू ४२ में से किसी दोष से ठगा नहीं गया तो अब भोजन के समय तू राग-द्वेष से ठगा मत जाना ।’ इस प्रकार आत्मा को शिक्षा दें ।

भोजन के समय अन्य कोई शिक्षा दे तो प्रिय नहीं लगती, गुरु की शिक्षा भी प्रिय नहीं लगती । जीव इतना अभिमानी है कि किसी की सीख सुनने के लिए लगभग तैयार नहीं होता, परन्तु यहां तो जीव स्वयं अपने आपको सीख देता है ।

जीव अपनी बात तो मानेगा न ?

समस्त अनुष्ठान जीव को राग-द्वेष से बचाने के लिए रखे गये हैं । यदि साधु के पास ज्ञान-ध्यान की विपुल सामग्री हो तो मोह आक्रमण नहीं कर सकता ।

जो देश विपुल शस्त्र सरंजाम आदि से तैयार हो, उस पर शत्रु-राष्ट्र आक्रमण करने का विचार नहीं कर सकता ।

❀ कार्य कार्य को सिखाता है, स्वाध्याय स्वाध्याय को सिखाता है ।

ध्यान ध्यान को सिखाता है, यह अभ्यास है । पुनः पुनः की जाने वाली क्रिया अभ्यास है । अभ्यास के कारण ही समान

अभ्यास वाले चौदहपूर्वियों में भी छद्मण वड़िया होते हैं, आरोह-अवरोह होते हैं ।

❖ मेरे विचार ऐसे हैं कि कोई भी लेख शास्त्र आधारित होना चाहिए । आधार के बिना कुछ भी लिखना नहीं चाहिये ।

मैंने प्रथम बार ही लेख लिखा । अमरेन्द्रविजय ने कहा, 'यह तो केवल पाठों का संग्रह हुआ । लेख तो मौलिक होना चाहिये ।'

मुझे यह पद्धति पसन्द नहीं है ।

महान् टीकाकारों ने भी आगम-ग्रन्थों में अपनी ओर से कोई स्वतन्त्र अभिप्राय नहीं दिया तो हम कौन हैं ?

❖ भगवान की शर्त है कि - 'यदि आपके हृदय में अन्य कोई है तो मैं वहां नहीं आऊंगा ।' भगवान को यदि बुलाना हो तो पुद्गल का प्रेम छोड़ना पड़ेगा ।

या तो आप भगवान को पसन्द करें, या तो पुद्गल-आसक्ति ।

गढ़ काले पुस्तक 'कहे कलापूर्णसूरि' डोक्टर रकेश मारफत मळी गयुं छे. हुं ते मंगाववाना प्रयत्नमां हतो... अने आवी गयुं. बहु आनंद थयो.

पूर्वे बीजानी मारफत अत्रे आवेल ए पुस्तक अत्रे मने मळेल. अने लगभग ते हुं पूर्णपणे वांची गयो हुं. भरपूर प्रसन्नता थइ छे. साधु-समाचारीनी वातो / अने पूज्यश्रीना मुखेथी वहेती वाणी खूब असरकारक बनी रहे छे. मने धणुं गम्युं छे. रुबरु मळ्या तुल्य आनंद थयो छे.

आ काळमां पूज्य पंन्यासजी महाराज बाद पूज्य आचार्य भगवंत खूब श्रद्धेय व्यक्ति छे.

तमो गणिवरोए खूब श्रम करीने पुस्तक तैयार कर्युं छे. धन्यवाद छे.

- मुनि जयचन्द्रविजय

सुरत.



२१-१-१९९१, मंगलवार

भा. सु. ११

विधिपूर्वक पालन करो तो साधु धर्म शीघ्रता से और श्रावक धर्म धीरे-धीरे मोक्ष की ओर ले जाता है । श्रावक धर्म कीटिका गति से और साधु-धर्म विहंगम गति से चलता है ।

वृक्ष पर आम खाने के लिए चींटी भी चढ़ती है, तोता भी चढ़ता है, दोनों में कितना अन्तर है ?

भूख तीव्र हो तो जीव कीटिका-गति छोड़कर विहंगम-गति अपनाता है । आज पाप के कार्यों में विहंगम गति नहीं, परन्तु वायुयान की गति है, परन्तु धर्म कार्यों में चींटी जैसी गति है ।

❖ अतिचार अर्थात् चारित्र-जहाज में छिद्र । छिद्र ध्यान में आने के बाद उसे बन्द नहीं किया जाये तो जहाज डूब जायेगा । छिद्र बन्द करने के बजाय हम यदि बड़े-बड़े छेद करते रहेंगे (अतिचार करते रहेंगे) तो क्या होगा ?

❖ शरीर पर कोई फोड़ा अथवा घाव हो तो उस पर हम आवश्यकतानुसार मलमल ही लगाते हैं, उस पर थथेरते नहीं हैं । उस तरह भोजन के समय साधु आवश्यकतानुसार आहार लेते हैं । स्वादिष्ट वस्तु देख कर वे अधिक नहीं लेंगे ।

हां, आहार बढ गया हो तब लें तो निर्जरा होती है, सहायता की है ऐसा कहा जायेगा ।

किसी साधु को रुक्ष आहार तो किसी साधु को स्निग्ध आहार अनुकूल पड़ता है । जिस प्रकार संयम-निर्वाह हो उस प्रकार करें ।

साधु सांप की तरह स्वाद लिए बिना कौर उतारता है । पीपरमिण्ट की तरह वह आहार को मुंह में इधर-उधर फिरता नहीं है ।

एक सैकण्ड के लिए भी राग-द्वेष न आ जाये, उसके लिए भगवान ने कितना ध्यान रखा है ?

भोजन करने के उदाहरण :

१. व्रण लेप ।
 २. पहिये में तेल ।
 ३. पुत्र का मांस (चिलातीपुत्र के पीछे पड़ते समय प्रिय पुत्री सुसमा का मांस खाते पिता की मनोदशा कैसी होगी ?)
- भोजन का क्रम ।

प्रथम स्निग्ध मधुर, पित्त के शमन हेतु, बुद्धि आदि की वृद्धि हेतु । उसके बाद खट्टे पदार्थ, अन्त में तूरे, कड़वे (कटु) पदार्थ भोजन के इस क्रम का कारण यह भी है कि पीछे से स्निग्ध पदार्थ बच जाय, पेट भर गया हो तो स्निग्ध पदार्थ परठने पड़ते हैं । ऐसा न हो, इसीलिए प्रथम स्निग्ध मधुर पदार्थ खाने चाहिये ।

भोजन की प्रशंसा करते हुए वापरें तो अंगार दोष ।

निन्दा करते हुए वापरें तो धूम्र दोष लगता है ।

भोजन की तीन पद्धतियां : (१) कट छेद (खिचड़ी आदिमें), (२) प्रतर छेद (रोटी आदिमें), (३) सिंह-भक्षित (पात्र में जैसे पड़ा हो वैसे ही वापरना । इन तीन पद्धतियों से आहार वापरना है ।

उत्तमोत्तम पदार्थ हों उनमें आसक्ति न हो, अतः बारह भावनाओं आदि से मन को भावित करना चाहिये ।

आहार के छः कारण :

१. क्षुधा वेदनीय का उदय
२. वैयावच्च
३. इर्यासमिति
४. संयम की साधना

५. प्राण धारण

६. धर्म-चिन्तन

तप से सेवा नहीं हो सकती हो तो तप को गौण करें । सेवा मुख्य है । आप सेवा न करें और ग्लान की समाधि न रहे तो कितना दोष लगता है ? आंखों के आगे अंधेरा आये तो इर्यासमिति पूर्वक किस प्रकार चल सकेंगे ?

शरीर को नहीं, राग-द्वेष को पतले बनाने हैं ।

शास्त्रों के पदार्थों में गहराई तक जाना, धर्म-चिन्तन है ।

तेईस घण्टे अन्य प्रवृत्ति करें और एक घण्टा ध्यान धरें तो मन कैसे लगेगा ? दिन भर की समस्त प्रवृत्तियां उसके अनुरूप होनी चाहिये, तो ही ध्यान का सातत्य रहेगा । ध्यान के सातत्य से ही यह सिद्ध हो सकता है ।

भक्ति :

भगवान की भक्ति भवसागर से पार उतारती है । इसीलिए भगवान ने भवसागर में जहाज के समान धर्मतीर्थ की स्थापना की हैं ।

नाम आदि चार के द्वारा भगवान धर्म के लिए सतत सहायक बनते हैं ।

यजमान स्वयं ही अतिथि की देखभाल करे तो अतिथि को कितना आनन्द होता है ? भगवान धर्म-देशना देकर निवृत्त नहीं हो गये । सामने आकर खड़े हैं - 'आओ, मैं हाथ पकड़कर आपको ले जाता हूं । नाम आदि चारों भव-सागर में महासेतु तुल्य है ।

❀ नर्मदा जैसी भयंकर नदी हो, फिर भी पुल के उपर चलते समय हमें भय नहीं लगता । भगवान ने भी भयंकर संसार-सागर में पुल का निर्माण किया है । भक्ति के उस पुल पर चलनेवाले को भव का भय सताता नहीं है ।

❀ जाप बढ़ने पर मन की निर्मलता बढ़ती है । प्रभु-नाम-जप के समय हमारे तीनों योग एकाग्र बनते हैं । प्रभु के जापके द्वारा अनेक अजैन भी आत्म-शुद्धि करते हैं । उसके प्रभाव से ही आगामी जन्म में उन्हें शुद्ध धर्म की प्राप्ति होती है । गौतमस्वामी जैसेने भी पूर्वजन्म में या पूर्वावस्था में ऐसी ही कोई साधना की होगी न ?

चार में से एक को छोड़कर शेष तीन निक्षेप तो आज भी कार्य करते हैं । इसीलिए चतुर्विध संघ मन्दिर मूर्ति आदि के बिना नहीं रह सकते । इसीलिए जैन लोग निवास के लिए पहले देखते हैं कि वहां जिनालय समीप है कि नहीं ।

यह बात बिल्डर भी समझ गये हैं ।

प्रभु के समस्त गुण, समस्त शक्तियों, प्रभु के नाम में और मूर्ति में संगृहीत है । यह देखने के लिए आपके पास आंख चाहिये ।

प्रभु ने गुण की प्रभावना करने के लिए ही जन्म लिया है । उनकी भावना यही है कि 'सब लोग मेरे जैसे ही बनें ।'

जगतसिंह सेठ का ऐसा नियम था कि मेरे नगर में जो आये उसे करोड़पति बनाना है । उन्होंने ३६० करोड़पति बनाये । फिर नियम बनाया कि नगर में आने वाले प्रत्येक साधर्मिक को प्रत्येक करोड़पति १००० (एक हजार) स्वर्ण मुद्राएं दें और प्रतिदिन साधर्मिक-भक्ति करे । अत्यन्त ही सरलता से आगन्तुक करोड़पति बन जाता । उदार सेठ जिस प्रकार समस्त आगन्तुकों को अपने समान करोड़पति बनाना चाहे, उस प्रकार भगवान जगत् के समस्त जीवों को अपने समान भगवान बनाना चाहते हैं ।

* * * * *

‘कहुं कलापूर्णसूरि’ पुस्तक मळी गयेल छे. जोयुं. खूब
ज चिंतनीय - मननीय सुवाक्योनो खजानो भरेल छे.

संकलनकर्ता आपने पण खूब खूब धन्यवाद... व्याख्यानमां
ओछा लोको आवे, पण पुस्तक रुपे बहार पडेला विचारो हजारो
लोको वांचे एटले हजारो लोको सुधी पूज्यश्रीनी प्रसादी पहाँचाडवानुं
भगीरथ कार्य कर्या बदल खूब खूब अनुमोदना सह धन्यवाद...

- हेमन्तविजय



२२-१-१९९९, बुधवार

भा. सु. १२

✿ आगमों के पठन में सरलता हो, उनके रहस्य समझ में आये, अतः हरिभद्रसूरिजी ने प्रकरण ग्रन्थों की रचना की है ।

✿ गर्भ में ही पर्याप्ति पूरी होने के बाद हमारे भीतर संस्कार पड़ने लगते हैं । माता का मन, आसपास का वातावरण आदि सबका प्रभाव पड़ता है ।

✿ डॉक्टर भी दूर नहीं कर सकते वैसे कैंसर आदि रोग भी प्रभु-नाम स्मरण से दूर हो जाते हैं । डाक्टर भी अब यह मानने लग गये हैं । डॉक्टरों का कथन है कि रोगी यदि प्रसन्न न रहे, जीना नहीं चाहे, तो हमारी दवाईयां भी उसे बचा नहीं सकती ।

चित्त की प्रसन्नता प्रभु के नाम का स्मरण करने से प्राप्त होती है । जो करोड़ों डॉलर में भी कहीं नहीं मिल सकेगी ।

साधु-साध्वी इतने रोग-ग्रस्त क्यों होते हैं ? मानसिक विचार तपासने जरूरी हैं । द्वेषयुक्त प्रकृति, मायावी स्वभाव इत्यादि भी रोग में कारण बनते हैं ।

कषाय भावरोग है ही ।

मन की प्रसन्नता लाखों रुपयों में भी नहीं मिलनेवाली दवाई

है । मन की प्रसन्नता हो तो द्रव्य-भाव रोग रह ही कैसे सकते हैं ?

शायद द्रव्य रोग आ जाये तो भी मन की प्रसन्नता खण्डित नहीं होनी चाहिए न ? आप सनत्कुमार चक्रवर्ती को याद करें । स्वयं के थूक में ही रोग-निवारक शक्ति होने पर भी उन्होंने कभी उसका उपयोग नहीं किया । वे सातसौ वर्षों तक प्रसन्नतापूर्वक रोग भोगते रहे ।

इस प्रकार रोग भी कर्म-निर्जरा में सहायक बनता है । कर्म भोगने का यह उत्तम अवसर है, यह मानकर आये हुए रोगों का स्वागत करें ।

हम पर आये हुए रोग हमारे ही कर्मों का फल है कि दूसरे किसी का फल है ? 'किसीने ऐसा कर दिया' आदि बातों पर विश्वास हो जाये तो समझो कि कर्म-सिद्धान्त समझ में नहीं आया ।

हमारे वैसे कर्म न हों तो कोई हमारा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकता । दूसरे केवल निमित्त ही बनते हैं ।

❖ तीर्थकरों की आज्ञानुसार चलनेवाले मुनियों को इसी भव में लब्धि-सिद्धियां प्रकट होती हैं । ये लब्धियां और सिद्धियां नष्ट करने के लिए नहीं हैं । इनका अयोग्य प्रयोग नहीं करने की शक्ति भी साथ मिलती है ।

❖ कई बार प्रशंसा भारी भी पड़ जाती है । आपकी प्रशंसा अन्य की ईर्ष्या का कारण बनती है और आपके लिए वह विघ्नरूप भी बनती है । भगवान महावीर की प्रशंसा वह संगम नहीं सुन सका और उसने छः माह तक भगवान को परेशान किया । ऐसे अनेक उदाहरण मिल सकते हैं ।

❖ महामुनि महारोग को भी विशिष्ट दृष्टिकोण से कर्म-निर्जरा का अवसर बना देते हैं ।

❖ भगवान का मार्ग केवल जानने-समझने के लिए नहीं है, जीने के लिए है । तो ही हम गन्तव्य स्थान पर शीघ्र पहुँच सकेंगे ।

मार्ग जानते हो परन्तु उस ओर एक कदम भी नहीं बढ़ाओ तो क्या आप इष्ट स्थान पर पहुँच सकेंगे ? हम सब कुछ जाने किन्तु कुछ भी करने को तत्पर न हों तो क्या इष्ट सिद्ध होगा ?

‘भगवान नाम आदि चार से सर्वत्र, सदा (सब काल में) समस्त जनों पर उपकार कर रहे हैं’, ऐसा हेमचन्द्रसूरिजी कहते हैं। कोई काल ऐसा नहीं है, कोई क्षेत्र ऐसा नहीं है, जहां प्रभु-नाम, प्रभु-मूर्ति न हो।

अमुक काल में ही होता तो ‘क्षेत्रे काले च सर्वस्मिन्’ ऐसा नहीं लिखते, परन्तु आप देखें, चारों गतियों में जीव सम्यक्त्व प्राप्त करते हैं।

सम्यक्त्व किस प्रकार प्राप्त करते होंगे ? क्या वहां प्रभु का उपकार नहीं है ?

✽ आज ही भगवती में पाठ आया था, ‘गर्भस्थ जीव नरकमें भी जा सकता है, स्वर्ग में भी जा सकता है। शुभ एवं अशुभ दोनों में ‘तच्चित्ते, तल्लेसे, तम्मणे, तदज्झवसाए तदप्पियकरणे’ बन सकता है।

गर्भस्थ जीव वैकिय शक्ति से सैनिक बना कर युद्ध कर सकते हैं। आयुष्य समाप्त होने पर नरक में भी जाते हैं। इस प्रकार धर्म के अध्यवसाय से स्वर्ग में भी जाते हैं।

✽ स्वयंभूरमण समुद्र में मछलियों को मूर्ति के आकार की मछलियां देखने के लिए मिलने पर जातिस्मरण ज्ञान होता है और वे सद्गतिमें जाती हैं। यहां आकृति के रूप में भगवान आये।

✽ मैं आपको एक बात पूछूं ? गोचरी करते समय कैसे विचार आते हैं ? उत्तम विचार नहीं करो तो बुरे विचार आयेंगे ही। छोटे बच्चे को मां चाहे जहां भटकने नहीं देती, उस प्रकार मन को चाहे जहां भटकने मत दो। मन छोटा बालक है। दुकान को आप मालिक-विहीन छोड़ते नहीं हैं तो फिर मन को क्यों छोड़ते हैं ? आप गोचरी इस प्रकार वापरें कि मन स्वाद से परे बन जायें।

एक बहन कहने के लिए आई, ‘महाराज ! भूल हो गई। चाय में शक्कर के स्थान पर नमक डाल दिया गया है।’ सागरजी महाराज ने वापर लिया। सागरजी महाराज बोले, ‘इसमें क्या हो गया ?’

आगम से मति भावित बनाई थी।

जामनगर में एक बार दूध में शक्कर के स्थान पर नमक आ

गया था । मैं कुछ नहीं बोला । क्या हुआ ? पेट साफ हो गया ।

गोचरी वापरते समय सु... सु..., चब... चब... आदि आवाज नहीं आनी चाहिये । एकदम शीघ्रता से नहीं वापरे । अधिक विलम्ब भी न करें । कोई वस्तु नीचे गिराये नहीं ।

जोग में तो आप ध्यान रखते हैं क्योंकि दिन पड़ने का भय रहता है । सदा ऐसा ही होना चाहिये । इस कारण ही जोग है ।

वापरते समय मन से स्वाध्याय-चिन्तन आदि किया जा सकता है । पूज्य देवेन्द्रसूरिजी में देखा - यहां से वहां मात्रु करने जायें तो भी स्वाध्याय चालु रहता । वे एक भी मिनिट बिगाड़ते नहीं थे । इस कारण ही वे नित्य तीन-चार हजार गाथाओं का स्वाध्याय कर सकते थे ।

भक्ति :

भगवान को जगत् को पावन बनाने का शौक है ? जैसे आपको मदिश-तम्बाकू का शौक है ।

ज्ञानी कहते हैं - 'हां, उन्हें शौक है । कब से शौक है ? प्रथम से ही, निगोद से ही शौक है । हम सबको स्वार्थ का व्यसन है । भगवान को परोपकार का व्यसन है । 'आकालमेते परार्थ-व्यसनिनः ।'

निगोद के समय भी परोपकार चालु हो तो तीर्थंकर के भव में, जब शक्तियां पराकाष्ठा पर पहुंची हों, तब परोपकार क्यों न करें ?

दान का व्यसन हो और पास में बहुत पैसे हों तो कौन दान नहीं करता ? ओटमलजी (मद्रास) (ओटमलजी कपूरचंदजी, राजस्थान में केशवणा वाले । इनके आग्रह से ही पूज्यश्री केशवणा में पधारे थे । १६-०२-२००२ को वहीं देहान्त हुआ) यहां बैठे हैं । आज ही इन्होंने दो लाख का दान किया ।

★ भोजन करते समय आप रोटी, सब्जी, मिठाई आदि जिसका नाम लेते हैं, वह वस्तु आपको मिल जाती है न ? जिस व्यक्ति को आप बुलाते हैं, वह व्यक्ति उपस्थित हो जाता है न ? तो परोपकार-परायण भगवान का आप नाम लो तो वे उपस्थित क्यों न हों ?

नाम से प्रभु सामीप्य की अनुभूति होती है ।

‘नाम ग्रहंता आवी मिले, मन भीतर भगवान ।’

भगवान अपने हृदय में आ गये, इसका अर्थ यह है कि हमारा उपयोग प्रभुमय हो गया, उपयोग में प्रभु आ गये, उपयोगपूर्वक आप जब प्रभु-नाम लेते हैं तब प्रभुमय ही बनते हैं ।

❖ वाणी चार प्रकार की है -

वैखरी भुंह में, मध्यमा कंठ में, पश्यन्ती हृदय में, परा ज्ञान में ।
जिस वाणी से आप पुकारो, उस रूप में प्रभु आ मिलेंगे ।

❖ दर्पण के समक्ष खड़े रहे, आपका प्रतिबिम्ब पड़ेगा ही ।
हमारा उपयोग निर्मल दर्पण जैसा हो, तब प्रभु का हमारे भीतर प्रतिबिम्ब पड़ेगा ही ।

उपयोग में रहे भगवान को पहचान सकें ऐसी हम में क्षमता नहीं है, इसी कारण प्रभु दूर लगते हैं ।

• • • • •

आप कृपालु द्वारा मने याद करीने मोकलावेल परम पूज्य
भगवान कलापूर्णसूरिजीना भावोने रजू करतुं पुस्तक ‘कहुं
कलापूर्णसूरिए’ मळ्युं. खूब खूब आभार

पुस्तक मळ्युं. खूब ज आनंद थयो. परमात्म-स्वरूप
पूज्यश्रीना पुस्तक माटे अत्यज्ञ एवो हुं कोई पण अभिप्राय आपुं
ए भगवान कलापूर्णसूरिजीनुं अवमूल्यन करनार बने एवुं लागे छे.

जे वांचता ज आत्माना भयानक आवेश-आवेग वगरे भागी
जई शांत-प्रशांत-उपशांत अवस्था (स्वनी) प्राप्त करावे एवुं आ शास्त्र
अनेक भव्यात्माने आत्म-कल्याणकारी बनशे ज ए शंकारहित वात
छे. अस्तु...

- विमलहंसविजय
बारडोली.



२३-९-१९९९, गुरुवार

भा. सु. १३

❖ पुष्करावर्त की धारा इतनी प्रबल होती है कि उसका जल भूमि में अत्यन्त गहरा जाता है, फिर वर्षों तक वरसात न हो तो भी पाक होता रहता है ।

भगवान की वाणी भी पुष्करावर्त मेघतुल्य है, जो इक्कीस हजार वर्षों तक काम करेगी, सर्वविरति की उपज होती ही रहेगी ।

❖ जितनी शक्तियां प्रकट रूप से केवलज्ञानी में हैं, वे समस्त शक्तियां समस्त जीवों में प्रच्छन्न रूपसे विद्यमान हैं ही ।

हमारा भावी स्वरूप अब भी केवलज्ञानियों को प्रकट है - एक की धनराशि उधार है, बैंक में जमा है, दूसरे की धनराशि नगद है ।

जीव एवं शिवमें यही अन्तर है । शिव का ऐश्वर्य नगद है, हमारा उधार है । हमारा ऐश्वर्य किसीने (कर्मसत्ता ने) दबा दिया है । हम उनसे मांग सकते नहीं हैं । हम मालिक हैं, मांगने की स्थिति में भी हैं । हमारा यह स्वामित्व जगाने के लिए ही ये धर्मशास्त्र आदि हैं ।

भविष्य में नगद होनेवाला अपना ऐश्वर्य आज भी केवलज्ञानी

प्रत्यक्ष देख रहे हैं, परन्तु आज तो हम भिखारी हैं, पैसे होते हुए भी कंगाल है। हाथ में कुछ नहीं है।

मुंबई के कतिपय बिल्डरों के पैसे भूमि में रुके पड़े हों, भूमि के भाव गिर रहे हों, वैसी अपनी स्थिति है। पैसे हमारे होते हुए भी हमारे पास नहीं है।

✽ जिसे सामान्य मनुष्य स्वर्ण - चांदी मानते हैं, जिसके पीछे भागने में जीवन व्यतीत करते हैं, ज्ञानियों की दृष्टिमें केवल पीली एवं श्वेत मिट्टी है।

‘गिरिमृत्त्रां धनं पश्यन्, धावतीन्द्रियमोहितः ।

अनादिनिधनं ज्ञानं धनं पार्श्वे न पश्यति ॥

- ज्ञानसार इन्द्रियजयाष्टक

✽ आपके रूपये कहीं जमा हों और आप उस बात से अनभिज्ञ हो तो स्वाभाविक है कि अज्ञान के कारण आप मांगने नहीं जाये, धन के लिए यत्र-तत्र भटकते रहें।

हमारी दशा आज ऐसी हुई है। हमारा आत्म-ऐश्वर्य कर्म सत्ता ने दबा दिया है। जिससे हम अनभिज्ञ हैं।

✽ ‘भण्या पण गण्या नहीं’ यह गुजराती कहावत पुनरावर्तन का महत्त्व भी दिखाती है। सिर्फ पढ़ना पर्याप्त नहीं है उसे गिनना आवश्यक है। गिनना अर्थात् पुनः पुनः आवर्तन करना, दूसरों को देना। जो दूसरों को देते हैं वह अपना है, शेष सब पराया है। दूसरों को दिया हुआ ज्ञान ही टिकता है, यह मेरा स्वयं का अनुभव है।

पढ़ने के साथ गिनना अर्थात् जीवनमें उतारना। पढ़ने के बाद वह यदि जीवन में न उतरे तो उसका अर्थ क्या ?

✽ बंध की अपेक्षा अनुबंध महत्त्वपूर्ण है। अनुबन्ध अर्थात् लक्ष्य, उद्देश्य, झुकाव, भीतर का हेतु। जिस प्रकार ‘वांकी’में आनेवाला व्यक्ति जिस खाते में धन दे, उसी खाते में जमा होता है, उसी प्रकार हम जिस आशय से कार्य करें उसी स्थान पर जमा होता है।

✽ मन को विकृत बनाती है वह विकृति-विगई है। विगति (विगई) से बचना हो तो विगई से बचना चाहिये। विकृति की प्रकृति ही मोह उत्पन्न करने वाली है। विकृति वापरने वाला साधक प्रायः मोह पर विजयी नहीं बन सकता।

भक्ति

चित्त को विकृति-रहित बनाने के लिए विकृति (विगई) का त्याग आवश्यक है, उसी तरह से भगवान की भक्ति का आदर आवश्यक है ।

❖ नवकार का 'न' भी अनन्त पुन्यराशि का उदय होने पर प्राप्त होता है । यहां तो हमें सम्पूर्ण नवकार प्राप्त हुआ है, फिर पुन्योदय का क्या पूछना ?

❖ एक ओर जगत् की समस्त सम्पत्ति रखी जाय और दूसरी ओर मात्र प्रभु का नाम रखा जाये तो दोनों में से कौन बढ़ कर होगा ?

जीवन भर धन, धन, धन करते-करते मर चुके मम्मण को पूछ लो । धन की उपेक्षा करके सामायिक करने वाले पुणिया-श्रावक को पूछ लो ।

नवकार मंत्र में प्रभु के सामान्य नाम हैं, जिसमें समस्त अरिहंत, सिद्ध आदि पंच परमेष्ठी आ जाते हैं । नवकार गिनना अर्थात् भगवान के चरणों में शीश धर देना ।

जो मनुष्य सर्व विरति तक पहुंचना चाहते हों और पहुंच नहीं सकते हों वे नवकार का, प्रभु-नाम का शरण स्वीकार कर के देखे । प्रभु-नाम से अथवा प्रभु-मूर्ति से किसी का कल्याण हुआ है ? ऐसा अगर आप पूछते हैं तो मैं मेरा नाम सर्व प्रथम लिखवाता हूं । मुझे यहां तक पहुंचानेवाले प्रभु-नाम एवं प्रभुमूर्ति ही है ।

मुंबई आदि से आप इतनी बड़ी संख्या में यहां क्यों आते हैं ? मैं तो मानता हूं कि प्रभु आपको भेज रहे हैं । जिन्हें प्रभु भेजते हों, उनका अपमान कैसे हो सकता है ?

मुंबई से आप यहां आये तो अपनी पेढी बन्द करके आये ? आपके नाम से वहां पेढी चलती है न ? भगवान मोक्ष में गये परन्तु उनकी पेढी यहां चलती है । उनके नाम से चलती है । आपके नाम से जब पेढी चलती है तो क्या भगवान के नाम से नहीं चलेगी ?

नाम एवं मूर्ति भगवान ही है । जिनालय में कौन सी मूर्ति है ? यह हम नहीं पूछते, कौन से भगवान हैं, यह पूछते हैं । हां, जयपुर के मूर्ति-महोत्सव में मूर्ति का पूछ सकते हैं, परन्तु मन्दिर में प्रतिष्ठित मूर्ति में तो साक्षात् प्रभु के ही दर्शन हम करते हैं ।

काउस्सग नवकार का करें या लोगस्स का, दोनों में प्रभु के नाम ही है । एक में सामान्य नाम है, दूसरे में विशेष नाम है ।

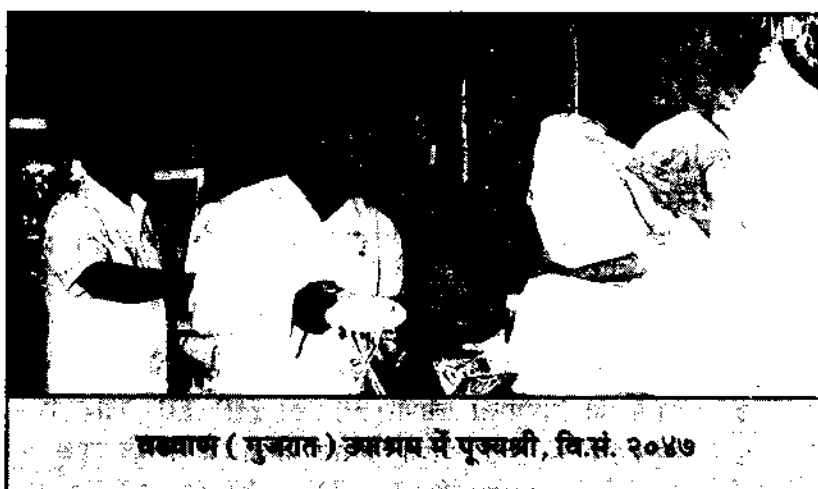
- ✻ १. शब्द से वैखरी वाणी
 - २. विकल्प से मध्यमा वाणी
 - ३. ज्ञान से पश्यन्ती वाणी
 - ४. संकल्प से परा वाणी प्रकट होती है ।
- जो उत्तरोत्तर कारणरूप है ।

* * * * *

‘कहे कलापूर्णसूरि’ पुस्तक मळ्युं. पूज्यश्रीना कोहिनुर होरा
जेवी रत्न-कर्णिकाओने शब्दोना दोरमां बांधी, एक नवलखा हार जेवी
अद्भुत रचना आपी खूब खूब उपकार चतुर्विध-संघ पर कयों छे
जीभ बोले, हृदय बोले एवा शब्दो घणी वार मल्या छे, परंतु
अनुभव बोलतो होय एवा ताकातवर शब्दो तो क्यारेक ज मळे
छे. एवा शब्दो पहाँचाड्यानी कृतज्ञता हृदयपूर्वक व्यक्त करुं छुं.

‘कहुं कलापूर्णसूरि’ पुस्तक हमणां भूपतभाईए आप्युं छे.
आवी श्रेणि बहार पड़े अने शब्दे-शब्द सचवाय एवी
शुभाभिलाषा.

- संयमबोधिविजय
घाटकोपर, मुंबई.



२४-९-१९९९, शुक्रवार
भा. सु. १४

जल के तीन गुण ।

१. प्यास बुझाना ।
२. मलिनता मिटाना ।
३. दाह मिटाना ।

पहले के जल में ऐसे गुण थे, अब नहीं है, ऐसा नहीं है । अमुक गांव का जल कार्य करे, दूसरा कार्य न करे, ऐसा भी नहीं है ।

चौथे आरे में जल कार्य करता था, अब नहीं करता । चौथे आरे में जल पिया जाता था, अब पेट्रोल पिया जाता है, क्या ऐसा है ? भगवान की वाणी भी जल तुल्य है ।

१. तृष्णा की प्यास मिटती है ।
२. कर्म की मलिनता नष्ट होती है ।
३. कषायों के दाह का शमन करती है ।

जल तो अग्नि के सम्पर्क से फिर भी गर्म होता है, परन्तु यह जिनवाणी या प्रभु कभी गर्म नहीं होते ।

जल की तरह प्रभु एवं प्रभु की वाणी भी चौथे आरे की तरह आज भी अपना कार्य करती ही है । राग-द्वेष से मन ग्रस्त

होता है तब उद्वेग एवं आकुलता बढ़ जाती है । ऐसा हो तब आप प्रभु-नाम का आश्रय लें ।

प्रभु-नाम की महिमा प्रस्थापित करने के लिए ही दूसरा आवश्यक (चतुर्विंशति स्तव) है ।

नाम-नामी का अभेद है । इसीलिए तो हम अपने नाम की प्रशंसा से प्रसन्न होते हैं, निन्दा से व्याकुल होते हैं ।

स्व-नाम के साथ हमने इतना तादात्म्य कर लिया है । उससे मुक्त होने के लिए प्रभु-नाम-जाप आवश्यक है ।

कोई किसी का नाम लेता है कि तुरन्त उस व्यक्ति की आकृति हमारे मानस में झलकने लगती है । नाम के साथ आकार अनिवार्य रूप से जुड़ा है । इसीलिए नाम के बाद स्थापना-निक्षेप हैं ।

पू. कनकसूरिजी, का नाम बोलते ही उनकी आकृति याद आती है । केवल आकृति ही नहीं, गुण भी याद आते हैं । निःस्पृहता, वात्सल्य, विधि-प्रेम, करुणा आदि गुण याद आते हैं । यहां भी प्रभु का नाम + स्थापना के द्वारा प्रभु के गुण याद आते हैं ।

योग का प्रारम्भ प्रभु-नाम से हुआ, यह प्रीतियोग हुआ ।

प्रेम के प्रगाढ बनने पर भक्ति-योग आता है ।

भक्तियोग के प्रगाढ बनने पर वचनयोग आता है ।

वचनयोग के प्रगाढ बनने पर असंग योग आता है ।

❀ चार महात्माओं के महानिशीथ के जोग चलते हैं । इस वर्ष ही प्रारम्भ से अन्त तक पुनः महानिशीथ पढ़ा । प्रभु-नाम (नवकार) प्रभु के गुणों आदि का वर्णन पढ़ने पर रोमांच होता है, हर्ष उत्पन्न होता है । अतः सर्व प्रथम नवकार दिया जाता है । नवकार अर्थात् अक्षरमय पंच परमेष्ठी । भौतिक देह भले न हो, अक्षर-देह है ही, अक्षर अर्थात् जो कदापि क्षरें नहीं, खरे नहीं ।

नवकार अर्थात् प्रभु-नाम !

नवकार अर्थात् गुरु-नाम !!

नवकार अर्थात् गुणियों के गुणों का कीर्तन !!!

मैं पचास वर्षों से प्रगाढ रूप से प्रभु-भक्ति करता हूँ । भयंकर अस्वस्थता (बीमारी) में भी भक्ति चालु रहती है । कमरे से बाहर भी निकल नहीं सकूँ तो भी भक्ति चालु रहेगी ।

इस समय नहीं हैं माता-पिता, नहीं हैं गुरु । इस समय हम तो भगवान के आधार पर जीते हैं । यदि भगवान छोड़ दें तो हमारे पास रहा क्या ? भगवान ही गुरु हैं, माता हैं, पिता हैं, सब कुछ हैं । सब कुछ भगवान हैं ।

‘अन्यथा शरणं नास्ति’ का भाव उत्पन्न हो तो जिस प्रकार निराधार बालक की ओर मां दौड़ती हुई आये, उस प्रकार भगवान दौड़ते हुए आयेंगे ।

‘अभिनन्दनं जिनं दरिषणं तरसीये’ – यह स्तवन पढ़ कर देखें । आनन्दघनजी प्रत्येक फिरके में मान्य हैं । उनकी स्तवना तो देखो । उनकी विरह की व्यथा तो देखो । ये स्तवन नहीं हैं, परन्तु प्रभु की ओर उठती हृदय-सागर की तरंगें हैं । इनमें प्रथम गुणस्थानक से लगा कर चौदहवे गुण-स्थानक तक का सम्पूर्ण आध्यात्मिक विकास क्रम है ।

१. प्रथम स्तवन में प्रभु-प्रेम ।
२. दूसरे स्तवन में मार्ग की खोज ।
३. तीसरे स्तवन में मित्रा-दृष्टि, प्रथम भूमिका ।

अभय, अद्वेष, अखेद की बात । इसके लिए योगदृष्टि समुच्चय पढ़ कर देखें । मित्रादृष्टि का दूसरा नाम अभय है ।

✽ ‘करण’ का अर्थ समाधि होता है । यदि समाधि समझेंगे तो ही अपूर्व-करण आदि समझ में आयेंगे । यथाप्रवृत्तिकरण ही अपूर्वकरण तक पहुंचाता है । यथाप्रवृत्तिकरण असंख्य बार आता है, परन्तु उत्तरोत्तर विशुद्धि बढ़ती ही जाती है, जिस प्रकार नूतन विद्यार्थी का एक का अंक उत्तरोत्तर सुधरता जाता है ।

यथाप्रवृत्तिकरण भी अव्यक्त समाधि है । इस अव्यक्त समाधि के प्रभाव से ही अभव्य जीव दीक्षा ग्रहण करके नववे ग्रैवेयक तक जा सकते हैं । अभव्य में योग्यता न होने से वे बाद में पतन पाते हैं । इसीलिए हरिभद्रसूरिजी ने अपुनर्बन्धक शब्द खोजा है । अपुनर्बन्धक अर्थात् ऐसा जीव जो पुनः कभी ७० कोटिकोटि सागरोपम मोहनीय की स्थिति नहीं बांधता । अभव्य अपुनर्बन्धक नहीं बन सकता ।

✽ मुझे भक्ति-जाप-ध्यान आदि पसन्द हैं, इसलिए मैं

सब उस पर घटित करता हूं, यह बात नहीं है। यही मार्ग है।
मैंने महापुरुषों को पूछ कर, खोजकर, निश्चित किया है।

❖ साध्य चाहे सामायिक है, परन्तु छः आवश्यकों में सरल साधना नाम-जाप (चउविसत्थो) है।

“यहां साध्य तो सामायिक है, समता है, तो बीच में नामस्तव (चउविसत्थो) क्यों लाये ?” निर्युक्ति में उठाय़ा गया ऐसा प्रश्न प्रभु-नाम-कीर्तन की महिमा बताता है।

तीर्थकरों के नाम-गोत्र का श्रवण भी अत्यन्त फलदायी है।

प्रभु के कितने नाम हैं ? हजारों नाम हैं। शकस्तव पढो। जितने गुण उतने नाम हैं। यदि गुण नहीं गिने जा सकें तो नाम भी नहीं गिने जा सकते हैं।

‘प्रभु तेरे नाम हैं हजार, किस नाम से लिखनी कंकोत्री’ भक्त थोड़ी उलझन में पड़ जाता है।

मद्रास आदि में मारवाड़ी समाज में प्रथम पत्रिका आज भी पालीताना, सिद्धाचल, आदिनाथ के नाम पर लिखी जाती है।

(मद्रास वाले माणकचंदभाई -

मद्रास प्रतिष्ठा के बाद अनगिनत लोग प्रभु के दर्शनार्थ आये।
अजैन लोग भी आये, रात भर प्रातः तीन बजे तक लाइन चालु रही)

प्रभु-नाम कीर्तन से प्रभु के साथ प्रणिधान होता है। इसीलिए कहा जा सकता है कि ‘लोगस्स’ समाधि सूत्र है। इसीलिए इसके फल स्वरूप अन्त में समाधि की याचना की गई है। ‘समाहिवरमुत्तमं दिंतु।’ गयपसेणिय, चउसरणपयन्ना, उत्तराध्ययन में कहा है कि इससे दर्शनाचार की (चतुर्विंशति स्तव से) विशुद्धि होती है, सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, सम्यग्दर्शन हो तो विशुद्ध बनता है। सम्यग्दर्शन शायद न हो तो भी चित्त की प्रसन्नता तो होती ही है।

चउविसत्थो के अर्थाधिकार में प्रभु-गुणों का कीर्तन करने का कहा है, क्योंकि प्रभु सब से गुणाधिक है। स्तुति गुणाधिक की ही होती है। उनके समान भी जगत् में अन्य कोई नहीं है तो उनसे बढ कर कौन होगा ?

प्रभु भले ही गुणाढ्य हो, परन्तु अन्य को क्या लाभ ? मनुष्य चाहे धनाढ्य हो, परन्तु अन्य को क्या लाभ ? धनाढ्य व्यक्ति यदि

कृपण हो तो ? मनुष्य कृपण हो सकता है, प्रभु नहीं हो सकते ।
प्रभु के गुण-कीर्तन से भक्त को लाभ होता ही है ।

जगत् में प्रभु के प्रभाव से ही सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है । उसके प्रभाव से भवान्तर में भी सम्यग्दर्शन प्राप्त होता है, अन्त में मोक्ष की भी प्राप्ति होती है ।

इस जन्म में प्रसन्नता, सम्यग्दर्शन...

परलोक में सद्गति, सिद्धिगति प्राप्त होती है ।

• • • • •

तीर्थंकर भगवंतनो महिमा

- तीर्थंकर भगवंत मुख्यपणे कर्मक्षयनुं निमित्त छे.
- बोधि बीजनी प्राप्तनुं कारण छे.
- भवांतरे पण बोधिबीजनी प्राप्ति करावे छे.
- तेओ सर्वविरति धर्मना उपदेशक होवाथी पूजनीय छे.
- अनन्य गुणोना समूहने धारण करनारा छे.
- भव्यात्माओना परम हितोपदेशक छे.
- राग, द्वेष, अज्ञान, मोह अने मिथ्यात्व जेवा अंधकारमांथी उगारनार छे.
- तेओ सर्वज्ञ, सर्वदर्शी अने त्रैलोक्य - प्रकाशक छे.



२५-९-१९९९, शनिवार
भा. सु. १५

❖ आगम आदि ग्रन्थों के पुनः पुनः पठन से संयम में शुद्धि एवं भावोल्लास में वृद्धि होती है ।

❖ आहार का प्रमाण सामान्यतः साधु के लिए-३२ कौर, साध्वी के लिए २८ कौर, परन्तु यह सबके लिए उपयुक्त नहीं होता ।

मन, वचन, काया के योग सीदायें नहीं, साधु उतना ही आहार करें जितने में उसकी क्षुधा शान्त हो जाये ।

जिस दिन विगई वापरनी हो उस दिन उसके लिए काउस्सग करना पड़ता है । बोटल चढानी पड़े, दवाई लेनी पड़े ऐसा तप भी नहीं करना है और इतना भोजन भी नहीं लेना है ।

❖ निहार के लिए १०२४ भांगे बताये हैं जिन में एक भांगा शुद्ध है । संलोक, आपात, सचित्त, अचित्त, अनापात, असंलोक इत्यादि पदों के द्वारा १०२४ भांगे होते हैं ।

स्थंडिल भूमि पोकल नहीं होनी चाहिये, त्रस आदि जीवों से युक्त नहीं होनी चाहिये । इसका अर्थ यह नहीं है कि सड़क पर चाहे जहां बैठ जाना । इससे तो शासन की भयंकर अपभ्राजना

होती है । अन्य मनुष्य जैन धर्म की निन्दा करेंगे । यह भारी पाप है । कहीं भी स्थान नहीं हो तो वनस्पति घास आदि उगी हुई हो वहां भी (धर्मास्तिकाय की कल्पना करके) बैठा जा सकता है, परन्तु सड़क पर नहीं बैठा जाता ।

स्थंडिल विधि : सूर्य, गांव और वायु को पीठ देकर नहीं बैठा जा सकता । दिन में उत्तराभिमुख, रात्रि में दक्षिणाभिमुख बैठ सकते हैं । लौकिक विधि का पालन करना आवश्यक है । ताकि कोई निन्दा न करे । यदि कोई बोल जाये कि 'ये लोग कैसे है ? सूर्य नारायण को पीठ देकर बैठे हैं ।' तो उचित नहीं लगेगा ।

❖ एक साधु की गोचरी चर्या देखकर इलाचीकुमार केवली बन गये थे, यह हम सभी जानते हैं । नटड़ी के ध्यान में से प्रभु के ध्यान में ले जाने वाले मुनि थे । एक मुनि कितना कार्य करता है ?

❖ एक कनकसूरिजी महाराज ने कितना कार्य किया ? हमें उन्होंने आकर्षित किये थे । उनका नाम सुन कर हम आये थे । इसके लिए हमने किसी ज्योतिषी को नहीं पूछा था । राजनांदगांव से पालीताना आये तब तक भी निश्चित नहीं था । वे पण्डित अथवा वक्ता भले ही नहीं थे, परन्तु आचार-सम्पन्न थे । इसीलिए लब्धिसूरिजी जैसों ने उनकी प्रशंसा की थी ।

प्रथम दर्शन में ही मन अभिभूत हो गया । वि.संवत् २००९ में विद्याशाला में उनके प्रथम दर्शन हुए थे । मधुर वाणी का प्रभाव नहीं पड़ता, दम्भी वर्तन का प्रभाव नहीं पड़ता । आपके आचार (आचरण) का प्रभाव पड़ेगा ।

❖ वचनगुप्ति और भाषा समिति इन दोनों के सम्यक् पालन से आप इसी जीवन में वचनसिद्ध पुरुष बन सकते हैं । असत्य बोलना नहीं, किसी की निन्दा करनी + सुननी नहीं । इतना निश्चय करें । फिर देखें कि वचन-सिद्धि दौड़ती-दौड़ती आती है कि नहीं ?

❖ भगवान एवं गुरु को प्रसन्न करने हों तो उनकी आज्ञा का पालन करो । गुरु-कृपा स्वयं आपके पास आयेगी ।

❖ शिष्य को गुरु समझाये नहीं और शिष्य जो कुछ करे उसका पाप गुरु को लगेगा । यदि गुरु सच्ची समझ देकर शिष्य

को सम्यग्मार्ग की ओर अग्रसर करे, तदनुसार वह व्यवहार करे तो उसका पुन्य भी गुरु को प्राप्त होता है ।

❁ 'एकान्त बाल मिथ्यात्वी, बालपण्डित देशविरत श्रावक, एकान्त पण्डित साधु' भगवती सूत्र की यह व्याख्या आज पढ़ने में आई है । इस व्याख्या के अनुसार हम बाल कि पण्डित ? T.V. के पास वृद्ध एवं वृद्धाएं भी बैठती हैं । उन्हें हम बाल कहेंगे कि पण्डित ? एकान्त पण्डित के लिए दो गतियाँ ही बताई गई है, अन्तक्रिया (निर्वाण) अथवा कल्पोपपत्तिका (वैमानिक देवलोक) । कर्मसत्ता उसका कुछ भी बिगाड़ नहीं सकती ।

❁ भगवान् 'अनाहूत-सहाय' कैसे ? चंडकौशिक ने भगवान् को निमन्त्रण भेजा था ? कि हे भगवान् ! आप पधारो, मैं आपका सामैया करूंगा, आपकी भक्ति करूंगा । जो आप फरमायेंगे वह मैं करूंगा, बस पधारो ।' निमन्त्रण नहीं दिया था । भगवान् तो बिना बुलाये गये थे । इतने महान् प्रभु क्या बिना बुलाये जाते हैं ? हां, बिना बुलाये जाते हैं, इसीलिए वे महान् हैं । उन्होंने सम्पूर्ण जीवराशि को अपना परिवार माना है ।

क्या स्वजनों से निमन्त्रण की अपेक्षा करें ? जब कोई स्वजन अस्वस्थ होने का समाचार मालूम हो तो क्या आप घर में बैठे रहेंगे कि दौड़ कर वहां पहुंचेंगे ?

चंडकौशिक भयंकर रूप से अस्वस्थ था, वह भाव रोगी था । उसे भगवान् की कोई पड़ी नहीं थी । वह तो अहंकार से सब को भस्म कर डालता था । इसीलिए भगवान् बिना सम्बन्ध के रिश्तेदार हैं, अन्यथा चंडकौशिक के साथ भगवान् को क्या लेना-देना था ?

बुलाये और भगवान् न आयें, यह तो हो भी कैसे ? भगवान् तो बिना बुलाये आने वाले हैं । आप शायद भगवान् को प्रार्थना न भी करें तो भी वे आपका हित अवश्य करेंगे ।

किसकी प्रार्थना से भगवान् ने तीर्थ की स्थापना की ? किसकी प्रार्थना से दीक्षा ग्रहण की ? लोकांतिक देवों ने उसके लिए प्रार्थना की यह तो उनका कल्प है । भगवान् को उसकी अपेक्षा नहीं थी । वे स्वयं- संबुद्ध हैं । भगवान् ने किसी की

प्रार्थना के बिना ही केवल करुणा से तीर्थ स्थापना की है ।

सूर्य किसकी प्रार्थना से उगता है ?

पुष्प किसकी प्रार्थना से खिलता है ?

जल किसकी प्रार्थना से प्यास बुझाता है ?

हवा किसकी प्रार्थना से चलती है ?

बादल किसकी प्रार्थना से बरसते हैं ?

कोयल किसकी प्रार्थना से टहूकती है ?

यह उनका स्वभाव है ।

भगवान का भी परोपकार करने का स्वभाव है । चाहे कोई प्रार्थना करे या न करे । चण्डकौशिक ने कभी कहा नहीं था कि आप मेरा हृदय परिवर्तन करना ।

अनेक व्यक्ति पूछते हैं - 'क्या चण्डकौशिक के साथ भगवान का कोई पूर्व भव का सम्बन्ध था ?

क्या चन्दनबाला के साथ उनका पूर्व भव का कोई सम्बन्ध था ? सम्बन्ध हो या न हो, हेमचन्द्रसूरि ने 'वीतराग स्तोत्र' में कहा है - 'असम्बन्ध बान्धवः' भगवान सम्बन्ध बिना के स्वजन हैं । इसके द्वारा भगवान हमें भी सूचित करते हैं कि 'परोपकार करने के लिए आप कभी सम्बन्ध न देखें ।'

अन्ततोगत्वा परोपकार स्वोपकार ही है । जीवत्व का तो सब के साथ सम्बन्ध है ही ।

♦ ♦ ♦ ♦ ♦

साधना अने प्रार्थना

हुं कोईपण वस्तुने चाहुं तेना करतां आत्माने चैतन्यमात्रने वधु
चाहुं. एवुं मारुं मन बनो, ए श्रेष्ठ साधना अने प्रार्थना छे.



२६-१-१९९९, रविवार

आ. व. १

सार्थवाह का, संघपति का उत्तरदायित्व सब के योग-क्षेम का है। मार्ग में सुरक्षा एवं आवश्यक वस्तुएं प्राप्त करने का उत्तरदायित्व संघपति का होता है।

मोक्षनगरी में ले जाने का उत्तरदायित्व भगवान का है। हम सब यात्री हैं। भगवान संघपति है, सार्थवाह है। इसी कारण से 'जगचिन्तामणि' चैत्यवन्दन में 'जगसत्थवाह' के रूप में भगवान को सम्बोधित किये गये हैं।

✽ अनेक व्यक्ति मानते हैं कि साध्वीजी निरर्थक हैं, परन्तु साध्वीजी कितना कार्य करते हैं, जानते हो ? पूज्य हरिभद्रसूरिजी को तैयार करने वाली याकिनी महत्तर साध्वीजी थीं। हमारे पू. कनकसूरिजी म. को तैयार करनेवाली साध्वीजी आणंदश्रीजी थीं। एक साध्वीजी भी कितना काम कर सकती है ? आपने कभी इस पर विचार किया है ? साध्वीजी भी इतना कर सकती हैं तो साधुओं का तो कहना ही क्या ?

कीर्तिचन्द्रविजयजी कोलकता में १००० युवकों की शिविर चला रहे हैं। कीर्तिरत्न-हेमचन्द्रविजयजी ने भी गंगावती में अपनी

कहे कलापूर्णसूरि - १ ***** २९९

योग्यतानुसार सुन्दर धर्ममय वातावरण जमाया है ।

✧ जितनी सावधानी आप अपनी आत्मा की रखते हैं, उतनी ही सावधानी आप अन्य व्यक्तियों की करें, क्योंकि 'अन्य' अन्य नहीं है, हमारा ही अंश है । अन्य की हिंसा में हमारी हिंसा ही छिपी है, यह आपको समझना पड़ेगा । जब हम अन्य की हिंसा करते हैं तब हम अपनी ही दस गुनी हिंसा निश्चित कर डालते हैं ।

‘होय विपाके दस गणुं रे, एक वार कियुं कर्म’

✧ मोह की प्रबलता जितनी अधिक हो उतनी अन्य समस्त अशुभ प्रकृतियों को जोरदार समझें । अन्य प्रकृतियां कम अशुभ हों तो अधिक अशुभ बनती हैं, अधिक घट्ट बनती हैं ।

अरिहंत आदि की अशातना से मोहनीय कर्म बंधते हैं । मोहनीय का पाप हिंसा से भी अधिक होता है । आज्ञा-भंग का पाप सर्वाधिक होता है । मोह का कार्य आज्ञा-भंग कराने का है । मिथ्यात्व के बिना आज्ञा-भंग हो ही नहीं सकता ।

सम्यक्त्व होने के बाद जगत् के समस्त जीव शिव स्वरूप प्रतीत होते हैं । जिसे स्वयं में शिवत्व दिखाई दिया, उसे सर्वत्र शिव दिखेंगे । यही सम्यग्दृष्टि है ।

सृष्टि कभी बदलती नहीं है, दृष्टि बदलती है । दृष्टि पूर्ण होने पर जगत् पूर्ण दिखता है । दृष्टि सम्यग् बनने पर जगत् सम्यग् प्रतीत होता है ।

काला चश्मा पहनो तो जगत् काला है, पीला चश्मा पहनो तो जगत् पीला है । इसे केवल उपमा न समझें । यह वास्तविकता है । जब अशुभ परिणाम करते हैं तब कृष्ण लेश्या होती है । कृष्णलेश्या काले पुद्गलों को आकर्षित करती है । तेजोलेश्या पीले पुद्गलों को खींचती है । ज्यों ज्यों अध्यवसाय निर्मल बनते जाते हैं, त्यों त्यों स्वच्छतम पुद्गलों को हम खींचते रहते हैं ।

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि ने कृष्णलेश्या के द्वारा सातवीं नरक में ले जाने वाले अत्यन्त ही अशुभ कर्म बांधे, किन्तु वे कर्म स्पृष्ट थे । वे शुभ ध्यान की धारा से तुरन्त ही धुल गये और उन्हें अल्प समय में केवलज्ञान हो गया ।

स्थंडिल विधि :

स्थंडिल की शंका समय पर हो तो उसे आगम की भाषा में 'काल संज्ञा' कहते हैं । असमय पर लगे वह 'अकालसंज्ञा' कहलाती है ।

पूज्य प्रेमसूरिजी एकासणा करके डेढ़ बजे दोपहर में ही बाहर जाते । मैं भी एक बार उनके साथ गया था ।

कृमि के रोगी को छाया में बैठना चाहिये । छायादार स्थान नहीं मिले, कभी धूप में बैठना पड़े तो कुछ समय तक छाया करके खड़े रहें । (स्थंडिल रोकें नहीं, रोकने से आयुष्य का क्षय होता है । उस समय भले मालूम न पड़े परन्तु कुछ आयुष्य तो घटेगा ही ।)

भक्ति

कोई व्यक्ति इतना चिपक कर बैठ जाये कि शीघ्र हटे ही नहीं । हमें यह लगे कि जाये तो अच्छा ।

परन्तु भगवान इस प्रकार नाराज नहीं होंगे, यदि आप उन्हें पकड़कर बैठ जाओगे तो भी ।

‘निशदिन सूतां जागतां, हैड़ाथी न रहे दूर रे ।

जब उपकार संभारिये, तब उपजे आनन्द पूर रे।’

परन्तु आप प्रभु को नहीं, धन को पकड़ कर बैठे हैं ।

जहां पैसे प्रतिष्ठित हो चुके हों, वहां प्रभु किस प्रकार प्रतिष्ठित हो सकते हैं ?

जैसलमेर, नागेश्वर आदि के संघों में जो होंगे, उन्हें ध्यान होगा । नित्य एकासणे करने पड़ते हैं । एक-दो बजे एकासणा करने का । कभी-कभी तो तीन भी बज जाते हैं । उस समय भी मैं प्रभु को भूला नहीं । चाहे दो अथवा तीन बजे हों, तब भी मैं शान्ति से भक्ति करता ।

ऐसी भक्ति से चेतना का ऊर्ध्वीकरण होता है । नये-नये भाव जगते हैं, जिससे आगे-आगे का मार्ग स्वयं स्पष्ट होता जाता है । भगवान स्वयं मार्ग बताते हैं । प्रभु को अच्छी तरह पकड़ लें । समस्त साधना आपके हाथ में है । आप अपनी

समस्त चिन्ता प्रभु पर छोड़ दें । सब ठीक होकर ही रहेगा । ऐसा दृढ़ विश्वास रखें । 'माणवकः अग्निः ।' अग्नि के उपयोग वाला माणवक स्वयं अग्नि है । आप यह व्याकरण आदि में पढ़ चुके हैं । भक्ति मार्ग में यह सूत्र क्यों नहीं लगाते ? अग्नि के उपयोग वाला माणवक अग्नि कहलाता है, तो भगवान के उपयोग वाला भक्त क्या भगवान नहीं कहलायेगा ?

भगवान पर अटूट श्रद्धा उत्पन्न होने के बाद ही हमारी साधना प्रारम्भ होती है, यह न भूलें ।

✽ 'पुक्खरवरदीवड्ढे, धम्माङ्गरे नमस्सामि' - श्रुतस्तव है यह ।

प्रश्न : श्रुत की स्तुति है तो फिर तीर्थकरों की स्तुति किस लिए ?

उत्तर : श्रुत धर्म के प्रवर्तक भगवान हैं । श्रुत की स्तुति अर्थात् भगवान की स्तुति, क्योंकि भगवान एवं श्रुत का अभेद है । आगमों की रचना गणधरों ने की है, परन्तु अर्थ से बताये तो भगवान ने ही है न ?

गणधर स्वयं कहते हैं : 'सुअस्स भगवओ' श्रुत भगवान है ।

✽ भाव तीर्थकरों से भी नाम आदि तीन तीर्थकर अत्यन्त उपकार करते हैं । भाव तीर्थकरों का समय अत्यन्त ही अल्प होता है, परन्तु उनके शासन का समय अत्यन्त ही लम्बा होता है ।

* * * * *

बुद्धि अने श्रद्धा

बुद्धि दाखला दलीलो करी संघर्ष उभो करे छे. श्रद्धा वडे आत्मा परमात्मां डूबकी मारे छे, तयारे समाधि मेळवे छे. बुद्धिए निर्णय करेलुं ज्ञान कथंचित् व्यवहारमां साचुं होई शके. आत्मज्ञान वडे प्रगट थलुं ज्ञान सर्वदा साचुं होय छे. तेने दाखला दलीलो वडे के कोई लेबोरेटरीमां चकासणी करवानी अगत्यता रहेती नथी. कारण के ए सर्वज्ञना स्रोतमांथी प्रगट थयेलुं छे.



वड्याम (गुजरात) व्यास में पूज्यजी, वि.सं. १०१७

२७-९-१९९९, सोमवार

आ. व. २

प्रमाद शत्रु है फिर भी हम उसे मित्र मानते हैं । भव-भ्रमण प्रमाद के कारण ही है । कर्मबंध के अन्य कारणों का प्रमाद में समावेश हो जाता है । मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग - इन चारों का समावेश प्रमाद में हो जाता है ।

भगवती में प्रश्न है : ' किस कारण से भव-भ्रमण होता है ? '

उत्तर : ' प्रमाद । ' सिर्फ एक शब्द का जवाब । प्रमाद का पेट इतना बड़ा है कि अन्य सभी को वह स्वयं में समा लेता है ।

नींद में तो प्रमाद है ही, हमारे जगने में भी प्रमाद है । निन्दा, विकथा, कषाय आदि जागृत अवस्था के प्रमाद हैं । आत्मभाव में जागृत होना सच्ची जागृति है । जब तक आत्म-भाव में जागृत न हो पायें, तब तक की जागृति भी प्रमाद ही है ।

सर्वविरति अर्थात् अप्रमत्त जीवन । दिनचर्या ही ऐसी कि प्रमाद का अवकाश ही न रहे ।

राधनपुर में हरगोबनदास पण्डित के पास द्वितीय कर्म ग्रन्थ में ओंकारसूरिजी ने प्रश्नपत्र में पूछा -

कहे कलापूर्णसूरि - १ ***** ३०३

नींद में साधु का गुणस्थानक रहता है कि चला जाता है ?

उत्तर : नींद में साधु का गुणस्थानक रहता है, जाता नहीं । नींद करते समय भी आत्म-जागृति बनी रहती है । अतः साधु खाते हैं, फिर भी उपवासी कहलाते हैं । जब कि खाऊधरा व्यक्ति उपवास करता है तब भी मन खाने में ही रहता है ।

इसी अर्थ में भरत चक्रवर्ती को वैरागी कहा है ।

'मन ही में वैरागी भरतजी...'

तीर्थंकर गृहस्थ जीवन में विवाह या युद्ध में भी कर्म नहीं बांधते, व्रत क्षय करते हैं । गृहस्थ जीवन में कर्म कटते हैं फिर भी शान्तिनाथ आदि ने चारित्र पसन्द किया, षट्खण्ड की ऋद्धि का त्याग करके सर्वविरति का स्वीकार किया ।

राजमार्ग यही है । यही राजमार्ग जगत् के जीवों को बताना है ।

प्रश्न : उपवास में चोलपट्टा का पड़िलेहन बाद में किया जाता है ।

यदि वापरा (भोजन किया) हो तो चोलपट्टे का पड़िलेहन पहले करना पड़ता है - इसका क्या कारण है ?

उत्तर : वापरते समय सन्निधि हो चुकी हो तो धो सकें इस लिए ।

✿ आज या कल जब भी मोक्ष चाहिए तब समता का आदर करना पड़ेगा । यदि ऐसा ही हो तो समता की साधना आज से ही शुरू क्यों न करें ? यदि समता लाना चाहो तो ममता को बिदा करना पड़ेगा । कोई भी गुण चाहिये तो उससे विरुद्ध दुर्गुण को मिटाना ही पड़ेगा । दुर्गुण निकाल दो तो सद्गुण उपस्थित ही है । कूड़ा-कर्कट निकालते ही कमरे में स्वच्छता स्वतः ही आ जायेगी ।

✿ संयम जीवन अपनाने के बाद यदि अहंकार एवं ममकार नष्ट न हो तो साधना किस प्रकार हो सकेगी ? साधना के विघातक परिबल ये ही हैं । यही ग्रन्थि है, यही गांठ है । राग-द्वेष की तीव्र गांठ । ममकार राग एवं अहंकार द्वेष का प्रतीक है । इस गांठ का छेद किये बिना सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं हो सकता ।

ग्रन्थि के निकट लाने वाली चार दृष्टियां हैं - मित्रा, तारा, बला तथा दीप्रा ।

✽ गृहस्थ को धन के बिना नहीं चलता । वे निरन्तर उसके लिए उद्यम करते ही रहते हैं । उस प्रकार से साधु को ज्ञान के बिना नहीं चलता । वे सतत स्वाध्याय करते रहते हैं । गृहस्थ को कितना धन प्राप्त हो तो तृप्ति हो ?

गृहस्थ को धन में तृप्ति नहीं होती और साधु को ज्ञान में तृप्ति नहीं होती । वे उनके लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं ।

अविद्या, अज्ञान, मिथ्यात्व एक हैं ।

विद्या, ज्ञान, सम्यग्दर्शन एक हैं । ये पर्यायवाची शब्द हैं । अभी बहनों ने पूछा, 'सम्यग्दर्शन के निकट कैसे पहुंचे ?

उत्तर : सम्यग्दर्शन की पूर्व भूमिका के रूप में चार दृष्टियां हैं । ज्यों ज्यों दृष्टियों में विकास होता जाता है, त्यों त्यों हम सम्यग्दर्शन के निकट पहुंचते रहते हैं । सम्यग्दर्शन की पूर्व भूमिकाएं जानने के लिए ये योग-दृष्टियां विशेष पठनीय एवं समझने योग्य हैं ।

✽ प्रदर्शक एवं प्रवर्तक दो प्रकार के ज्ञान में प्रदर्शक ज्ञान बोझ स्वरूप है । गंधे पर लदे चन्दन के भार तुल्य है । जीवन को बदल दे वही सच्चा ज्ञान, प्रवर्तक ज्ञान है ।

✽ मित्रा दृष्टि का प्रथम लक्षण ही यह है - 'जिनेषु कुशलं चित्तम् ।' अब तक प्रेम का प्रवाह जो कंचन एवं कामिनी के प्रति था, वह अब भगवान की ओर बहने लगता है ।

जिनेषु कुशलं चित्तम् - मन, तन्त्रमस्कार एव च - वचन, प्रणामादि च संशुद्धम् - काया, योग बीजमनुत्तमम् ॥ ये मित्रादृष्टि के लक्षण हैं ।

संज्ञा से प्रेरित होकर यदि कोई भक्ति करता हो तो योग बीज नहीं कहा जायेगा ।

गुण दो प्रकार के होते हैं - एक दिखाने के लिए, दूसरे वास्तविक । उपादेयधियात्यन्तं । संज्ञाविष्कम्भणान्वितम् । फलाभिसन्धिरहितम् । जहां भक्ति होती है वहां वैराग्य होता है । संसार के विषय विष्टातुल्य प्रतीत होते हैं । ये प्रथम दृष्टि के गुण हैं । उन गुणों का विकास उत्तरोत्तर बढ़ता जाता है । दृष्टि अर्थात्

श्रद्धायुक्त ज्ञान । ज्ञान प्रकाशरूप है, जिससे जीवन आलोकित होता है ।

प्रथम दृष्टि का ज्ञान-प्रकाश, घास की आग के समान कहा गया है, जो जलकर तुरन्त ही शान्त हो जाता है ।

प्रथम दृष्टि में कभी कभी आत्मिक आनन्द की झलक आती है, परन्तु वह अधिक समय तक टिकती नहीं है । झलक प्रतीत होती है और विद्युत् वेग से चली जाती है । वह भले चली जाती है, परन्तु भीतर पुनः उसे प्राप्त करने की लालसा छोड़ जाती है । उसके बाद उस आनन्द को दूँढने के लिए साधक खोज करता है । वह विभिन्न मतों का तटस्थ बन कर अवलोकन करता है ।

उसके बाद चौथी दृष्टि में गुरु के अनुग्रह का वर्णन करते हुए कहा है - 'गुरुभक्तिप्रभावेन, तीर्थकृद्दर्शनं मतम् ।'

यहां गुरु के द्वारा प्रभु-दर्शन प्राप्त होता है, भले ही इस क्षेत्र - काल में भगवान न हो ।

जगत् के जीव कंचन-कामिनी के दर्शन में इतने सराबोर हैं कि उन्हें भगवान के दर्शन याद आते ही नहीं ।

ऐसे मनुष्य कहते हैं - 'अस्मिन्नसार-संसारे, सारं सारंगलोचना ।

❖ समापत्ति अर्थात् ध्यान के द्वारा प्रभु के गुणों की स्पर्शना ।

❖ भाव अरिहंत न मिले तब तक नाम एवं स्थापना में भक्त को प्रभु दिखते हैं ।

प्रेमी के पत्र में, प्रेमी के चित्र में जिस प्रकार साक्षात् मिलनतुल्य आनन्द प्राप्त होता है, उस प्रकार प्रभु के नाम तथा प्रभु की मूर्ति में भक्त को मिलनतुल्य आनन्द प्राप्त होता है ।

प्रभु का जाप उस प्रकार करो कि मंत्र में आपको प्रभु दिखे । प्रभु की मूर्ति के आप ऐसे दर्शन करें कि आपको साक्षात् प्रभु दृष्टिगोचर हों । अद्य मे सकलं जन्म अद्य मे सफला क्रिया । 'अहो प्रभु ! 'आज मेरा जन्म सफल है । आज मेरी क्रिया सफल है ।' ये उद्गार क्या बताते हैं ? जो मूर्ति में साक्षात् भगवान निहारता है, साक्षात् भगवान के दर्शन करता है, वही यह बात कह सकता है ।

'जेह ध्यान अरिहंत को, सो ही आत्म ध्यान ! भेद कछु

इणमें नहीं । एहि ज परम निधान ।'

हमारे व्यवहार प्रधान ग्रन्थ यह कहते हैं ।

प्रभु को अलग रखकर आप आत्मा प्राप्त करना चाहो तो यह कभी सम्भव नहीं है । भगवान को दूर करके केवल आत्मा रखने गये तो केवल अहंकार ही रहेगा और आप उसे 'आत्मा' मानने की भूल करते रहेंगे ।

परन्तु जो प्रभु को पकड़ कर रखेंगे उन्हें आत्म-दर्शन होंगे ही । प्रभु स्वयं ही एक दिन उसे कहेंगे - 'तू और मैं कोई अलग नहीं है । हम दोनों एक ही हैं ।'

• • • • •

'कहे कलापूर्णसूरि', 'कहुं कलापूर्णसूरि' नामना पुस्तक मळ्यां छे. लखाण घणुं ज सारुं छे. खूब ज उपयोगी पुस्तको छे. श्रुतज्ञाननी आराधनामां आपनी अप्रमत्तता अनुमोदनीय छे. आपे एमां खूब ज प्रयास करेल छे. शासन-देव आपने आवा कार्योंमां खूब खूब शक्ति आपे. वांचवामां सर्व समजी शके तेवा सरळ तत्त्वदर्शी अने गमे तेवा आपना पुस्तको छे.

- मुनि हितवर्धनसागर

मोट्य कांडागर, कच्छ.



वडवान (गुजरात) में पूज्यश्री का प्रवेश, वि.सं. २०४७

२८-९-१९९९, मंगलवार

आ. व. ३ + ४

❖ 'समणो इव सावओ हवइ जम्हा ।'

गृहस्थ जीवन में रह कर भी ऐसी साधना की जा सकती है ताकि ज्ञानियों को भी कहना पड़े कि आप साधु जैसे बन गये ।

आप उदायी राजा, कामदेव, आनन्द आदि के दृष्टान्त पढ़ें, उपासकदशा पढ़ें । भगवान के दस श्रावक कैसे महान् थे ? भगवान महावीर ने भी कहा था - 'आज रात्रि मैं आनन्द श्रावक ने उत्कृष्ट परिषह सहन किये ।

'जास पसंसइ भयवं दढव्वयत्तं महावीरो ।'

इस प्रकार ही श्रावकत्व की करनी से साधु धर्म की पात्रता आती है । उस प्रकार प्राप्त चारित्र सफल होता है ।

प्रश्न : चारित्र के परिणाम हो गये हों तो विधि की क्या जरूरत है ? न आये हों तो भी क्या जरूरत ? दोनों प्रकार से निरर्थक हैं ।

हरिभद्रसूरजी कहते हैं - हमारी यह विधि ऐसी है कि चारित्र के परिणाम नहीं जगे हों तो जगें । जगे हुए हों तो निर्मल बन कर स्थायी रहें । तीसरे वैद्य की तरह ये सब प्रकार से सुखकर हैं ।

☆ स्थंडिल एवं मात्रु के २४ स्थान देखने हैं । हम इस समय 'आघाडे आसत्रे' (मांडला) कर रहे हैं वह इसका प्रतीक है ।

'आघाडे आसत्रे' मांडला के द्वारा ज्ञानियों की यह भी दृष्टि है कि कोई भी साधु-साध्वी अपनी प्राकृतिक हाजत को रोके नहीं । उसे रोकने में अत्यन्त हानि है ।

☆ जैन धर्म को पराजित करने के लिए दीक्षित होने वाले गोविन्द मुनि का सच्चा हृदय-परिवर्तन हुआ और उन्होंने पुनः दीक्षा अंगीकार की । ऐसा है यह शासन, जो अपने विरोधियों को भी अपने भीतर समाविष्ट कर देता है ।

☆ महा पुन्योदय से कोई भक्ति आदि के कार्यक्रम आयोजित होते हैं । पहले अर्हदभिषेक आदि अनुष्ठान आयोजित होते, जिनमें समस्त साधु-साध्वीजी एकत्रित होते । नहीं जाने वाले साधु-साध्वी को प्रायश्चित्त आता, ऐसा छेद-सूत्रों में उल्लेख है ।

☆ प्रश्न : केवलज्ञानी को क्या बाकी रहा जिससे तीर्थंकर की देशना सुनने के लिए बैठे ? क्या जरूरत है ? समवसरण में केवली-पर्यदा का आयोजन क्यों ?

उत्तर : यह व्यवहार है, औचित्य है । गुरु को देख कर शिष्य भी सीखे । दूसरे लोगों में भी भगवान के प्रति बहुमान हो । तीर्थंकरों की महिमा में वृद्धि हो ।

देखो तो सही । गुरु गौतमस्वामी छद्मस्थ हैं, ५०० तापस केवलज्ञानी हैं फिर भी केवलज्ञानी पीछे चलते हैं । केवलज्ञानी शिष्य, छद्मस्थ गुरु चंडरुद्राचार्य को उठाकर घूमते हैं, डण्डे की मार भी सहन करते हैं । केवली कूर्मा पुत्र छः माह तक माता-पिता की सेवा करते हैं । सचमुच व्यवहार बलवान है ।

☆ मृगावती के स्थान पर हम हों तो गुरु को कह देते, 'आप क्यों अकेली अकेली चली गई ? मुझे क्यों नहीं कहा ? भूल आपकी है, मेरी थोड़ी भी नहीं । मैं कोई भटकने के लिए नहीं गई थी जो मुझे उपालम्भ दे रही है ?

इसीलिए तो हमें केवलज्ञान नहीं हो रहा न ? उन्होंने समता भाव से केवलज्ञान प्राप्त कर लिया । हम केवलज्ञान को दूर-दूर ढकेल रहे हैं ।

❖ जल में लोहा, लकड़ा एवं कागज डालो । लोहा डूब जायेगा, लकड़ा और कागज तैरेंगे, उसमें भी लकड़ा तो स्वयं भी तैरता है और दूसरों को भी तारता है । कागज स्वयं तो तैरता है परन्तु वह दूसरों को नहीं तार सकता । लोहा स्वयं भी डूबता है और दूसरों को भी डुबोता है ।

हम किसके समान हैं ? आश्रितों को तारने वाले हैं कि डूबोने वाले हैं ?

❖ समता बार-बार याद आये अतः साधु दिन में नौ बार 'करेमि भंते' बोलते हैं ।

पांच महाव्रतों से प्राणातिपात आदि पांचो अव्रतों से विरमण हुआ । सामायिक के पाठ से क्रोध आदि पापों से विरमण हुआ ।

मुख्य तो सामायिक का ही पाठ है । उस प्रतिज्ञा में समस्त प्रतिज्ञाएं आ ही गई, परन्तु बड़ी दीक्षा के समय विशेष महाव्रत इसलिए भी उच्चारित किया जाता है उतने समय के दरमियान शिष्य की बराबर परीक्षा हो सके । यदि कुछ ऐसा प्रतीत हो तो उसे खाना भी कर दिया जा सकता है ।

पू. कनकसूरिजी ने एक व्यक्ति को दीक्षा दी, फिर ध्यान आया कि इसमें मक्खियों को मारने की ऐसी आदत है जो जा नहीं सकती । पू. बापजी महाराज को पुछवाया, इसका क्या करें ? पू. बापजी महाराज ने लिखा, 'खाना करें ।' फिर उसे उत्प्रव्रजित किया गया ।

❖ ग्यारहवे गुणस्थानक में चढे हुए, चौदह पूर्वी भी अनन्ता निगोद में गये हैं, ऐसा हमें इसलिए कहा जाता है कि हमारी संयम में सावधानी बढे । प्रमाद बढाने के लिए उसका उपयोग नहीं करना है ।

'उनके जैसे महापुरुष भी निगोद में जाते हैं तो हमारी साधना की क्या विसात है ? छोड़ो साधना, करो जल्सा ।'

ऐसा विपरीत सोचने के लिए यह नहीं कहा गया ।

❖ मेरा आत्मा भारिकर्मी है कि लघुकर्मी ? इसका अनुभव हमें कैसे होगा ? धर्म करते समय आनन्द होना चाहिये । यदि आनन्द आये तो समझें कि 'मैं लघुकर्मी' हूं । यदि परेशानी

प्रतीत हो तो समझें कि मैं भारीकर्मी हूँ ।

❖ 'मा रुष, मा तुष' ये दो वाक्य भी जिन्हें नहीं आते थे, वे मुनि केवलज्ञानी कैसे बन गये ? वे जानते थे कि मुझे भले ही नहीं आता, परन्तु मेरे गुरु को तो आता है न ? मेरे गुरु का ज्ञान, मेरा ही ज्ञान है । ऐसे सम्पूर्ण समर्पण से ही उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया था ।

पुत्र पिता की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनता है ।

तो शिष्य गुरु की संपत्ति का उत्तराधिकारी क्यों न बने ?
तो भक्त भगवान की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी क्यों न बने ?

भक्त अर्थात् भावि भगवान ।

भगवान ने अपना अन्तरंग ऐश्वर्य भक्त के लिए ही अनामत रखा है ।

• • • • •

'कहे कलापूर्णसूरि' तथा 'कह्युं कलापूर्णसूरिए' बने पुस्तको
मळेल छे पूज्यपाद आचार्य भगवंत विजय कलापूर्णसूरेश्वरजी महाराज
साहेबना साधना-जिनभक्ति रसपूर जीवनथी नीतरती साधक वाणी
उपलब्ध कराववा बदल धन्यवाद... आनंद... अनुमोदना...

आ शुभ प्रयासो चालु राखवा विनंती...

श्रुतभक्तिमां सुंदर उद्यम करी स्वाध्याय-शील रहो छो ते बदल
अभिनंदन...

- आचार्य कलाप्रभसागरसूरि

हैद्राबाद.



गोक्षरी लाभ लेता हुआ भक्त-गण, वडवाण, वि.सं. २०४७

कंचनलाल गभरूचन्द (चाणस्मा) द्वारा आयोजित
नवकार जाप (आराधक ४०० पुरूष)

३०-९-१९९९, गुरुवार
प्रथम दिन

❖ कौनसी शक्ति है नवकार में जो भवसागर से पार उतारती है ? जो अरिहंत, सिद्ध आदि में तारने की शक्ति है वह समस्त शक्ति सामूहिक रूप से नवकार में एकत्रित है । इसी लिए नवकार शक्ति का स्रोत है । तारकता की शक्ति ठुंस-ठुंस कर उसमें भरी हुई है ।

❖ संसार मधुर लगता है, परन्तु सचमुच मधुर नहीं है । नाम मात्र का मधुर है । नमक को गुजराती में हम 'मीठा' कहते हैं, परन्तु वह मीठा थोड़े ही है ? बराबर यह मीठे (नमक) के समान संसार है । नाम 'मीठुं' परन्तु स्वाद कड़वा ।

❖ नवकार अर्थात् प्रभु का मंत्रात्मक देह । प्रभु का अक्षरमय शरीर ।

❖ जो अपनी आत्मा को सर्व में और सर्व को अपनी

आत्मा में देखता है, वह परमात्मा है ।

✽ हम परमात्मा को भी पूर्ण मानने के लिए तैयार नहीं है, परन्तु परमात्मा हमें पूर्ण मानने के लिए तैयार है । इतना ही नहीं, वे हमें पूर्ण रूप से देख ही रहे हैं ।

✽ नवकार में अनन्त अरिहंत आदि की संकल्प शक्ति समाविष्ट है । इसीलिए वह शक्ति का स्रोत है । इसका जाप करने से हमारा संकल्प अशक्त हो तो भी उसका असर होगा ही ।

✽ नवकार गिनो... गिनते ही रहो । एकाग्रता नवकार ही देगा, प्रभु ही देंगे । हमारा पुरुषार्थ गौण है । प्रभु की कृपा मुख्य है । ऐसा मान कर साधना करें । मंत्र उसे ही फलता है, जिसका हृदय मंत्र एवं मंत्र दाता पर विश्वास रखता हो । नवकार में प्रभु की शक्ति देखने के लिए श्रद्धा की आंखें चाहिये । चर्म-चक्षुओं से अक्षरों के अलावा कुछ भी नहीं दिखेगा ।

✽ नवकार या प्रभु के गुण, गाने वाले हम कौन ? मानतुंगसूरि जैसे कहते हों, 'जिस प्रकार बालक सागर में प्रतिबिम्बित चन्द्रमा को पकड़ने का प्रयत्न करता है, उस प्रकार आपकी स्तुति करने का मेरा प्रयत्न है ।' तो फिर हम किस खेत की मूली हैं ?

✽ इस बार तो निश्चय करें कि प्रभु के दर्शन करने ही हैं ।

सभा - 'आप दर्शन करा दीजिये ।'

'भोजन स्वयं करना पड़ता है । आपके बदले कोई अन्य भोजन नहीं कर सकता । समर्पण भाव हमें बनाना पड़ता है । कोई अन्य समर्पण भाव बनाये तो नहीं चल सकता । हम में यदि समर्पण-भाव होगा तो प्रभु अवश्य ही दर्शन देंगे । आपके हृदय में से अहंकार मिटते ही, अर्ह का प्रकाश प्रकट हुआ समझो । जो खाली होता है वही भरता है । अपने हृदय में जलता अहंकार का दीपक बुझा दें तो परमात्मा की चांदनी आपके हृदय में झलक उठेगी । स्व को अहंकार-रहित बनाना ही समर्पण-भाव है । यही साधना का रहस्य है ।

✽ जगत् के जीवों के साथ हमारा सब से बड़ा सम्बन्ध जीवत्व का है । इससे ज्यादा दूसरा क्या सम्बन्ध हो सकता है ? हमारा सम्बन्ध सिर्फ परिवार तक का है । परिवार के साथ का

यह सम्बन्ध भी जीवत्व के नाते नहीं, स्वार्थ के नाते है । इसी लिए इसका निषेध किया गया है ।

❖ प्रश्न सब अपने मन में रखें । प्रश्न सन्देह के द्योतक हैं । अभी तक आप प्रभु को समर्पित नहीं हुए । समर्पण के बाद प्रश्न कैसे ? अहंकार-रहित मन में से प्रश्न नष्ट हो जाते हैं ।

नौ दिनों तक मुझे बराबर सुनें । आपके समस्त प्रश्नों के उत्तर प्रायः आपको मिल जाएंगे यदि नहीं मिले तो दशवे दिन मुझे कहना ।

❖ भगवान हमें प्रत्यक्ष नहीं है, परन्तु हम भगवान के लिये प्रत्यक्ष है । उनके केवलज्ञान में हम प्रतिबिम्बित हैं, क्योंकि भगवान सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हैं । यह होल हमें प्रत्यक्ष है, उस प्रकार प्रभु को सम्पूर्ण विश्व प्रत्यक्ष है ।

भगवान सर्वज्ञ है और सर्वव्यापी है । देहरूप में सर्व-व्यापी नहीं है परन्तु केवलज्ञान के रूप में सर्व-व्यापी हैं । इसीलिए प्रभु 'विभु' है । मानतुंगसूरिजी ने इसी अर्थ में 'त्वामव्ययं विभु...' इस श्लोक में प्रभु को विभु कहे है ।

* * * * *

बीजाने शुं आपवुं ?

व्यवहारमां आपणने कोई सोनाने बदले लोढानो गड्डो आपे
तो केवुं लागे ? पण आपणे गगद्वेष रुपी कचरो आपता कई विचार
करीए छीए ? आपणी पासे आत्मसंपत्तिरूप मैत्री आदि भावनानो
शुं दुष्काळ पड्यो छे ?

दुर्भावनाओथी व्यथित मनने-जीवनने सुधारवा, स्वरूप प्राप्ति
माटे संतवाणीनुं पान कर. ते वचनसागरमां डूबी जा. तुं पण अमृतरूपे
प्रगट थईश.



यहवाण (गुजरात) व्याख्यान में पूज्यश्री, वि.सं. २०४०

१-१०-१९९९, शुक्रवार

आ. व. ७ (प्रातः)

अनन्त जन्मों के सामने यह एक जन्म का संग्राम है । पाप जन्म-जन्म के हैं । उन सबका इस एक ही जन्म में क्षय करना है । कैसे क्षय हो सकेगा ?

अत्यन्त कठिन है, यह न मानें । अनन्त-अनन्त पापों का ढेर एक ही जन्म में कैसे विलीन होगा ? यह सोचकर घबराना मत । अन्धकार चाहे जितना पुराना हो अथवा चाहे जितना बड़ा हो, उसे नष्ट करने के लिए प्रकाश की एक किरण पर्याप्त है । जैसे प्रकाश आता है और अन्धकार विलीन होता है, उस प्रकार धर्म के आते ही अधर्म विलीन हो जाता है । अधर्म-पाप अन्धकार है तो धर्म प्रकाश है । अन्धकार को नष्ट करने में प्रकाश को कोई वर्षों नहीं लगते । यह तो एक क्षण का ही काम है । केवलज्ञान प्राप्त करने में कोई अधिक समय नहीं लगता, सिर्फ अन्तर्मुहूर्त का ही काम है । क्षपक-श्रेणि के उस अन्तर्मुहूर्त में अनन्त पाप कर्म भस्म हो जाते हैं ।

✽ वि.संवत् २०३२ में लुणावा में 'ध्यान-विचार' लिखने का अवसर आया । कलम हाथ में ली, परन्तु लिखना क्या ?

कहे कलापूर्णसूरि - १ ***** ३१५

मेरे पास कोई सामग्री नहीं थी। 'नमस्कार स्वाध्याय' साहित्य विकास मण्डल की ओर प्रकाशित पुस्तक मेरे समक्ष पड़ा था। ऐसी आदत रही है कि कोई भी कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व बारह नवकार गिनना। बारह नवकार गिनकर उस पुस्तक को खोलने से पहले भगवान को प्रार्थना की कि, 'प्रभु ! मुझे जो लिखना है वह मुझे दिलाना।'

पुस्तक खोलते ही मुझे जो चाहिये था वही मिल गया। चार वस्तुएं मिल गई। मेरा हृदय नाच उठा और उनके आधार पर मैंने 'ध्यान-विचार' लिखना शुरू किया।

❀ जब तक हमें अपनी न्यूनता नहीं लगेगी, तब तक प्रभु के पास मांगने की इच्छा नहीं होगी। जब तक मांगेंगे नहीं, तब तक मिलेगा नहीं।

जिसे अपनी न्यूनता दिखेगी, वही अहंकार से रहित हो सकता है। अहंकार रहित बनने वाला ही अहं से पूर्ण बनता है।

प्रभु के पास मांगे, तो मिलेगा ही मिलेगा, परन्तु यदि मांगे ही नहीं तो ?

प्रश्न : प्रभु तो माता है, माता तो बिना मांगे भी परोसती है, तो प्रभु क्यों नहीं देते ?

उत्तर : माता बिना मांगे बालक को देती है, यह बराबर है, परन्तु वह बालक की उम्र के अनुसार देती है। स्तन-पान करने वाले बालक को माता कोई दूधपाक नहीं देगी। छोटे बच्चे को माता कोई लड्डू नहीं देगी। यदि देगी तो बालक को हानि ही होगी। प्रभु हमें अपनी योग्यतानुसार दे ही रहे हैं। ज्यों-ज्यों योग्यता बढ़ती रहेगी, त्यों त्यों प्रभु से हमें अधिकाधिक प्राप्त होता ही रहेगा। तो फिर मांगने की क्या आवश्यकता है ? योग्यता ही बढ़ाते रहना चाहिये न ? आप ऐसा प्रश्न पूछ सकते हैं, परन्तु मेरी बात अच्छी तरह सुन लो। प्रभु के पास दीन-हीन बन कर याचना करने से ही योग्यता की वृद्धि होती है। योग्यता बढ़ाने का सब से अच्छा तरीका यह है - कि दीन, हीन, अनाथ एवं निराधार बन कर प्रभु के समक्ष याचना करें। अहंकार से अक्कड़ बन कर नहीं, परन्तु नमस्कार से नम्र बन कर प्रभु के पास याचना करनी है। नम्र ही गुणों से परिपूर्ण बनता है, अक्कड़ नहीं। सरोवर ही जल से

पूर्ण बनता है, अक्कड़ पर्वत नहीं ।

✿ प्रभु का नाम सुख देता है । किस तरह ? प्रभु के नाम में प्रभु के गुण और प्रभु की शक्ति छिपी हुई है, जब हम उस नाम के द्वारा प्रभु के साथ एकाकार बन जाते हैं, तब प्रभु के गुणों तथा शक्तियों का हमारे भीतर अवतरण होता है ।

जिस तरह पुष्प की सुगन्ध तेल में आती है, उस तरह प्रभु के गुणों की सुगन्ध हमारे भीतर आने लगती है ।

इत्र की सुगन्ध रूई में भर कर घूमने वाले आप प्रभु के नाम के द्वारा प्रभु के गुण संक्रान्त किये जा सकते हैं, इतनी बात नहीं समझेंगे ?

✿ बचपन से ही मुझे प्रभु-भक्ति अत्यन्त प्रिय है । कई बार तो प्रभु-भक्ति में चार-पांच घण्टे बीत जाय, भोजन के लिए बुलाने आना पड़े, ऐसा भी बनता था ।

एक बार आप भक्ति का आनन्द लेंगे तो उसे प्राप्त करने के लिए आप बार-बार लालायित होंगे ।

✿ बुद्धि में अहंकार ज्ञान का अजीर्ण है । अहंकार के द्वारा ज्ञान के अजीर्ण को जाना जा सकता है । नम्रता के द्वारा जाना जा सकता है कि ज्ञानामृत का पाचन हो गया है ।

प्रभु महान दानवीर हैं । जो मांगे वह देने के लिए तैयार हैं परन्तु हम ही मांग नहीं सकते । हम इतने कंगाल हैं कि क्षुद्र एवं तुच्छ के अलावा दूसरा कुछ मांगना सीखे ही नहीं हैं ।

जिन्हें प्रभु से मिला है, उन्होंने गाया है -

‘गई दीनता अब सब ही हमारी,

प्रभु तुझ समकित दान में ।

आतम अनुभव रसके आगे

आवत नहीं कोई मान में’

प्रभु ऐसा देते हैं कि जिससे दीनता, तुच्छता आदि दुम दबाकर भागती हैं ।

✿ ‘पूजा कोटि सम स्तोत्रम्’ इसका अर्थ यह नहीं है कि स्तोत्र बोल दें तो पूजा आ गई, क्योंकि पूजा से स्तोत्र बढ कर होता है । इसका रहस्य यह है कि करोड़ों बार पूजा

करेंगे तब सच्चा स्तोत्र बोल सकेंगे । करोड़ों बार स्तोत्र बोलते रहोगे तब जाप की योग्यता प्राप्त कर सकोगे । करोड़ों बार जाप करोगे तब ध्यान लग सकेगा और करोड़ों बार ध्यान करने पर लय की (तन्मयता की) भूमिका तक पहुंच सकोगे ।

☆ पू. भद्रंकरविजयजी कितनी ऊंची कक्षा के साधक थे ? फिर भी उन्होंने प्रतिक्रमण आदि आवश्यकों का त्याग नहीं किया । क्यों नहीं किया ? उन्हें इनमें भी ध्यान की ही पुष्टि प्रतीत हुई । सच्चा ध्यानी प्रतिक्रमण आदि से तो ध्यान को पुष्ट बनाता ही है, परन्तु आहार, विहार आदि से भी ध्यान को परिपुष्ट करता है ।

* * * * *

વાંકી તીર્થમાં આપેલી વાચનાનું પુસ્તક ગમ્યું. મજાની સામગ્રી પીરસી છે. વિગતો ક્યાંક ક્યાંક અધૂરી લાગે છે.

દા.ત. સોલાપુરના ચોમાસાની વાત છે. ત્યાં વ્યાખ્યાનમાં પર્યુષણ પછી વ્યાખ્યાન બંધની વાત છે. પછી શું થયું એ જિજ્ઞાસા વળસંતોષાયેલી રહે છે.

- આચાર્ય વિજયપ્રહુમ્નસૂરિ
શાંતિનગર, અમદાવાદ.



मठ्याण (गुजरात) में पूज्यश्री का प्रवेश, वि.सं. २०४७

१-१०-१९९९, शुक्रवार

आ. व. ७ (मध्याह्न)

☆ नवकार क्या देता है ? नवकार के पांच पद हमारी प्रतीक्षा कर रहे हैं । पांच में से जो पद चाहिये वह बोलो ।

सभा : अरिहंत, आचार्य ।

पूज्यश्री : देखा ? जीव का अहंकार कितना प्रबल है ? वह सीधा ही अरिहंत या आचार्य बनना चाहता है; परन्तु साधु बने बिना न तो आचार्य बन सकते हैं, न उपाध्याय, न अरिहंत ! सैनिक बने बिना सेनापति कैसे बना जा सकता है ? बहू बने बिना सास कैसे बना जा सकता है ? श्रोता बने बिना वक्ता कैसे बन सकते हैं ? भक्त बने बिना भगवान कैसे बना जाये ?

☆ जगत अपूर्ण दिखता है, जीव अपूर्ण दिखते हैं जो सूचित करते हैं कि अभी तक हम अपूर्ण हैं । जिस समय हमें स्व में पूर्णता दिखाई देगी, उसी समय हमें जगत के समस्त जीवों में भी पूर्णता दिखाई देगी । पूर्ण को सब पूर्ण दिखाई देता है और अपूर्ण को अपूर्ण दिखाई देता है ।

हमें जगत कैसा दिखता है ? वह जगत कैसा है ? यह नहीं, परन्तु हम कैसे हैं यह सूचित करता है । यदि जगत दुष्ट

दिखता है तो निश्चय ही हम दुष्ट है । यदि जगत अव्यवस्थित दिखता हो तो निश्चय ही हम अव्यवस्थित है । यदि जगत व्यवस्थित दिखता है तो निश्चय ही हम व्यवस्थित है । यदि जगत गुणवान दिखता है तो निश्चय ही हम गुणवान है । दृष्टि जैसी सृष्टि वैसे ही नहीं कहा गया ।

❖ भगवान को भूल जाना यही आपत्ति, भगवान को याद रखना यही सम्पत्ति है ।

यदि यह दृष्टि खुल जाये तो दुःख भी सुख रूप लगेगा, सुख भी दुःख लगेगा । तत्त्व प्राप्ति का यही चिन्ह है ।

❖ भुज में गाय के कारण टक्कर लगी, फेक्कर हुआ । मुझे खड़ा किया गया, परन्तु मैं चल नहीं सकता था । एक पांव बराबर चलने के लिए तैयार, परन्तु दूसरा पैर बराबर नहीं था । दूसरे पैर की सहायता के बिना एक पैर क्या कर सकता था ?

मुक्ति-मार्ग में भी अकेले निश्चय से या अकेले व्यवहार से, अकेली क्रिया से या अकेले ज्ञान से नहीं चल सकता; दोनों चाहिये ।

ज्ञान आंख हैं तो क्रिया पैर है । पैरों के बिना आंखें क्या चल सकती हैं ? आंखों के बिना अकेले पैर क्या चल सकते हैं ? आंखों के बिना पैर अन्धे हैं और पैरों के बिना आंखें पंगु हैं ।

पक्षी को उड़नेके लिए पंख चाहिये, आंखें भी चाहिये । आंखें ज्ञान है, पंख क्रिया है ।

❖ शोभा नराणां प्रियसत्यवाणी । (वर्णमाता)

वाण्याश्च शोभा गुरुदेवभक्तिः । (नवकार माता) नवकार ।

भक्त्याश्च शोभा स्वपरात्म-बोधः । (अष्ट प्रवचन माता) करेमि भंते

बोधस्य शोभा समता च शान्तिः । (त्रिपदी माता) लोगस्स पू. पं. भद्रंकरविजयजी ने यह श्लोक हाथ से लिख कर दिया था । इस श्लोक पर मैंने १५-२० दिन तक व्याख्यान दिये थे, जो अनेक व्यक्तियों को याद होगा । इसमें चार माता, नवपद आदि सब आ जाता है ।

यह श्लोक कण्ठस्थ हो गया ? हां, कण्ठस्थ करना है । मैं समझता हूं कि आपको कण्ठस्थ करना अच्छा नहीं लगता ।

व्याख्यान आपको इसीलिए प्रिय लगते हैं न ? कुछ भी पक्का नहीं करना । व्याज के बिना ही धन ले जाना है । चुकाने की चिन्ता ही नहीं ।

मनुष्य की शोभा मधुर एवं सत्यवाणी है ।

वाणी की शोभा गुरु एवं देव की भक्ति है ।

भक्ति की शोभा 'स्व' एवं 'पर' का बोध है ।

बोध की शोभा समता एवं शान्ति है ।

१. वाणी : मनुष्य की प्रथम शोभा वाणी से है । हम वाणी को कैसा व्यर्थ बिगाड़ रहे हैं ? यदि वाणी का दुरुपयोग करेंगे तो ऐसी गति में (एकेन्द्रिय में) जाना पड़ेगा, जहां वाणी नहीं हो । इस पद में वाणी से वर्णमातृका आई ।

२. भक्ति : भक्ति-रहित वाणी भी व्यर्थ है । भक्ति अर्थात् 'नमो', नमस्कार भाव । इसके विशेष अर्थ जानने के लिए पू.पं. भद्रंकरविजयजी के पुस्तकों का पठन करें । 'नमो' के अर्थों में सम्पूर्ण जीवन बीत जाये तो भी वे पूरे नहीं होंगे । 'नमो' में इच्छा, सामर्थ्य एवं शास्त्र - तीनों योग निहित हैं । 'नमो' में शरणागति, दुष्कृतगर्हा, सुकृत-अनुमोदन - तीनों पं. भद्रंकरविजयजी ने घटित किये हैं । 'नमो' में सम्यग्दर्शन मिलने पर ही भाव नमस्कार मिलता है ।

गणधर तो अत्यन्त उच्च कक्षा के हैं । उनका तो नमस्कार हो गया, फिर भी 'नमो अरिहंताणं' क्यों बोलते हैं ? स्वयं जहां हैं उससे भी उंची भूमिका प्राप्त करने के लिए बोलते हैं ।

'नमो' के द्वारा नवकारमाता सूचित होती है । ज्ञान बढ़ने के साथ भक्ति बढ़नी चाहिये ।

३. स्व-परात्म बोध : यह भक्ति की शोभा है । नवकार के साधक को स्व-पर का भेद-ज्ञान अवश्य होता है, यही सम्यग्दर्शन है, इसका बीज भक्ति है, नमो है ।

लड्डू के लिए तीन वस्तु की आवश्यकता होती है - गुड़, घी और आटा । तीन में से एक वस्तु बाकी रख कर लड्डू बनाओ तो सही । घी नहीं डालोगे तो कूलर बन जायेगा, आटा नहीं डालोगे तो राबड़ी बन जायेगी, परन्तु लड्डू नहीं बनेंगे ।

ज्ञान, दर्शन, चास्त्र - इन तीनों के मिलने से ही मोक्षरूपी

मोदक तैयार होते हैं । ये तीनों कहां मिलते हैं ? तीनों दुकान बताऊं ?

देव के पास दर्शन, गुरु के पास ज्ञान और धर्म के पास चारित्र मिलेगा ।

भक्ति वास्तविक अर्थ में तब ही बनती है जब स्व-पर आत्मा का बोध होता है और बोध होने पर उसकी रक्षा करने की इच्छा हो ।

स्व-परात्म बोध से अष्टप्रवचन मातारूप तीसरी माता आई ।

४. समता-शान्ति : यह ज्ञान की शोभा है; जो ध्यान के द्वारा प्राप्त होती है । त्रिपदी के द्वारा ध्यान प्राप्त होता है ।

त्रिपदी चौथी ध्यानमाता है ।

• • • • •

निरपेक्ष मुनि

मुनिराज निर्भय केम होय ? शुद्ध चारित्रिनी सन्मुख थवेला
मुनि जगतना ज्ञेयपदार्थमां जानने जोडता नथी. ज्ञेय पदार्थने मात्र जाणे
छे. वळी तेमने कंई छूपाववानुं नथी. कोईनी साथे कंई लेवा देवाना
विकल्पो नथी. तेवा मुनिराजने ज्यां लोक अपेक्षा के आकांक्षा नथी
त्यां भय क्यांथी होय ?



सत्यवाण (गुजरात) में पूज्यजी का प्रवेश, वि.सं. २०४७

२-१०-१९९९, शनिवार

आ. व. ८ (प्रातः)

प्रभु के नाम अनन्त है, क्योंकि गुण अनन्त है, शक्तियाँ अनन्त है । प्रत्येक नाम एक-एक गुण एवं शक्ति का परिचायक है ।

पू. आनन्दघनजीने कहा है -

‘एम अनेक अभिधा (नाम) धरे, अनुभव-गम्य विचार ।

जे जाणे तेने करे, आनंदघन अवतार ॥’

✽ हमारी जीभ विचित्र है, इसे खाने के लिए मधुर भोजन चाहिये, परन्तु बोलने के लिए कड़वा चाहिये ।

सुभाषितकार ने कहा है -

‘शोभा नराणां प्रिय सत्यवाणी’

मनुष्य की शोभा, रूप या आभूषणों से नहीं, सत्य एवं मधुर वाणी से है ।

कोई भी व्यक्ति वाणी से पहचाना जाता है । इन्द्रभूति ने भगवान महावीर स्वामी को किस प्रकार पहचाना ? वाणी से पहचाना ।

प्रिय एवं सत्य वाणी बोलना एक प्रकार से सरस्वती की आराधना है । कटु एवं असत्य वाणी बोलना सरस्वती का अपमान है ।

वाणी के चार प्रकार :

वैखरी : हम जिसका उच्चारण करते हैं वह ।

वैखरी वाणी वैसे स्थूल कहलाती है, परन्तु अन्य अपेक्षा से समस्त वाणियों का मूल है । इससे साधना शुरू हो सकती है । प्रभु के स्तोत्र, नवकार आदि उच्चारणपूर्वक बोलें - यह वैखरी वाणी है । इसकी सहायता से आप धीरे धीरे आगे बढ़ सकते हैं ।

यदि आप स्तोत्रपूर्वक जाप करेंगे तो मन पूर्णतः एकाग्र बन जायेगा । पूजा करने के बाद स्तोत्र में, स्तोत्र करने के बाद जाप में, जाप के बाद ध्यान में और ध्यान के बाद लय में आप सरलता से जा सकेंगे ।

पूजाकोटिसमं स्तोत्रं, स्तोत्रकोटिसमो जपः ।

जपकोटिसमं ध्यानं, ध्यानकोटिसमो लयः ॥

यह श्लोक यही बात बताता है, जिस के रचयिता बप्पभट्टसूरिजी हैं ।

✽ एक श्राविका भी प्रभु-भक्ति से समापत्ति की कक्षा की भक्ति से कैसा अपूर्व आत्म-विश्वास रखती है । यह जानने जैसा है । सम्पूर्ण उज्जैन नगरी शत्रु-सेना की कल्पना से भयभीत थी । मयणा उस समय भी निर्भय थी । सास द्वारा पूछे गये प्रश्न के उत्तर में उसने कहा, 'आज प्रभु-भक्ति के समय हुए अपूर्व आनन्द से मैं विश्वासपूर्वक कह सकती हूँ कि आज ही आपका पुत्र (श्रीपाल) मिलेगा और सचमुच वही हुआ ।

✽ जिस वाणी से आपने प्रभु-गुण गाये, स्तोत्र बोले, नवकार बोले, उस वाणी से क्या अब कड़वा (कटु) बोलेंगे ? गालियाँ देंगे ? देखना, कहीं, मां शारदा रुठ न जाये । आप शारदा का चाहे जितना जाप करो, परन्तु यदि वाणी की कटुता नहीं छोड़ेंगे तो शारदा कभी नहीं रीझेगी, कभी प्रसन्न नहीं होगी । जहाँ अपमान होता हो वहाँ कौन आयेगा ?

✽ हम सब कुछ भविष्य पर छोड़ते हैं, परन्तु अनुभवियों का कथन है कि इस भव में, यही, अभी ही आपको जो चाहिये वह प्राप्त करो । मोक्ष भी यही प्राप्त करो । जो यहां मोक्ष-सुख प्राप्त नहीं कर सका वह परलोक का मोक्ष कभी प्राप्त

नहीं कर सकेगा । हम परलोक की आशा में बैठे हैं । मुक्ति वहां मिलेगी; परन्तु अनुभवी कहते हैं कि पहले यहां मोक्ष, फिर वहां मोक्ष । यहां मोक्ष नहीं तो वहां भी नहीं ।

✿ जब मैं दीक्षा अंगीकार करने के लिए तैयार हुआ तब घर के, परिवार के अमुक बड़े-बूढ़े कहते, 'अक्षय ! तुम तो महान श्रावक आनन्द एवं कामदेव से भी बड़ गये । उन्होंने भी दीक्षा नहीं ली थी । तुम दीक्षा लेने के लिए तैयार हो गये हो । ऐसे तुम कौनसे बड़े हो ? क्या घर पर रहकर साधना नहीं होती ?

शास्त्रीय बातका भी मनुष्य कैसा दुरुपयोग करता है ? शास्त्रों में से अपने लिए अनुकूल तर्क मनुष्य किस प्रकार ढूंढ निकालता है ? उसका यह एक नमूना है ।

✿ शशिकान्तभाई - आपके साथ मोक्षमें जाने का संकल्प है ।

उत्तर - साथ क्यों ? मुझसे भी पहले जाओ । पू. हेमचन्द्रसूरिजी ने कुमारपाल को अपने से पूर्व मोक्ष में भेजा ।

परन्तु मोक्ष के लिए ही साथ क्यों चाहते हैं ? अभी ही साथ ले लो न ? कौन इनकार करता है ?

साधुता के बिना सिद्धि नहीं है - यह तो आप जानते हैं न ? साधु बने बिना सिद्ध किस तरह बना जायेगा ?

✿ आराधना - साधना उत्तम हुई है, यह कैसे जाना जा सकता है ? मन की प्रसन्नता से जाना जा सकता है । प्रसन्नता बढ़े वह सच्ची साधना ।

✿ पू. पं. भद्रंकरविजयजी को 'ध्यान-विचार' नामक अलभ्य ग्रन्थ स्व-जन्मभूमि पाटन में ही मिला । पं. भद्रंकरविजयजी, अमृतभाई कालिदास आदि ने साथ मिलकर उसे 'नमस्कार स्वाध्याय' ग्रन्थ में प्रकाशित किया ।

'ध्यान-विचार' ग्रन्थ प्रकाशित करके पंन्यासजी महाराज ने अत्यन्त ही उपकार किया है । 'जप रहस्य' नामक अजैन संन्यासी प्रत्येकानन्द स्वामी द्वारा रचित पुस्तक पं. भद्रंकरविजयजी ने मुझे दी थी । जैनेतरोंने भी 'जपयोग' के सम्बन्धमें बहुत लिखा है, अनेक रहस्य बताये हैं जो इस पुस्तक से ज्ञात होता है ।

☆ वर्ण माता : ज्ञान की जननी
 नवकार माता : पुन्य की जननी
 अष्टप्रवचन माता : धर्म की जननी
 त्रिपदी माता : ध्यान की जननी है ।
 चारों माताएं मिलकर हमें परमात्मा की गोद में रख देती हैं ।
 माता ने तैयार करके आपको पिता को सौंपा ।
 पिता ने शिक्षक को सौंपा, उसके बाद गुरु को सौंपा ।
 गुरु ने भगवान को सौंपा और भगवान ने समस्त जीवों को
 सौंपा ।

इस प्रकार आप अखिल ब्रह्माण्ड के साथ जुड़ गये, उसके
 मूल में माता है ।

* * * * *

'कहे कलापूर्णसूरि', 'कहुं कलापूर्णसूरि' आ बने अमूल्य
 ग्रंथरत्नो मळ्या. खरेखर ! ए ग्रंथरत्नो मात्र संग्रह करवा जेवा ज
 नथी, पण ए ग्रंथो साथे सत्संग करवा जेवो छे... एवा ए अमूल्य
 ग्रंथो छे.

आपश्रीए पूज्य आचार्य भगवंतश्रीजीनी वाचनाने शैली, जे
 शब्दस्थ करी छे ते रियली अनुमोदनीय छे.

- हितवर्धनसागर

७१ जिनालय, कच्छ.



२-१०-१९९९, शनिवार

आ. व. ८ (मध्याह्न)

✽ अनन्तकाल के परिभ्रमण में ऐसे वीतराग कभी नहीं मिले । मिले तो उनमें श्रद्धा नहीं की, भक्ति नहीं की, भक्ति की पराकाष्ठा पर नहीं पहुंचे, यह बात निश्चित है ।

भगवान का तो निर्वाण हो गया, तो मिलन हुआ कैसे कहा जायेगा ? उनकी वाणी के द्वारा, उनकी मूर्ति के द्वारा, इस समय भगवान हमें मिले हैं । जैसे पत्र के द्वारा कोई प्रिय-जन मिलते हैं ।

आगम भगवान का पत्र है । उन्होंने यह पत्र गणधरों से लिखवाया है ।

पुष्करावर्त मेघ की तरह भगवान ने वृष्टि की है । भगवान ने पुष्पों की वृष्टि की है । गणधरों ने उन पुष्पों की माला गूंथी है । वह माला ही आगम है ।

पत्र चाहे डाकिये ने दिया, परन्तु है किसका ? प्रेम डाकिये पर नहीं, परन्तु पत्र लिखनेवाले पर होता है । हम तो डाकिये हैं ।

शशिकान्तभाई : हमको तो डाकिये पर प्रेम है ।

उत्तर : हम ऐसे डाकिये हैं कि पत्र लाते तो हैं, पर उसे पहुंचा नहीं सकते ।

❖ भावावेश में एवं ध्यानावेशमें स्थल + काल भूल जाते हैं । आपको यहां कोई आपका गांव, तारीख आदि याद आते हैं ?

भावावेश एवं ध्यानावेश भक्ति से प्राप्त होता है ।

‘भगवन् ! आप देनेमें ढील क्यों करते हैं ? मैं उतावला हूं, आप धीमे हैं । भक्त कहता है कि ऐसे कैसे चलेगा ?

❖ भगवान के आगम पढ़ें और आपका भगवान के प्रति प्रेम जागृत न हो, ऐसा असम्भव है । अगर भगवान के प्रति प्रेम न जगा तो आपने आगम पढ़ा ही नहीं, ऐसा समझ लो ।

❖ गुरु में भगवद्बुद्धि जागृत हो उसे भगवान शीघ्र मिलते हैं । पंचसूत्र (४)में लिखा है -

‘गुरुबहुमाणो मोक्खो’

‘गुरुभक्तिप्रभावेन तीर्थकृद्दर्शनं मतम्’

हरिभद्रसूरिजी ने योगदृष्टि समुच्चय में इस प्रकार कहा है ।

❖ सुनते ही याद क्यों न रहे ? रस एवं एकाग्रतापूर्वक सुनो तो याद रहे । अमेरिका या यूरोप में फोन लगाया हो और कोई महत्वपूर्ण समाचार हो तो याद रहते हैं कि नहीं ? इतनी ही लगन से यहां सुनो तो ?

यक्षा, यक्षदत्ता आदि स्थूलिभद्र की सात बहनें कमशः एक, दो बार सुन कर याद रख लेती थीं । सातवीं बहन को सात बार सुनने पर याद रह जाता था । बड़ी बहन को एक बार सुनने पर याद रह जाता ।

सुनकर याद रखने की परम्परा भगवान महावीर के बाद वर्षों तक चलती रही । बुद्धि घट गई तब सब पुस्तकों में लिखा गया । पुस्तकों की वृद्धि बुद्धि की वृद्धि का चिन्ह नहीं है, परन्तु यही मानें कि घटती रही बुद्धि का चिन्ह है ।

यहां आपको उस प्रकार याद रखना है ।

❖ जिसके प्रति आपको बहुमान हुआ, वह वस्तु आपकी हो गई ।

गुरु के प्रति बहुमान है तो गुरु आपके ।

भगवान के प्रति बहुमान है तो भगवान आपके ।

चाहे भगवान या गुरु कितने ही दूर हों, परन्तु बहुमान

समीप ले आता है । भगवान या गुरु चाहे जितने समीप हों, परन्तु बहुमान न हो तो , वे हमसे दूर ही है ।

✿ हमारे समय में दस आने प्रति किलोग्राम शुद्ध देशी घी मिलता था । आज डालडा घी या तेल भी उस भाव से नहीं मिलता । शुद्ध घी आयुष्य वृद्धि का कारण है । 'घृतमायुः' आयुर्वेद का प्रसिद्ध वचन है ।

घी ही आयुष्य है अर्थात् आयुष्य का कारण है । यहां कारण में कार्य का उपचार हुआ है । पंचसूत्र में कहा है कि गुरु के प्रति विनय (बहुमान) मोक्ष है ।

✿ चर्म-चक्षु उपर छत देखती है, अधिक-अधिक तो सूर्य, चन्द्रमा और तारे देखती है, परन्तु श्रुत-चक्षु, श्रद्धा-चक्षु तो उपर सिद्धशिला देखती है ।

दूरस्थोऽपि समीपस्थो, यो यस्य हृदये स्थितः ।

समीपस्थोऽपि दूरस्थो, यो न यस्य हृदि स्थितः ॥

गोशाला भगवान महावीर के निकट था । वह स्वयं आकर शिष्य के रूपमें रहा था, फिर भी दूर ही था, क्योंकि बहुमान नहीं था । सुलसा, चन्दना आदि दूर थीं । निर्वाण के समय गौतम स्वामी दूर थे, फिर भी निकट कहे जाते हैं, क्योंकि हृदय में बहुमान था ।

✿ फोन की घंटी बार-बार बजती है । अतः आपको फोन उठाना ही पड़ता है । 'नमो अरिहंताणं... नमो अरिहंताणं...' रूपी घंटी निरन्तर बजाते ही रहें । भगवान हमारा फोन कभी न कभी तो उठावेंगे ही । हां, उसके लिए अपार धैर्य की आवश्यकता है ।

(सब को नौ लाख जाप के लिए नित्य पांच पक्षी नवकारवाली गिनने की प्रतिज्ञा कराई गई ।)

आपके यहां दो-चार बार घंटी बजने पर आप फोन उठाते हैं । जब नौ लाख बार आपकी घंटी भगवान के दरबार में बजेगी तो क्या भगवान आपका फोन नहीं उठावेंगे ?

प्रश्न : इस बीच आयुष्य पूर्ण हो गया तो ?

उत्तर : नौ लाख की आपकी प्रतिज्ञा नहीं टूटेगी । आगामी भव में आपको ऐसा जन्म मिलेगा जहां जन्म लेने के साथ ही नवकार मिलेगा । नवकार भवान्तर में भी साथ चलेगा ।

❖ सकल प्रत्यक्षपणे त्रिभुवनगुरु, जाणुं तुम गुण ग्रामजी ।
बीजुं कांई न मांगुं स्वामी, एहि ज छे मुज कामजी ॥

‘भगवन् ! हे तीन लोक के नाथ ! आपके गुणों का वैभव मैं जानता हूँ । अन्य कुछ भी मांगता नहीं हूँ । बस, मुझे इन गुणों की ही आवश्यकता है । इनसे ही मुझे काम है ।

पू. देवचंद्रजी महाराज की यह प्रार्थना, हमारी प्रार्थना बन जाये तो कितना अच्छा हो ?

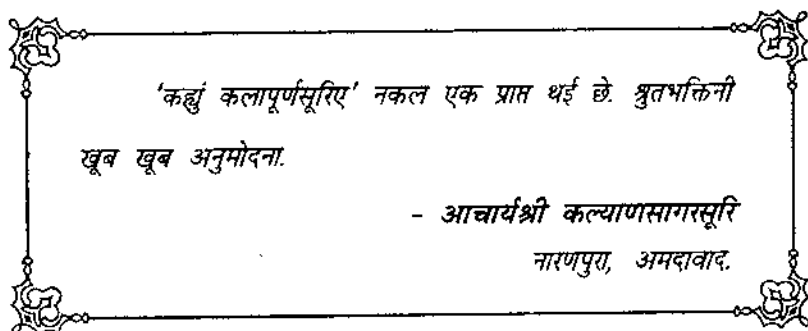
‘तेश मैं प्रेष्य, दास, सेवक, किंकर हूँ । आप केवल ‘हां’ कहो तो पर्याप्त है ।’ पूज्य हेमचन्द्रसूरिजी की यह प्रार्थना बताती है कि भगवान का सच्चा भक्त कैसा होता है ?

❖ प्रश्न : किसी स्थान पर आठ करोड़, आठ लाख, आठ हजार, आठसौ आठ नवकार गिनें तो तीसरे भव में मोक्ष मिलता है । किसी स्थान पर नवकार की संख्या भिन्न-भिन्न आती है तो इसमें सत्य क्या है ?

उत्तर : जिसका जितना खुराक होता है, उसे उतना दिया जाता है । किसी का खुराक दस रोटी होता है तो किसी का खुराक दो रोटी । मूल बात पेट भरने की है । मूल बात तृप्ति की है । जितने नवकारों से आपका कल्याण हो वे सब स्वीकार्य हैं । इसमें संख्या का कोई आग्रह नहीं है । एकाध नवकार से वह सांप धरणेन्द्र बन गया था । कहां वह नौ लाख नवकार गिनने गया था ?

सब की कक्षा भिन्न-भिन्न, उस प्रकार उनके लिए नवकार की संख्या भी भिन्न भिन्न होगी ।

♦ ♦ ♦ ♦ ♦





३-१०-१९९९, रविवार
आ. व. ९ (प्रातः)

✽ माता-पिता की ओर से हमें सहजरूप से ही कतिपय संस्कार ऐसे मिले हैं जो कभी मिट नहीं सकते । जैन कुल में उत्पन्न व्यक्ति स्वाभाविक रूप से ही शिकार, मांस, मदिरा आदि से दूर रहते हैं, यह सहज लाभ है । आप कल्पना करके देखिये कि यदि हम किसी मांसाहारी परिवार में उत्पन्न हुए होते तो ?

सर्व प्रथम माता-पिताने हमें स्कूल में भेजे जहां हमें प्रथम माता मिली - वर्णमाता । 'अ' से 'ह' तक के अक्षर वर्णमाता है ।

इस वर्णमाता को गणधर भी नमस्कार करते हैं । भगवती सूत्र के प्रारम्भ में इस वर्णमाता को 'नमो बंधीए लिविए' कहकर गणधरों के द्वारा नमस्कार किया गया है ।

ब्राह्मी लिपि के आद्य प्रणेता भगवानश्री ऋषभदेव हैं । लिपि भले भगवान ने प्रकट की, परन्तु अक्षर तो शाश्वत ही हैं ।

'न क्षरति इति अक्षरम्' इस प्रकार अक्षरों की व्याख्या की गई है अर्थात् अक्षर अनादिकाल से हैं और अनन्तकाल तक रहनेवाले हैं ।

भगवान ने केवल भूली हुई इस बात को प्रकट की। भगवान ऋषभदेव इस जगत् के सर्वप्रथम शिक्षक हैं।

यदि उन्होंने सभ्यता, शिक्षा एवं संस्कृति की स्थापना नहीं की होती तो मानवजाति आज जंगली ही होती। मानव को सभ्य बनानेवाले आदिनाथजी ही थे।

अक्षरों में से ही समस्त ज्ञान उत्पन्न होता है। कोई भी धर्मशास्त्र, कोई भी धर्मदेशना या किसी भी प्रकार की पुस्तक इन अक्षरों के माध्यम से ही प्रकट होती है। इसीलिए वर्णमाला को ज्ञान की माता कहा है।

वर्णमाता का उपासक ही नवकारमाता को प्राप्त कर सकता है, गिन सकता है, प्राप्त कर सकता है।

नवकारमाता का उपासक ही अष्टप्रवचन रूप तीसरी धर्ममाता को प्राप्त कर सकता है।

धर्ममाता को प्राप्त करनेवाला ही त्रिपदीरूप चौथी ध्यानमाता को प्राप्त कर सकता है। अतः 'शोभा नराणां' - इस श्लोक में चार माताओं का यह क्रम बताया है।

तीर्थंकर भी केवलज्ञान की प्राप्ति के बाद केवलज्ञान के द्वारा धर्मदेशना नहीं देते, श्रुतज्ञानरूप इस वर्णमाता से धर्मदेशना देते हैं। मैं या आप जो बोलते हैं, वह धर्ममाता का प्रभाव है।

❖ क्रोध के जय बिना, उपशम की प्राप्ति के बिना चौथी ध्यानमाता नहीं मिल सकती। परमात्मा का अनुग्रह होगा कि मेरी माता का नाम ही क्षमा था। केवल नाम ही नहीं, वे क्षमा की मूर्त रूप थीं। मैंने उनमें कभी क्रोध नहीं देखा।

नाम के अनुसार यदि गुण नहीं आयें तो हम केवल नामधारी हैं, गुणधारी नहीं।

❖ प्रथम माता की (वर्णमाता की) उपासना के लिए हेमचन्द्रसूरि ने योगशास्त्र के आठवे प्रकाश में ध्यानविधि बताई है।

नाभि में १६ पंखुडियोंवाला कमल, 'अ' से 'अः' तक के अक्षरों को वहां स्थापित करें। हृदय में २४ (मध्य में कर्णिका सहित) पंखुडियां का कमल, 'क' से 'भ' तक चौबीस अक्षर चौबीस पंखुडियों में स्थापित करें। मध्य की कर्णिका में 'म' की स्थापना करें।

मुंह पर आठ पंखुड़ियोंवाला कमल, 'य' से 'ह' तक के ८ अक्षरों की वहां स्थापना करें। इस प्रकार ध्यान करना है।

फिर स्वर्णतुल्य चमकते हुए अक्षर आपको घूमते हुए दिखेंगे।

✽ मन बालक जैसा है, उसे भटकना अत्यन्त प्रिय है। ऐसे मन को कह देना चाहिये - तुझे भटकना हो तो इन तीनों में ही भटकना।

१. वर्ण : प्रभु के नाम में रमण करना।

२. अर्थ : प्रभु के गुणों में रमण करना।

३. आलम्बन : प्रभु की मूर्ति में रमण करना।

इन तीनों को चैत्यवन्दन - भाष्य में आलम्बन त्रिक कहा गया है।

✽ नवकार गिननेवालों को पूछता हूं - क्या इससे आपका गुरु के प्रति बहुमान बढ़ा? गुरुके द्वारा आपका भगवान के प्रति प्रेम बढ़ा?

✽ दो प्रकार की उपासना :

१. ऐश्वर्योपासना : प्रभु के ऐश्वर्य एवं गुणों का चिन्तन; ज्ञानातिशय आदि चार अतिशयों, अष्टप्रातिहार्य आदि का चिन्तन।

किसी बड़े सेठ अथवा नेता के साथ सम्बन्ध जोड़ना आप चाहते हैं न? परन्तु भगवान से अधिक ऐश्वर्यवान दूसरा कौन है? तो फिर प्रभु के साथ ही सम्बन्ध जोड़ो न?

क्या प्रभु के साथ मधुर सम्बन्ध जोड़ने योग्य नहीं है?

२. माधुर्योपासना : प्रभु के साथ मधुर सम्बन्ध जोड़ना।

✽ अरविन्द मिल का कपड़ा कहीं से भी खरीदो, वह वही होगा।

उत्तम, श्रेष्ठ कहीं से भी मिले, वह प्रभु का ही है, चाहे वह किसी भी दर्शन में हो।

✽ अनेक बार मुझे विचार आता है कि इन सभी वक्ताओं के समक्ष मैं क्या बोलूं? पूरा माल खाली हो गया। भगवान के समक्ष जाकर पुकारता हूं। भगवान के पास प्रार्थना करते ही सब पुराना पं. भद्रंकरविजयजी के पास सुना हुआ याद आ जाता है। आज ही काफी याद आ गया।

मैं यहां इसलिए सूत्रात्मक बोलने का प्रयत्न करता हूं कि यहां अनेक ऐसे विद्वान वक्ता मुनि, साध्वियां बैठे हैं कि जो अनेक व्यक्तियों तक पहुंचा सकेंगे।

‘लोकोत्तमो निष्प्रतिमस्त्वमेव त्वं शाश्वतं षड्गलमप्यधीश ।

त्वामेकमर्हन् शरणं प्रपद्ये, सिद्धार्थिसिद्धर्ममयस्त्वमेव ॥

अरिहंत लोकोत्तम है, अप्रतिम है ।

सिद्ध भी कहते हैं - नहीं बन्धु, हमें मुख्य मत बनाना । हमें यहां तक पहुंचाने वाले अरिहंत है । हम में लोकोत्तमता अरिहंत के कारण आई है । ‘चत्तारि लोगुत्तमा’ में भले सिद्धों का स्थान है, परन्तु उन चारों में मुख्य तो अरिहंत ही है न ? सिद्धचक्र में, नवपद में या अन्य समस्त स्थानों पर अरिहंत ही मुख्य है ।

अण्डा पहले या मुर्गी पहले ? (ऐसा प्रश्न भगवती में है ।) भगवान कहते हैं - दोनों अनादि से है, कोई पहला नहीं और कोई पश्चात् नहीं ।

उस प्रकार अरिहंत और सिद्ध भी अनादि से हैं ।

इसमें चौथी पंक्ति रहस्यमय है । ‘सिद्धार्थिसिद्धर्ममयस्त्वमेव’ शेष तीन मंगल (सिद्ध + ऋषि + धर्म) आप ही हैं । ‘चत्तारि लोगुत्तमा’ में अरिहंत के अलावा शेष तीन लोकोत्तम इसमें आ गये न ?

भगवान के साथ सम्बन्ध जोड़ने की कला से माधुर्योपासना होगी । हम संसार के साथ सम्बन्ध जोड़ना सीखे हैं, परन्तु भगवान के साथ जोड़ना नहीं सीखे ।

त्वं मे माता पिता नेता, देवो धर्मो गुरुः परः ।

प्राणाः स्वर्गोऽपवर्गश्च, सत्त्वं तत्त्वं गतिर्मतिः ॥

दूसरों को कहने के लिए यह सब याद मत रखना, परन्तु भगवान को माता, पिता, नेता, देव आदि मानकर आप उनके साथ स्वयं सम्बन्ध जोड़ना, यह सब जीवन में उतारना ।

❖ क्या आपको भगवान पर विश्वास नहीं है ? मुझे विश्वास है ।

मुझे तो विश्वास है कि भगवान मेरा सब सम्हाल लेंगे । वे ही मुझे प्रेरित करके मुझसे बुलवायेंगे । अन्यथा मेरे पास पुस्तकें देखने का समय कहाँ है ? कहीं पांच मिनट मिले कि

लोग तैयार । ऐसे मिलनेवालों को मैं किस प्रकार अप्रसन्न कर सकता हूँ ? मैत्री की बातें करनेवाला मैं क्या यहां मैत्री नहीं रखूँ ? केवल बोलता ही रहूँ ?

१. उपयोगो लक्षणम् : ज्ञानमाता के लिए वर्णमाला ।
 २. परस्परपग्रहो जीवानाम् : पुण्यमाता के लिए नवकार ।
 ३. गुणपर्यायवद् द्रव्यम् : धर्ममाता के लिए अष्टप्रवचनमाता ।
 ४. उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तंसद् : ध्यानमाता के लिए त्रिपदी ।
- तत्त्वार्थ के ये चारों सूत्र चारों माताओं को सुदृढ़ बनानेवाले हैं ।

पं. भद्रंकरविजयजी का अन्तिम पत्र पिण्डवाड़ा से आया था । उसमें लिखा था कि असह्य वेदना से अन्य सब विस्मृत हो जाता है, परन्तु 'उपयोगो लक्षणम्' का चिन्तन चालु है । यह पत्र सम्हाल कर रखा हुआ है । वह पत्र आज भी हमारे पास है ।

पं. भद्रंकरविजयजी कहते - 'आप मेरे उपकारी हैं, अन्यथा मैं यह सब किसे कहता ?'

भगवान् कहते हैं - सभी जीव मेरे उपकारी हैं, अन्यथा मैं किन पर करुणा भावना लाता ? किसके साथ एकता करता ?

जब भीड़ बहुत हो जाती है, मैं आकुल - व्याकुल हो जाता हूँ तब मुझे पं. भद्रंकरविजयजी याद आते हैं ।

वज्रसेनविजयजी किसी दर्शनार्थी को खाना करें (साहेबजी को कष्ट न हो इस आशय से) और उन्हें पता लगे तो फटकारे, खाना क्यों किया ? ऐसी अमैत्री ? भगवान् ने उन्हें यहां भेजे हैं और तू उनको यहां से बाहर निकाल रहा है ?

यह याद आते ही मैं तुरन्त तैयार हो जाता हूँ । शारीरिक स्थिति को गौण करके भी हजार - हजार श्रद्धालुओं पर मैंने वासक्षेप डाला है ।

* * * * *





३-१०-१९९९, रविवार

आ. व. ९ (मध्याह्न)

तीसरी धर्ममाता की गोद में आप बैठ गये हैं। देश विरति तो है न ? इतने अंश में आप बैठ गये। धर्ममाता के पास से ही चौथी ध्यान-माता के पास जा सकते हैं।

आज ही मैंने भगवती में पढ़ा, अविरति से क्या तात्पर्य है ? इच्छा का निरोध नहीं करना वह अविरति।

★ जीवों की उपेक्षा की वह निर्दयता कहलाती है।

जीवों की अपेक्षा की वह कोमलता कहलाती है।

जीवों की अपेक्षा ही विरति है।

कोई हमारे प्राण लेने आये, पिस्तोल बताये, तब हमारे भाव कैसे होंगे ? कितना भय व्याप्त होगा ? सारा शरीर कांप उठेगा।

ऐसे समय कोई अभयदान दे तो कैसा लगेगा ? हमारे से भयभीत जीवों को जब हम अभयदान देते हैं तब उन्हें ऐसा आनन्द होता है।

अविरत सम्यग्दृष्टि जीव पाप में कभी प्रवृत्ति करे तो कैसे ? तपे हुए लोहे पर चलना पड़े तो आप कैसे चलेगें ? बस, इसी प्रकार से अविरत सम्यग्दृष्टि जीव पाप प्रवृत्ति करता है।

सर्वाधिक दुःखी कौन है ? भगवती में प्रश्न है ।

उत्तर में नरक के जीव या निगोद के जीव नहीं, परन्तु अविस्तृत सम्यग्दृष्टि जीव कहे हैं । वे अपने स्वयं के दुःख से दुःखी नहीं, परन्तु दूसरों के दुःख से दुःखी होते हैं । अपने दुःख से तो सारा संसार दुःखी है ।

दूसरे का दुःख अपना लगे तब समझें कि सम्यग्दर्शन आया है ।

यहां के जीवों की उपेक्षा करके हम किस बल के आधार पर सिद्धशिला की अपेक्षा रखते हैं ?

शशिकान्तभाई : भगवान की इतनी उत्तम जीवनशैली होने पर भी जगत् के जीव क्यों स्वीकार नहीं करते ?

पूज्यश्री : कारागार (जेल)में रहने वालों को पूछो ।

हजारों मनुष्यों को मंत्रमुग्ध कर देनेवाले प्रवचन देने पर भी हम स्वयं स्वीकार नहीं कर सकते, तो फिर दूसरों की क्या बात करें ?

चारित्रावरणीय कर्म भीतर बैठा है, वह स्वीकार करने नहीं देता । पं. भद्रकरविजयजी मिले तो भी आप यहां क्यों नहीं आ सके ? सोचना ।

मुझे भी दीक्षा ग्रहण करने के पूर्व ऐसे प्रश्न तीन-चार वर्ष रुकावट करते रहे, परन्तु मैं आपको ठीक कहता हूँ कि आपके जैसे दुःख, परिषह यहां नहीं है ।

जेल में तो दुःख ही होंगे न ?

✻ 'वीतराग स्तोत्र' के प्रथम प्रकाश में 'भवेयं तस्य किंकरः' कहा है । बीसवे प्रकाश में 'तव प्रेष्ठोऽस्मि' कहा है । यहां दासत्व की पराकाष्ठा प्रतीत होती है ।

१. प्रेष्ठः

स्वामिना यत्र प्रेष्ठ्यते तत्र यः गच्छति स प्रेष्ठः ।

स्वामी जहां भेजे वहां जाय, वह प्रेष्ठ कहलाता है ।

प्रेष्ठ, दास, सेवक, किंकर - इन चारों के अर्थ में फरक है ।

आप तैयार हैं ? महाविदेह के लिए तैयार हो जाओगे, परन्तु क्या नरक में जाने के लिए तैयार होओगे ? अगर भगवान वहां

जाने का आदेश देदे !

प्रभु के प्रेष्य बनने के लिए मन की ऐसी भूमिका होनी चाहिये कि स्वामी जहां भेजे वहां जाने के लिए तैयार हूं।

गुरु के आदेश से सांप को पकड़ने के लिए जाने पर शिष्य की खूंख सीधी हो गई, फिर गुरु ने उसे रोक दिया।

‘आज्ञा गुरुणामविचारणीया।’ अजैनों में कथा आती है :

रात्रि में नागदेव शिष्य का खून लेने के लिए आते हैं - गुरु को यह मालुम हो गया। छुरी लेकर छाती पर चढ़कर खून निकाल कर नागदेव को पिलाया, नागदेव चले गये। प्रातः शिष्य को पूछा, ‘तेरे भीतर कौनसा भाव उत्पन्न हुआ था जब मैं तेरी छाती पर चढ़कर बैठा था?’

शिष्य ने उत्तर दिया : ‘आप मेरे गुरु हैं, उचित लगे वह कर सकते हैं।’ उसके बाद गुरु ने आत्म-साक्षात्कार की विद्या दी। क्या हमारी ऐसी भूमिका है?

२. दास : प्राचीन काल में दास - दासियों के रूपमें मनुष्य बिकते थे। चन्दना का उदाहरण प्रसिद्ध है।

जिसे खरीद कर लिया गया हो, वह ‘दास’ कहलाता है। आज की भाषा में उसे गुलाम कहते हैं। ‘ऋयत्रीतः दासः।’ उसके देह पर निशानी की जाती थी। वह आजीवन दास बन कर रहता, दासत्व करता।

उत्तम दास = सम्यक् सेवायां निपुणः। किस समय स्वामी को क्या चाहिये, यह स्वामी को कहना न पड़े।

संसार के दास तो अनेकबार बन चुके हैं, प्रभु के दास कभी नहीं बने। जो प्रभु का दास बनता है, उसकी दास सारी दुनिया बनती है। जो भगवान का दास नहीं बनता उसे संसार का दास बनना पड़ता है।

३. सेवक : सेवते इति सेवकः। सेवा करे वह सेवक। भगवान के चरणों की सेवा किस प्रकार हो सकती है? चन्दन आदि से पूजा करनी द्रव्य सेवा है। आज्ञा-पालन, विरति स्वीकार करना भाव-सेवा है। ‘चरण’ का दूसरा अर्थ चारित्र होता है। चारित्र का सेवन करना भी चरण-सेवा कहलाती है।

‘आज मारा प्रभुजी सामुं जुओने, सेवक कही बोलावो रे ।’

इस स्तवन में ज्ञानविमलसूरिजी ने यही भाव प्रदर्शित किया है ।

४. किंकर : किं करोमि ? आदिशतु भवान् । इति यः स्वामिनं पृच्छति सः किंकरः । प्रेष्य आदि सबकी अपेक्षा किंकरत्व कठिन है । ‘भगवन् ! अब क्या करूं ? आदेश दें ।’ जिसमें ऐसा भाव हो वह किंकर है । भगवान का आदेश - आज्ञा आगमों में बताये हुए है । तदनुसार जीवन जिये अथवा जीने का प्रयत्न करे वह किंकर कहलाता है ।

• • • • •

साभार स्वीकार - ‘कहे कलापूर्णसूरि...’

शासन प्रभावक आचार्यदेवेशनी जिनभक्ति - लगन -
शासनदाज्ञ - परोपकार वृत्ति-पदार्थोंने सरळ करवानी कळाने
भावांजलि...!

अवतरणकार बने गणिवर्योनी गुरुभक्ति - श्रुतभक्तिनी भूरि
भूरि अनुमोदना.

- पुण्यसुंदरविजय
गोडीजी मंदिर, पूना.



४-१०-१९९९, सोमवार
आ. व. १० (प्रातः)

❖ वांकी का यह मंगल प्रसंग चेतना का उर्ध्वीकरण करने के लिए है। यदि चेतना के उर्ध्वीकरण के प्रति रुचि भी उत्पन्न हो जाये तो हमारा कार्य हो गया समझो।

❖ पं. भद्रंकरविजयजी म.के हृदय में अपार करुणा थी। वे आगन्तुक जीव का कल्याण करने के लिए निरन्तर प्रयत्नशील रहते। वे छोटे बच्चे को भी प्रेम से नवकार प्रदान करते। एक व्यक्ति को नवकार गिनना पन्द्रह मिनट तक सिखाया, यह हमने देखा है। उनकी दृढ़ श्रद्धा थी कि नवकार स्वतः ही उसमें निर्मलता उत्पन्न करेगा, योग्यता उत्पन्न करेगा।

नवकार सर्व प्रथम अहंकार पर कुठाराघात करता है। मोह का भवन 'अहं' एवं 'मम' पर खड़ा है। नवकार नींव में ही सुरंग फोड़ता है। मम भी 'अहं' के कारण ही है। 'अहं' अर्थात् मैं। 'मम' अर्थात् मेरा।

'मैं' ही नहीं हूँ तो मेरा कहां से होगा ?

नवकार सिखाता है - 'न अहं', 'न मम'

आप यह प्रतिमंत्र जपते रहें, मोहराजा कुछ भी बिगाड़ नहीं सकेगा।

मैं अर्थात् शरीर नहीं, परन्तु आत्मा ।

मैं अर्थात् अरिहंत का सेवक । अरिहंत का परिवार (गुण-समृद्धि) मेरा ।

❖ पू.पं. भद्रंकरविजयजी म. ज्ञानसार से पूर्व योगशास्त्र के चार प्रकाश कराते थे । साधना सदा क्रमशः ही हो सकती है । योगशास्त्र के चार प्रकाश व्यवहारप्रधान है । ज्ञानसार निश्चयप्रधान है । व्यवहार दक्ष बनने के बाद ही निश्चयप्रधान बना जा सकता है । तालाब में तैरना जानने के बाद ही समुद्र में तैरने के लिए कूदा जा सकता है । तालाब व्यवहार है । समुद्र निश्चय है ।

आप शिक्षा, धंधे के लिए तो अपने सन्तानों का ध्यान रखते हैं, परन्तु कभी इसकी चिन्ता रखी है कि वे दुर्गति में न जायें ? मुझे मेरे मामा पास बिठाकर सामायिक कराते, भस्मामर याद कराते । आप अपनी सन्तानों के लिए कितना समय देते हैं ?

महेन्द्रभाई को ऐसा अनुष्ठान कराने की इच्छा क्यों हुई ? हृदय में यह विचार भी था कि मेरा परिवार - स्वजन आदि धर्म-मार्ग की ओर सन्मुख हों ।

❖ चार माताओं में सर्व प्रथम ज्ञानमाता - वर्णमाता ।

अन्तिम ध्यानमाता - त्रिपदी ।

नींव में वर्णमाता चाहिये ।

शिखर पर ध्यानमाता है । ज्ञान से प्रारम्भ हुई साधना ध्यान में पूर्णता प्राप्त करती है ।

❖ चारसौ आराधकों में प्रथम नम्बर मैं हिम्मतभाई को देता हूं । कोई अप्रसन्न मत होना । पू.पं. भद्रंकरविजयजी के बाद भी उन्होंने हमारा साथ नहीं छोड़ा ! वे प्रत्येक चातुर्मास (वर्षावास) में आने कि लिये तैयार । वे हमारे पास बैठते हैं, इतना ही नहीं । वे अन्य मुनियों के पास भी बैठते हैं । वे हमारे पास आते हैं इसलिये मैं यह नहीं कहता, परन्तु उनमें योग्यता विकसी हुई है, अतः यह कहता हूं ।

❖ ज्ञान शायद प्रयत्न साध्य है, परन्तु ध्यान एवं समाधि कृपासाध्य है । प्रथम हमारी भूमिका तैयार होती है । उसके बाद ही कृपा का अवतरण हो सकता है ।

❖ ऐसा विचार था कि गुजरात में जायेगें तब योग्य जिज्ञासु मिलेंगें तो 'ध्यान-विचार' ग्रन्थ वाचना में पढ़ना है ।

बाबुभाई कडीवाला - तो पालीताणा में हम चार माह रहेंगे ।

❖ 'अज्ञात वस्तुतः ज्ञाते सति श्रद्धा अनन्तगुणा भवति । अज्ञात की अपेक्षा जानी हुई वस्तु में श्रद्धा अनन्तगुनी होती है ।

❖ हम भी नवकार गिनते हैं, पंन्यासजी म. भी गिनते थे । फरक क्या ? उनकी कक्षा अत्यन्त उच्च थी । अतः उन्हें भिन्न फल मिलता; हमें भिन्न फल मिलता है ।

नवकार 'श्रीमती'ने भी गिना था और वर्तमान 'श्रीमतियां' भी गिनती है, परन्तु फरक कहां आया ? पत्थर एक ही है । आप हाथ से फैंकते हैं और दूसरा गोफण से फैंकता है तो फरक तो पड़ेगा ही । यदि उसी पत्थर को बन्दूक से फैंका जाय तो ?

एक छोटा व्यापारी चौबीस घंटे काम करके मुश्किल से एक हजार रुपये कमाता है । बड़ा व्यापारी कोई विशेष काम एवं श्रम नहीं करने पर भी लाखों रुपये कमाता है । क्योंकि उसके पास धन ज्यादा है । उसके पास धन अल्प है । धन के अनुसार मुनाफा कमाया जा सकता है ।

पंन्यासजी महाराज के पास ज्ञान का धन ज्यादा था । इसी कारण से वे अधिक कमा सके ।

❖ चिन्ताभावनापूर्वकः स्थिराध्यवसायो ध्यानम् । 'ध्यान-विचार' का यह प्रथम सूत्र है । चिन्ता एवं भावना-ज्ञानपूर्वक का अध्यवसाय ध्यान है । चिन्ता सात प्रकार की होती है ।

❖ ध्यान के चौबीस भेदों में नवकार का जाप पद ध्यान है । यह ध्यान श्रेष्ठ है, क्योंकि नवकार के पांच पद श्रेष्ठतम है । राजा, अमात्य, श्रेष्ठी, सेनापति आदि महत्त्वपूर्ण पद हैं । इसी तरह से पंच परमेष्ठी के ये पांच पद महत्त्वपूर्ण है ।

मानतुंगसूरि ने कहा है - 'आपकी स्तुति में क्या शक्ति है ? आपकी स्तुति करने वाला आपके समान बन जाता है । स्वयं ही उत्तर देते हुए कहते हैं कि अपने आश्रित को अपने समान न बनाये वह सेठ किस काम का ?

✽ पांच परमेष्ठी में आपको कौनसा पद चाहिये ? एकभी नहीं चाहिये, ठीक है न ? आपको तो दूसरा ही कुछ चाहिये । आपको जो चाहिये वह जानियों की दृष्टि में अत्यन्त तुच्छ है । आप तुच्छ की याचना (मांग) न करें । चक्रवर्ती जैसे आप पर प्रसन्न हों और क्या आप घर-घर भीख मांगने जैसी तुच्छ याचना करेंगे ?

हमने भव-भवमें ऐसा ही किया है ।

✽ ज्ञान एवं क्रियारूपी पहियोंवाले ध्यानरूपी रथ में बैठ जाओ । भगवान सारथि बनकर आपको मुक्तिपुरी में ले जायेंगे ।

✽ बच्चा छोटा है, परन्तु माता की गोद में हो तो क्या कोई भय है ? हम छोटे थे तब गोद में थे, अतः बच सके हैं, अन्यथा बिल्ली उठा ले जाती और हमारा आयुष्य उस समय ही समाप्त हो जाता ।

चार माताओं की गोद में बैठ जाइये ।

कोई भय नहीं रहेगा, परन्तु माता की गोद में वही जा सकता है जो 'बालक' बने । हम पण्डित बनकर जाते हैं, महान बनकर जाते हैं ।

✽ भुज से अभी एक मुसलमान मेजिस्ट्रेट आया । वह ध्यान करता था, परन्तु थोड़ा उलझन में था, जिज्ञासु था ।

वह बोला - 'ध्यान करता हूँ ।'

'किसका ध्यान करते हैं ?'

'निरंजन-निराकार का ध्यान करता हूँ । मैं हमारी पद्धति के अनुसार ध्यान करता हूँ, परन्तु विक्षेप आते हैं, मार्गदर्शन प्राप्त करने के लिए आया हूँ ।'

'आप मेरी बात मानेंगे ? यदि सचमुच ध्यान की रुचि हो तो 'आकार' ध्यान से प्रारम्भ करो ।'

शंखेश्वर पार्श्वनाथ का चित्र देकर कहा, 'यहां से प्रारम्भ करो ।'

'तहत्ति' कहकर उसने स्वीकार किया ।

मांस-मदिरा आदि का उसके जीवन में त्याग था ही ।

नवसारी-सीसोदरा में दीक्षा के प्रसंग पर शान्तिस्नात्र में जैन मेजिस्ट्रेट आया । वह जैन होते हुए भी अजैनों की साधना करता था ।

सायं पांच बजे वह आया और बोला, 'गीता का पाठ करता हूँ । मैंने कृष्ण को इष्टदेव बनाया है ।'

‘क्या अनुभव किया ?’

‘आगे की भूमिका पकड़ी नहीं जा रही । मुझे मार्ग-दर्शन चाहिये । आज तक कोई गुरु मिले नहीं ।’

‘क्या आपको मेरी बात पर विश्वास है ? कृष्ण का ध्यान करोगे तो आपकी चेतना कृष्णमय बन जाती है । नरसिंह, मीरा आदि को इस रीति से ही दर्शन हुए थे ।’

‘मुझे तो निरंजन-निराकार के दर्शन करने हैं ।’

‘इसके लिए आपको साकार वीतराग प्रभु का ध्यान करना पड़ेगा । सरागी का ध्यान आपको सरागी बनायेगा ।

यदा ध्यायति यद् योगी, याति तन्मयतां तदा ।

ध्यातव्यो वीतरागस्तद् नित्यमात्मविशुद्धये ॥

- योगसार

मैंने उन्हें वीतराग का ध्यान बताया । वे आनन्द से नाच उठे । मैंने ऐसा आनन्द कभी देखा नहीं, उसके बाद उन्होंने साष्टांग दण्डवत् किया ।

☆ पट्ट, अभ्यास एवं आदर से ऐसे संस्कार डालो कि वे जन्म-जन्मान्तर तक आपके साथ चलें ।

‘पट्वभ्यासादरैः पूर्वं तथा वैराग्यमाहरः’

- वीतराग स्तोत्र

भक्ति, ज्ञान आदि के संस्कार ऐसे बनने चाहिये । हमारे संस्कार अभी तक ऐसे नहीं हुए, जो भवान्तर में साथ चल सकें । जैन परिभाषा में ऐसे संस्कारों को अनुबंध कहा जाता है ।

नौ दिनों के ये संस्कार आपके कहां तक स्थिर रहेंगे ? सोचना ।

☆ शशिकान्तभाई का मनोरथ है कि सब ध्यानी बनें । मेरा मनोरथ है कि पहले साधक बनें, ज्ञानी बनें, भक्त बनें, चारित्रवान् बनें, फिर ध्यानी बनें । आ गई न चारों माताएं ?

ज्ञानी : वर्णमाता - वर्णमाला से

भक्त : पुण्यमाता - नवकार से

चारित्रवान् : धर्ममाता - अष्ट प्रवचन माता से

ध्यानी : ध्यानमाता - त्रिपदी से बना जाता है ।

• • • • •



४-१०-१९९९, सोमवार
आ. व. १० (मध्याह्न)

✽ प्रथम माता ज्ञान, दूसरी भक्ति, तीसरी विरति और चौथी समाधि देती है ।

✽ जगतसिंह सेठने ३६० व्यक्तियों को करोड़पति बनाये । अरिहंत प्रभु के शासन में ही यह सम्भव है । ३६० महानुभावों की ओर से प्रतिदिन नौकारसी चलती थी । नव-आगन्तुक साधर्मिक को प्रत्येक की ओर से इतना मिलता था कि वह तुरन्त ही धनाढ्य बन जाता ।

✽ पं. भद्रंकरविजयजी म.सा.ने दिया वह क्या आप भूल जायेंगे ? आप भले ही भूल जायें, पर मैं नहीं भूलुंगा ।

✽ सागर में छोटी सी बूंद मिले या नदी मिले, सागर उसे अपना स्वरूप ही दे देता है, उसे सागर ही बना देता है ।

प्रभु के पास जो आता है उसे प्रभु अपने समान ही बना देते हैं, वे उसे प्रभु ही बना देते हैं ।

प्रभु का प्रेम अर्थात् उनकी मूर्ति का, नाम का और आगम का प्रेम ।

भक्ति को महापुरुष जीवन्मुक्ति मानते हैं । जीवन्मुक्ति मिली

हुई हो, उसे ही मुक्ति मिल सकती है। भक्ति के बिना नौपूर्वी भी मुक्ति प्राप्त नहीं कर सकते।

‘तस्मिन् परमात्मनि परमप्रेमरूपा भक्तिः’ - ऐसा नारदीय भक्ति-सूत्र में लिखा है। श्रेणिक महाराजा ने इस प्रेमरूप भक्ति से ही तीर्थंकर नाम-कर्म बांधा था।

भगवान को छोड़कर ध्यान नहीं होगा, दुर्ध्यान होगा। जहां भगवान न हो उसे कभी ध्यान न मानें। ऐसे ध्यान से भ्रमित मत होना।

✿ श्रावक दुर्गादास ने पू. देवचन्द्रजी को कहा, ‘भगवन् ! आप तो अध्यात्म-रसमें तन्मय हैं। हम पर उपकार हो क्या आप ऐसा कुछ कर सकते हैं ? कोई रचना करें।

दुर्गादास की इस विनती पर श्री देवचन्द्रजी ने अध्यात्म-गीताकी रचना की है। लघु कृति भी अध्यात्म-रस से पूर्ण है।

पू. देवचन्द्रजी ने दुर्गादास का ‘मित्र’ के रूपमें उल्लेख किया है।

✿ आप पहले भक्ति एवं विरति शुद्ध भाव से अपनायें। फिर आपको ध्यान में पहुंचाने की जिम्मेदारी मेरी।

समग्र जीवराशि के प्रति भाव करुणा ही भगवान को भगवान बनाती है।

भक्ति से प्रभु के प्रति समर्पण भाव,

विरति से जीवों के प्रति मैत्री भाव जागृत होता है।

इन दोनों से समाधि मिलेगी ही।

प्रथम माता (वर्णमाता) ज्ञान देती है।

दूसरी माता (पुन्यमाता नवकार) भक्ति देती है।

भगवान की भक्ति नाम आदि चार प्रकार से हो सकती है।

तीसरी धर्ममाता, अष्टप्रवचन माता, विरति देती है। चौथी ध्यानमाता, त्रिपदी समाधि देती है।

✿ इस काल में शायद आज्ञा-पालन पूर्ण रूप से नहीं किया जा सकता, परन्तु आज्ञा के प्रति आदर हो तो भी तरा जा सकता है।

‘सूत्र अनुसार विचारी बोलुं, सुगुरु तथाविध न मिले;

क्रिया करी नवि साधी शकिये, ए विखवाद चित्त सघले ।'
पूज्य आनन्दधनजी के इन उद्गारों पर चिन्तन करें ।

✿ महापुरुषों के ग्रन्थ मिलना, अर्थात् महापुरुषों के साथ मिलन होना समझें । आनन्दधनजी, देवचन्द्रजी जैसे योगियों की कृतियां हमें प्राप्त होती हैं; यह हमारा अहोभाग्य है ।

✿ पुत्र-पिता, पति-पत्नी आदि आपके सम्बन्धों की प्रीति स्वार्थयुक्त है, मलिन है, सिर्फ भगवान की प्रीति ही निर्मल है ।

✿ उपर जाने की सीढ़ियों में से कौनसी सीढ़ी महत्त्वपूर्ण है ? सभी सीढ़ियां महत्त्वपूर्ण हैं । उस प्रकार साधना के समस्त सोपान महत्त्वपूर्ण हैं ।

सीढ़ियों पर बीच में ज्यादा समय खड़ा नहीं रहा जा सकता, पीछे से आने वाले धक्के मारेंगे । हम इस समय बीच में हैं । 'पंथ वच्चे प्रभुजी मल्या, हजु अर्धे जावुं ।' चौदह राजलोक में हम बीच में हैं । निगोद से निर्वाण की यात्रा में हम बीच में हैं । चौदह गुणस्थानकों में हम बीच में हैं । (इस समय ज्यादा से ज्यादा सातवे गुणस्थानक पर पहुंच सकते हैं) परन्तु बीच में अधिक समय तक नहीं रहा जा सकता । हमारे पीछे अनन्त जीव खड़े हैं, यदि हम आगे नहीं जायें तो पीछे ढकेले जायेंगे । निगोद में जाना पड़ेगा । क्योंकि त्रसकाय में दो हजार सागरोपम से ज्यादा नहीं रहा जा सकता ।

✿ ज्ञान दो प्रकार का है - सुख-भावित एवं दुःख-भावित ।

सुखभावित ज्ञान, सुखभावित धर्म थोड़ा सा कष्ट आने पर नष्ट हो जाता है । दुःखभावित धर्म कष्टों के बीच भी अडग रहता है । इसीलिए परम करुणानिधान भगवान महावीर ने लोच, विहार, भिक्षाचर्या, बाईस परिषद इत्यादि कष्ट बताये हैं । अन्यथा करुणाशील भगवान ऐसा क्यों बताते ?

• • • • •





५-१०-१९९९, मंगळवार
आ. व. ११ (प्रातः)

❖ समय, शक्ति या सम्पत्ति पूर्व पुन्य के प्रताप से मिले हैं तो अब वे शक्तियां दूसरों के उपयोग में आनी चाहिये, तो वे अक्षय बनेंगी अन्यथा समाप्त हो जायेंगी ।

❖ द्रव्य से शुद्धि

गुणों से एकता

पर्याय से भिन्नता

पं. न्यासजी महाराज के साथ इस सम्बन्ध में जब वे हमें मिले नहीं थे, तब से पत्र-व्यवहार से स्पष्टीकरण किया था ।

सिद्ध भगवान के सुख के सामने किसी भी पदार्थ की तुलना नहीं हो सकती । जहां एक सिद्ध है, वहां अनन्त सिद्ध हैं । अरे, इस स्थान पर भी जहां हम बैठे हुए हैं, वहां भी अनन्त सिद्ध बैठे हुए हैं ।

भक्त की भाषा अलग होती है ।

संसार की भाषा अलग होती है ।

हमारे आसपास निगोद के अनन्त जीव रहे हुए हैं कि नहीं ? वे सभी सत्ता से सिद्ध हैं कि नहीं ?

‘पूरण मन सब पूरण दीसे ।’ भक्त को सर्वत्र पूर्ण दिखता है । सिद्ध ही नहीं, भक्त भी स्वयं को पूर्ण रूप से देखने लग जाते हैं ।

❖ ‘शोभा नराणां प्रियसत्यवाणी’

प्रिय एवं मधुर वाणी आपकी शोभा है ।

आपकी वाणी कैसी ? वाणी से मित्रता होती है, वाणी से शत्रुता होती है; सभी आपके मित्र हैं कि नहीं ? कोई शत्रु नहीं है न ?

आराधना करने के लिए आने से पूर्व सब के साथ ‘मिच्छामि दुःखं’ करके आये हैं न ?

प्रथम मैत्री, फिर शुद्धि और उसके बाद साधना ।

❖ यदि प्रभु के साथ सम्बन्ध जोड़ना हो तो सर्वप्रथम नाम के साथ सम्बन्ध जोड़ें । हमें शीघ्रता है । सीधे ही सीमंधरस्वामी को मिलना चाहते हैं, परन्तु ‘सीमंधर’ यह नाम यही है । पहले इसके साथ सम्बन्ध जोड़ो न ? कौन रोकता है ? जो हो सकता है वह करे नहीं, उसे नहीं हो सकै वैसा कैसे मिल सकता है ?

नाम फोन है । उसके द्वारा प्रभु के साथ सम्बन्ध जोड़ा जा सकता है । राजनाद गांव में हमारे समय में डाकघर पर एक ही फोन था । लगाने के लिए वहां जाना पड़ता था । घंटा-आधा घंटा प्रतीक्षा करनी पड़ती थी । आजकल तो परिस्थिति बदल गई है ।

नाम लेते ही क्या आप प्रभु के साथ सम्बन्ध जोड़ते हैं ?

❖ छ : आवश्यक पूरे जीवन में होने चाहिये यह, भूल गये अतः महापुरुषों ने प्रतिक्रमण में जोड़ दिये ।

सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव आदि निरन्तर करने के हैं ।

। प्रतिक्रमण अर्थात् पाप से पीछे हटना । पाप से निरन्तर पीछे हटना है ।

❖ चार माताओं की बराबर सेवा करें तो पांचवे परम पिता परमात्मा का मिलन होता ही है । शर्त यही है कि हम विनयी हो । विनीत पुत्र को ही पिता का उत्तराधिकार प्राप्त होता है न ?

❖ परोपकार आये, उसके जीवन में सद्गुरु का योग होगा ही ।

जयवीरराय में यही क्रम बताया है ।

‘परत्थ-करणं च । सुह गुरु जोगो’

कितने ही परमार्थ का कार्य करनेवाले हमारे सम्पर्क में आये है और उन्होंने आनन्द व्यक्त किया है ।

❖ दुःखी को देखकर आपका हृदय कांप न उठे तो कौनसा ध्यान कहा जायेगा ? दुःखार्थ कि शुभ ध्यान ?

जो ध्यान आपको दुःखी व्यक्ति के प्रति संवेदनशील न बनाये वह ध्यान भाड़ में जाय । ऐसे ध्यान से सावधान रहना, जो आपको जगत से निरपेक्ष बना दे, आपके हृदय को निष्ठुर बना दें ।

❖ समुद्रघात के समय केवलज्ञानी चौथे समय सर्वलोकव्यापी है । समुद्रघात के द्वारा केवलज्ञानी सम्पूर्ण लोक को पावन करते है । उस समय मन्दिर + मूर्ति में भी व्याप्त होते है कि नहीं ? केवलज्ञान के रूप में भगवान मन्दिर या मूर्ति में भी अवतरित हुए कहे जाते है ।

उस समय वे स्वयं पवित्र कार्मण वर्गणा को छोड़ते है । वे पवित्र पुद्गल अखिल ब्रह्मांड में फैल जाते है । उन पवित्र पुद्गलों को ज्ञानी ही जान सकते है ।

भगवती में अभी जानने को मिला कि आत्मा तो अगुरुलघु है ही, परन्तु भाषा, मन, कार्मण वर्गणा के पुद्गल भी अगुरुलघु है । अतः वे सर्वत्र अप्रतिहत है । वे समग्र ब्रह्मांडमें फैल सकते है । चतुःस्पर्शी पुद्गल अगुरुलघु होते है और आठस्पर्शी पुद्गल गुरुलघु होते है ।

❖ प्रथम माता आप को प्रिय एवं सत्यवाणी देती है । प्रिय एवं सत्यवाणी से जगत् आपका मित्र बनेगा, सामने से सभी दौड़ते हुए आयेंगे ।

कई बार पत्रकार मुझे पूछते है - ‘क्या आप कोई वशीकरण करते है ? लोग क्यों दौड़ते आते है ?’

मैं कहता हूं - ‘कोई वशीकरण नहीं है । वशीकरण हो तो भी वह मंत्र या कामण रहित है ।

एक सुभाषितकार ने कहा है -

न हीदृशं संवननं त्रिषु लोकेषु विद्यते ।

दया मैत्री च भूतेषु, दानं च मधुरा च वाक् ॥

जीवों पर दया, मैत्री, दान एवं मधुर वाणी - इनके समान तीनों लोक में अन्य एक भी वशीकरण नहीं है ।

यदीच्छसि वशीकर्तुं जगदेकेन कर्मणा ।

पराऽपवाद-सस्येभ्यो, गां चरन्तीं निवारय ॥

‘एक ही कार्य से यदि तू जगत् को वश करना चाहता है तो परनिन्दारूपी घास चरती अपनी वाणीरूपी गाय को रोक ।’

वाणी से परोपकार होता है ।

परोपकार से गुरु का मिलाप होता है ।

❖ दक्षिण में क्यों लोकप्रियता मिली ?

हमें हमारे गुरुदेवों ने सिखाया है कि कभी मांगना नहीं । सिर्फ धर्म-कार्य में सहायता करना । कोई प्रोजेक्ट रखने नहीं । आज लोक मांगनेवालों से थक गये हैं । जब मांगना बन्ध करते हैं तब लोगों में प्रिय बनते हैं ।

दक्षिण में प्रतिष्ठाओं की हारमालाओं से सब से बड़ा लाभ यह हुआ कि स्थानकवासियों ने भी मन्दिरो में चढ़ावे लिये । वे लोग मूर्तियों के प्रति श्रद्धालु बने । मद्रास के नूतन मन्दिर की प्रतिष्ठा के समय तीन लाख तमिल लोगों ने भी भगवान के दर्शन किये थे ।

❖ यहां का स्वाद (जाप, प्रवचन आदि का) जिसने चखा वह जीवन में इस स्वाद को कभी नहीं भूल सकेगा, यदि उसने सचमुच स्वाद चखा होगा ।

• • • • •

‘कह्युं कलापूर्णसूरिण’ पुस्तक मळ्युं उपरतुं दड्डल
जोईने ज गमी जाय. अंदरतुं दसरोजना व्याख्यान, तिथि, तारीख अने
वार साधेतुं प्रवचन, जीवन आवरी ले तेवुं साहित्य छे.

- पंन्यास रविरत्नविजय

गोपीपुत्र, सुरत.



असीर्वाद देते हुए पूज्यग्री, दि.सं. २०४७, वडवाण (गुजरात)

५-१०-१९९९, मंगळवार

आ. व. ११ (दोपहर)

✽ उपधान से नवकार आदि सूत्रों का वास्तविक अधिकार प्राप्त होता है ।

मेरी निश्चा में ही करो, ऐसा मैं नहीं कहता, परन्तु निश्चय करो कि उपधान कहीं भी करना ही है ।

महानिशीथ सूत्र में इस सम्बन्ध में विधान है ।

महानिशीथ जैसे महान् एवं पवित्र सूत्र में पंचमंगल महाश्रुतस्कन्धरूप नवकार के लिए उपधान वहन करने को कहा है ।

महानिशीथ की एक ही 'प्रति' हाथ में आई थी, वह भी दीमक द्वारा खाई हुई थी । पू. हरिभद्रसूरिजी ने उसका उद्धार किया है ।

केवल तपागच्छीय परम्परा ही महानिशीथ सूत्र को मानती है ।

✽ कर्मों का क्षय तप से ही होता है । धीरे-धीरे तप का अभ्यास करें । पच्चक्खाण पर विश्वास बढ़ाओ । पच्चक्खाण लेते ही मनःस्थिति कैसी बदल जाती है ? क्या आप जानते हैं ?

उपवास का पच्चक्खाण लिया हो उस दिन भूख ही नहीं लगती । पच्चक्खाण का यह प्रभाव है ।

बाह्य तप अभ्यन्तर तप का हेतु है ।

गहन अभ्यास से डाले हुए तप के संस्कार जन्म-जन्मान्तर में भी साथ चलते हैं ! तप के ही नहीं, किसी भी गुण या अवगुण के संस्कार साथ चलते हैं ।

❖ पंचपरमेष्ठी करुणा के भण्डार हैं ।

करुणा पराकाष्ठा पर न पहुंचे तो भगवान तीर्थंकर नाम-कर्म बांध नहीं सकते । दुःखी जीवों की दया का अभाव हो वहां क्या करुणा सम्भव है ? करुणार्द्र चित्त दुःख-त्रस्त जीव की उपेक्षा नहीं कर सकता । जो उपेक्षा करता है उसमें करुणा आई हुई नहीं कही जा सकती, ध्यान परिणत हुआ नहीं कहा जा सकता ।

❖ नवकार आत्मसात् करने से करुणा बढ़ेगी, गुण बढ़ेंगे और देव-गुरु-भक्ति बढ़ेगी ।

❖ दूसरे के गुण देखकर आप प्रसन्न हुए तो वे गुण आपके भीतर प्रविष्ट होने प्रारम्भ हो गये समझें । आज हमें स्वयं के गुणों के लिए प्रमोद है । क्या हम में अन्य व्यक्तियों के गुणों के लिए प्रमोद है ?

गुण रुके हुए क्यों हैं ? अभिमान के कारण रुके हुए हैं ।

दूसरी माता नम्रता का संचार करके गुणों का द्वार खोल देती है ।

नवकार में छः बार 'नमो' आता है । १०८ नवकारों में ६४८ बार नमो आता है । आपने कितनी मालाएं गिनी ?

अब नम्रता कितनी बढ़ी ? नवकार गिनने के बाद नम्रता बढ़नी चाहिये ।

नम्र ही भक्त बन सकता है ।

नम्र ही प्रमोद बढ़ा सकता है ।

नम्र ही गुणों को आमंत्रण दे सकता है ।

❖ लोगों की भाषा अलग होती है, भक्तों की भाषा अलग होती है । लोग कहते हैं - 'भगवान वीतराग हैं । भगवान को कोई लेना-देना नहीं है ।'

भक्त कहता है - 'भगवान करुणामय हैं । वे सब कुछ देते हैं ।' 'त्वं शंकरेसि' के द्वारा सीना ठोककर मानतुंगसूरि कहते हैं - 'प्रभु ! आप ही सुखकर्ता शंकर हैं ।'

देनेवाले भगवान हैं । आप क्या देंगे ? दस-बीस मंजिल

की बिल्डिंग बनाई, अतः भिखारीयों और कुत्तों की रोटी तो गई, परन्तु हमारा 'धर्मलाभ' भी गया ।

दया-दान गये । बाहर 'वोच मैन' खड़ा है । कोई भीतर आये तो सही । आपके ऐश-आराम की हम प्रशंसा नहीं करते । आपकी उदारता, दान आदि की हम प्रशंसा अवश्य करते हैं ।

'जे कोई तारे नजरे चढी आवे, कारज तेहना सफल कर्या' भगवान की नजर में चढ जाये, उसके कार्य सिद्ध न हों, इस बात में कोई सार नहीं है ।

भक्त तो कहेगा, 'भगवन् ! आप वीतराग होकर छूट नहीं सकेंगे, मैं आपको छोड़नेवाला ही नहीं हूँ ।'

❖ भगवान का संघ ऐसा कृपण एवं तुच्छ क्यों ? पंन्यासजी महाराज अत्यन्त ही चिन्तित रहते थे । वे परोपकार, मैत्री, नम्रता आदि का संघ में संचार करने के लिए अत्यन्त ही प्रयत्नशील थे ।

उन्होंने मुझे भी एकबार कहा था, 'आपको ध्यान-विचार पर लिखना आता है, 'परस्परपग्रहो जीवानाम्' पर लिखना नहीं आता ? क्या जीवों का उपकार याद नहीं आता ? आपका जन्म कब हुआ ?'

मैंने कहा, 'वि. संवत् १९८० में हुआ ।'

'ओह ! तो आपका दोष नहीं है । प्रथम विश्वयुद्ध के बाद लोगों के हृदय में से दया-भावना चली गई । काल ही ऐसा खतरनाक है ।' पंन्यासजी महाराज ने कहा ।

❖ धर्म अधिक प्रिय या प्राण ?

तीसरी दृष्टिवाले को धर्म प्रिय लगता है । धर्म के लिए प्राण देने के लिए भी तैयार हो जाये । वह धन का तो आसानी से त्याग करने के लिए तैयार हो जायेगा ।

❖ साढे तीन करोड़ श्लोकों के रचयिता हेमचन्द्रसूरिजी ने कहा है - 'भगवन् ! मैं आपके समक्ष पशु से भी गया बीता हूँ ।' जबकि हम थोड़ा जानने लगने पर धरती से अद्धर चलने लग जाते हैं ।

❖ मैत्री के सम्बन्ध में विवाद हुआ तब पंन्यासजी महाराज ने ढेर सारे पाठ दिये, परन्तु चर्चा नहीं की, विवाद नहीं किया । मेरी मैत्री की बात से ही यदि अमैत्री होती हो तो वह भी नहीं

चाहिये, पंन्यासजी महाराज परम मध्यस्थता की ओर चले गये ।

❀ प्रभु में गुण, पुन्य आदि का प्रकर्ष है । इसीलिए वे अचिन्त्य शक्ति के स्वामी बने हुए हैं ।

निर्मल प्रज्ञावाले को ही यह समझ में आयेगा ।

पंचसूत्र की यह बात 'अचित्तसत्तिजुता हि ते भगवन्तो' निर्मल बुद्धिवाले को ही समझ में आयेगी । भगवान की अचिन्त्य शक्ति जानने के लिए ऐसी दृष्टि खुलनी चाहिये ।

• • • • •

तत्त्वदृष्टि - व्यवहारदृष्टि

तत्त्वदृष्टि ज्ञान स्वरूप छे, जेमां वस्तुनुं सत्स्वरूप प्रकाशे छे. व्यवहारदृष्टि क्रिया स्वरूप छे. ते क्रियाओ एटले अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य अने अपरिग्रहनुं आचरण. माटे तत्त्वनुं लक्ष्य करवुं अने शक्यनो प्रारंभ करवो.



प्रवचन की लाक्षणिक मुद्रा, वडवाण, वि.सं. २०४७

६-१०-१९९९, बुधवार

आ. व. १२ (प्रातः)

✿ आनन्द है, इस समय हम भगवान के वचनों का साथ मिलकर स्वाध्याय कर रहे हैं ।

जिन वचन हमें आज तक नहीं मिले । मिले होंगे तो फले नहीं होंगे । जिन-वचनों के प्रति आदर जग जाये तो काम हो जाये । देखो, 'अजितशान्ति' क्या कहती है ?

जइ इच्छह परम-पर्य
अहवा किर्त्ति सुवित्थडं भुवणे,
ता तेलुकुब्धरणे,
जिणवघणे आयरं कुणह ।

यदि आप मोक्ष या सर्वव्यापी कीर्ति चाहते हों, तो तीन लोक के उद्धारक जिन वचनों का सम्मान करो ।

✿ नवकार में क्या शक्ति है ? नवकार गिना तो आप वज्र के पिंजरे में बैठ गये । हो गया काम । अब किसी का भी भय नहीं ।

✿ जिन वचन हृदय में भावित हों वह स्तुति-स्तोत्र का फल है ।

❖ 'नाम ग्रहंतां आवी मिले, मन भीतर भगवान' यह कहने वाले उपाध्याय मानविजयजी के हृदय में भगवान आ सकें तो हमारे हृदय में क्यों नहीं आ सकते ? इन महापुरुषों के वचनों में विश्वास तो है न ? इन वचनों पर विश्वास रखकर साधना के मार्ग में अग्रसर होओगे तो मानविजयजी की तरह आपको भी ऐसा अनुभव होगा ।

❖ माली बीज में वृक्ष देखता है । शिल्पी पत्थर में प्रतिमा देखता है । भक्त प्रभु के नाम में प्रभु को देखता है ।

❖ धर्म के प्रति प्रेम है ? धर्म अर्थात् मोक्ष । धर्म मोक्ष का कारण है । कारण में कार्य का उपचार हो सकता है । मोक्ष के प्रति प्रेम हो तो धर्म के प्रति क्यों नहीं ?

आपको तृप्ति प्रिय है कि भोजन ? तृप्ति प्रिय है ? भोजन के बिना तृप्ति किस प्रकार मिलेगी ? धर्म के बिना मोक्ष कैसे मिलेगा ? मोक्ष पर प्रेम हो तो धर्म पर प्रेम होना ही चाहिये ।

❖ भक्ति अर्थात् जीवन्मुक्ति । जिसने ऐसी भक्ति का अनुभव किया हो वह कह सकता है कि 'मुक्ति थी अधिक तुज भक्ति मुज मन वसी' क्योंकि भक्ति में मुक्ति जैसा आस्वाद हो रहा है उसे ।

❖ केवलज्ञान बड़ा कि श्रुतज्ञान ? अपने अपने स्थान पर दोनों बड़े हैं, परन्तु अपने लिए श्रुतज्ञान बड़ा है । यही हमारा उपकारी है । सूर्य भले ही बड़ा है, परन्तु तलघर में रहनेवाले के लिए दीपक ही बड़ा है ।

❖ इन वीतराग जिनेश्वर देव को आप ब्रह्मा, विष्णु, महेश, बुद्ध आदि समस्त नामों से पुकार सकते हैं ।

उन उन नामों की व्याख्या भगवान में घटित कर सकते हैं ।

भगवान ब्रह्मा हैं, क्योंकि वे परब्रह्म स्वरूपी हैं ।

भगवान विष्णु हैं, क्योंकि केवलज्ञान के रूप में विश्व-व्यापी हैं ।

भगवान शंकर हैं, क्योंकि सब को सुख-दाता हैं ।

भगवान बुद्ध हैं, क्योंकि केवलज्ञानरूपी बोध को प्राप्त किये हुए हैं ।

भगवान कृष्ण हैं, क्योंकि कर्मों का कर्षण करते हैं ।

भगवान राम हैं, क्योंकि आत्म-स्वभाव में सतत रमण करते हैं ।

❖ लोक की अपेक्षा अनन्तगुना अलोक है । वैसे अनन्त लोक + अलोकों को उठाकर कहीं फैक दे; ऐसी शक्ति परम आत्मा के एक आत्मप्रदेश में है ।

❖ बार-बार बोले जाते 'देव-गुरु पसाय' का अर्थ क्या ?

यही कि जो कुछ हुआ है उसमें भगवान की कृपा है । मेरा कुछ नहीं है । हम बार-बार यह शब्द बोलते तो हैं, परन्तु जीवन के साथ हमने उसका कोई सम्बन्ध नहीं रखा । प्रत्येक कार्य की सफलता में क्या देव-गुरु याद आते हैं ? सच कहना ।

साहिब समर्थ तुं धणी रे ।

पाम्यो परम आधार;

मन विश्रामी वालहो रे,

आतम चो आधार ।

आत्मा के आधार स्वरूप, मन के विश्राम स्वरूप, परम आधाररूप समर्थ साहिब जिनेश्वर देव के दर्शन किये अर्थात् सब के दर्शन किये । ऐसे दर्शन होने के बाद T.V. आदि देखने का मन होगा ? टी.वी. देखने की इच्छा हो तो समझना कि अभी तक भगवान को देखे ही नहीं हैं । (टी.वी. देखने की प्रतिज्ञा दी गई ।)

❖ अभय, गुणप्रकर्षयुक्त, एवं अचिन्त्य शक्तिमान भगवान हैं, परन्तु इससे दूसरों को क्या लाभ ? भगवान परोपकार करने के स्वभाव वाले भी हैं । हमारी तरह स्वार्थ में ही लीन रहनेवाले प्रभु नहीं हैं ।

हमें जिस प्रकार चाय आदि का व्यसन है, उस प्रकार प्रभु को परोपकार का व्यसन है । यदि प्रभु का संग करें तो उनका व्यसन हमारे भीतर नहीं आयेगा ? शराबी के साथ रहनेवाला व्यक्ति शराब का व्यसनी बने तो प्रभु का प्रेमी परोपकार व्यसनी नहीं बनेगा ? यदि न बने तो समझे कि प्रभु का संग हुआ ही नहीं ।

❖ अभिमान महान् व्यक्ति को भी नीचे पछाड़ता है । रावण, दुर्योधन आदि इसके उदाहरण हैं । दूसरी माता (नवकारमाता) हमारा अहंकार तोड़ती है । हमारी साधना के मार्ग को निर्विघ्न बनाती है ।

✽ प्रश्न व्याकरण में अहिंसा के ६० नाम दिये हैं, जिनमें एक नाम 'शिवा' भी है ।

अहं तित्थयरमाया, सिवादेवी तुम्ह नयरनिवासिनी;
अम्ह सिवं तुम्ह सिवं, असिवोवसमं सिवं भवतु स्वाहा ।

इसका हम क्या अर्थ करते हैं ? शिवादेवी नेमिनाथ भगवान की माता ? परन्तु इसकी अपेक्षा 'शिवा' का अर्थ करुणा = अहिंसा करें तो ? करुणा ही तीर्थकरत्व की माता है ।

सुरत में पूज्य भुवनभानुसूरिजी को ये साठ नाम बताये । 'शिवा' शब्द बताया । वे प्रसन्न हो गये ।

✽ अहिंसा का यहां जो पालन करता है उसे पूर्ण अहिंसारूप सिद्धशिला प्राप्त होती है । जो धर्म का पूर्ण पालन करता है उसे मोक्ष मिलता है । कारण आया तो कार्य आनेवाला ही है । दीपक आयेगा तो प्रकाश कहां जायेगा ? भोजन आयेगा तो तृप्ति कहां जायेगी ? तृप्ति के लिये नहीं, परन्तु भोजन के लिए ही प्रयत्न करनेवाले हम धर्म के लिए प्रयत्न क्यों नहीं करते ? चलने का प्रयत्न करते रहोगे तो मंजिल कहां जायेगी ? चलते रहो, मंजिल अपने आप आ जायेगी । भोजन करो, तृप्ति अपने आप आयेगी । दीपक जलाओ, प्रकाश अपने आप मिलेगा । भक्ति करो, मुक्ति अपने आप मिलेगी ।

मुक्ति-मुक्ति का जाप करें परन्तु उसके कारण का समादर न करें तो हम उस मूर्ख के समान हैं जो तृप्ति-तृप्ति का जाप तो करता है, परन्तु सामने ही रखे लड्डू खाता नहीं ।

✽ अंधा और लंगड़ा दोनों साथ रहें तो इष्ट स्थान पर जा सकते हैं, परन्तु यदि वे अलग रहें तो ?

क्रिया एवं ज्ञान साथ मिलें तो मोक्ष मिलता है, परन्तु अलग रहें तो ? मोक्ष दूर ही रहेगा ।

✽ तीसरी माता आज्ञापालन के लिए है ।

नमो अरिहंत + आणं = प्रभु की आज्ञा को नमस्कार ।
आज्ञा को नमस्कार अर्थात् आज्ञा का पालन करना ।

दूसरी माता ने आत्मतुल्य दृष्टि दी, परन्तु तीसरी माता ने तो आत्मतुल्य वर्तन दिया । फिर दूसरे का दुःख, अपना ही दुःख

प्रतीत होता है ।

पर की दया अपनी ही दया है; ऐसी दृष्टि यहां खुलती है ।

विरति धर्म का शुद्ध पालन तो ही हो सकता है । यहां से जाने से पूर्व बारह व्रत ले लें । सामान्यतया अहिंसा आदि का पालन जैनों में होता ही है । क्या आप जान-बूझकर जीवों को मारते हैं ? क्या आप चींटियों या मकोड़ों पर जान-बूझकर पांव रखते हैं ? जैन संतान स्वाभाविक रूप से ही ऐसा नहीं करेगा । अब सिर्फ व्रत लेने की आवश्यकता है ।

❖ पटु, अभ्यास एवं आदर में इन तीन प्रकार से संस्कार पड़ते हैं ।

१. पटु : उदाहरणार्थ, यूरोप में हाथी नहीं होते । किसीने उन्हें हाथी बताया । उन्होंने घूरकर देखा, दो-चार बार देखा । अब वे कभी नहीं भूलेंगे । यही बात धर्म-कार्य पर घटित करनी चाहिये ।

२. अभ्यास : देलवाडा आदि की नकाशी देखी है ? कैसे की होगी ? यह अभ्यास का फल है । यहां ऐसे वैद्य थे कि नाड़ी देखकर रोग बता देते थे । ऐसे पगी थे जो अज्ञात व्यक्ति के पद-चिन्ह खोज निकालते थे । यह सब अभ्यास का फल है । जितना मजबूत अभ्यास होगा, उतने प्रगाढ़ संस्कार पड़ेंगे ।

३. आदर : भव-भव में साथ चले वह । कोई दिव्य अनुभूति होने से ऐसा आदर उत्पन्न होता है जो भव भव तक नहीं जाता ।

इन तीनों के प्रभाव से ही भगवान जन्मजात वैरागी होते हैं । पूर्वभव के संस्कार इस भव में आ सकते हों तो इस भव के संस्कार आगामी भव में नहीं आयेंगे ? इस भव में अब कैसे संस्कार डालने हैं ? यही आपको विचार करना है ।

इस तीर्थ में उत्तम भाव प्रभु के प्रभाव से उत्पन्न होते हैं । वे भाव सदा बने रहें, जन्म-जन्मान्तर में साथ चलें, उन्हें 'अनुबन्ध' कहा जाता है ।

जो शुभ भाव नहीं है, उन्हें प्रभु उत्पन्न करते हैं । जो भाव है उन्हें स्थिर करते हैं । इसीलिए प्रभु नाथ हैं । प्राप्ति एवं सुरक्षा करानेवाले नाथ कहलाते हैं ।

प्राप्त गुणों का संवर्धन एवं उनकी सुरक्षा परमात्मा द्वारा निर्दिष्ट

क्रियाओं के पालन द्वारा होती है, क्योंकि इस समय हमारे गुण शायोपशमिक भाव के हैं ।

जिस दिन कमाई नहीं हो, उस दिन को व्यापारी बांझ मानता है, उसी प्रकार जिस दिन शुभ भावों की, गुणों की कमाई न हो उस दिन को आप बांझ गिनें ।

❖ 'स्व-परात्मबोधः' यह भक्ति की शोभा है ।

'स्व' एवं 'पर' अर्थात् क्या ?

'स्व' अर्थात् मैं और 'पर' अर्थात् तू ? मात्र परिवारजन ? नहीं, 'स्व' अर्थात् आत्मा और 'पर' अर्थात् दूसरी पूरी दुनिया, जड़-चेतन सब ।

जड़-चेतन का सच्चा बोध तब ही माना जाता है जब सब के साथ समुचित व्यवहार हो । यही करुणा है, यही अष्टप्रवचन माता हैं । तीर्थकरों की एवं सम्पूर्ण संसार की माता एक ही है - 'करुणा' !

❖ कर्म के तीन प्रकार हैं - द्रव्यकर्म, भावकर्म एवं नोकर्म । द्रव्यकर्म है कर्मण वर्गणा । भावकर्म है राग-द्वेष और नोकर्म शरीर-इन्द्रियों हैं । इन तीनों कर्मों से मुक्ति प्राप्त करनी है ।

❖ विरतिधरों में व्यक्तरूप से योग होता है । सम्यग्दृष्टि आदि में योग का बीज होता है । इसीलिए योग के सच्चे अधिकारी विरतिधर माने गये हैं ।

❖ गुणपर्यायवद् द्रव्यम् । हमारा आत्म-द्रव्य कैसा है ? गुण-पर्याय का खजाना है ।

❖ प्रथम माता : प्रीतियोग प्रदान करती है ।

दूसरी माता : भक्तियोग प्रदान करती है ।

तीसरी माता : वचनयोग प्रदान करती है । वचन अर्थात् आज्ञापालन ।

चौथी माता : असंगयोग प्रदान करती है । असंग अर्थात् समाधि ।

'मुक्तिं गतोपीश ! विशुद्धचित्ते । गुणाधिरोपेण ममासि साक्षात् । भानुर्दवीयानपि दर्पणेऽशु - सङ्गात्र किं द्योतयते गृहान्तः ? मुक्तिं गयो तोय विशुद्धचित्ते, गुणोवडे तुं अहिंया ज भासे;

हो सूर्य दूरे पण आरिसामां, आवी अने शुं घर ना प्रकाशे ?

‘प्रभु ! आप मोक्ष में गये हैं, फिर भी गुणों के आरोप से मेरे विशुद्ध चित्त में साक्षात् निवास कर रहे हैं । दूरस्थ सूर्य भी दर्पण में संक्रान्त होकर क्या घर उज्ज्वल नहीं करता ?’

यह कुमारपाल की प्रार्थना है ।

इतना सामने होने पर भी भगवान हमें क्यों दूर लगते हैं ?

★ गुप्त से गुप्त बात, व्यापार का रहस्य, व्यापारी चाहे अन्य किसी को न दे परन्तु अपने विनीत पुत्र को तो अवश्य देगा ही । हम प्रभु के विनीत पुत्र हो जायें तो ? हम उनके आज्ञापालक हो जायें तो ? भगवान के खजाने के स्वामी नहीं बन सकते ?

‘अध्यातम रवि उग्यो मुझ घट,

मोह-तिमिर हर्युं जुगते;

विमलविजय वाचकनो सेवक,

राम कहे शुभ भगते ।’

भगवान सूर्य बनकर हृदय-मन्दिर में पदार्पण करते हैं, तब ऐसे उद्गार निकल सकते हैं । कर्म-विवर ही खिड़की है, वहीं होकर परम का उजाला हमारे हृदय में आ सकता है ।

★ कठोरता हो तब तक चित्त विशुद्ध नहीं बनता । जिस दिन कठोरता-क्रूरता की हो उस दिन ध्यान नहीं लगता । आप अनुभव करके देखें, अनुभवी महानुभावों को पूछ लेना । इसीलिए ध्यान-माता से पूर्व धर्ममाता बताई है ।

अष्टप्रवचन माता के द्वारा समस्त जीवों के प्रति करुणाभाव जगता है, आत्म-तुल्य भाव जगता है, उसके बाद ही चौथी ध्यान-माता के लिए योग्यता प्रकट होती है ।

आत्मतुल्य भाव की अपेक्षा भी आत्मैक्य-भाव बढ कर है । भगवान समस्त जीवों को आत्म-तुल्य भाव से ही नहीं देखते, वे समस्त जीवों के साथ स्वयं को एक रूप से देखते हैं ।

★ परमात्मा के साथ अभेद कब हो सकता है ?

शरीर के साथ भेद साध लेते हैं तब ही समस्त जीवों के साथ एवं प्रभु के साथ अभेद-भाव साध सकते हैं ।

ऐसा अभेद आते ही अमृत-कुण्ड में स्नान करते हों वैसा

अनुभव होता है, 'पियो अनुभव रस प्याला' ऐसे उद्गार इस दशा में निकलते हैं। शराबी की तरह अनुभव का भी एक लोकोत्तर नशा होता है, जहां देह का भी भान नहीं रहता।

यह अनुभव का प्याला जिसने पी लिया उसे गांजा-भंग आदि पसन्द नहीं आते। ऐसा योगी सातों धातुओं के रस को भेदकर आत्माके रस को वेदता है।

✽ मैत्री से क्रोध का, प्रमोद से मान का, करुणा से माया का और माध्यस्थ से लोभ का जय होता है।

✽ नाम का आलम्बन प्रथम माता देती है।

मूर्ति का आलम्बन दूसरी माता देती है।

आगम का आलम्बन तीसरी माता देती है।

केवलज्ञान का आलम्बन चौथी माता देती है।

गणधरों के 'भयवं किं तत्तं ?' प्रश्न के उत्तर में भगवान ने क्रमशः 'उप्पन्नेइ वा विगएइ वा धुवेइ वा' उत्तर दिया। इस त्रिपदी में से द्वादशांगी का जन्म हुआ। निर्विकल्प समाधि के बिना ऐसा उत्कृष्ट निर्माण नहीं हो सकता। शब्दातीत अवस्था में जाने के बाद समस्त शब्द आपके दास बनकर चरण चूमते हैं। आपको शब्द ढूँढने नहीं पड़ते, शब्द आपको ढूँढते हुए आते हैं, और रचना अनायास ही हो जाती है।

✽ आत्मप्रदेश का आनन्द अलग होता है, अव्याबाध सुख का आनन्द अलग होता है।

जिस प्रकार कोई उदार व्यक्ति भिन्न-भिन्न मिठाइयों से भक्ति करता है, उस प्रकार चेतना चेतन की भक्ति करती है। अनादिकाल से चेतन ने कभी चेतना के सामने भी देखा नहीं है। अब चेतना ने निश्चय किया है कि ऐसी भक्ति करूं कि चेतन कभी बाहर जाये ही नहीं।

चेतना पतिव्रता नारी है जो स्वामी को कभी छोड़ती नहीं। हम इतने नफफट हैं कि कभी उसके सामने देखा नहीं।

सहभाविनो गुणाः क्रमभाविनः पर्यायाः

गुण सदा साथ ही रहते हैं। वे कभी हमारा संग नहीं छोड़ते।

• • • • •



७-१०-१९९९, गुरुवार
आ. व. १३ (दोपहर)

मैं बोलूँ और आपको मधुर लगे, यह मेरे हाथ में नहीं है। लगता है कि तीर्थकरों का यह प्रभाव है, प्रथम माता का प्रभाव है जो सत्य एवं प्रिय वाणी सिखाती है, जो देव-गुरु की भक्ति सिखाती है।

प्रथम माता साधु भगवंत के साथ मिलाप कराती है। मोक्ष-मार्ग में जो सहायता करे वह साधु।

दूसरी माता उपाध्याय भगवंत के साथ मिलन कराती है। ज्ञान प्रदान करे वे हैं उपाध्याय। विनय एवं भक्ति के वे जीवित दृष्टान्त हैं।

तीसरी माता आचार्य भगवंत के साथ मिलन कराती है, आचार्य आचार्यों का पालन करते हैं।

चौथी माता अरिहंत परमात्मा के साथ मिलन कराती है, त्रिपदी देकर ध्यान में ले जाती है।

चार माताओं की गोद में बैठने पर पांचवी गति (मोक्ष) मिलेगा ही।

❖ भक्ति के दो प्रकार हैं - वानरी भक्ति एवं मार्जारी भक्ति। भक्ति करते हैं, परन्तु श्रद्धा नहीं है।

बन्दरी को उसका बच्चा लिपट रहा है, अतः उसका काम हो गया। उसे कूदने की आवश्यकता नहीं रहती। हम भी यदि गुरु या अरिहंत को पकड़ कर रहें तो फिर भय किस बात का ? दुर्गति का भय कैसा ? जो भगवान को पकड़ कर रहे वह दुर्गति में नहीं जाता।

शशिकान्तभाई - 'हम आपको पकड़ कर रहे हुए हैं, सद्गति में ले जाओगे न ?'

पूज्यश्री : इसका नाम ही शंका। आप पकड़ कर रहें तो किसकी ताकत है जो दुर्गति में ले जाये ?

शशिकान्तभाई - मैं कहता हूं, आप 'हां' कहें। शंका नहीं है।

पूज्यश्री : यह भी शंका है। भोजन को प्रार्थना नहीं करनी पड़ती कि 'हे भोजन ! तू भूख मिटाना, तृप्ति देना। भगवान को प्रार्थना नहीं करनी पड़ती, यह उनका स्वभाव है, परन्तु हमें पूर्ण श्रद्धा नहीं है, इसीलिए शंका होती है, प्रश्न उठता है।

रेलगाड़ी पर कितना विश्वास है ? आप नींद कर लेते हैं, परन्तु झाड़वर नींद मारने लग जाय तो ? आपको झाड़वर पर विश्वास है, लेकिन देव-गुरु पर विश्वास नहीं है। इसीलिए पूछना पड़ता है।

शशिकान्तभाई - मिच्छामि दुक्कडं।

नहीं, इसमें आपने कोई गलत नहीं पूछा। आपने पूछा नहीं होता तो इतना स्पष्ट नहीं होता। लोगों को जानने को नहीं मिलता।

योगावंचक साधक फल प्राप्त करता ही है। गुरु के प्रति अवंचकता की बुद्धि ही योगावंचकता है।

गुरु को देखे, उनके समीप बैठे, उनकी बात सुनी, वासक्षेप डलवाया, इतने मात्र से नहीं कहा जा सकता कि गुरु मिल गये।

डीसा में एक ऐसे भाई मिले थे, जिन्होंने कहा; 'तीन-चार महिनों से आता हूं। एक भी प्रश्न पूछा नहीं, परन्तु मुझे समस्त प्रश्नों का उत्तर मिल गया है।

'प्रभु ! आप आदेश दें, मुझे क्या करना चाहिये ?' इस प्रकार वह कहने लगा था।

यह गुरु में भगवद्बुद्धि हुई कहलाती है।

गुरु तत्त्व है, व्यक्ति नहीं । आप बहुमान करते हैं, आप नारे लगाते हैं वे व्यक्ति के नहीं, गुरु-तत्त्व के हैं ।

गुरु को पकड़ कर रहता है उसे गुरु भवपार करा देते हैं, यह है वानरी भक्ति । वानर-शिशु का काम सिर्फ इतना ही है कि पकड़ कर रहना ।

रेलगाडी में जानेवालों का सिर्फ इतना ही काम है कि रेलगाडी में बैठा रहना, जो स्वयं इष्ट स्थान पर पहुंच जाता है ।

❖ 'उवस्सगहरं' में कहा है - 'ता देव दिज्ज बोहि', 'भगवन् ! मुझे बोधि प्रदान करें ।' सब कुछ होता तो इस प्रकार मांगने की जरूरत क्या ?

❖ कल चतुर्दशी है । आयंबिल करना । मंगलरूप है, विघ्न-निवारक है । थाली, जीभ, मन आदि पर कुछ नहीं चिपकेगा ।

आयोजक न कह सकें, परन्तु हम कह सकते हैं ।

यदि कल मजा आ जाये तो आश्विन ओली में आ जाना ।

• • • • •

परमतत्त्वनुं चिन्तन

परमतत्त्वनुं के परमात्मानुं चिन्तन शुद्ध भावनुं कारण बने छे ।
अग्निमां नांखेलु सुवर्ण प्रतिक्षण अधिक - अधिक शुद्ध थतुं जाय
छे, तेम परमात्मांनी भक्तिमां तेना गुण-चिन्तनमां साधक अखंड धारा
रखे तो तेनो आत्मा पण वधु ने वधु शुद्ध थतो जाय छे । प्रभुभक्तिनुं
आ योगबळ सर्वत्र अने सर्वदा जयवतुं वर्ते छे ।



पूज्य सिद्धिसूरि स्वर्गरोहण तिथि

८-१०-१९९९, शुक्रवार

आ. व. १४ (प्रातः)

✽ एक जगमगाता दीपक अनेक को प्रकाशित करता है, एक तीर्थंकर अनेक को प्रकाशित करते हैं। भगवान महावीर प्रभु द्वारा प्रज्वलित शासन-दीप इक्कीस हजार वर्षों तक बिना बुझे जलता रहेगा।

✽ मनुष्य की शोभा मधुर एवं सत्यवाणी है। इन्द्रभूति भगवान महावीर को जीतने के लिए आये थे, परन्तु भगवान की प्रिय एवं मधुर वाणी ने उन्हें वश में कर लिया। वे भगवान महावीर के ही शिष्य बन गये।

गुरु की सेवा कहां तक करनी चाहिये ?

∴ गुरुत्वं स्वस्य नोदेति, शिक्षा-सात्त्येन यावता ।

आत्मतत्त्व - प्रकाशेन, तावत् सेव्यो गुरुत्तमः ॥

जब तक घर में अनुभव-प्रकाश नहीं हो जाये, जब तक शिक्षा के द्वारा भीतर गुरुत्व उत्पन्न न हो, तब तक गुरु की सेवा

कहे कलापूर्णसूरि - १ ***** ३६७

करनी चाहिये ।

जिसे सम्पददर्शन हो गया उसे आत्मदर्शन, तत्त्वदर्शन एवं विश्वदर्शन हुआ समझें ।

★ भक्ति का दूसरा प्रकार - मार्जरी भक्ति ।

वानर-शिशु माता को पकड़ता है, जबकि यहां बिल्ली बच्चों को पकड़ती है । ज्ञानी एवं भक्त की भक्ति में इतना अन्तर है ।

ज्ञानी भगवान को पकड़ता है, यह वानरी भक्ति है, उदाहरणार्थ अभयकुमार ।

भगवान भक्त को पकड़ते हैं, यह मार्जरी भक्ति है, उदाहरणार्थ - चण्डकौशिक ।

अभयकुमार ने भगवान को पकड़े थे । येन केन प्रकारेण दीक्षा ग्रहण करके भगवान का शरण लिया था, जबकि चण्डकौशिक का उद्धार करने के लिए भगवान स्वयं वहां तक गये थे ।

★ जीयात् पुण्यांगजननी, पालनी शोधनी च मे ।

मेरे पुन्यरूप देह की जननी, उसका पालन, शोधन करनेवाली माता की जय हो ।

माता क्या करती है ? बालक को जन्म देती है, सम्हालती है और स्वच्छ रखती है । माता के अलावा यह कार्य कौन कर सकता है ? याद है यह सब ? शैशव को याद करें । जब आप पालने में झूलते थे, सोते थे, तब आपको कौन झुलाता था ? कौन झुला-गीत गाता ? कौन दूध पिलाता था ? कौन मन्दिर ले जाता था ? कौन नवकार सिखाता था ?

ऐसे संस्कार देनेवाली माता को भला कैसे भूल सकते हैं ? उसकी अवहेलना कैसे की जा सकती है । चारसौ साधकों में माताकी अवहेलना करनेवाला कोई भी नहीं होगा । अवहेलना करने वाले की यहां आने की इच्छा ही नहीं होगी ।

हम रोते और माता दौड़ती हुई आती ।

हमें भूख लगती और माता दूध पिलाती ।

हम बिस्तर बिगाड़ते, गीला करते और माता उसे हटाकर हमें सूखे बिस्तर पर सुलाती । ऐसी माता को क्या आप भूल सकते हैं ? भगवान भी जगत् की मां हैं, जगदम्बा है ।

मद्रास में ऐसी दशा हो गई, स्वास्थ्य इतना बिगड़ गया कि जाने की तैयारी थी। मुहपत्ति के बोल भी नहीं बोल सकता था। ऐसी दशा से मुझे उगारने वाला कौन ? माता के अलावा कौन है ? भगवान में मैं 'माता' का दर्शन करता हूँ।

उन्होंने आकर मुझे बचा लिया। आज मुझे लगता है कि भगवान ने मानो मुझे पुनर्जन्म दिया।

❖ 'मग्गो अविप्पणासो, आयाय विणयण - सहाएहि'

निर्युक्ति में इस प्रकार श्री भद्रबाहुस्वामी ने पंच परमेष्ठियों के गुण गिनाये हैं। अरिहंत मार्गदर्शक हैं।

सिद्ध अविनाशी है।

आचार्य आचार-पालक एवं आचार-प्रसारक हैं।

उपाध्याय ज्ञान का विनियोग करनेवाले हैं।

साधु मोक्ष-मार्ग में सहायक हैं।

❖ दूसरे का ज्ञान हमारे भीतर किस प्रकार संक्रान्त होता है ? विनय से, बहुमान से संक्रान्त होता है।

विनय होगा तो ज्ञान आयेगा ही। इसीलिए ज्ञान की अधिक चिन्ता न करें, विनय की करें। नवकार विनय सिखाता है। नवकार विनय का मंत्र है। नवकार अक्कड़ मनुष्यों को झुकना सिखाता है। नवकार बार-बार कहता है - नमो, नमो, नमो।

'नमशो तो गमशो, नहि तो भवमां भमशो।'

एक बार नहीं, छः बार 'नमो' का प्रयोग नवकार में हुआ है।

नमो से विनय आता है, विनय एक प्रकार की समाधि है -

ऐसा श्री दशवैकालिक में कहा है।

अरिहंत के पास मार्ग प्राप्त करना है।

भगवान मार्गदर्शक ही नहीं, स्वयं भी मार्गस्वरूप है।

अतः भगवान को पकड़ लो, मार्ग अपने आप आ जायेगा।

देखिये - उपाध्याय यशोविजयजी कहते हैं -

ताहरुं ध्यान ते समकितरूप,

तेहिज ज्ञान ने चारित्र तेह छेजी;

तेहथी रे जाये सघला हो पाप,

ध्याता ध्येय स्वरूप होये पछेजी।

भगवान का ध्यान ही सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चारित्र है -
ऐसा उपाध्यायजी महाराज का कहना है, तो भगवान मार्ग बन गये
न ?

❖ आज पूज्य बापजी महाराज की चालीसवीं स्वर्गतिथि है ।
वे वि. संवत् २०१५ में १०५ वर्ष की आयु में स्वर्गवासी हुए थे ।
उनकी परम्परा में १०३ वर्ष के भद्रसूरिजी तथा वर्तमान में विद्यमान
अठाणवे वर्षीय भद्रंकरसूरिजी का स्मरण हो जाता है । इनका जन्म
वि. संवत् १९११ की सावन शुक्ला पूर्णिमा को हुआ था ।

पू. बापजी महाराज का संसारी नाम चुनीलाल था । विवाह
के बाद वैराग्य होने पर धर्मपत्नी चंदन की अनुमति लेकर उन्होंने
साधुवेष पहन लिया । परिवारजनों ने तीन दिनों तक कमरे में बन्द
कर दिया । खाने-पीने को दिया नहीं । सारे अहमदाबाद में हलचल
मच गई ।

आखिर परिवारजनों को उन्हें अनुमति देनी पड़ी । लुहार-
पोल में मणिविजयजी ने उन्हें वि. संवत् १९३२ में दीक्षा दी ।
मणिविजयजी के अन्तिम शिष्य सिद्धिविजयजी बने । उसके बाद
उनकी धर्मपत्नी चंदन ने दीक्षा ली । उनके साले ने भी दीक्षा ग्रहण
की जिनका नाम प्रमोदविजयजी रखा गया ।

प्रथम वर्षावास में ही गुरु की आज्ञा से वृद्ध साधु रत्नसागरजी
महाराज की सेवा में वे सुरत गये । उन्होंने निरन्तर आठ वर्षों तक
उनकी सेवा की, सुरतवासियों का प्रेम जीता, पाठशाला की स्थापना
की, पर उसमें भी अपना नाम न देकर रत्नसागरजी का नाम दिया ।
आज भी रत्नसागरजी के नाम वाली पाठशाला चलती है ।

उसी वर्ष आश्विन शुक्ला ८ को गुरुदेव मणिविजयजी कालधर्म
को प्राप्त हुए । उन्हें गुरु का सामीप्य केवल छः महिनों का ही
मिला, परन्तु अन्तर के आशीर्वाद प्राप्त हो चुके थे ।

अध्ययन करने में इतनी रुचि कि छाणी से नित्य नौ कि.मी.
चलकर गजाराय शास्त्री के पास पढ़ने जाते ।

वि. संवत् १९५७ में सुरत में ३० दिनों के महोत्सव पूर्वक
उन्हें पंन्यास पदवी से विभूषित किया गया ।

८४ वर्ष की आयु में उन्होंने चलकर सिद्धाचल, गिरनार की

यात्रा की थी ।

उन्होंने ५०० प्रतिमाओं की अंजनशलाका की थी । अन्तिम तैंतीस वर्षों से अखण्ड वर्षी-तप चलते थे । कालधर्म के दिन आ. व. १४ (गुजराती भा. व. १४) को भी उपवास था ।

(दक्षेशभाई संगीतकारने सिद्धिसूरिजी का गीत गाया)

(मांडवी में आज बीस हजार भेड़ तथा दस मुर्गियां किसी कार्यक्रम में भोजन के लिए बलि होनेवाली थी । सख्त विरोध होने पर वह कार्यक्रम बंध रहा है । अतः हम सब आनन्द का अनुभव कर रहे हैं । गुजरात के मुख्यमंत्री केशुभाई की मध्यस्थता से यह कार्य हुआ है ।)

• • • • •

निश्चय अने व्यवहार

भगवाने निश्चय अने व्यवहार बे धर्मो उपदेश्या छे.
तत्त्वदृष्टि / स्वरूपदृष्टि ते निश्चय धर्म छे अने ते दृष्टि प्रमाणे भूमिकाने
योग्य प्रवृत्ति, आचारादि व्यवहार धर्म छे. बने धर्म रथना बे पैडा
जेवा छे. रथ चाले त्यारे बे पैडा साथे चाले छे.



८-१०-१९९९, शुक्रवार
 आ. व. १४ (दोपहर)

★ नमस्कार चाहे सेवक ने किया, परन्तु गिना जायेगा नमस्करणीय का । यदि नमस्करणीय नहीं हो तो नमस्कार किसको होता ? नमस्करणीय का यह भी एक उपकार है ।

सामायिक का अध्यवसाय उत्पन्न करानेवाले अरिहंत हैं । सम्पूर्ण जगत् में शुभ अध्यवसाय उत्पन्न कराने का उत्तरदायित्व अरिहंतों ने ही लिया है, ऐसा कहें तो भी चलेगा ।

★ महेन्द्रभाई ने परिवार की ओर से आकर विनती की कि मुझे ऐसा अनुष्ठान कराना है । हमने स्वीकृति दे दी । पहले भी ऐसा अनुष्ठान कराया हुआ है । हमारे पूर्व परिचित हैं ।

भूमि का भी प्रभाव होता है जहां निर्विघ्न कार्य सम्पन्न होते हैं । क्या सुख या मुंबई में ऐसा कार्य हो सकता था ? क्या वहां ऐसा शान्त वातावरण मिलता ?

मद्रास अंजनशलाका में भोजन, महोत्सव, विधि-विधान, स्टेज प्रोग्राम, मन्दिर आदि सब अलग अलग स्थान में था । बराबर जमता नहीं । उदारता के बिना ऐसे अनुष्ठान सुशोभित नहीं होते ।

पुनः पुनः ऐसे अनुष्ठान कराते रहो, दूसरों को भी ऐसी प्रेरणा

मिलेगी कि हम भी ऐसा करावें । दीक्षा, प्रतिष्ठा अथवा उपधान जो अनुष्ठान दिखाई दे वे करने की इच्छा मनुष्य को होती रहती है ।

❖ चौदहपूर्वी अन्त में शायद सब भूल जाये, परन्तु नवकार नहीं भूलते । नवकार इस भव में ही नहीं, भव-भव में भूलने का नहीं है ।

❖ भैस आदि खाने (चरने) के बाद वागोलती है, उस प्रकार आप यहां सुने हुए पदार्थों को वागोलते रहें । यहां तो सूत्रात्मक रूप में दिया है । इसका विस्तार बाकी है, मन्थन बाकी है ।

‘उपयोगो लक्षणम्’ आदि कितने गम्भीर अर्थ-सूचक सूत्र हैं ? उन पर जितना चिन्तन करें उतना कम है ।

❖ इस अनुष्ठान में आराधकों की ओर से आयोजकों की अथवा आयोजकों की ओर से आराधकों की कोई शिकायत नहीं आई । ऐसा बहुत कम स्थानों पर होता है ।

❖ पंच परमेष्ठी अरिहंत का ही परिवार है ।

गणधर (आचार्य) अरिहंत के शिष्य है ।

उपाध्याय गणधरों के शिष्य है ।

साधु उपाध्यायों के शिष्य हैं ।

‘सिद्ध’ इस सब का फल है ।

❖ भगवान का शरण चार स्थानों से प्राप्त होता है ।

चार स्थान अर्थात् चार फोन के स्थान समझें ।

नाम, स्थापना, द्रव्य एवं भाव ।

जाप से नाम की, मूर्ति से स्थापना की, आगम से द्रव्य की और शुद्ध आत्मद्रव्य से भाव अरिहंत की उपासना हो सकती है ।

यदि इन चारों का सम्पर्क करेंगे तो भगवान मिलेंगे ही ।

इन प्रभु को आप क्षण भर के लिए भी छोड़ोगे नहीं ।

बन्दर के बच्चे की तरह हमें भगवान से लिपट कर रहना है ।

यदि भगवान को छोड़ दिया तो हमारा कच्चरघाण निकल जायेगा ।

‘प्रभु पद वलग्या ते रह्या ताजा,

अलगा अंग न साजा रे...’

प्रभु को लिपटना अर्थात् उनकी आज्ञा को लिपटना । बन्दर का बच्चा यदि माता को छोड़ दे तो ?

यहां यदि जाप में आपको आनन्द आया हो तो आप इस जाप को जीवन में उतारें । जाप से संसार के कष्टों में दृढ़ रहने की शक्ति मिलेगी ।

यदि नवकार को फलदायी बनाना हो तो रात्रि-भोजन त्याग, अभक्ष्य त्याग आदि को अपनार्यें ।

• • • • •

अध्यात्मयोगी, सांप्रतकालीन महान भक्तियोगाचार्य पूज्यपाद आचार्यदिवेश श्रीमद् विजय कलापूर्णसूरीश्वरजी महाराजना कालधर्मा समाचारधी वज्रघात अनुभव्यो ।

स्व. पूज्यपादश्रीना सान्निध्यमां दहीसर मुकामे मात्र एक ज दिवस रहेवानुं सद्भाग्य मळ्युं हतुं पण ते एक दिवस जीवनमां क्यारेय नहि भूलाय । दर्शन मात्रधी दुस्तिनो ध्वंस थई जाय तेवुं तारक दर्शन हवे क्यारेय नही मळे.. ए विचारमात्रधी व्यथित थई जवाय छे । परमात्मा समक्ष बाळकनी जेम कालावाला करता ए परम प्रभुभक्तनी भक्तिघेली ए मनोहर मुखमुद्रा आंख सामेधी खसती नथी ।

वर्तमान जैन संघे एक अणमोल त्व गुमाव्युं छे । तेओश्रीनी विदायधी जैन संघने खूब मोटो फटको पड्यो छे । तेओश्रीनुं व्यक्तित्व सर्वग्राह्य अने सर्वमान्य हतुं । सकल संघना हृदयमां तेओश्रीनुं उंचुं स्थान हतुं । नवी मुंबई प्रतिष्ठ प्रसंगे पधार्या त्यारे मुंबई नजीकना तमाम स्थळ्हेए तेओश्रीना दर्शन माटे केवो मोटो मानव-महेरामण उभरतो हतो ?

आ पूज्यपादश्रीनी सेवाभक्ति अने जीवनभर सान्निध्य पामोने आप सहु तो धन्य बनी गया । पूज्यपादश्रीनी विदाय आप सहुने विशेष आघात उपजावे ते सहज छे । पंतु परमोपकारी प्रभुशासनमां आवा घा रुझववा ज्ञानसायण आपणने भरपूर मळ्युं छे । पूज्यपादश्रीनी गरवी गुणस्मृति तो आपणी पासे छे ज ।

पूज्यपादश्रीनी निकटमां रहेनाए आप सहुए तेओश्रीनी अद्भुत परिपतिना पुरावा जेवा अढळक प्रसंगो नजरे निहाळ्या हशे । अनुकृत्ताए तेनो एक दळ्दार संवय जैन संघने भेट धरशो तेवी विनंति । जेथी पूज्यपादश्रीना भव्य जीवननो जैन संघने विशेष परिचय थाय अने सुंदर प्रेरणा प्राप्त थाय ।

- एज. पं. मुक्तिवल्लभविजयनी बंदना

म.व. १, बोरीवली, मुंबई.



११ दीक्षा प्रसंग, पूजा (कृष्ण)
वि.सं. २०२८, माघ शु. १४, दि. २९-१-१९७२

९-१०-१९९९, शनिवार
आ. व. ३०

आलोचना, प्रश्न, पूजा, स्वाध्याय, अपराध की क्षमा - इन समस्त प्रसंगों पर गुरु का वन्दन आवश्यक है ।

गुरु-वन्दन विनय का मूल है ।

आत्म-शुद्धि के लिए यह आवश्यक है ।

आलोचना करें, परन्तु शुद्धिपूर्वक न करें । (जितनी तीव्रता से दोष किये हों, उतनी ही तीव्रता से आलोचना करनी चाहिये ।)
तो संसार के परिभ्रमण में वृद्धि हो जाती है । महानिशीथ में यह दृष्टान्तपूर्वक उल्लेख किया गया है ।

कर्म का विनयन (विनाश) करे उसे विनय कहते हैं ।

मार्ग में चलते समय पांवों में कांटे लगे हों तो क्या आगे चला जा सकेगा ? कांटे निकालने के बाद ही चला जायेगा, उसी प्रकार से आलोचना के द्वारा दोषों के कांटे निकालने के बाद ही साधना के मार्ग पर आगे बढ़ सकते हैं ।

कयपावोऽवि मणुस्सो, आलोइय निंदिअ गुरुसगासे ।

होइ अइरेग लहुओ, ओहरिअ-भरुव्व भारवहो ॥

पापी व्यक्ति भी गुरु के पास पापों की आलोचना एवं निन्दा

करे तो अत्यन्त हलका हो जाता है - जैसे भार उतारने के बाद मजदूर हलका हो जाता है ।

जब तक हम आलोचना नहीं लेते, तब तक भारी हैं ।

आलोचना के समय सिर्फ वह पाप ही दूर नहीं होता, जन्म-जन्मान्तरों के पाप भी दूर हो जाते हैं । झांझरिया मुनि के हत्यारे राजा को जब पश्चात्ताप हुआ तब मुनि-हत्या का पाप ही नहीं, जन्म-जन्मान्तरों के पाप भी नष्ट हो गये । राजा केवली बन गया । जब आप वस्त्र के दाग साफ करने के लिए धोते हैं तब सिर्फ दाग ही साफ नहीं होता, पूरा वस्त्र स्वच्छ होता है ।

❖ जल की तरह आप धी नहीं ढोलते (बहाते), आवश्यकता से अधिक रूपये व्यय नहीं करते तो फिर वाणी का अपव्यय क्यों करते हैं ? मन का अपव्यय क्यों करते हैं ?

असंक्लिष्ट मन तो रख है, आन्तरिक धन है । उसे क्यों नष्ट किया जाये ? चित्तरत्नमसंक्लिष्टम् आन्तरं धनमुच्यते ।

हमारी वाणी कितनी मूल्यवान है ? मौन रहकर यदि वाणी की ऊर्जा का संचय करेंगे तो यह वाणी अवसर आने पर काम आयेगी, अन्यथा वैसे ही नष्ट हो जायेगी ।

मन से यदि दुःध्यान करेंगे, उल्टे-सीधे विचार करते रहेंगे तो शुभ ध्यान के लिए ऊर्जा कहां से बचेगी ?

वाणी प्रभु का गुण-गान करने के लिए मिली है ।

तत्र स्तोत्रेण कुर्या च, पवित्रां स्वां सरस्वतीम् ।

इस वाणी से कठोर शब्द कैसे निकलें ? किसी की निन्दा किस प्रकार हो सकती है ?

यह मन प्रभु का ध्यान करने के लिए है, तो दूसरों का ध्यान कैसे किया जाये ?

राजा को बैठने के योग्य सिंहासन पर भंगी (हरिजन) को कैसे बिठाया जाये ?

यदि हम इन मन, वचन, काया के योगों का दुरुपयोग करेंगे तो हमें ऐसी गति में जाना पड़ेगा जहां मन एवं वचन नहीं होंगे । देह मिलेगा अवश्य परन्तु अनन्त जीवों के लिए एक ही मिलेगा ।

एक सांसमें १७ बार मृत्यु और १८ बार जन्म होता है, पूरे मुहूर्त में ६५५३६ बार जन्म-मरण होता है उस निगोद में जाना पड़ेगा ।

एक बार वहां जाने के बाद निकलना कितना कठिन है ?

इस समय हम टेकरी की ऐसी पगडंडी के ऊपर से चल रहे हैं कि एक ओर खाई तथा दूसरी ओर शिखर है । थोड़ा चूक गये तो खाई तैयार है, निगोद की खाई ।

शिखर की ओर उर्ध्वगति के लिए प्रयत्न करने पड़ेंगे, घोर पुरुषार्थ करना पड़ेगा जो प्रभु की कृपा से ही सम्भव है । प्रभु की अनन्य भाव से शरणागति स्वीकारें ।

‘करुणादृष्टि कीधी रे, सेवक उपरे ।

भवभय भावठ भांगी भक्ति प्रसंग जो...’

प्रभु की कृपा से मोहनविजयजी जैसी स्थिति हमारी भी क्यों न बने ?

इच्छन्न परमान् भावान्, विवेकाद्रेः पतत्यथः ।

परमं भावमन्विच्छन्नाविवेके निमज्जति ॥

परम भावों का अभिलाषी अविवेकी नहीं बनता । परम भावों का अनिच्छुक ही विवेक-पर्वत से नीचे गिरता है ।

जो पाप अशुभ योगों से बंधते हैं, उनका नाश शुभ भावों से ही होता है, अशुभ भावों से तो उल्टे पाप बढ़ते हैं ।

जिस अपथ्य आहार से रोग हुआ हो, उसके परित्याग से ही रोग नष्ट हो सकता है ।

❖ हमारे दोष हम ही ढूंढ सकते हैं, दूसरा कौन ढूंढेगा ? चौबीसों घंटे गुरु साथ नहीं रहते । दोष जानने पर गुरु बार-बार टक-टक नहीं कर सकते । स्वमान को चोट पहुंचे तो शिष्य को गुरु पर भी क्रोध आ सकता है ।

यह तो स्वयं ही करना है । यदि यह कार्य हम नहीं करेंगे तो अन्य कोई नहीं कर सकेगा ।

❖ शत्रु आक्रमण करते हैं तब कितना सावधान रहना पड़ता है ?

वि. संवत् २०२१ में मैं भुजपुर था, उस समय पाकिस्तान का प्लेन बिलकुल नीचे से निकला और जामनगर पहुंचकर उसने आक्रमण कर दिया, उसी दरमियान गुजरात के मुख्यमंत्री बलवंतराय महेता का सुथरी में विमान टूटने पर अवसान हो गया था ।

कषायों का आक्रमण भी ऐसा ही होता है ।

हमें सदा सावधान रहना है ।

• • • • •



१०-१०-११११, रविवार

आ. सु. १

उत्तम धृति, उत्तम संघयण वाले के लिए श्रमण धर्म है, दूसरों के लिए श्रावक धर्म है ।

सम्यग्दर्शन से पूर्व तीर्थकरों के भवों की भी गणना नहीं की गई तो हमारी तो बात ही क्या करें ?

हम सब का भूतकाल अनन्त दुःखों से परिपूर्ण ऐसा एक समान है । अब यदि यहां प्रमाद करेंगे तो पुनः वही भूतकाल मिलेगा । उन्हीं दुःखों में पीड़ित होना पड़ेगा । पुनः पुनः उन्हीं स्थानों में, उन्हीं भावों में जाना वही चक है । संसारचक्र ही है ।

✽ उत्तम क्षमा, उत्तम मृदुता, उत्तम ऋजुता, उत्तम सन्तोष मिलने पर ही शुक्ल ध्यान के अंश की झलक मिल सकती है ।

✽ ग्यारहवे गुणस्थानक वाले भी गिरकर निगोद में जा सकते हैं तो जो कुछ मिला है उतने में सन्तोष मानकर हम प्रमाद में क्यों पड़ें ?

✽ अप्रमत्त भाव से सतत आत्म-निरीक्षण करते रहें । माया क्यों हुई ? अभिमान कहां से आया ? क्रोध क्यों आया ? हम यदि आत्म-निरीक्षण नहीं करेंगे तो कौन करेगा ?

आत्मनिरीक्षण किये बिना दोष दूर नहीं होंगे ।

जो पाप हुए हो उनका प्रायश्चित्त करें, गुरु साक्षी से गहाँ करें और आत्मसाक्षी से निन्दा करें ।

हमारे परिणाम गिरकर पूर्णतः चूर-चूर हो जायें उससे पूर्व उन्हें पकड़ लें । बरनी (भरनी) आदि कई बार गिर जाती है, तब हम कैसे बीच में से ही पकड़ लेते हैं ? नीचे गिरती हुई बरनी (भरनी) फिर भी पकड़ सकते हैं, परन्तु गिरते हुए परिणामों को पकड़ना कठिन है ।

इस प्रकार परिणाम को धारण करके सुरक्षित रखे उसे ही 'धर्म' कहा जाता है । 'धारणाद् धर्म उच्चते ।'

★ पालीताना में बाढ़ आने के समय चारित्रविजयजी कच्छीने लगभग एकसौ व्यक्तियों को बचाया था । वे तैराक थे, तैरने की कला जानते थे ।

साधु-साध्वी संसार-सागर के तैराक गिने जाते हैं ।

हमारे आश्रय पर आये हुआँ को यदि हम नहीं तारेंगे तो दूसरा कौन तारेगा ?

★ ब्यावर के समीप बलाड़ गांव में 'जिनालय हमारे बाप-दादों के द्वारा निर्मित है ।' यह पता लगते ही उन्होंने ही प्रतिष्ठा कराई । आचार्य तुलसी को उन्होंने स्पष्ट कह दिया - 'आप अपने संघ में हमें गिने या नहीं, हम हमारे बाप-दादों द्वारा निर्मित जिनालय को सम्हालेंगे ।'

वहाँ हमने प्रतिष्ठा कराई थी ।

अभी ही 'हगरीबामनहल्ली' में प्रतिष्ठा का चढ़ावा एकतेरापंथी ने लिया था ।

यहाँ से निकट मोखा गांव में प्रतिष्ठा लघु पक्ष के स्थानकवासियों ने कराई थी ।

★ दुकान में आग लगने का पता लगने पर आप क्या करते हैं ? तुरन्त बुझा देते हैं न ?

मन में भी कषाय उत्पन्न हों, उन्हें तत्काल शान्त कर दें । कषाय अग्नि से भी खतरनाक है ।

अणथोवं वणथोवं अग्निथोवं कसायथोवं च ।

न हु भे वीससिअव्वं थोवंपि हु तं बहु होइ ॥

कषाय आदि को नष्ट करने के लिए 'पगामसिज्जाय' आदि सूत्र अत्यन्त उपयोग पूर्वक बोलें । 'एगविहे असंजमे' से लगाकर तैंतीस आशातनाओं तक कैसा वर्णन किया है ?

आ समन्तात् शातना = आशातना; चारों ओर से जो समाप्त कर दे वह आशातना है ।

आग की तरह आशातना से दूर रहें । आग सर्व-भक्षी है, उस प्रकार आशातना भी सर्व-भक्षी है । हमारा सब चौपट कर देती है ।

पगामसिज्जाय आदि सूत्र कभी दूसरे बोलते हो तो अत्यन्त ही उपयोग पूर्वक सुनें । वे बोलते रहें और हमारा उपयोग अन्यत्र रहे, ऐसा नहीं होना चाहिये ।

ड्राईवर गाडी चलाते समय जितना जागृत रहता है उतनी ही जागृति सूत्र आदि में होनी चाहिये ।

प्रश्न - ड्राईवर गाडी चलाता है, दूसरे शान्ति से बैठे रहते हैं, उस प्रकार बोलनेवाले सूत्र बोलते हैं, अन्य उपयोगशून्य होकर सुनें यह नहीं चलता ?

पूज्यश्री - यहां सभी ड्राईवर हैं । सबकी आराधना की गाडी अलग है । किसी की गाडी दूसरा कोई नहीं चला सकता । आपकी गाडी आपको ही चलानी है । इसीलिए तो भगवान महावीर ने इन्द्र को सहायता के लिए इनकार किया था । मेरी साधना मेरी ओर से कोई दूसरा कैसे कर सकता है ? दूसरों के कन्धे पर बैठ कर मोक्ष-मार्ग पर नहीं जा सकते ।

आपकी ओर से अन्य कोई भोजन कर ले तो चलेगा ?

❀ आचार्य, उपाध्याय, शिष्य, साधर्मिक, साधु आदि किसीके भी साथ अपराध हुआ हो तो उसकी क्षमा याचना करनी चाहिये । 'आयरिय उवज्झाए' सूत्र यही सिखाता है । जिसका धर्म में ओतप्रोत चित्त हो वही क्षमापना कर सकता है । 'उवसमसारं खु सामण्णं', समग्र साधुता का सार उपशम है ।

सांवत्सरिक पर्व क्षमापना पर्व है । जैनों में यह पर्व इतना व्यापक है कि भारत या विश्व के किसी भी कोने में रहा हुआ

जैन क्षमापना करेगा ।

हम सब भगवान महावीर के सन्तान हैं । क्षमा हमारा धर्म है । उस मार्ग पर चलें तो ही उनके अनुयायी कहलायें ।

क्षमापना न करें, मन में शत्रुता का अनुबन्ध रखें तो कमठ या अग्निशर्मा की तरह वैर का अनुबन्ध भवोभव साथ चलेगा । ये समस्त बातें सुनकर कोध के अनुबन्ध से रुकना है ।

✿ आज भगवती में आया -

प्रश्न : साधु को संसार होता है ?

उत्तर : पूर्व कर्मों का क्षय नहीं किया हो तो अनन्त काल तक भी साधु का जीव संसार में भटक सकता है ।

✿ कर्म कहता है : मैं क्या करूं ? आपने मुझे बुलाया, अतः मैं आया । सिद्ध नहीं बुलाते, अतः मैं उनके वहां नहीं जाता ।

प्रतिक्रमण ऐसे पापकर्मों को नष्ट करने की प्रक्रिया है । उस समय ही प्रमाद करें तो हो चुका । सैनिक यदि युद्ध के समय ही प्रमाद करे तो ? स्वयं तो मरे ही, देश को भी घोर पराजय का सामना करना पड़े ।

हम प्रमाद करेंगे तो हम तो संसार का सृजन करेंगे, परन्तु हमारे आश्रितों को भी संसार में जाना पड़ेगा ।

✿ भगवान के प्रति यदि प्रीति जागृत हो तो भव-भ्रमण मिट सकता है ।

जइ इच्छह परमपथं, अहवा किर्त्ति सुवित्थडं भुवणे ।

ता तेलकुद्धरणे, जिणवयणे आयरं कुणह ॥

दो स्तवन ज्यादा बोलने से भक्ति नहीं आ जाती, परन्तु जिनवचनों के प्रति आदर होने से भक्ति निश्चल बनती है ।

जिन का प्रेम जिन-वचनों के प्रेम की ओर ले जानेवाला होना चाहिये ।

• • • • •





११-१०-१९९९, सोमवार

आ. सु. २

लोक का सार चरित्र है । इसे प्राप्त करनेवाले सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान हैं । इसकी शुद्धता में जितनी वृद्धि होगी, उतना मोक्ष समीप आयेगा । अशुद्धि बढ़ने के साथ संसार बढ़ता है ।

देव-गुरु की कृपा से ज्ञान आदि गुण प्रकट होते हैं, जो हमारे भीतर ही थे । घर में गड़ा हुआ खजाना जिस प्रकार किसी जानकार के कहने से मिल जाता है, उस प्रकार देव-गुरु के द्वारा भी हमारे भीतर रहा हुआ खजाना हाथ लगता है ।

हम बाह्य खजाने के लिए व्यर्थ श्रम करते हैं, वह श्रम व्यर्थ जानेवाला है, क्योंकि विषयों में, सत्ता में या सम्पत्ति में कहीं भी सुख या आनन्द नहीं है । वास्तविक आनन्द तो हमारे भीतर ही है । वहीं से वह प्राप्त हो सकेगा । शरीर भी नष्ट होनेवाला है तो पैसों आदि की तो बात ही क्या करनी ? धन आदि से सुख कैसे प्राप्त हो सकेगा ?

भीतर के गुण ही वास्तविक धन है, वही सच्चा खजाना है । वह प्राप्त न हो अतः मोहराजा, हमें इन्द्रियों के पाश में बांधे रखता है ।

❖ पंचाचार में लगे दोषों की, अतिचारों की शुद्धि के लिए प्रतिक्रमण है । (साधु के लिए पगामसिञ्जाय है)

प्रतिक्रमण के बाद गुरु-वन्दन आता है । दैनिक तीन, पक्खी में तीन, चौमासी में पांच और संवत्सरी में छः 'अब्भुट्ठिआ' होते हैं ।

हम इतने जड़ एवं वक्र हैं कि प्रतिक्रमण करने के बाद भी पाप चालु ही रखते हैं । इसीलिए नित्य प्रतिक्रमण करने हैं । रात्रि के पापों के लिए राई, दिन के पापों के लिए देवसी प्रतिक्रमण करना है । जबकि महाविदेह क्षेत्र में अथवा मध्यम तीर्थकर के शासन में प्रतिक्रमण नित्य करने अनिवार्य नहीं है । दोष लगे तो ही करने हैं, क्योंकि वे ऋजु एवं प्राज्ञ है । आदमी जितना जड़ एवं वक्र ज्यादा, उतना कानून-कायदे अधिक । जितना सरल एवं बुद्धिमान ज्यादा, उतने कानून-कायदे कम होंगे ।

बढते हुए कानून-कायदे बढती हुई वक्रता एवं जडता के द्योतक है । बढते हुए कानूनों से प्रसन्न नहीं होना है । कानूनों का जंगल मनुष्य के भीतर विद्यमान जंगलीपन का द्योतक है ।

'जीवो पमायबहुलो' हमारे भीतर प्रमाद ज्यादा है । अतः यदि विधिपूर्वक प्रतिक्रमण न किया हुआ हो, कुछ भूलें रह गई हो, उस प्रमाद को जीतने के लिए 'आयरिय उवज्झाय' के बाद काउस्सग है ।

❖ मैत्री आदि से भावित बनना है, उसके बजाय हम प्रमाद से, दोषों से भावित बने हुए हैं ।

प्रमाद की ऐसी बहुलता के कारण ही भगवान बार-बार प्रमाद न करने की टकोर गौतमस्वामी के माध्यम से सब को करते थे ।

मुनिचन्द्रविजय : 'आयरिय उवज्झाय' के काउस्सग में भी प्रमाद हो जाये तो क्या करें ?

उत्तर : काउस्सग प्रमाद विजेता है । काउस्सग से प्रमाद जाता है । 'प्रमाद नष्ट करने के लिए काउस्सग करना है ।' ऐसी भगवान की आज्ञा है । बस आज्ञा का पालन करो फिर सब हो गया ।

यों तो आलोचना के स्वाध्याय आदि में भी सखलना हो तो क्या करें ? उपाय यही है कि सब कुछ अप्रमत्तता से ही करें ।

भूख लगने पर नित्य भोजन करते हैं न ?

यहां हम अनवस्था नहीं देखते ।

पू. देवेन्द्रसूरि स्त्री-संघट्टा होने के बाद तुरन्त काउस्सग कर लेते ।

उसी समय (दोषों के सेवन के समय) काउस्सग आदि करने में आयें तो हम अनेक दोषों से मुक्त हो सकते हैं ।

‘भयो प्रेम लोकोत्तर झूठो, लोक बंध को त्याग ।

कहो होउ कछु हम नहीं रुचे, छूटी एक वीतराग.’

हम प्रमाद से भावित हैं, परन्तु उपर्युक्त उद्गारों को प्रकट करनेवाले पूज्य यशोविजयजी महाराज प्रभु के गुणों से, प्रभु के प्रेम से वासित हैं ।

कल्पवृक्ष के बगीचे में आप कल्पवृक्ष से वासित बनते हैं । उकरडा (घूर)में विष्टा से वासित बनते हैं । आपको किससे वासित होना है ? दोषों से या गुणों से ?

गुण कल्पवृक्ष हैं ।

दोष विष्टा है ।

भक्ति ही भगवान के अलावा दूसरे-दूसरे पदार्थों से वासित हुए चित्त को छुड़ा सकती है ।

गुफा में सिंह आने पर दूसरे पशुओं की क्या ताकत है जो वहां रह सकें ? प्रभु के हृदय में प्रविष्ट होते ही दोषों की क्या ताकत जो वहां रह सकें ?

‘तुं मुज हृदय-गिरिमां वसे, सिंह जो परम निरीह रे;
कुमत मातंग ना जूथथी, तो किसी मुज प्रभु बीह रे...’

❀ प्रभु अपने हृदय में आते नहीं हैं कि हम प्रभु को बुलाते नहीं हैं ? सच बात यही है कि हम प्रभु को बुलाते नहीं हैं ।

गभारा तैयार नहीं हुआ हो, स्वच्छता न हो, वहां भगवान की प्रतिष्ठा कैसे हो सकती है ?

हृदय में दोषों का कचरा भर पड़ा हो, वहां भगवान कैसे आ सकेंगे ?

काउस्सग करना अर्थात् भगवान को हृदय में बुलाना । लोगस्स भगवान को बुलाने का आह्वान मंत्र है, वह भी नाम लेकर बुलाने

का मंत्र है ।

एकाग्रतापूर्वक प्रभु का जाप करने से दोष नष्ट होते ही हैं ।

‘भोजन करेंगे और पुनः भूख लगेगी तो’ ऐसी शंका से हम भोजन करना बंद नहीं करते । भूख लगने पर भोजन करते ही है, उस प्रकार दोषों को जीतने के लिए बार-बार कायोत्सर्ग करो, प्रभु का स्मरण करो ।

कायोत्सर्ग अर्थात् स्तोत्रपूर्वक का प्रभु का ध्यान ।

सम्पूर्ण प्रतिक्रमण भक्ति ही है । अतः अलग विषय लेने की आवश्यकता ही नहीं है ।

प्रतिक्रमण में कितने कायोत्सर्ग आते हैं ? समस्त कायोत्सर्ग भक्ति प्रधान ही है ।

भगवान का प्रत्येक अनुष्ठान प्रमाद को जीतने के लिए ही है । प्रत्येक भोजन भूख मिटाने के लिए ही होता है ।

जिन्होंने कर्म-रिपुओं को जीतने की कला सिद्ध की है, उन्होंने यह प्रतिक्रमण आदि कला हमें बताई है ।

पुनः प्यास, पुनः जल, पुनः भुख, पुनः भोजन; उस प्रकार पुनः प्रमाद, पुनः कायोत्सर्ग । भोजन - पानी में नहीं थकते तो कायोत्सर्ग में थकान कैसी ? आयरिय उवज्झायवाला दो लोगस्स का पचास श्वास का काउस्सग्ग चारित्र-शुद्धि के लिए, उसके बाद का २५ श्वास का काउस्सग्ग दर्शन-शुद्धि के लिए और उसके बाद का २५ श्वास का काउस्सग्ग ज्ञान-शुद्धि के लिए है ।

प्रियधर्मी, पाप-भीरु संविग्न साधु ही ऐसा कायोत्सर्ग विधिपूर्वक कर सकते हैं । चारित्र सार है, यह बताने के लिए यहां पश्चानुपूर्वी से क्रम है ।

चारित्र की रक्षा के लिए सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान है । अतः बाद में इनके (दर्शन-ज्ञान के) कायोत्सर्ग करने हैं ।

‘चरणं सारो, दंसण-नाणा अंगं तु तस्स निच्छयओ ।’

निश्चय से आत्मार्थी जीवों को चारित्र प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये ।

प्रश्न : ज्ञान, दर्शन, आदि आचारों के अतिचार तो हम बोलते हैं, परन्तु उसकी प्रतिज्ञा कब ली ?

उत्तर : करेमिभंते में ही क्या सामायिक की प्रतिज्ञा नहीं ली ?
सामायिक तीन प्रकार के हैं : श्रुत (ज्ञानाचार), सम्यक्त्व (दर्शनाचार)
और चारित्र सामायिक (चारित्राचार)

✿ दशवैकालिक की रचना से पूर्व आचारांग के प्रथम
अध्ययन के बाद ही बड़ी दीक्षा होती थी ।

✿ चउविस्तथो से दर्शनाचार की
वन्दन से दर्शनाचार एवं ज्ञानाचार की, प्रतिक्रमण से चारित्राचार
की,

काउस्सग तथा पच्चक्खाण से तप-आचार की ।

प्रश्न : वीर्याचार कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर : छत्तीस प्रकार का । कौन से ३६ प्रकार ?

ज्ञानाचार के ८, दर्शनाचार के ८, चारित्राचार के ८, तपाचार
के १२ = ३६; इन सब में वीर्य प्रगट करना वीर्याचार । अतः
वीर्याचार ३६ प्रकार का है । $३६ + ३६ = ७२$; कुल पाँचों आचारों
के ७२ प्रकार होते हैं ।

• • • • •

'कहुं कलापूर्णसूरि' पुस्तक मळ्युं हजी तो हाथमां ज लीधुं
छे परंतु

'First Impression is last Impression...'

प्रथम दृष्टि ज प्रभाविक छे

- गणि राजयशविजय

सोमवार पेठ, पुना.



१२-१०-१९९९, मंगलवार

आ. सु. ३

मोक्ष में शीघ्र जाना हो तो उसके उपायों में तन्मय हो जाना चाहिये । रत्नत्रयी उसका उपाय है । उपाय में शीघ्रता करेंगे तो उपेय शीघ्र मिलेगा ।

ज्ञान, दर्शन, चारित्र उपाय है ।

मोक्ष उपेय है । मोक्ष शीघ्र नहीं जायेंगे तो हानि क्या है ?

संसार-परिभ्रमण चालु रहे यही हानि है ।

पंचेन्द्रिय की लम्बी से लम्बी स्थिति १००० सागरोपम की है । उतने समय में मोक्ष में यदि नहीं गये तो विकलेन्द्रिय आदि में जाना पड़ेगा ।

अमुक समय में यदि हमने सद्गति निश्चित नहीं की तो दुर्गति निश्चित है ।

दुर्गति दुर्भावों से होती है । अतः दुर्भावों से मन को बचाना चाहिये । ज्यों ज्यों मन उच्च भूमिका का स्पर्श करेगा, त्यों त्यों दुर्भाव घटते जायेंगे ।

❖ क्षायोपशमिक सम्यक्त्व ज्यादा से ज्यादा ६६ सागरोपम रहता है । फिर वह क्षायिक हो जाता है ।

चौथे गुण - स्थानक का हमको स्पर्श हुआ है कि नहीं ? उसका आत्मनिरीक्षण करना चाहिये ।

हममें सम्यक्त्व के लक्षण हैं ?

बुखार उतरा या नहीं ? वह आरोग्य के चिन्हों से प्रतीत होता है, उस प्रकार अनन्तानुबंधी कषाय, मिथ्यात्व आदि मिटे कि नहीं, यह सम्यक्त्व के लक्षणों से मालुम होता है ।

हमारे कषायों की मात्रा अनन्तानुबंधी की कक्षा की तो नहीं ही होनी चाहिये ।

‘जिम निर्मलता रे रतन स्फटिकतणी, तिम ए जीव स्वभाव;
ते जिन वीरे रे, धर्म प्रकाशियो, प्रबल कषाय अभाव’

प्रबल कषायों का अभाव ही धर्म का लक्षण है । किसी के साथ कटुता की गांठ बांध लेना उत्कृष्ट कषायों का चिन्ह है ।

पाप-भीरु एवं प्रियधर्म - ये धर्मों के दो खास लक्षण हैं ।

कांटे चुभने पर वेदना होती है, उस प्रकार कषायों से वेदना होनी चाहिये । हमें कांटे चुभते हैं, लेकिन कषाय कहां चुभते हैं ?

‘वाव’की ओर हमारी साध्वीजी पर एक साथ अनेक मधु-मक्खियों चिपक गई । कितनी वेदना हुई होगी ? एक कांटे से शीलचन्द्रविजयजी स्वर्गवासी हो गये थे ।

एक जंग लगी कील से अमृत गोरधन भचाउवाले का इकलौता पुत्र प्रभु मृत्यु की गोद में समा गया । उसे धनुर्वात हो गया था ।

इससे भी ज्यादा खतरनाक कषाय हैं । अतः थोड़े कषायों का भी विश्वास करने जैसा नहीं है । ऐसा ज्ञानियों का कथन है ।

‘सम्यक्त्व सप्ततिका’ ग्रन्थ में सम्यक्त्व का पूर्ण वर्णन है, लेकिन उसे पढ़ता है कौन ? इसीलिए तो पू. यशोविजयजी जैसे को ‘समकित के ६७ बोलों की सज्जाय’ आदि जैसी गुजरती कृतियों की रचना करनी पड़ी ।

सम्यक्त्व हो ही नहीं तो फिर उसकी शुद्धि क्या ? वस्त्र हों तो मैले हो, निर्वस्त्र व्यक्ति को क्या ? यह समझकर सम्यक्त्व के प्रति दुर्लक्ष्य न रखें । हो सके तो उसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्न करें ।

याद रहे कि परभव में ले जाने योग्य सिर्फ सम्यग्दर्शन ही

है । चारित्र नहीं ले जाया जा सकता ।

क्षायोपशमिक, गुणों पर विश्वास रखने जैसा नहीं है । यदि उनकी सम्हाल करे तो चले भी जायें । तेल का दीपक ! बुझने में देर कितनी ? हां, रत्नों का दीपक नहीं बुझेगा । क्षायिक भाव रत्नों का दीपक है ।

जिस प्रकार आप सांप को खोज कर घर में से बाहर निकाल देते हैं, उस प्रकार मिथ्यात्व, कषायों आदि को खोज-खोजकर बाहर निकालो ।

❖ 'धर्मी जागृत भले और अधर्मी सोये भले'

भगवान् महावीर ने यह बात जयन्ती श्राविका के एक प्रश्न के उत्तर में कही थी ।

हम सोये हुए हैं या जागृत ? सम्यग्दृष्टि जागृत कहलाता है और मिथ्यात्वी सोये हुए कहे जाते हैं । हम में सम्यक्त्व आ गया ? नहीं आया हो तो यह मानना कि हम खुली आंखों से सोये हुए हैं ।

❖ रोकड़ रकम व्यवहार में काम आती है, हाथ में रहा शस्त्र सैनिक के काम आता है, उस प्रकार कण्ठस्थ ज्ञान हमारे काम आता है । पुस्तक में पड़ा ज्ञान काम नहीं आता । उपयोग में आता ज्ञान ही चारित्र बन सकता है ।

'ज्ञाननी तीक्ष्णता चरण तेह.'

ज्ञान की तीक्ष्णता ही चारित्र है ।

प्रतिक्षण उदय में आनेवाली मोह की प्रकृतियों का सामना करने के लिए तीक्ष्ण ज्ञान चाहिये । प्रति पल का तीव्र उपयोग आवश्यक है, अन्यथा हम मोह के सामने हार जायेंगे ।

लिखने से या पुस्तकें रखने से आप ज्ञानी नहीं बन सकते । उस ज्ञान को जीवन में उतारने से ही ज्ञानी बन सकते हैं ।

**'हेम परीक्षा जिम हुए जी, सहत हुताशन ताप;
ज्ञानदशा तिम परखियेजी, जिहां बहु किरिया व्याप.'**

- **पू. यशोविजयजी महाराज**

जिस समय जो क्रिया चलती हो, जो जीवन जिया जा रहा हो उस प्रसंग में आप एकाकार हो, आपका ज्ञान काम में आता हो तो ही सच्चा ज्ञान है ।

❖ सम्यग्दृष्टि मानता है कि कोई मेरा अपराधी नहीं है, अपराधी है तो सिर्फ कर्म । इसके कारण ही कोई हमारा बिगाड़ता है । मेरे कर्म न हों तो कौन बिगाड़ सकता है ?

कर्म भी क्यों ? कर्म करनेवाली मेरी आत्मा ही है न ? मैंने बुलाये तब ही आये न ? अन्यथा जड़ कर्म क्या करते ?

❖ संवेग -

सुर-नर के सुख, दुःखरूप लगे, मोक्ष ही, आत्म-सुख ही प्राप्त करने योग्य लगे ।

‘यदा दुःखं सुखत्वेन, दुःखत्वेन सुखं यदा ।’

जब संसार का सुख दुःखरूप प्रतीत हो, दुःख सुखरूप प्रतीत हो तब ही समझें कि संवेग प्रकट हुआ है ।

संसार का समग्र सुख, स्वर्ग का सुख भी दुःखरूप प्रतीत हो वह संवेग है ।

इस समय साधु-जीवन में क्या कष्ट है ? कष्ट तो प्राचीनकाल में थे । इस समय तो हम राजकुमार जैसे सुकोमल बन गये हैं ।

बाईस परिषदों में से इस समय हम कितने सहन करते हैं ? अपने पूर्वज अनुकूलता को ठोकर मारनेवाले और प्रतिकूलता को निमंत्रण देनेवाले थे । यह मत भूलना । इस समय तो सम्पूर्ण शीर्षासन हो गया है ।

हम सभी प्रतिकूलता के द्वेषी और अनुकूलता के अभिलाषी बन गये हैं । थोड़ी सी ही प्रतिकूलता हमें आकुल-व्याकुल कर देती है ।

❖ निर्वेद -

नरक का जीव पलभर भी नरक में रहना नहीं चाहता । कैदी एक पलभर भी कैद में रहना नहीं चाहता, उस तरह संसार में सम्यग्दृष्टि एक क्षण भी रहना नहीं चाहता । वह प्रतिक्रिया चाहता है कि संसार से कब मुक्त होऊँ ?

पंचवस्तुक

लोक में राजदूत आदि जिस प्रकार बताया हुआ कार्य पूर्ण होने पर पुनः वन्दन करके बताते हैं, उस प्रकार यहां प्रतिक्रमण में भी छोटे आवश्यक में गुरु-वन्दन इसलिए है कि आपकी आज्ञानुसार

प्रतिक्रमण किया है, यह मैं वन्दनापूर्वक निवेदन करता हूँ ।

प्रश्न : प्रतिक्रमण में गुजराती स्वाध्याय (सज्झाय) चलता है तो दूसरे समय में गुजराती स्वाध्याय क्यों नहीं चलता ?

उत्तर : वयोवृद्धों के लिए गुजराती स्वाध्याय चलता ही है, परन्तु शिक्षितों के लिए नहीं ।

सरहद पर रहनेवालों का कर्तव्य अलग है ।

सामान्य प्रजा के लिए कर्तव्य अलग है ।

शिक्षित साधु सरहद पर रहनेवाले हैं ।

• • • • •

आत्म-शक्ति

एक समर्थ महापुरुषमां जेटली शक्ति प्रगट थई छे, तेटली शक्ति सामान्य मनुष्यमां पण होय छे. परंतु ए समर्थ पुरुषोए भौतिक जगतना प्रलोभनोमां वेडफाई जती शक्तिओने अटकावी आत्म-स्फुरणा वडे परमतत्त्वमां जोडी अने तेने प्रगट करी. ज्यारे सामान्य मनुष्यनी शक्तिओ जमीनमां बीज रोप्या पछी जळ सिंचन के खातर नहि आपेला अनंकुरित बीज जेवी थई जाय छे.



१३-१०-१९९९, बुधवार
 आ. सु. ४

✽ सायं प्रतिक्रमण के बाद कुछ समय गुरु के पास बैठें, क्यों ? एक प्रकार का विनय है । यह विनय चला न जाये अतः बैठना चाहिये ।

श्रुतदेवता, क्षेत्रदेवता, भुवनदेवता (भवनदेवता) आदि की स्तुति आचरणा से करनी है । आगम प्रमाण हैं उस प्रकार आचरणा भी प्रमाण हैं ।

सुबह प्रतिक्रमण ठाने के बाद प्रथम काउस्सग चारित्र की शुद्धि के लिए है, दूसरा काउस्सग दर्शन-शुद्धि के लिए और तीसरा काउस्सग अतिचार शुद्धि के लिए है । ('सयणासणत्र-पाणे' वाला) है ।

✽ दिन में 'करेमिभंते' कितनी बार ? नौ बार ।

बार-बार सामायिक सूत्र का उच्चारण इसलिए करना है कि समताभाव आये, समताभाव का स्मरण होता रहे । यदि समता के स्थान पर विषमता आई हो तो उसे दूर करने की इच्छा हो ।

कषायों में रहना स्वभाव है कि विभाव में रहना हमारा स्वभाव है ? चौबीस घंटों में कितने घण्टे स्वभाव में ? और कितने घण्टे

विभाव में जाते हैं ? स्वभाव में रहने की हमारी जीवनभर की प्रतिज्ञा है । आप वह प्रतिज्ञा भूल तो नहीं गये न ?

गृहस्थों की प्रतिज्ञा

‘जाव नियम’

लेकिन हमारी प्रतिज्ञा तो

‘जावज्जीवाए’

है, यह भूल जाये तो कैसे चलेगा ?

‘स्वभाव’ अर्थात् हमारा स्वयं का भाव । स्वभाव में रहें उतने समय तक कर्मों का क्षय होता ही रहे । परभाव में रहने से तात्पर्य है अपनी आत्मा को दुर्गति में धक्का देना ।

स्वभाव में असंक्लेश,

परभाव में संक्लेश ।

संक्लेश अर्थात् संसार

असंक्लेश अर्थात् मोक्ष ।

असंक्लेश में यहीं पर मोक्ष का अनुभव होता है, जीवन्मुक्त दशा का अनुभव होता है ।

प्रदेश-प्रदेश में आनन्दानुभूति होती है । गीता में ऐसे योगी को स्थितप्रज्ञ कहा है । गीता के स्थितप्रज्ञ के ये लक्षण जैन मुनि को बराबर घटित होते हैं । पढ़ने योग्य हैं वे लक्षण ।

वे लोग स्थितप्रज्ञता प्राप्त करने के प्रयत्न करते हैं । हमें स्वभाव दशा के लिए प्रयत्न करना है । मूलतः दोनों वस्तु एक ही हैं । सामायिक सूत्र उसके लिए साधन है ।

उपशम, विवेक, संवर इन तीन शब्दों को सुनने से हत्यारे चिलातीपुत्र को समताभाव की प्राप्ति हुई थी । मुनि ने केवल तीन शब्द ही सुनाये थे । उसने तलवार खींचकर कहा था, ‘साधुडे ! धर्म सुना अन्यथा सिर काट डालूंगा ।’

‘सामाझअस्स बहुहाकरणं तप्पुव्वगा समणजोगा ।’

श्रमण के समस्त योग सामायिक पूर्व के होते हैं । किसी भी स्थान पर समता भाव नहीं ही जाना चाहिये ।

पनिहारियों का ध्यान बेड़ों में होता है, चाहे वे बातें करती हों, उस प्रकार चाहे जितनी प्रवृत्ति में मुनि का मन समता में होता

है । इसीलिए तो चौबीसों घण्टे ओघा (रजोहरण) साथ रहता है । साथ रहा हुआ ओघा निरन्तर याद कराता है - 'हे मुनि ! तुझे निरन्तर समता में लीन रहना है ।

सामायिक के बार-बार स्मरण से समताभाव आता है । चौबीसों घण्टे समताभाव चालु हो तो अधिक सुदृढ़ बनता है ।

जिस प्रकार भगवान की स्तुति पुनः पुनः बोलने से मन भक्ति से आर्द्र बनता है ।

नौ बार 'करेमिभंते' कहां कहां आता है ?

प्रातः सायं प्रतिक्रमण में तीन-तीन बार तथा संध्यापोरसी में तीन बार, कुल नौ बार हुआ ।

अन्य सब भूल जायें तो चलता है, समता भूल जायें तो कैसे चलेगा ? समता कहां से आती है ?

प्रभु भक्ति से आती है ।

छः आवश्यकों में प्रथम सामायिक है । सामायिक प्रभु के नाम-कीर्तन से आता है, अतः दूसरा आवश्यक लोगस्स (नामस्तव या चतुर्विंशति-स्तव) है ।

'सम' अर्थात् समस्त जीवों के प्रति समभाव ।

'सम' अर्थात् समान भाव ।

'आय' अर्थात् लाभ ।

सम + आय = समाय । इकण् प्रत्यय लगने से 'सामायिक' शब्द बना है । यह सब मैंने मनफरा में लिखा था । अनुभव से कहता हूं कि जो विचारपूर्वक लिखेंगे वह भावित बनेगा ।

जिनसे ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य का लाभ हो वे समस्त वस्तुएं सामायिक कहलाती हैं । एक ताले की छः चाबियां हैं । वे छःओं चाबियां लगाओ तो ही ताला खुलेगा । पांच चाबी लगाओ और एक सामायिक (समता) की चाबी नहीं लगाओ तो आत्म-मन्दिर के द्वार नहीं खुलेंगे, यह मेरा अनुभव है ।

समताभाव नहीं होगा तो चित्त आवश्यकों में नहीं लगेगा ।

छः आवश्यक छः चाबियां हैं ।

तीसरा अर्थ : चार मैत्री आदि भावों की प्राप्ति सामायिक है । 'सर्वज्ञकथित सामायिक धर्म' पुस्तक में इसका विस्तारपूर्वक

वर्णन किया गया है । जरूर पढ़ना ।

✻ जैनेतरों का कथन है कि चित्तवृत्ति का निरोध ही ध्यान है । जैन-दर्शन कहता है कि अशुभ चित्तवृत्तियों को रोकना ध्यान है । 'क्लिष्टचित्तवृत्तिनिरोधो योगः (ध्यानम्) ।' पू. यशोविजयजी ने पातंजल योगदर्शन के सूत्र की अपनी टीका में 'क्लिष्ट' शब्द जोड़ा है ।

आगे बढ़कर चित्त को शुभ विचारों में प्रवृत्त कराना भी ध्यान है । एक प्रवृत्तिरूप है, दूसरा निवृत्तिरूप है ।

इसी अर्थ में प्रतिक्रमण आदि हमारी आवश्यक क्रियाएं ध्यानरूप हैं ।

२. 'चतुर्विंशतिस्तव' : अर्थात् चौबीस तीर्थकरों की स्तुति । चौबीस तीर्थकरों की स्तुति के द्वारा ही सामायिक (समता) प्राप्त होती है । अपने निकटतम उपकारी ये चौबीस तीर्थकर हैं ।

लोगस्स बोलते हैं तब स्तुति होती है । लोगस्स का काउस्सग करें तब ध्यान होता है । उसके अर्थ में मन एकाग्र होना चाहिये । काउस्सग में मन, वचन एवं काया तीनों एकाग्र होते हैं ।

३. गुरु वन्दन : जितना महत्त्व भगवान का है, उतना महत्त्व भगवान के द्वारा स्थापित गुरु तत्त्व का है । इसलिए अपनी उपस्थिति में ही भगवान गणधरों की स्थापना करते हैं ।

अकेले देव से नहीं चलता, गुरु चाहिये । इक्कीस हजार वर्षों में देव एक ही । शेष समय में गुरु के बिना शासन कौन चलायेगा ?

गुरु में भगवद्बुद्धि होनी चाहिये । इसीलिए 'इच्छकारी भगवन् !' यहां गुरु के समक्ष 'भगवन्' सम्बोधन हुआ है । 'करेमि भंते' यहां 'भंते' शब्द में देव एवं गुरु दोनों अर्थों का समावेश है ।

भगवान की देशना के बाद उनकी चरण पादुकाओं पर गणधर बैठते हैं । जब गणधर देशना देते हैं तब केवली भी बैठे रहते हैं । उठते नहीं हैं । श्रोताओं को यह प्रतीत नहीं होता कि यहां कोई कमी है । भगवान के समान ही गणधरों की वाणी प्रतीत होती है । सिर पर भगवान का हाथ है न ?

यह तो ठीक । कालिकाचार्य ने भी सीमंधरस्वामी के समान ही निगोद का वर्णन ब्राह्मण-वेषधारी इन्द्र के समक्ष किया था ।

मोह का क्षय नहीं हुआ हो तो भी मोह-विजेता होने के कारण गुरु वीतराग तुल्य कहलाते हैं ।

❀ चार प्रकारके केवली :

१. केवली ।

२. चौदहपूर्वी - श्रुतकेवली

३. सम्यग्दृष्टि

४. भगवान के वचनों के अनुरूप आचरण करनेवाले (कन्दमूल आदि के त्यागी)

कल भगवती में उल्लेख था -

स्कंधक परिव्राजक को श्रावक ने ऐसे प्रश्न पूछे कि परिव्राजक घबरा गया और उत्तर जानने के लिए वह भगवान महावीर के पास गया । उसके आते ही गौतमस्वामी खड़े हो गये ।

मिथ्यात्वी के आने पर खड़ा क्यों हुआ जाये ?

टीका में स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि भविष्य में दीक्षा ग्रहण करनी है अतः खड़े हो सकते हैं ।

सम्यग्दृष्टि इसी अर्थ में केवली है । वे भविष्यमें केवली बनने वाले हैं ।

कन्दमूल त्यागी भी केवली है, क्योंकि भगवान के वचनों पर श्रद्धा रखकर उसने कन्दमूल का त्याग किया है । यह सम्यग्दृष्टि की पूर्व भूमिका की आत्मा है ।

प्रश्न : गुरु भगवान है, अतः जिनालय में जाने की आवश्यकता नहीं है न ?

उत्तर : भगवान नहीं होते तो भगवद्बुद्धि कैसे करते ?

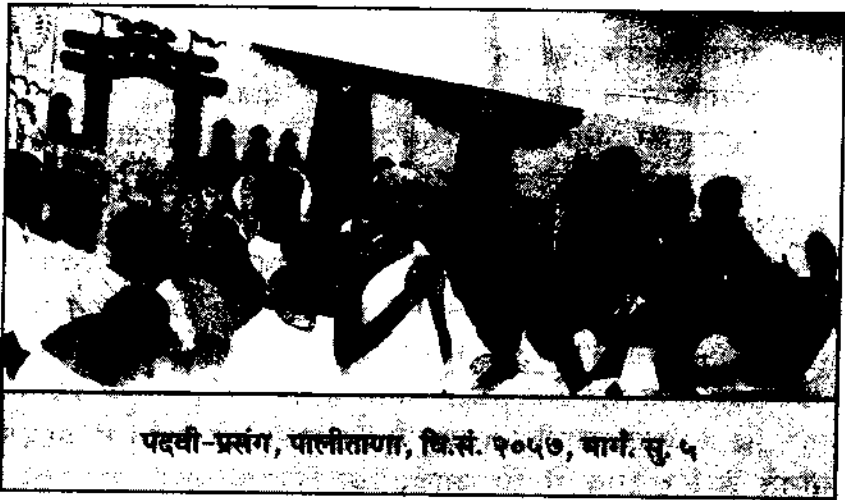
अमृत ही नहीं होता तो पानी में अमृत बुद्धि कैसे होती ?

भगवान है, अतः भगवद्बुद्धि शब्द आया है ।

भगवान ही छोड़ देंगे तो भगवद्बुद्धि कैसे रहेगी ?

• • • • •





पद्मी-प्रसंग, पालीताणा, क्रि.सं. १०५७, मार्ग. सु. ५

१४-१०-१९९९, गुरुवार

आ. सु. ५

✿ भगवान भले ही नहीं हैं, परन्तु उनके तीर्थ के, नाम के, आगम के और मूर्ति के आलम्बन से हम भवसागर तर सकते हैं ।

छोटे बच्चे के लिए माता-पिता का आलम्बन आवश्यक है । उनके सहारे से ही वह चल सकता है । भगवान के समक्ष हम सभी बालक हैं ।

भगवान जिस प्रकार स्वयं में व्यक्तरूप से ज्ञान आदि समृद्धि देख रहे हैं, उसी प्रकार से वे शक्ति के रूप में समस्त जीवों में भी देख रहे हैं ।

भगवान में जो वृक्ष के रूप में है;

समस्त जीवों में वह बीज के रूप में है ।

✿ साधु का कोई भी अनुष्ठान समतापूर्वक होता है, यह बतानेके लिए ही दिन में नौ बार सामायिक का पाठ आता है । दीक्षा ग्रहण करने के समय पर भी प्रथम यही प्रतिज्ञा ली गई है ।

गुलाबजामुन को जानना अलग बात है,

उसका स्वाद चखना अलग बात है ।

सामायिक जानना अलग बात है ।

सामायिक का आनन्द लेना अलग बात है ।

पुद्गलों का भवोभव का अनुभव है । प्रगाढ़ संस्कार होने के कारण हम तुरन्त ही पुद्गलों की ओर आकर्षित हो जाते हैं, जबकि सामायिक के संस्कार अब डालने हैं ।

✽ ज्ञानसार अद्भुत ग्रन्थ है । आप ज्यों ज्यों चिन्तन-निदिध्यासन करते रहेंगे, त्यों त्यों आत्म-तत्त्वों का अमृत प्राप्त करते जाओगे । उन्होंने जीवन में साधना करके जो अर्क प्राप्त किया है, वह समस्त ज्ञानसार में उडेल दिया है ।

✽ कुछ ध्यानी आवश्यक क्रियाओं को ध्यान में बाधक मानते हैं । वास्तव में तो आवश्यक क्रियाएं ध्यान में बाधक नहीं है, परन्तु साधक है ।

✽ वर्षा सर्वत्र होती है, परन्तु उससे गन्ने में मधुरता, बबूल में कांटे, रण में नमक और सांप में विष ही बढ़ता है, उस प्रकार जिनवाणी भी पात्रता के अनुसार भिन्न भिन्न परिणाम उत्पन्न करती है । श्रोताओं में कोई गोशाला भी होता है तो कोई गौतमस्वामी भी होते हैं ।

✽ प्रातःकाल में कौनसा तप स्वीकार करना चाहिये ? जो साधना में सहायक हो वैसा तप सरल भाव से स्वीकार करना चाहिये ।

सेवा की आवश्यकता हो तब अड्डाई करके बैठा नहीं जा सकता । ऐसा करने वाला अपराधी बनता है । तप गौण है । गुरु की आज्ञा मुख्य है । गुरु की आज्ञानुसार किये जाने वाला तप निर्जरा-कारक बनता है ।

‘मुझे केवल सेवा ही करनी ? क्या पानी के घड़े ही लाने ? तो फिर आराधना कब करनी ?’ ऐसा कभी न सोचें ।

पानी के घड़े लाना भी आराधना है । सेवा से आराधना अलग नहीं है । सेवा आराधना का ही एक भाग है ।

दस वर्ष तक पू. देवेन्द्रसूरिजी के साथ रहा । नया अध्ययन बंद रहा, लेकिन सेवा का लाभ अच्छा मिला ।

उस समय पूज्य प्रेमसूरिजी के पत्र आते रहते थे । अध्ययन करने के लिए आ जाओ ताकि शेष छेद सूत्र पूर्ण हो जाये ।

परन्तु पू. देवेन्द्रसूरिजी कहते - 'तुम चले जाओगे तो मेरा क्या होगा ?' हम जाने का विचार छोड़ देते, परन्तु जब अवसर आता तब अध्ययन कर लेते ।

वि. संवत् २०२५ में व्याख्यान के बाद पू.पं. मुक्तिविजयजी के पास (पू. मुक्तिचन्द्रसूरि के पास) पहुंच जाता, तीन चार घंटे पाठ लेता ।

आप भले तप करते हो, परन्तु चालू तप में सेवा नहीं की जाती, उपदेश नहीं दिये जाते, ऐसा नहीं है ।

आहार का पचवक्खाण केवल हमको है । दूसरों को लाकर देने में पचवक्खाण नहीं टूटता । टूटे तो नहीं, परन्तु सेवा से उल्टा वह पचवक्खाण पुष्ट होता है ।

❖ नौकारसीमें दो आगार : अनाभोग एवं सहसागार ।

अनाभोग अर्थात् अनजाने में होना और सहसागार अर्थात् अचानक हो जाना ।

पोरसी में अन्य चार आगार :

प्रच्छन्नकाल, दिशामोह, साधु-वचन, सर्व समाधि प्रत्ययिक । ये चार बड़े ।

प्रच्छन्नकाल में सूर्य ढक गया हो और समय का बराबर ध्यान न आये तब ।

दिशाभ्रम में सूर्य की दिशा भूल जाने पर गडबड हो जाये तब ।

साधु-वचन में साधु की उघाडा पोरसी सुनकर पोरसी का पचवक्खाण समझ ले ।

सर्वसमाहिवृत्तियागारेणं में प्राण-घातक वेदना होती हो, समाधि के लिए आवश्यकता पड़े, वैद्य अथवा डाक्टर के पास आवश्यकता हो तब...।

पुरिमड्डमें : एक आगार अधिक - 'महत्तरागारेणं'

महान कार्य के लिए गुरु की आज्ञा से जाना पड़े, शक्ति न हो तो गुरु वपराये तो भी पचवक्खाण नहीं टूटेगा ।

एकासणा में आठ आगार ।

सागारिया., आठ., गुरु., पारिद्धा., ये चार बढ़ते हैं :

१. गृहस्थ आ जायें तब ।
२. पैर लम्बे-छोटे करने पड़ें तब ।
३. गुरु आने पर खड़ा होना पड़े तब ।
४. आवश्यकता पड़ने पर (आहार बढ़ जाये तब) वापरना पड़े तब पचवक्खाण नहीं टूटता ।

वि. संवत् २०१४ के चातुर्मास में सुरेन्द्रनगर में मलयविजयजी को ओली का उपवास था । वर्षा हो रही थी । बंध होते ही सब गोचरी के लिए चल पड़े । जो मिला वह भरकर ले आये । ५५ ठाणे थे । वापरने बाद भी दो झोली आहार बढ़ गया । पू. प्रेमसूरि महाराजा की आज्ञा से मलयविजयजी ने बढ़ी हुई गोचरी वापरी । यह 'पारिद्धा.' कहलाता है । इससे पचवक्खाण नहीं टूटता और न स्वास्थ्य बिगड़ता है । उल्टा आहार नहीं लेने से स्वास्थ्य बिगड़ता है । यह तो सहायता कहलाती है ।

✽ जितना उपयोग स्वभाव में, उतनी कर्म-निर्जरा ।

जितना उपयोग विभाव में, उतना कर्म-बंधन ।

शुभ उपयोग तो शुभ कर्म ।

शुद्ध उपयोग तो कर्मों की निर्जरा ।

✽ सम्यग्दृष्टि का प्रथम लक्षण है - शम । सब के प्रति समताभाव ।

किसी को आप एक बार मारकर आप अपने अनन्त मरण निश्चित करते हैं क्योंकि आप दोनों एक ही हैं । दूसरे को मारते हो तब आप अपने पांव में कुल्हाड़ी मारते हो । जिस प्रकार मुझ से मेरा पांव अलग नहीं है, उस प्रकार जगत के जीव भी हम से अलग नहीं है । जीवास्तिकाय के रूपमें हम एक हैं । आत्मा असंख्य प्रदेशी है, उस प्रकार जीवास्तिकाय अनन्त प्रदेशी है ।

जीवास्तिकाय एक ही है, अर्थात् जीवास्तिकाय के रूप में हम एक ही हैं ।

जो इस प्रकार एकता देखता है, वह किसी की हिंसा कैसे कर सकता है ? उसे दूसरे का दुःख, दूसरे की पीड़ा, दूसरे का अपमान अपना ही लगता है । 'तुमंसि नाम सच्चेव, जं हंतव्वंति मन्नसि ।'

दूसरे को दुःख देते हैं तब सचमुच हम स्वयं को ही दुःख देते हैं । इससे विपरीत, जब दूसरे को सुख देते हैं तब हम स्वयं को ही सुख देते हैं ।

तीर्थंकर उनके उत्तम उदाहरण हैं ।

❖ नया नया नहीं सीखेंगे तो चेतना का उन्मेष कैसे होगा ? आत्म-विकास कैसे होगा ?

वस्त्र धोने, गोचरी लानी आदि जरूरी लगते हैं तो आत्म-शुद्धि के अनुष्ठान जरूरी नहीं लगते ?

अनुकूलता में ही जीवन पूरा कर देंगे तो यह सब कब करेंगे ? आगम कब पढ़ेंगे ?

पाक्षिक सूत्रों में प्रत्येक चतुर्दशी को बोलते हैं - 'न पढिअं न परिअट्ठिअं' तो मिच्छामि दुक्कडं ।

परन्तु यहां पढता ही कौन है ? सब पढने का पूरा हो गया ? क्या कुछ भी बाकी नहीं रहा ?

❖ दूसरे को जो स्व-तुल्य देखता है वही सच्चा द्रष्टा है । इस प्रकार नहीं देखना बड़ा अपराध है । यह अपराध अन्य किसी का नहीं, हमारा ही है ।

जहां आत्मतुल्य दृष्टि से जीवन यापन होता रहता है, वहां स्वर्ग उतरता है । जहां यह दृष्टि नहीं है, वहां नरक है ।

गुजरात में कुमारपाल राजा के प्रभाव से अहिंसा आज भी कुछ पाली जा रही है, जबकि अन्यत्र तो बकरी को काटना और चीभड़े काटना समान ही दिखता है, और अनेक स्थानों पर ऐसे दृश्य देखे हैं ।

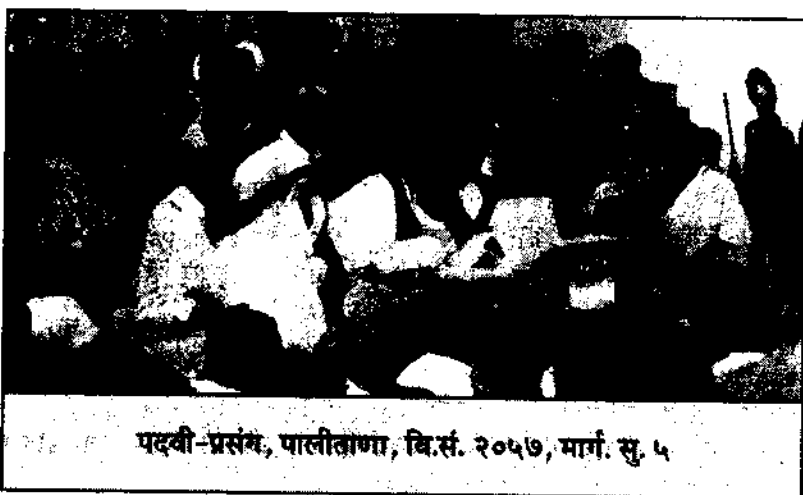
जहां आत्मतुल्यदृष्टि न हो वहां ऐसा ही होता है ।

कर्म के बंध और सत्ताकाल भयंकर नहीं लगते, परन्तु उदय भयंकर है । उदय के समय आपका या मेरा कुछ नहीं चलता । अभी अवसर हाथ में है । सत्ता में पड़े कर्मों में परिवर्तन कर सकते हैं । कर्म-बंधन में सावधानी रख सकते हैं ।

उदय के समय तो रोओ या समाधिपूर्वक सहो ।

इन दोनों के अलावा तीसरा कोई विकल्प नहीं है ।

♦ ♦ ♦ ♦ ♦



पद्मी-प्रसंग, पालीताना, वि.सं. २०५७, मार्ग. सु. ५

१५-१०-१९९९, शुक्रवार

आ. सु. ६

साधु के लिए सर्वविरति सामायिक, आजीवन समता रह सके
वैसी जीवन पद्धति । श्रावक के लिए देशविरति सामायिक, सर्वविरति
सामायिक के लिए पूर्व भूमिका । परन्तु इन दोनों का मूल सम्यक्त्व
सामायिक है ।

सम्यक्त्व सब की नींव है । यदि नींव सुदृढ़ हो तो भवन
सुदृढ़ होगा । 'तमेव सच्चं नीसकं जं जिणेहिं पवेइअं ।' सम्यक्त्व
में इस प्रकार की अतूट श्रद्धा होती है ।

★ मैं जिस औषधि से स्वस्थ बना उस औषधि से अन्य
भी स्वस्थ क्यों न बनें ? मैंने जिस व्याधि से दुःख भोगा है, वह
दुःख अन्य कोई न भोगे, ऐसी विचारधारा उत्तमता का चिह्न है ।

जिस डाक्टर के पास अथवा होस्पिटल में जाने से रोग ठीक
हुआ है उस डाक्टर अथवा होस्पिटल की सिफारिश अनेक व्यक्ति
करते होते हैं ।

भगवान भी ऐसे हैं । जिस औषधि से उनका भव-रोग मिटा,
वह औषधि वे सम्पूर्ण विश्व में वितरण करना चाहते हैं । ऐसी
प्रबल इच्छा से ही उन्होंने तीर्थकर नामकर्म बांधा ।

जितना पुरुषार्थ उन्होंने स्वयं की आत्मा को कारागार से मुक्त करने के लिए किया उतना ही पुरुषार्थ उन्होंने अन्य जीवों को मुक्त कराने के लिए किया है ।

इसीलिए भगवान् जिन है, तथा जापक भी है ।

तीर्ण है, उस प्रकार तारणहार भी है ।

बुद्ध है, उस प्रकार बोधक भी है ।

मुक्त है, उस प्रकार मोचक भी है ।

❖ हमारी कठिनाई यह है कि यह संसार कारागार नहीं लगता । सभी कारागार में है, फिर खराब किसका लगेगा ?

जब तक यह संसार (अर्थात् राग-द्वेष) कारागार लगेगा नहीं, तब तक उसमें से मुक्त होने ही इच्छा नहीं होगी ।

जो कारागार (जेल) को महल मानते हैं, वे कैसे छूट सकते हैं ?

❖ साधु साधुत्व में रहे तो इतना सुखी बने, इतना आनन्द भोगे कि संसार का कोई भी मनुष्य उनकी समानता नहीं कर सकेगा । मनुष्य तो ठीक अनुत्तर विमानवासी देव भी समानता नहीं कर सकेंगे ।

एक वर्ष के पर्यायवाले मुनि भी अनुत्तर देवों से अधिक सुखी होते हैं । ऐसा भगवती सूत्र में उल्लेख है ।

हमें यदि ऐसे आनन्द की कोई झलक नहीं दिखे तो आत्म-निरीक्षण करना चाहिये कि कहां कमी है, उसे खोज निकालनी चाहिये ।

हमारी कमी हमारे अलावा दूसरा कोई नहीं खोज सकता । हमारा खोया हुआ आनन्द हमें ही खोजना पड़ेगा ।

अपने अधिकार की वस्तु कोई कभी नहीं छोड़ेगा, परन्तु अपने अधिकार का आनन्द हम छोड़ रहे हैं । उसके लिए हम कोई प्रयत्न नहीं करते । आश्चर्य है न ?

❖ हम बहिरात्मभाव में इतने मग्न हो गये हैं कि एक मिनिट भी उसमें से छूट नहीं सकते और फिर भी हमें जाना है मोक्ष में ! किस प्रकार जायेंगे मोक्ष में ? इसके लिए कोई साधना नहीं है । साधना नहीं है पर उसका कोई दुःख भी नहीं है ।

बहिरात्मभाव छोड़कर अन्तरात्म-भाव में भी हम आने को तैयार

नहीं है तो परमात्मभाव प्राप्त करनेका अधिकार किस मुंह से कर सकते हैं ?

क्या कभी प्रभु के लिए तड़पन उत्पन्न हुई है ?

क्या कभी प्रभु का विरह लगा है ?

विरह के बिना क्या प्रभु मिलेंगे ?

आप आनन्दधनजी के पद, स्तवन पढ़ें, विरह-वेदना छलकती प्रतीत होगी ।

प्रश्न : संयोग हुआ हो तो विरह प्रतीत होगा, परन्तु प्रभु का संयोग कहाँ हुआ है ?

उत्तर : यही हमारी भूल हैं । प्रभु तो सदा साथ है ही, परन्तु हमने कभी उस ओर देखा ही नहीं है ।

बोलो, कभी भी निर्मल आनन्द नहीं आया ?

प्रभुके बिना आनन्द कैसे आ सकता है ?

उक्त आनन्द प्राप्त करने के लिए क्या कभी तड़पन हुई ?

अंधकार में रहा हुआ व्यक्ति कभी प्रकाश की एकाध किरण देखे तो वह उसे पुनः प्राप्त करने के लिए अवश्य ललचायेगा । जिस प्रकार वह सेवाल में रहा हुआ कछुआ शरदपूर्णिमा का वैभव पुनः देखने कि लिए लालायित हुआ ।

✽ समस्त धोबी आपके कपड़े धोने की कला के समक्ष हार जायें, इतने कपड़े आप धोकर सफेद कर सकते हैं । यह कला हस्तगत हो गई, परन्तु आत्मा जो अनादि काल से मलिन है । उसकी शुद्धि करने की कला हस्तगत करने जैसी है, ऐसा कभी लगा ?

✽ आयंबिलमें दो आगार अधिक :

१. उक्खित्त विवेगेणं, २. पडुच्चमक्खिएणं ।

कभी एकासणा के आहार के साथ आयंबिल का आहार आ जाये तो थोड़े स्पर्श से दोष नहीं लगता ।

तेल या घी वाले हाथ से रोटी के लिए आय तैयार करें तो नीवी वाले को चलेगा, परन्तु आयंबिल वाले को नहीं चलेगा ।

आगार किस लिए ?

व्रत का भंग भारी दोष है । थोड़ा पालन भी गुणकारी है ।

धर्म में गुरु-लाघव की आवश्यकता होती है । इसीलिए आगार है ।

आगारों में आशय यही है कि किसी भी तरह पच्चक्खाण का भंग नहीं होना चाहिये ।

गुरु-लाघव का चिन्तन नहीं हो तो व्यापार नहीं हो सकता, उस प्रकार धर्म भी नहीं हो सकता । व्यापार में कितनी ही बार बांध-छोड़ करनी पड़ती है, उस प्रकार धर्म में भी बांध-छोड़ करनी पड़ती है ।

हमारे व्रत खण्डित न हो जायें, अतः ज्ञानियों ने कितनी सावधानी रखी है ?

आगार अर्थात् अपवाद ।

अपवाद का छूट से प्रयोग नहीं किया जा सकता ।

कोई वैद्य अथवा डाक्टर आदि किसी रोग के कारण कहे कि अभी ही दवा देनी पड़ेगी, तो उस समय पच्चक्खाण होते हुए भी दवा दी जा सके, यह अपवाद है ।

सब में समाधि मुख्य है । पच्चक्खाण अखण्ड रहे, परन्तु समाधि अखण्ड न रहे तो पच्चक्खाण किस काम के ? पच्चक्खाण भी आखिर समाधि के लिए है ।

आगार का अर्थ है - समाधि के लिए पच्चक्खाण में दी जाने वाली छूट ।

प्रश्न : क्या मुंगफली का तेल (सिंगतेल) विगई में गिना जाता है ?

उत्तर : विगई किसे कहते हैं ? विकृति उत्पन्न करे वह विगई । इस अर्थ में सभी तेल विगई समझ लें । आखिर अपनी आसक्ति न बढे उस प्रकार करना है । ये तेल विगई में नहीं गिने जाते, यह समझ कर विगई के रस को लेते रहें, तो आत्म-वंचना गिनी जायेगी ।

❖ अप्रमाद का अभ्यास इसी जन्म का है ।

प्रमाद का अभ्यास अनन्त जन्मों का है ।

इसीलिए उसे जीतना दुष्कर है ।

मद्य (मदिरा), निद्रा, विषय, कषाय, निन्दा आदि प्रमाद हैं ।

इस पंच-मुखी प्रमाद को कैसे पहचानें ? इसे कैसे जीतें ?

इसे पहचानने में चौदह पूर्वी भी धोखा खा गये हैं ।

प्राचीनकाल के वीर पुरुषों को युद्ध के लिए प्रयाण करने से पूर्व उनकी पत्नियां बिदा-तिलक लगाती ।

या तो विजय या तो स्वर्ग !

योद्धाओं के लिए दो ही विकल्प रहते थे ।

मोक्ष की साधना में भी ऐसा संकल्प लेकर निकलना चाहिये ।
कच्चे व्यक्तियों का यहां काम नहीं है ।

• • • • •

चिन्तन उपयोगी क्यारे बने ?

सत्शास्त्रोमां तत्त्वनुं निरुपण होय छे. गुरुगमवडे ते रहस्यो
खुले छे. तेनुं चिंतन जीवने उपयोगी छे. क्यारे ? जो ते साधक
एकांतमां छे तो मनना विचारने, वाणीना व्यापारने शारीरिक क्रियाने
तत्त्वमय रखे छे. अर्थात् अशुभ हो के शुभ तेने नथी शोक के
नथी हर्ष. ते तो आत्मामां संतुष्ट छे. जो आ योगोमां ते जागृत नथी
तो तेनी तत्त्वदृष्टि शुष्क छे, जे भवसागर तरवामां प्रयोजनभूत बनती
नथी.



पद्मी-प्रसंग, पालीताणा, वि.सं. १०५७, मार्ग सु. ५

श्रीमती रमाबेन हंसराज नीसर खारोई (कच्छ-वागड़)
द्वारा आयोजित शाश्वत ओली के प्रसंग पर

१६-१०-१९९१, शनिवार

आ. सु. प्र. ७

✽ आत्मा के सहज स्वरूप को जानने के लिए जैनदर्शन ने अत्यन्त ही विस्तारपूर्वक लिखा है ।

ज्ञान-क्रिया, रत्नत्रयी, दान आदि ४, अहिंसादि तीन (अहिंसा, संयम, तप) ये समस्त मोक्ष-मार्ग हैं । सभी सच्चे मार्ग हैं । एक मार्ग की आराधना में दूसरी आराधना का समावेश हो ही जाता है । प्रकार अलग लगेंगे, वस्तु एक ही है । दूध से कितनी अलग-अलग मिठाईयां बनती हैं ? परन्तु मूल वस्तु एक ही है । उस प्रकार यहां भी मूल वस्तु एक ही हैं । वहां भूख मिटाना ही लक्ष्य है, उस प्रकार यहां विषय-कषाय नष्ट हो, आत्मगुणों का विकास हो, यही लक्ष्य है ।

✽ नवपद का ध्यान करने से श्रीपाल-भयणा को इतना फल मिला । हम वह ध्यान-पद्धति नहीं अपनाते, जिससे जितना

कहे कलापूर्णसूरि - १ ***** ४०७

लाभ होना चाहिये उतना लाभ नहीं होता । ध्यान के लिए मन को निर्मल एवं स्थिर बनाना पड़ता है । उसके बाद ही मन ध्यान में निश्चल बन सकता है, तन्मय बन सकता है ।

❖ अभी दिखाई देनेवाले प्रकाश के पीछे सूर्य कारण है, उस प्रकार ज्ञान का जो प्रकाश हमारे पास है, उसके पीछे अरिहंत का केवलज्ञान कारण है । हमें गर्व रखने की जरूरत नहीं है । चारों ओर ज्ञानावरणियों के पर्वतो में हम घिरे हुए हैं, अन्धकार है । उसमें थोड़ा प्रकाश मिल जाये तो अभिमान किस बात का ? हमारे कारण से प्रकाश नहीं आया । सूर्य के कारण आया है । ज्ञान सूर्य है ।

सूर्य से अधिक तेजस्वी वस्तु दूसरी हमें नहीं दीखती । अतः ज्ञान को सूर्य की उपमा दी है । वास्तव में तो ज्ञान असंख्य सूर्यों से भी अधिक देदीप्यमान है ।

❖ 'आइच्चेसु अहियं पयासयरा ।' भगवान का मुख-मण्डल इतना तेजस्वी होता है कि हम उस ओर देख नहीं सकते । भामण्डल उस तेज को शोष लेता है, ताकि हम देख सकते हैं । ऐसे भगवान जब देशना देते होंगे तब कैसे सुशोभित होते होंगे ?

आप जब प्रभावना देते हैं तब सभी को देते हैं कि छोटे-बड़े का भेद रखते हैं ? भगवान भी कोई भेद-भाव रखे बिना सब को ज्ञान-प्रकाश देते हैं ।

आचार्यश्री भल्लयगिरिजी ने टीका में लिखा है -

योग-क्षेम करना ही प्रभु का कार्य है ।

समवसरण में अनेक जीव सिर्फ चमत्कार, ऐश्वर्य एवं समृद्धि देखने के लिए ही आते हैं । वे यदि प्रशंसा के दो शब्द कहें तो समझे कि उनके हृदय में धर्म-बीज का वपन हो गया । इस समय अनेक व्यक्ति आडम्बर-आडम्बर कहकर धर्म की अपभ्राजना करते हैं, परन्तु दुकान में क्या आडम्बर नहीं किया जाता ?

भगवान को या गुरु को आडम्बर की जरूरत नहीं है । वे आडम्बर करते भी नहीं हैं, परन्तु देव करते हैं । गुरु के लिए भक्त करते हैं । जब धूम-धाम से नगर-प्रवेश होता है तब क्या प्रभाव पड़ता है, जानते हैं ?

उज्जैन में वि. संवत् २०३८ में जब प्रवेश हुआ तब बड़े-बड़े मिनिस्टर आकर पूछने लगे : 'क्या जैनों का कोई कुम्भ-मेला है ?'

❖ नमोऽनंत संत प्रमोद प्रधान ।'

अनन्त आनन्द का मूल एक मात्र नवपद है । नवपद में भी अरिहंत है ।

❖ भगवान केवल हित-बुद्धि से धर्म-देशना देते हैं ।

धर्म के बिना कोई हितकर नहीं है । यदि धर्म को निकाल दो तो कुछ भी हितकर नहीं बचेगा । धर्म स्वीकार करके आप भगवान को अपना साथी बनाते हैं ।

भगवान कैसे हैं ? वे अष्टप्रातिहार्यों से सुशोभित हैं, देवेन्द्रों द्वारा पूजित हैं, वे जगत के नाथ एवं जगत् के सार्थवाह हैं । इस प्रकार उनके लिए जितनी उपमा लगायें उतनी कम हैं ।

भगवान के कल्याणकों में नरक के जीवों को भी प्रकाश प्राप्त होता है, वे क्षणभर के लिए सुख प्राप्त करते हैं । देशना श्रवण करनेवाले ही सुख प्राप्त करते हों, ऐसी बात नहीं है ।

भगवान दिन में दो-दो बार एक-एक प्रहर तक देशना देते हैं, फिर भी उनकी शक्ति में कोई न्यूनता नहीं आती । वे देशना में अमृत की वृष्टि करते हैं ।

पुष्करावर्तमेघ की तरह भगवान देशना की वृष्टि करते हैं ।

उल्लू सूर्य के प्रकाश से वंचित रहता है, अन्य कौन वंचित रहेगा ? भगवान की इस देशना से मिथ्यात्वी आदि वंचित रहते हैं, अन्य कौन वंचित रहेगा ?

वह देशना आज भी आगमों के रूप में सुरक्षित है । जिनागम अर्थात् 'टेप' ही समझ लीजिये । टेप करने वाले थे - गणधर भगवंत ।

आज भी आगम पढ़ने पर ऐसा लगता है कि साक्षात् भगवान बोल रहे हैं ।

'विद्युत् पावर हाउस' में से वायर के द्वारा जैसे घर में प्रकाश आता है, पानी की टंकी में से पाईप के द्वारा जैसे घर में पानी आता है; उस प्रकार प्रभु का नाम, मूर्ति, आगम आदि सब वायर एवं पाईप जैसे वाहक हैं, जो भगवान को हम तक पहुंचाते हैं ।

आप चिन्तन करो और प्रभु का हृदय में संचार होता है ।

✽ गायें निर्भय होकर चरती हैं, क्योंकि वे जानती हैं कि हमारा रक्षक ग्वाला यही है । भगवान भी महागोप हैं । हम गायें बनकर जायें अर्थात् गायों की तरह दीन-हीन बनकर भगवान का शरण लें तो भगवान रक्षक बनेंगे । हमारा भय टल जायेगा ।

छःकाय रूपी गायों के भगवान रक्षक हैं, इसीलिए वे महागोप कहलाये हैं ।

✽ भगवान महामाहण हैं, महान अहिंसक हैं ।

कुमारपाल भले ही महान् अहिंसक बने, परन्तु उपदेश किसका ?

गुरु के माध्यम से भगवान का ही उपदेश है न ?

✽ भगवान निर्यामक हैं ।

‘तप-जप मोह महा तोफाने, नाव न चाले माने रे।’

साधना की नाव डूबती प्रतीत होती है, तब भगवान निर्यामक बनकर उसे बचाते हैं ।

खलासी की भूल हो सकती है, नाव डूब सकती है, परन्तु भगवान की शरण लेनेवाला अभी तक कोई डूबा नहीं ।

भगवान जगत् के सार्थवाह हैं, मुक्तिपुरी संघ के सार्थवाह ।

आप इस संघ में आ जायें फिर मुक्ति में ले जाने की जिम्मेदारी भगवान की ।

‘भो भो प्रमादमवधूय भजध्वमेनम् ।’

देव-दुंदुभि कह रही है कि ‘हे भव्यो ! प्रमाद त्याग कर आप उसकी सेवना करें ।

यह व्यवहार से प्रभु का स्वरूप हुआ ।

निश्चय से भगवान का स्वरूप कैसा ? वह अवसर पर देखेंगे ।

• • • • •





पदवी दीक्षा का प्रसंग,
वि.सं. २०५७, मार्ग. सु. ५, पालीताणा

१७-१०-१९९९, रविवार
आ. सु. द्वि. ७

द्वादशांगी का सार ध्यान योग है । मूल - उत्तर गुण ध्यान योग की सिद्धि के लिए है । ऐसा सिद्धपिंगणि के द्वारा उपमिति में कहा गया है ।

श्रेणि के समय प्रबल ध्यान शक्ति होती है, जो स्वतः ही आयेगी, ऐसा मान कर बैठ जायें तो मरुदेवी की तरह कोई सब को श्रेणि नहीं मिल जाती ।

ध्यान दो प्रकार से सिद्ध होता है -

अभ्यास से तथा सहजता से ।

अभ्यास से होनेवाले ध्यान को 'करण' कहते हैं और सहजता से होने वाले ध्यान को 'भवन' कहते हैं ।

शाश्वती ओली में सिद्धचक्र यंत्र का ध्यान करना चाहिये । शरीर के दस स्थानोंमें से किसी भी स्थान पर ध्यान किया जा सकता है । प्राचीन काळ में इस प्रकार ध्यान किया जाता था ।

'सिरिसिखाल कहा' में सिद्धचक्र का ध्यान पूर्णरूपेण बताया है ।

इस विश्व में 'नवपद'के समान कोई आलम्बन नहीं है । जितने ध्यान के आलम्बन हैं उनमें 'नवपद'की तुलना कोई नहीं कर सकता ।

कहे कलापूर्णसूरि - १ ***** ४१९

केवल नाम लो तो भी कर्मों का क्षय होता है तो फिर ध्यान धरो तब तो पूछना ही क्या ?

ध्यान-विचार में पद ध्यान : पंचपरमेष्ठी का ध्यान और परम पद ध्यान : अपनी आत्मा में ही पंच परमेष्ठी देखना - इस प्रकार बताया गया है ।

लखपति की सम्पत्ति के ध्यान से अथवा दर्शन से आप को एक भी रूपया तो नहीं मिलेगा परन्तु उल्टे कर्म चिपकेंगे ।

सेठ एवं सामन्तों की संपत्ति के ध्यान से आपको प्राप्ति की क्रिया लगती है, जबकि नवपद के ध्यान से आत्मा में ही वह ऋद्धि प्रकट होने लगती है ।

किसी भी कार्य में अन्तिम लक्ष्य यही होता है कि इन के जैसा मैं कैसे बनूँ ?

नवपद के ध्यान में यही लक्ष्य होना चाहिये ।

सेठ की दुकान पर नौकरी करनेवाला नौकर भावना रखता है कि मैं सेठ बनूँ । उस प्रकार यहां भी भावना होनी चाहिये कि मैं इनके समान कब बनूँ ?

★ भगवान ने धर्म को वश में किया है । जिस प्रकार घुड़सवार घोड़े को वश में करता है । उसे देखते ही घोड़ा सीधा चलने लगता है । धर्म को भी भगवान ने इसी प्रकार अपने वश में किया है ।

भगवान के बिना आप कहीं से भी धर्म प्राप्त नहीं कर सकेंगे ।

भगवान की आत्मा अर्थात् शुद्ध आत्म-द्रव्य । द्रव्य कभी गुणों से अलग नहीं होता; जिस प्रकार वस्त्र कभी तन्तु-रूप आदि से अलग नहीं होता ।

आत्म-द्रव्य का गुण चेतना है । जानना, देखना उसका गुण है । यह स्व पर प्रकाशक है ।

सचराचर जानने पर भी आश्चर्य है - भगवान को जानने की कोई उत्सुकता नहीं होती । वे परम उदासीनता में स्थित होते हैं । केवलज्ञान प्राप्ति से पूर्व ही परम उदासीनता बारहवे गुणस्थानक में आ जाती है । वीतरगता आने के बाद ही सर्वज्ञता आती है ।

कोई भी शक्ति अथवा लब्धि, जब तक उसका प्रयोग करके

दूसरों को प्रभावित करने की इच्छा होती है, तब तक वह प्राप्त नहीं होती । सर्वज्ञता की पूर्व शर्त वीतरागता है ।

पर्याय के दो प्रकार : १. प्रवर्तन : कार्य स्वरूप, २. सामर्थ्य : शक्ति स्वरूप । सत्पर्याय (छती पर्याय) ।

उदाहरणार्थ रस्सी । जिससे हाथी बांध सकते हैं या विशाल शिलाएं (चट्टान) चढ़ाई जा सकती हैं ।

वह रस्सी जितने तंतुओं से बनी हो उतनी मोटी होगी । यह मोटाई सामर्थ्य पर्याय है, परन्तु रस्सी कोई रखने के लिए नहीं बनाई जाती । इसके द्वारा शिला आदि चढ़ाई जाती हैं या हाथी बांधा जाता है । ऐसे कार्यों के समय प्रवर्तन पर्याय होते हैं ।

‘छती पर्याय जे ज्ञाननी, ते तो नवि बदलाय;
ज्ञेयनी नवी नवी वर्तना रे, समयमां सर्व समाय ।’

यहां ‘छती पर्याय’ से तात्पर्य है ‘शक्ति पर्याय’

प्रभु के शुद्ध द्रव्य पर्याय के ध्यान से हमारे भीतर प्रभु के गुण आते हैं ।

जिस प्रकार दर्पण के सामने खड़े रहते ही आपका प्रतिबिम्ब उसमें पड़ता है । हमारा मन भी दर्पण है । प्रभु के समक्ष खड़े रहें, प्रभु का ध्यान धरें । उनके गुण हम में संक्रान्त होंगे ।

सम्पूर्ण जगत का कूड़ा-कचरा संग्रह करने के लिए हम तैयार हैं, लेकिन प्रभु के गुण के लिए नहीं ।

❖ ध्यान पद्धति :

१. प्रभु के गुणों का चिन्तन ।
२. प्रभु के साथ सादृश्य चिन्तन ।
३. प्रभु के साथ अभेद चिन्तन ।

यह साधना का क्रम है ।

ऐसा नहीं करें तो शरीर के साथ का हमारा अभेद नहीं मिटेगा । शरीर का अभेद अनादिकालीन है, अनन्त जन्मों के संस्कार हैं । शरीर के साथ भेद की बात और प्रभु के साथ अभेद की बात, हमारे जीवने कभी सुनी ही नहीं है । फिर मस्तक में कहां से उतरे ?

यह ध्यान भी व्यवहार में निष्णात बनने के बाद ही लागू होता है । अन्यथा कानजी मत के अनुयायियों के जैसी दशा हो

जायेगी, क्रियाकाण्ड छूट जायेंगे ।

‘ध्यान-विचार’ में बारहों परम ध्यान सम्पूर्ण निश्चयलक्षी हैं ।
वे अपनी आत्मा के साथ जोड़ने वाले हैं ।

सिद्ध :

अरूपी ध्यान में सिद्धों का ध्यान धरना है ।

‘सिद्धाणमाणांद - रमालयाणं’

सिद्ध अनन्त हैं, अनन्त चतुष्कवाले हैं ।

हमारी भावी स्थिति कैसी है ?

सिद्ध अर्थात् हमारी भावी स्थिति । किसी ज्योतिषी को पूछने की जरूरत नहीं है । यदि हमें धर्म प्रिय है तो यही हमारा भविष्य है ।

वखतचंदभाई को अनेक व्यक्ति पूछते हैं : ‘आप कब संघ निकालनेवाले हैं ? कब उपधान करानेवाले हैं ? (१ वर्ष के बाद वखतचंदभाई ने उपधान तो करा लिया, लेकिन पूज्यश्री की निश्रा में संघ की भावना अपूर्ण रह गई ।)

मैं आपको पूछता हूं - ‘आप सिद्ध कब बननेवाले हैं ?’

जन्म, जरा, मृत्यु आदि से मुक्त होने का सिद्धि गति में जाने के अलावा कोई अन्य उपाय नहीं है ।

इस जन्म में यदि साधना नहीं की तो आगामी जन्म ऐसा मिल जायेगा, इस भ्रम में मत रहना । यहां आपके चाचा-मामा का राज्य नहीं है ।

इस समय शान्त गुरु मिले हैं तो भी नहीं करते तो कठोर प्रकृतिवाले गुरु मिलेंगे तब किस प्रकार साधना कर सकोगे ?

इस समय प्राप्त देव-गुरु आदि की सामग्री का जैसा उपयोग करोगे, तदनुसार ही अगली सामग्री प्राप्त होगी । इस समय मन, वचन आदि शक्तियों का जैसा उपयोग करोगे, तदनुसार अगली शक्तियां हमें प्राप्त होगी ।

मद्रास में मेरी स्वयं की स्थिति ऐसी हो गई थी कि मुहपत्ति के बोल भी याद नहीं आ रहे थे । पट्ट के समय बड़ी शान्ति भूल जाता । इस जन्म में भी शरीर दगा दे सकता है, तो आगामी जन्मों में तो क्या होगा ? इसकी कल्पना तो करो ।

कई बार तो मैं किसी को मांगलिक सुनाने जाने के लिए तैयार होऊँ और समाचार मिलता है कि वे भाई तो स्वर्गवासी हो गये ।

जीवन का क्या भरोसा है ? यह जीवन बुदबुदा है ।

बुदबुदे को फूटने में क्या विलम्ब ? बुदबुदा फूटे उसमें नहीं, वह टिका रहे यही आश्चर्य है ।

इसीलिए कहता हूँ कि शीघ्र साधना कर लो । जीवन अल्प है, पलपल में आयुष्य घट रहा है ।

इस जीवन में दोषों को निकाल दो । यदि कुत्ता नहीं जाये तो आप उसे कैसे निकाल देते हैं ? इसी प्रकार से दोषों को निकालो, यही वास्तविक साधना है ।

यदि यह साधना इस जीवन में नहीं करोगे तो फिर कब करोगे ?

❁ अन्त समय में सिद्ध होने वाले जीव की दो-तिहाई अवगाहना रहती है । तीन हाथ की काया होगी तो दो हाथ रहेगी ।

सिद्ध भगवंत वर्ण, गन्ध, रस आदि से रहित होते हैं । वे नित्य आनन्द अव्याबाध सुख में लीन होते हैं, परम ज्योतिरूप होते हैं ।

एक सिद्ध जिस अवगाहना में होते हैं, उतनी ही अवगाहना में अनन्त सिद्ध होते हैं ।

पुनः वे इस संसार में आनेवाले नहीं हैं । सादि अनन्तकाल की उनकी स्थिति है । वे अपनी आत्म-सम्पत्ति के राजा हैं ।

उनकी समस्त शक्तियाँ पूर्णरूप से व्यक्तिरूप बनी हैं, वे ही शक्तियाँ हमारे भीतर भी हैं, परन्तु व्यक्ति नहीं हैं । सिद्ध में व्यक्ति हैं । व्यक्ति अर्थात् प्रकट ।

स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र आदि के सम्बन्ध में अवसर पर समझायेंगे, परन्तु इस समय इतना समझ लें कि स्वक्षेत्र की विचारणा से मोहराजा का ९९ प्रतिशत भय कम हो जाता है । क्यों ?

भगवान ने कहा है - समस्त पदार्थ स्वरूपमें हैं ही, पररूपमें नहीं हैं । इतनी बात निश्चित हो जाये तो भय किस बात का ?

भगवती सूत्र में कहा है - 'अत्थित्ते अत्थित्तं परिणमइ, नत्थित्ते नत्थित्तं परिणमइ ।

समस्त द्रव्य अपनी मर्यादा में ही रहते हैं । पुद्गल चाहे हमें लिपटा हुआ है, परन्तु पुद्गल के साथ मिलावट कभी नहीं होती । आत्मा पुद्गल नहीं बनती, पुद्गल आत्मा नहीं बनता ।

यह बात नहीं समझते हैं इसीलिए हम भयभीत हैं । यह बात हम अभी नहीं समझेंगे तो कब समझेंगे ? हम कब तक तत्त्वज्ञान से रहित रहेंगे ?

‘द्रव्य क्रिया रुचि जीवड़ा रे, भावधर्म रुचिहीन;

उपदेशक पण तेहवा रे, शुं करे लोक नवीन ?

- पू. देवचन्द्रजी

क्या करें ? काल ही ऐसा है, इस प्रकार काल पर भी दोष न मढ़ें । यह आत्म-बंचना होगी ।

• • • • •

आत्मज्ञाननी प्राप्ति केवी सीते थाय ?

पूज्यश्री : जेम झवेरात झवेरीनी दुकानेथी मळे तेम आत्मज्ञान
गुरुगम वडे मळे. ते माटे गुरुजनो प्रत्ये अत्यंत बहुमान जोईए.
गुरुजनोना बहुमान वगरनुं ज्ञान जीवनुं पतन करावे, गर्व करावे. गुरुजनो
आ जन्मे के अन्य जन्मे तीर्थकरनो योग करी आपे तेवी चावी आपे
छे. जे मोक्षनुं कारण बने छे.



पदवी-दीक्षा-प्रसंग, पालीताणा, वि.सं. १०५७, भाग. सु. ५

१८-१०-१९९९, सोमवार

आ. सु. ८

सिद्धचक्र की आराधना परमपद प्रदान करती है । क्योंकि नवपद स्वयं परम पद हैं ।

✽ ध्यान-विचार में सात प्रकार की चिन्ताएं हैं :

प्रथम तत्त्व-चिन्ता में जीवादि तत्त्व चिन्ता आती हैं ।

परम तत्त्व चिन्ता में पंच परमेश्वरी भगवंत आते हैं ।

✽ तीर्थंकर भी इन नवपदों का सम्पूर्ण वर्णन नहीं कर सकते, क्योंकि वाणी परिमित है, उनके गुण अपरिमित हैं ।

✽ ध्यान, अभ्यास - साध्य की अपेक्षा कृपासाध्य ज्यादा है । जिसका ध्यान प्रभु में लग जाये, उसे प्रभु की कृपा समझनी चाहिये ।

✽ स्थूल दृष्टि से सिद्ध सिद्धशिला पर हैं ।

निश्चय से सिद्ध अपनी आत्मा में विद्यमान हैं ।

आठ कर्मों का क्षय हो जाने से वे अव्याबाध सुख में लीन रहते हैं ।

संसारी जीवों को अकेला दुःख है, क्योंकि ज्ञानियों की दृष्टि में सुख (साता) भी दुःख ही है । साता में प्रतीत होता सुख परिणामतः तो दुःखरूप ही है । दुःख के समय यह विचार नहीं आता कि

ऐसा दुःख बार-बार आये; परन्तु सुख के समय यह विचार आता है कि यह सुख कभी न जाये, सदा रहे। ऐसी वृत्ति से आसक्ति बढ़ती है। आसक्ति स्वयं दुःखरूप है, जबकि सिद्धों में ऐसी आसक्ति नहीं है।

❖ सिद्ध स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र आदि में स्थिर हो गये हैं।

हमारी आत्मा में अस्तित्व है।

हमारी आत्मा में नास्तित्व है।

हमारी आत्मा नित्य है।

हमारी आत्मा अनित्य भी है।

हमारी आत्मा सत् भी है।

अमारी आत्मा असत् है।

इसका नाम ही स्याद्वाद है।

स्वद्रव्य - स्वक्षेत्र आदि की अपेक्षा से अस्तित्व है।

परद्रव्य आदि की अपेक्षा से नास्तित्व है।

द्रव्य की अपेक्षा से नित्य है।

पर्याय की अपेक्षा से अनित्य है।

एक आगमिक श्लोक है, जो देवचन्द्रजी महाराज के टब्बे में है।

‘द्वं गुणसमुदाओ अवगाहो खित्तं वट्टणा कालो।

गुणपज्जयपवत्ती भावो, सो वत्थुधम्मोत्ति ॥’

इन चारों की परिणति वस्तु का स्वभाव है।

द्रव्य : गुणसमुदाय।

क्षेत्र : स्व अवगाहना।

काल : वर्तना लक्षणरूप।

भाव : गुण-पर्यायों का प्रवर्तन।

ऐसी विचारधारा से मृत्यु आदि के संकट के समय भी समाधि रहती है। मेरे पास मेरा है ही। क्या था जो नष्ट हुआ?

मेरा था वह मेरे पास है ही। जो मेरा नहीं है वह भले चला जाये। ऐसी विचारधारा के बीज इसमें पड़े हुए हैं।

❖ जल प्यास बुझाना बंध नहीं करता, उस प्रकार हमारी आत्मा भी स्वभाव नहीं छोड़ती। जल के बदले कुछ अन्य चलता

है ? क्या तेल पिया जा सकता है ? यदि अग्नि उष्णता त्याग दे तो ?

जगत् के कोई पदार्थ अपना स्वभाव नहीं बदलते ।

‘चंदन शीतलता उपजावे, अग्नि ते शीत मिटावे;
सेवकना तिम दुःख गमावे, प्रभु-गुण प्रेम स्वभावे’
प्रभु का स्वभाव है यह । यह नहीं बदलेगा ।

सहायता, साधना, सहनशीलता साधु का स्वभाव है । यह कैसे जा सकता है ? यदि जाये तो साधुता कैसे रहे ?

❖ जीव-दल पत्थर है ।

गुरु शिल्पी है ।

निरर्थक भाग शिल्पी दूर कर देता है तब पत्थरमें से प्रतिमा बनती है । इसी प्रकार से विभावदशा दूर होने पर आत्मा परमात्मा बनती है ।

घर में स्वच्छता कैसे आती है ? स्वच्छता बाहर से लानी नहीं पड़ती । वह तो भीतर ही है । केवल आप कचरा निकाल दें तो स्वच्छता हाजिर । आत्मा में से कर्म का कचरा निकालो तो परमात्मा हाजिर ।

अखबार, T.V. आदि आपको कचरा नहीं लगता ? पुराना कचरा तो है ही । फिर नया कचरा क्यों भरें ?

आत्मा को शुद्ध बनायें, कचरा दूर करें तो सिद्ध हाजिर ।

हमें चाहे अपनी सिद्धता दृष्टिगोचर नहीं होती, परन्तु प्रभु हमारी स्वच्छता, हमारी सिद्धता देख रहे हैं ।

प्रभु कहते हैं - ‘तू क्यों घबराता है ? तेरी सिद्धता मैं अपने ज्ञान से देख रहा हूँ । तू केवल प्रयत्न कर ।’

❖ विषयों का ध्यान सहज है, प्रभु का ध्यान कभी नहीं किया । इसके लिए प्रयत्न करना पड़ता है ।

जितने सिद्ध हुए हैं, वे सभी यहीं से वहां गये हैं । इस मनुष्यलोक के अलावा अन्य कहीं से भी वहां नहीं जाया जा सकता ।

वहां जाने की शर्त इतनी कि कर्म का अंश भी नहीं होना चाहिये । कर्म का एक अणु भी नहीं चलता । बोझवाले व्यक्ति का वहां काम नहीं है ।

आप जिस क्षण कर्म का कचरा निकालोगे, उसी समय (अन्य समय भी नहीं) - 'समय-पएसंतर अणफरसे') उपर जाकर निवास करो।

आत्मा कर्ममुक्त होकर ऊपर कैसे जाती है ? यह स्पष्ट करने के लिए चार दृष्टान्त दिये हैं :

(१) पूर्व प्रयोग : कुम्हार का चाक डण्डे से हिलाने के बाद स्वतः ही थोड़ी देर घूमता रहता है, उस प्रकार सिद्ध यहां से कर्ममुक्त होकर उपर जाते हैं। कर्म-मुक्त होना ही एक प्रकार का धक्का है, पूर्व प्रयोग है।

(२) गति परिणाम : जीव का स्वभाव उपर जाने का है, जैसे अग्नि का स्वभाव उपर जाने का है।

(३) बन्धन-छेद : एरंडिया का फल पकने पर जैसे उपर जाता है उस प्रकार कर्म मुक्त होने पर जीव उपर जाता है।

(४) असंग : मिट्टी के संगवाला (लेपवाला) तूम्बा डूबता है, परन्तु मिट्टी का लेप निकल जाने पर वह जल की सतह पर आ जाता है; उस प्रकार कर्म का लेप निकलने पर जीव उपर जाता है।

✻ सिद्धों का सुख कैसा ? उपमा नहीं दी जा सके ऐसा। जन्म से ही जंगल में निवास करनेवाला भील शहर में राजा के सुख का आनन्द लेकर पुनः घर आये तो वह उस सुख का वर्णन कैसे कर सकता है ? ऐसी ही दशा ज्ञानियों की होती है, जानते हैं परन्तु बोल नहीं सकते।

ऐसे सिद्धों की झलक योगी ध्यान-दशामें कभी-कभी देख लेते हैं।

उन सिद्धों का ध्यान होने से हमें समाधि प्रतीत होती है।

अरिहंत का ध्यान अरिहंत बनाता है उस प्रकार सिद्धों का ध्यान सिद्ध बनाता है।

ऐसे सिद्धों का ध्यान कैसे हो सकता है ? उनके गुणों, प्रतिमाओं, 'नमो सिद्धाणं' आदि पदों का आलम्बन लेने से हो सकता है।

✻ ध्याता ध्येय ध्यान

ज्ञाता ज्ञेय ज्ञान

साधक साध्य साधन

उपासक उपास्य उपासना

इन तीनों का एकीकरण समापत्ति है ।

★ नवपदों के सम्बन्ध में जितनी कृतियां आज उपलब्ध हैं, उन कृतियों की उन्होंने ध्यान से अनुभूति करके रचना की है । रचना की है कहने की अपेक्षा 'रचना हो गई है' यह करना उचित होगा । उनके शब्दों से उनकी साधना प्रतीत होती है ।

आचार्य पद :

'नमूं सूरिराजा सदा तत्त्व ताजा, जिनेन्द्रागमे प्रौढ साम्राज्य भाजा;
षड्वर्गवर्गितगुणे शोभमाना, पंचाचारने पालवे सावधाना'

सूर्योदय होने पर चन्द्रमा आदि का तेज फीका पड़ जाता है । ज्योतिष में भी जब रवियोग प्रबल होता है तब अन्य योग अशक्त हो जाते हैं । शासन में जब सूरि भगवंत प्रभावक बनते हैं तब अन्य दार्शनिक फीके पड़ जाते हैं ।

नमूं सूरिराजा, सदा तत्त्वताजा,

उनके पास नया-नया तत्त्व-ज्ञान स्फुरायमान होता ही रहता है, इसलिए 'तत्त्व ताजा' कहा ।

फलोदी में पू. लब्धिसूरि महाराज का चातुर्मास था ।

फूलचंदजी झाबक अत्यन्त ही तत्त्वप्रेमी थे । विद्वानों को विद्वद्गोष्ठी प्रिय लगती है । वे आचार्यश्री को रात्रि के समय गूढ़ प्रश्न पूछते । हम पौषध में होते थे तब कई बार सुनते थे । रात्रि में बारह भी बज जाते थे । तत्त्व की बातों में रात व्यतीत हो जाती थी । आचार्य ऐसे 'तत्त्व-ताजा' होते हैं । आचार्य में गुण कितने होते हैं ?

'षट्वर्ग - वर्गित'

अर्थात्

६ का वर्ग - ३६; $६ \times ६ = ३६$.

३६ का वर्ग - १२९६; $३६ \times ३६ = १२९६$.

आचार्य के इतने गुण होते हैं ।

वे सावधान होकर पंचाचार के पालक होते हैं ।

दस वर्ष की उम्र से (हैदराबाद में रहता था तब से) मैं

ये (नवपद की) पूजा की ढालें गाता हूं। आज भी उतना ही आनन्द आता है। दिन-प्रतिदिन नये नये अर्थ निकलते प्रतीत होते हैं। यह पदार्थ मुझे भावित बनाना है। जो है वह इसमें है। इसमें जो है वह कहीं नहीं है।

ये ढालें पक्की करने जैसी है, याद रखने योग्य हैं।

हमारे आचार्य, उपाध्याय आदि कैसे होते हैं? उनका स्वरूप तो जाने। यदि स्वरूप जानेंगे तो वैसा बनने की इच्छा होगी, उनके गुण प्राप्त करने की इच्छा होगी।

ज्ञान-दर्शन आदि का स्वरूप जानेंगे तो उसे अपनाने की इच्छा होगी।

• • • • •

काळनो बोम्ब पड्यो त्यारे शुं ?

भूतकाळमां बहारना हुमलाथी बचवा राजाओ किल्लाओ चणता
हता. हवे बोम्ब पडवा मांड्य एटले लोकोए भोंयरा (बंकर) बनाव्या.
पण आ काळनो बोम्ब पडे त्यारे कोनुं शरण लेशो ? भौतिक विज्ञान
पासे एनो जवाब नथी. बोम्ब पडेलो होय ते धरती घणा श्रमथी
कोई पल्लवित करे. ईजा पामेला मानवोने सारवार आपे. पण मृत्यु
पासे ते शुं करी शके ?

धर्म ज मानवने स्वाधीनता अने सुख आपशे.



पदवी-प्रसंग, पालीताणा, वि.सं. २०५७, मार्ग. सु. ५

१९-१०-१९९९, मंगलवार

आ. सु. ९

यदि हमें साधक बनना हो तो इन तीनों (आचार्य, उपाध्याय, साधु) में से किसी एक के गुण प्राप्त कर लें तो काम हो जाये। अहिंस, सिद्ध साध्य हैं। आचार्य, उपाध्याय, साधु साधक हैं। दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप साधन हैं। दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप की पराकाष्ठा सूरि में हैं।

आचार्य 'तत्त्वताजा' कहे गये हैं। पुनरुवर्तन के प्रभाव से उनका तत्त्व ताजा ही रहता है। उपाध्याय आदि सब को वे पढाते हैं।

सचमुच तो दूसरों का पढाना अर्थात् स्वयं पढना। इससे आगे बढ़कर जीवन में आ जाये वही सच्चा ज्ञान कहलाता है।

आचार्य द्रव्य, क्षेत्र, काल के अनुरूप देशना देते हैं।

द्रव्य से व्यक्ति, क्षेत्र से देश, काल से समय,

भाव से श्रोताओं के भावों को देखकर वे देशना देते हैं।

आचार्य 'शुद्ध जल्पा' कहे गये हैं, अर्थात् शास्त्रानुसार बोलने वाले कहे गये हैं।

जिस प्रकार भौरा पुष्प का रस पान करता है, उस प्रकार

कहे कलापूर्णसूरि - १ ***** ४२३

आचार्य परमानन्द का रस पान करते हैं । इसी कारण से वे ताजा हैं ।

आचार्य साध्य में अत्यन्त एकनिष्ठ होते हैं । वे चाहे जैसे विघ्नो में भी ध्येय-निष्ठा नहीं छोड़ते ।

✻ ज्ञान, दर्शन, चारित्र तप में ज्यों ज्यों वीर्य लगायें, त्यों त्यों हमारा वीर्य बढ़ता है, घटता नहीं ।

चलने से कभी पांव छोटे हुए हैं ? आज तक हम कितने किलोमीटर चले हैं ? क्या हमारे पांव छोटे हुए ? आंखों से कितना देखा ? क्या हमारी आंखे छोटी हुई ? चाहे जितना करो, शक्ति घटेगी नहीं, प्रत्युत बढ़ेगी । उल्टा कार्य नहीं करोगे तो शक्ति घटेगी ।

पुष्प तोड़ना बंध करो

कुंए में से पानी खींचना बंध करो

गाय दोहना बंध करो

क्या होगा ?

वे देना बन्ध कर देंगे ।

काम करना बंध कर दो, आप को जंग लग जायेगा ।

अनेक दानवीर कहते हैं - 'देने से सम्पत्ति बढ़ती ही जाती है, यह हमारा अनुभव है । इसीलिये हम देते ही रहते हैं ।'

यह विनियोग का आनन्द है ।

'वर छत्रीस गुणे करी सोहे, युग-प्रधान मन मोहे;

जग बोहे न रहे खिण कोहे, सूरि नमुं ते जोहे.'

युगप्रधान स्वरूप आचार्य ३६ गुणों से सुशोभित होते हैं, वे जगत् को प्रतिबोध देते रहते हैं और क्षणभर के लिए भी क्रोध नहीं करते ।

'नित्य अप्रमत्त धर्म उवएसे, नहीं विकथा न कषाय;

जेहने ते आचारज नमिये, अकलुष अमल अमाय'

आचार्य अप्रमत्त होकर देशना देते हैं, निन्दा या कषाय की बात नहीं है । वे माया-रहित निर्मल एवं निष्कलंक हैं ।

'जे दिये सारण-वारण'

आचार्य शिष्यों को सारणा-वारणा आदि के द्वारा सुमार्ग पर लाते हैं । पू. कनकसूरिजी महाराज इस प्रकार करते थे । प्रारम्भ

में तो वे मिठास से कहते थे । इतने से कार्य नहीं होता तो उसे थोड़ी आंखें लाल करके कहते 'मालुम नहीं पड़ता ?' बस, यह उनकी सीमा थी । इतना जिसे कहते वह एकदम सीधा हो जाता ।

परन्तु सारणा आदि योग्य शिष्य को ही किया जा सकता है ।

‘अत्थमीये जिन सूरज...’

केवली एवं चौदह पूर्वियों के विरह में आचार्य ही इस समय आधाररूप हैं । आचार्य ही इस समय शासन के आधार-स्तम्भ हैं ।

अरिहंत का सेवक अरिहंत बनता है ।

सिद्ध का सेवक सिद्ध बनता है ।

आचार्य का सेवक आचार्य बनता है ।

उपाध्याय का सेवक उपाध्याय बनता है ।

साधु का सेवक साधु बनता है ।

आपको जो बनना हो उसकी सेवा करें । एक को यदि बराबर पकड़ोगे तो अन्य चार भी अपने आप पकड़ में आ जायेंगे, यह न भूलें ।

उपाध्याय पद :

‘नहीं सूरि पण सूरिगणने सहाया,

नमुं वाचका त्यक्त मद मोह माया’

उपाध्याय भले ही आचार्य नहीं है, परन्तु आचार्य के सहायक हैं । जैसे प्रधान मन्त्री और राष्ट्रपति के सचिव होते हैं, उस प्रकार उपाध्याय आचार्य के सचिव हैं ।

आचार्य का कार्य शासन के सम्बन्ध में तत्त्व-चिन्तन का होता है । उन्हें पर्याप्त समय मिले अतः बाकी काम दूसरे संभालते हैं ।

‘कार्य मैं करूं और यश आचार्य को मिले ?’ ऐसा विचार उपाध्याय नहीं करते । अतः लिखा है - ‘त्यक्त मद मोहमाया...’ ‘सूत्रार्थ दाने जिके सावधाना...’ सूत्रार्थ-दानमें उपाध्याय सदा तत्पर होते हैं । उपाध्याय के गुण कितने ?

५ का वर्ग = ५ × ५ = २५.

२५ का वर्ग = २५ × २५ = ६२५.

वाचक, पाठक आदि उपाध्याय के ही नाम हैं ।

क्षमा आदि दस धर्म के धारक,
 स्याद्वाद - नयवाद से कथन करने वाले
 संसार से डरने वाले,
 पाप से भयभीत होने वाले,
 शासन की धुरा के वाहक,
 वाचना-दान में समर्थ उपाध्याय को नमस्कार हो ।
 'द्वादश अंग सज्जाय करे जे, पारग-धारग तास.'

द्वादश अंगों का वे स्वाध्याय तो करते ही हैं, परन्तु पारगामी भी होते हैं, धारक भी होते हैं और सूत्र-अर्थ का विस्तार करने वाले भी होते हैं ।

टीका आदि इनके साक्षी हैं । हरिभद्रसूरिजी ने दशवैकालिक के प्रथम अध्ययन में ही कितना विस्तार किया है ?

आवश्यक टीका में बहुत विस्तार है, फिर भी वे लिखते हैं कि यह लघु टीका है ।

भविष्य में कोई समझेगा, यह समझकर महापुरुषों ने टीका आदि लिखी हैं ।

'ध्यान-विचार' ग्रन्थ मुझे मिला । मैं अत्यन्त प्रसन्न हुआ । मैंने विस्तारपूर्वक लिखा - 'भविष्य में किसी जिज्ञासु के लिए काम आयेगा, इस आशय से लिखा है, परन्तु अभी तक एक भी पत्र नहीं आया जिसमें पूछा हो - 'मुझे यह समझ में नहीं आया, मार्ग-दर्शन करें' ! खोले ही कौन ?

पत्थर तुल्य जड़ शिष्य में भी उपाध्याय की कृपा से ज्ञान के अंकुर फूट सकते हैं ।

ऐसा मूर्ख विद्वान बन जाये, फिर वह उपकारी उपाध्याय को क्या भूल सकता है ?

'राजकुंवर सरिखा गणचिन्तक'

आचार्य राजा हैं तो उपाध्याय राजकुमार हैं, युवराज हैं । युवराज भावी राजा हैं । उपाध्याय भावी आचार्य है ।

उनका तो भव-भय मिट गया, परन्तु उनका वन्दन करनेवाले का भी भव-भय मिट जाता है ।

• • • • •



पूज्यश्री के दर्शनार्थ सा. आश्रम, पदास, वि.सं. २०५१

२०-१०-१९९९, बुधवार

आ. सु. १० (प्रातः)

आज साधुपद का दिन है ।

आज ही मुमुक्षु मुहूर्त दिखाने आये हैं ।

दूसरे भी दीक्षा का मुहूर्त शीघ्र निकले, इस भावना से साधु पद का जाप करें ।

मेरे सन्तान ऐसी युवावस्था में इस मार्ग पर जाते हैं तो क्या मेरे लिए यह विचारणीय नहीं है ? हम संयमी न बनें तो भी कम से कम वैरागी तो बनें ।

परिवार में से एक तैयार हो तो कितने को खिंचें ? मैं एक तैयार हुआ तो पीछे सात-आठ निकले ।

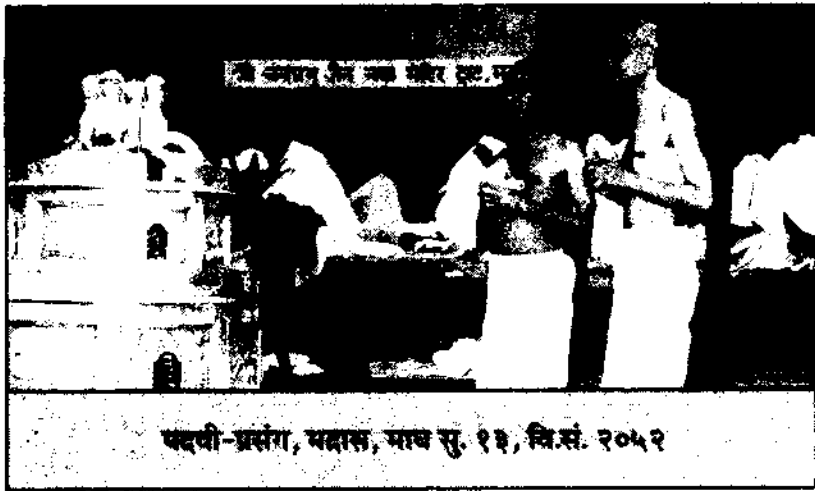
सभा : सम्पूर्ण समुदाय को आप ही खींचते हैं न ?

★ रूपेशभाई आदि के मुहूर्त ।

रूपेश, मंजु, तारा, रंजन, रीट, सरला, शर्मिष्ठा, दमयन्ती, सुनीता, हंसा, दर्शना, ममता इत्यादि बहनों का माघ व. ६, बुधवार, ता. २६-१-२००० (अंजार) में दीक्षा मुहूर्त की घोषणा हुई ।

नीताबहन का मार्ग व. १३ एवं उर्वशी तथा मोनल के जेट सु. १० के मुहूर्त की घोषणा हुई ।

• • • • •



२०-१०-१९९९, बुधवार
आ. सु. १० (दशहरा)

व्यवहार से उपाध्याय की व्याख्या देखी, अब निश्चय से देखें ।

‘तप सज्झाये रत सदा...’

बारह प्रकार के तपों में स्वाध्याय महत्त्वपूर्ण है । ज्ञानरूपी खड्ग तेज हो उतना चारित्र जीवन में आता है । अतः यहां ज्ञान तथा तप (चारित्र) एक हो जाते हैं ।

यही बात लक्ष्य में रखकर उपाध्याय यशोविजयजी ने ‘ज्ञानसार’में कहा है -

‘ज्ञानमेव बुधाः प्राहुः कर्मणां तापनात् तपः ।

तदाभ्यन्तरमेवेष्टं, बाह्यं तदुपबृंहकम् ॥’

जो आभ्यन्तर तप में बाधक बने वह तप जिनशासन को मान्य नहीं है । बाह्य केवल आन्तर तप को सहायक बने इतना ही । आभ्यन्तर तप के बिना करोड़ वर्षों का तप हो परन्तु ज्ञानी का एक क्षण उससे बढकर होता है ।

‘बहु क्रोडो वर्षे खपे, कर्म अज्ञाने जेह;

ज्ञानी श्वासोच्छ्वासमां, करे कर्मनो छेह.’

उपाध्याय यशोविजयजी का कथन है - ‘निश्चय से हमारी

आत्मा ही उपाध्याय है । कौन सी आत्मा उपाध्याय बन सकती है ? जो आत्मा तप, स्वाध्याय में रत हो, द्वादश अंगों का ध्याता, जगबन्धु एवं जग-भ्राता हो ।

प्रश्न : भ्राता एवं बन्धु में क्या फर्क है ?

उत्तर : सगा भाई भ्राता कहलाता है, समान गोत्रीय बंधु कहलाते हैं ।

इस प्रकार उपाध्याय यहाँ केवल जगत् के बन्धु ही नहीं, भाई भी हैं । इसीलिए कहा है - जगबंधव जगभ्राता रे,

आपत्ति के समय सहायता के लिए भाई आता है ।

राम-लक्ष्मण, पांच पाण्डवों में यह देखा जा सकता है ।

छः माह तक वासुदेव, भाई का शव लेकर घूमता है, इतना स्नेह होता है । देव को आकर समझाना पड़ता है ।

ऐसा भ्रातृभाव एवं बंधु-भाव हम जगत् के जीवों के साथ रख सकेंगे तब साधना में वेग आयेगा ।

साधु पद :

‘साहूण संसाहिअसंजमाणं...’

दया-दमन युक्त बनकर संयम की जो साधना करे वह साधु । साधु की व्याख्या हमारे जीवन की व्याख्या बननी चाहिये ।

आगमों में व्याख्या कैसी है ? और हमारा जीवन कैसा है ? इस प्रकार तुलना करनी चाहिये । इन पंक्तियों के दर्पण में स्व-जीवन को देखना चाहिये ।

साधु आचार्य, उपाध्याय, गणि आदि की सेवा करे, सेवा में आनन्द माने, और पांच समिति का पालन करने में सावधान होते हैं ।

चले तब दृष्टि नीचे - इर्या समिति

बोले तो उपयोगपूर्वक - भाषा समिति

वस्तु ले, रखे तो पूंजकर - आदानभंडमत्त निक्षेपणा समिति ।

गोचरी ग्रहण करे तो गवेषणापूर्वक - एषणा समिति

डाले तो जयणापूर्वक - पारिष्ठापनिका समिति

ऐसा उनका सहज जीवन होता है ।

जो बड़ों की पूजा करते हैं उन्हें ही परोपकार वृत्ति मिलती है और उन्हें ही सदुरु मिलते हैं । इसीलिए ‘जय वीरराय’में ये

ही कम कहा गया है ।

‘गुरुजण पूआ परत्थकरणं च सुहगुरुजोगो ।’

संभव है, गुरु में ऐसी शक्ति न भी हो, तो भी उनकी भावपूर्वक सेवा से शिष्य की शक्तियां खिल उठती ही हैं ।

जंबूविजयजी इसके उत्तम उदाहरण हैं ।

पिता + गुरु भुवनविजयजी के विरह में उनकी कामली रखी हैं । उसे देखकर वे आज भी गद्गद होते हैं । परिणाम स्वरूप कैसी शक्तियां प्रकट हुईं ? भुवनविजयजी को कौन पहचानता था ? जंबूविजयजी विद्वान एवं भक्त के रूप में विख्यात हुए ।

पिता-गुरु के बिना जंबूविजयजी अकेले पड़ गये । पंन्यासजीश्री भद्रंकरविजयजी के पास एक भाई दीक्षा ग्रहण करने के लिए आये । पंन्यासजी महाराज ने उन्हें जंबूविजयजी के पास भेजे ।

देव ने (भगवान ने) पं. भद्रंकरविजयजी के द्वारा इन्हें भेजे, अतः इनका नाम ‘देवभद्रविजय’ रखा गया ।

दूसरों को शिष्य देने की बात तो छोड़ो, हम तो उल्टा दूसरों का खींच लें ।

✽ निर्ग्रन्थ किसे कहते हैं ?

नौ बाह्य एवं चौदह आन्तर परिग्रह हैं ।

धन, धान्य, वास्तु, क्षेत्र, हिरण्य, स्वर्ण, द्विपद, चतुष्पद, कुप्य - ये नौ बाह्य परिग्रह हैं ।

चार कषाय + नौ नोकषाय + १ मिथ्यात्व = १४; ये आन्तर परिग्रह हैं । इन सबका त्याग करने वाले निर्ग्रन्थ कहलाते हैं ।

✽ छिद्रवाले स्टीमर में कोई नहीं बैठता । यदि कोई बैठे तो वह डूब जाये ।

अतिचारों के छिद्रवाला साधुत्व हमें संसार-सागर से कैसे पार ले जायेगा ?

हमारा साधुत्व मुक्ति-दाता है, क्या हमें ऐसा लगता है ?

अपने संयम को योग्य बनाने के लिए साधु सतत प्रयत्नशील होते हैं ।

✽ अष्टांग योग यहां भी है । आठ दृष्टियों में क्रमशः आठ योगों के अंग विद्यमान हैं ।

प्रथम दृष्टि में समाधि देखने को मिलती है, परन्तु इसे गौण समाधि समझें। आगे मिलनेवाली परम समाधि का बीज समझें।

बीज कभी सीधा नहीं मिलता, क्रमशः मिलता है। प्रथम अंकुर फूटते हैं। उसके बाद क्रमशः तना, शाखा, फूल, फल, बीज आते हैं।

योगशास्त्र की अष्टांग योग के क्रम से ही रचना हुई है। देखो, मार्गानुसारिता, सम्यक्त्व, बारह व्रत आदि यम-नियमों में समाविष्ट हैं।

चौथे के अन्त में आसन, पांचवे में प्राणायाम, छठे में प्रत्याहार, उसके बाद १२ प्रकाश तक धारणा, ध्यान एवं समाधि वर्णित हैं।

✿ शरीर में दाह होता हो, उसे ही उसकी वेदना का पता लगता है। ऐसी ही वेदना जिसे संसार की अर्थात् राग-द्वेष की अपार वेदना प्रतीत होती हो उसे साधना करनी ही पड़ेगी।

बाह्य ताप का जल-सिंचन, चंदन-विलेपन आदि से शमन होता है, परन्तु आन्तरिक ताप का जिन-वचन के अलावा अन्य किसी से शमन नहीं होता।

✿ ममता - मद - अहंकार का नाश करनेवाले, काउस्सग-मुद्रामें ध्यान के अभ्यासी, तप के तेज से जाज्वल्यमान, कर्मों को जीतनेवाले, परपरिणति का संग नहीं करनेवाले मुनि करुणा के सागर हैं।

सागर भी छोटा दिखे हो ऐसी करुणा के स्वामी साधु होते हैं।

✿ साधना का प्रारम्भ साधु से होता है, आगे बढ़कर क्रमशः अरिहंत में पूर्ण होती है।

‘जिम तरु-फूले भमरो बेसे’

फूल पर भौरा बैठता है, परन्तु वह उसे पीड़ित नहीं करता। फूल में भौरा द्वारा किया हुआ छिद्र कभी देखा है?

ऐसी ही पद्धति मुनि के आहार की है। इसीलिए उसका नाम ‘माधुकरी’ है।

✿ ‘अढार सहस शीलांगना’

अढारह हजार शीलांगधारी, जयणायुक्त मुनि को वन्दन करके,

मैं अपना जीवन चारित्र बनाता हूँ ।

❀ 'नवविध ब्रह्मगुप्ति'

नौ ब्रह्मचर्य की गुप्ति, बारह प्रकार के तप में शूरवीर मुनि को तब ही वन्दन करने की इच्छा होती है, यदि पूर्वके पुण्य के अंकुर प्रकट हो चुके हों ।

पर्याय छोटा हो त्यों अधिक वन्दन प्राप्त होते हैं । अधिक वन्दन से अधिक आनन्द होना चाहिये ।

बीज तो गुप्त होता है, परन्तु अंकुर प्रकट दिखते हैं । साधु को वन्दन करने का अवसर प्राप्त हो तो समझ लें कि पुण्य के अंकुर फूट निकले हैं ।

परन्तु वन्दन अहमदावादी जैसा नहीं चाहिये, राजा की बेगार के समान नहीं चाहिये ।

.

मैत्री आदि भावना ते माता स्वरूप छे

माने संतान प्रत्ये वात्सल्य भाव होय छे, ते मैत्रीभावना. माने संतानना विवेक आदि गुणो प्रत्ये प्रमोदभाव थाय छे. माने संतानना दुःख प्रत्ये करुणा उपजे छे ते करुणाभावना. संतान जो स्वच्छंदी बने तो मा जतुं करे छे ते माध्यस्थ्य भावना. जगतना सर्व जीवो प्रत्ये आवो भाव केळववानो छे.



आशीर्वाद देते हुए पूज्यश्री, चेन्नई (मद्रास), वि.सं. २०५०

२१-१०-१९९९, गुरुवार

आ. सु. ११

साधु :

‘सोनातणी धरे परीक्षा दिसे, दिनदिन चढते वाने;
संयम खप करता मुनि नमीये, देशकाल अनुमाने.’

सब में नवपद की आराधना प्रधान है। नवपदों का आलम्बन सर्वश्रेष्ठ गिना गया है।

गुजराती नवपद की ढालों, पूजाओं आदि का अन्तिम २५० वर्षों से अत्यन्त ही प्रचार हुआ।

हीरविजयसूरि के समकालीन सकलचन्द्रजी, ३०० वर्ष पूर्व के उपाध्याय यशोविजयजी, उसके बाद के ज्ञानविमलसूरि तथा देवचन्द्रजी, इन सब महात्माओं की कृतियों का संकलन कर के नवपद पूजा बनाई गई है।

✽ स्वर्ण की चार प्रकार से परीक्षा होती है : कष, छेद, ताप और ताड़न। साधु की भी स्वर्ण की तरह परीक्षा की जाये तो शुद्ध होकर बाहर निकले। उनमें तप का तेज, श्रद्धा की निर्मलता, ज्ञान का प्रकाश बढते ही रहते हैं।

साधु की संक्षिप्त नैश्वयिक व्याख्या :

कहे कलापूर्णसूरि - १ ***** ४३३

‘अप्रमत्त जे नित रहे, नवि हरखे नवि शोचे रे;
साधु सुधा ते आतमा, शुं मुंडे शुं लोचे रे ?’

जो नित्य अप्रमत्त रहते हैं, किसी भी प्रसंग पर हर्ष-शोक न करें, ऐसे शुद्ध साधु वे अन्य कोई नहीं, हमारी ही आत्मा हैं ।

बाह्य दृष्टि केवल साधु का वेप देखती है, परन्तु पण्डित उसका गुरु के प्रति समर्पण भाव देखकर उसकी साधुता निश्चित करते हैं ।

साधना के द्वारा सिद्धि को साधनेवाले साधु होते हैं ।

नवपद में साध्य, साधक तथा साधना तीनों हैं ।

देव साध्य, गुरु साधक एवं धर्म साधन हैं । अरिहंत - सिद्ध देव हैं । आचार्य, उपाध्याय, साधु गुरु हैं । दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप धर्म हैं ।

✽ नवपद को भूलना अर्थात् हमारी आत्मा को भूलना ।

नवपद को याद करना अर्थात् अपनी आत्मा को याद करना ।

जिस प्रकार धागे में पिरोई हुई सुई नहीं खोती, उस प्रकार नवपदों के साथ जुड़ी हुई आत्मा नहीं खोती ।

सम्यग्दर्शन

‘जिणुत्त-तत्ते रुइलक्खणस्स, नमो नमो निम्मल-दंसणस्स ।’

गुणों को वन्दन करने से गुणी को भी वन्दन होता ही है । गुण-गुणी का अभेद है । वे गुणधारी अविरत सम्यग्दृष्टि हों तो भी नमस्करणीय होते हैं । नमस्कार उनकी अविरति को नहीं, उनके गुणों को है ।

✽ अपथ्य आहार के सेवन से शरीर को हानि होती है, उस प्रकार अहंकार, ईर्ष्या, निर्दयता आदि से आत्मा को हानि होती है ।

मैत्री आदि चार, ज्ञान आदि तीन, आदि आत्मा के पथ्य हैं ।

विपर्यास बुद्धि, हठ, वासना आदि मिथ्यात्व आत्मा के भयानक अहितकर अपथ्य हैं ।

पथ्य से भोजन के प्रति रुचि जगती है ।

अपथ्य से भोजन के प्रति अरुचि होती है ।

इसी प्रकार आत्मा को भी पथ्य से देव-गुरु-भक्ति आदि अत्यन्त ही प्रिय लगते हैं ।

✿ परम निधान अर्थात् भगवान् ।

भक्त के लिए भगवान् ही परम निधान हैं । निर्धन को धन और सती को पति ही परम निधान हैं ।

✿ सम्यक्त्व के बिना नौ पूर्वों का ज्ञान भी अज्ञान है, चारित्र भी अचारित्र है और क्रिया केवल कष्ट-क्रिया है ।

✿ दर्शन सप्तक (अनन्तानुबन्धी ४, दर्शन मोहनीय ३) के क्षय से क्षायिक एवं क्षय और उपशम से क्षायोपशमिक तथा उपशम से औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है ।

साधक को परास्त करने के लिए मोहराजा ने इन सातों को अच्छी तरह तैयार किये हैं ।

✿ 'समकित - दायक गुरु तणो, पच्चुवचार न थाय;
भव कोडाकोडी करी, करतां सर्व उपाय.'

सम्यक्त्व-दाता गुरु का कितना उपकार ? आप आजीवन कभी प्रत्युपकार नहीं कर सके उतना ।

आत्म-तत्त्व की अनुभूति करानेवाले का बदला कैसे चुकाया जा सकता है ? शरीर मेरा, वचन मेरा, मन मेरा, कर्म मेरे, इस मिथ्या धारणा को तोड़नेवाला सम्यक्त्वरूपी वज्र है । ऐसा वज्र देनेवाले को कैसे भूल सकते हैं ?

वस्त्र, मकान, शरीर आदि का सम्बन्ध मात्र संयोग सम्बन्ध ही है । जबकि आत्म-गुणों का समवाय संयोग से सम्बन्ध है । ऐसा सिखानेवाले ही नहीं, अनुभूति करानेवाले गुरुदेव हैं ।

✿ ध्वजा के स्पन्दन से वायु का पता लगता है, उस प्रकार अरूपी सम्यक्त्व उसके लक्षणों से मालुम पड़ता है । शम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, आस्तिकता इन पांच लक्षणों से सम्यक्त्व का पता लगता है ।

✿ 'धर्म रंग अट्टमीजीये'

सम्यक्त्व से धर्मरंग, अस्थि-मज्जावत् बनता है । सातों धातुओं में, रक्त के कण-कण में और आत्मा के प्रदेश-प्रदेश में धर्म एवं प्रभु का प्रेम व्याप्त हो जाता है; जिससे परभाव की समस्त इच्छा मिट जाती है ।

✿ प्रभु की पूर्ण गुण-सम्पत्ति प्रकट हो चुकी है, अपनी

गुण-सम्पत्ति सत्ता में पड़ी हुई है । उसे प्रकट करने की इच्छा सम्यक्त्व है ।

❖ बन्ध : आय ।

उदय : व्यय ।

उदीरणा : बलात् व्यय ।

सत्ता : बेलेन्स; यह आपकी पैसों की भाषा में बात समझें ।
आत्मा की अनन्त वीर्य-शक्ति सत्ता में पड़ी हुई है ।

अध्यात्मशास्त्र कहता है - 'परमात्म-तत्त्व आपके नाम से बैंक में जमा है, आप चाहे जब उसे प्राप्त कर सकते हैं ।'

परन्तु उसे प्राप्त करने की हमारी रुचि ही कभी नहीं होती ।
परन्तु इन समस्त बातों से क्या ? उस स्वरूप को प्राप्त करो ।
प्राप्त करने के लिए भरचक्क प्रयत्न करो । धूँएं से पेट नहीं भरेगा ।

प्रभु को कहें कि 'धुमाड़े धीजुं नहीं साहिब, पेट पड़्या पतीजे.'

साधुत्व जैसी उंची पदवी प्राप्त करके भी यदि परम तत्त्व की रुचि नहीं जगे तो तो फिर हो चुका ।

❖ वस्तु तत्त्व अर्थात् आत्म तत्त्व, परमात्म तत्त्व ।

इसका कारण है देव-गुरु की आराधना ।

इनके प्रति बहुमान उत्पन्न होना सम्यक्त्व है ।

हमारी समस्त क्रियाएं भीतर विद्यमान परम ऐश्वर्य को प्राप्त करने की लगन, उत्कण्ठा से उत्पन्न होनी चाहिये, तो ही वे क्रियाएं सत्क्रियाएं बनेंगी ।

सम्यक्त्व अर्थात् भीतर निहित प्रभुता को प्रकट करने की तीव्र इच्छा ।

❖ 'शुद्ध देव, गुरु, धर्म परीक्षा...

सुदेव, सुगुरु, सुधर्म ही मेरे हैं । कुदेव, कुगुरु, कुधर्म आदि मेरे नहीं हैं । ऐसी श्रद्धा व्यवहार सम्यक्त्व है ।

औपशमिक सम्यग्दर्शन पांच बार, क्षायोपशमिक असंख्य बार और क्षायिक सम्यग्दर्शन एक बार ही मिले, वह मोक्ष देकर ही रहेगा ।

इस समय हमारे भाव क्षयोपशम के हैं । कितनी ही बार आते हैं और जाते हैं । इसीलिए हमें सावधानी रखनी है ।

❖ 'जे विण नाण प्रमाण न होवे, चारित्र तरु नवि फलियो.'

हमारे भीतर विद्यमान ज्ञान एवं चारित्र सम्यक्त्व की प्रतीक्षा कर रहे हैं, क्योंकि वे सम्यक्त्व से ही उज्ज्वल हैं। सम्यक्त्व स्वर्ण-रस है, जिसके स्पर्श से अज्ञान ज्ञान बन जाता है और अचारित्र चारित्र बन जाता है।

सम्यक्त्व रहित ज्ञान एवं चारित्र अर्थात् तलवार रहित म्यान। क्या केवल म्यान से युद्ध में विजय प्राप्त किया जा सकता है ?

• • • • •

बचवुं केम ?

मरणथी बचवा जोष जोवडावे तो बचाय ?

रोग मुक्ति माटे जोष जोवडावे तो बचाय ?

धन प्राप्ति माटे जोष जोवडावे तो धन प्राप्ति थाय ?

संतान तृप्ति माटे जोष जोवडावे तो संतान प्राप्ति थाय ?

ए सर्व पूर्व प्रारब्ध पर आधारित छे. छत्तां शा माटे जीव जोष जोवडावे छे ? ए सर्व प्रकारोमां निराधारता छे. एक धर्मनो आधार ज जीवने रक्षित करे छे.



२२-१०-१९९९, शुक्रवार

आ. सु. १२-१३

❀ निगोद से संयम तक पहुंचानेवाले भगवान ही हैं। हमारा पुन्य चाहे अल्प हो, भगवान का पुन्य प्रबल है। उत्तम कुल आदि में जन्म होना हमारे हाथ में था ? यह सब किसने जमाया ? कभी भगवान याद नहीं आते ?

गुरु, गुरुजन एवं समस्त जीवों का भी हम पर उपकार है। इतनी लम्बी दृष्टि न जाये तो कम से कम भगवान को तो याद करे।

आप यह न सोचें कि मैंने अपने परिश्रम से यह सब प्राप्त किया या विद्वान बना। 'देव-गुरु पसाय' बार-बार बोलते हैं, यह हृदय से बोलना सीखें।

धर्म का मूल्य ज्यादा कि उसे देनेवाले का मूल्य ज्यादा ?

धन का मूल्य ज्यादा कि उसे देनेवाले का मूल्य ज्यादा ?

हम देनेवाले को भूल जाते हैं।

धन मिलने के बाद, देनेवाले को कौन पूछता है ?

सब कुछ मिल जाने के बाद, भगवान को कौन पूछता है ?

हेमचन्द्रसूरिजी जैसे भगवान को कहते हैं -

'भवत्प्रसादेनैवाहमियतीं प्रापितो भुवम् ।'

भगवन् ! आपकी कृपा से ही मैं इतनी उच्च भूमिका पर पहुंचा हूं ।

बाकी रही हुई भूमिका (सिद्धि) पर भी भगवान ही पहुंचावेंगे, ऐसी अटूट श्रद्धा होनी चाहिये ।

भगवान के प्रति ऐसी श्रद्धा का नाम 'सम्यग्दर्शन' है ।

❖ 'बस' का कण्डक्टर कहता है - 'कहां जाना है ? जहां जाना हो वहां की मैं टिकिट दूं । मुझे सिर्फ पैसे दीजिये ।'

'आपको कहां जाना है ? मोक्ष में ?' भगवान कहते हैं - 'आपका अहंकार मुझे दे दीजिये ।'

पैसों का समर्पण करना सरल है, अहंकार का समर्पण कठिन है ।

❖ जिसका विवाह हो उसके गीत गाये जाते हैं । जिस समय जिस पद की प्रधानता हो उसे प्रमुखता दी जाती है । दर्शन-पद के दिन दर्शन को, ज्ञान-पद के दिन ज्ञान को महत्त्व दिया जाता है । इसमें कोई अप्रसन्न नहीं होता । कान्तिलाल के गुण गाने पर शान्तिलाल नाराज हो सकता है लेकिन दर्शन के गुण गाने से ज्ञान या ज्ञान के गुण गाने से दर्शन नाराज हो, ऐसा कभी नहीं होता, क्योंकि अन्ततोगत्वा सब एक ही है । ज्ञान, दर्शन, चारित्र तीनों साथ मिलकर ही मोक्ष-मार्ग बनता है । तीनों अलग अलग होने पर मोक्ष-मार्ग नहीं बनता । घी, गुड़ और आय तीनों के मिलने से ही 'सीरा' बन सकता है । एक का भी अभाव होने पर राबड़ी अथवा कूलर बन सकता है, परन्तु 'सीरा' नहीं बन सकता ।

ज्ञानपद

❖ दर्शन एवं ज्ञान दोनों जुड़वां प्रेमी भाई है । एक को आगे करे को पिछला नाराज नहीं होता । दर्शन-ज्ञान दोनों पैर हैं । एक आगे रहे तो दूसरा स्वयं पीछे रह जाता है । क्रमशः वे एक-दूसरे छोटे-बड़े होते जाते हैं ।

दोनों को जुड़वां भाई इसलिए कहता हूं कि दोनों का जन्म साथ ही होता है । सम्यक्त्व आते ही अज्ञान ज्ञान बन जाता है और मिथ्यात्व सम्यग्दर्शन बन जाता है ।

दोनों का जन्म साथ-साथ हुआ है न ?

❖ ज्ञान अज्ञान-अन्धकार का नाश करता है ।

हमारे समक्ष तेजस्वी पदार्थ सूर्य है, जो सबके लिए प्रत्यक्ष हैं । लाखों, करोड़ों 'बल्ब' भी उसकी बराबरी नहीं कर सकते । ज्ञान भी दिवाकर (सूर्य) है । जो दिवस का सृजन करता है वह दिवाकर (सूर्य) कहलाता है ।

हमारे भीतर भी मोह-निशा को नष्ट करनेवाला अध्यात्म-दिवस का सृजन करनेवाला ज्ञान-सूर्य है ।

सूर्य अस्त हो जायें और अन्धकार छा जाता है ।

चिन्तन-मनन का द्वार बन्द कर दें ।

मानस-मन्दिर में अन्धकार छा जायेगा ।

ऐसा अन्धकार कि करोड़ों दीपकों से भी नष्ट न हो ।

ज्ञान गुरु के द्वारा मिलता है, अतः गुरु को कभी न छोड़ें ।

प्रश्न : क्या गुरु दूसरे नहीं बनाये जा सकते ?

उत्तर : क्या माता-पिता दूसरे किये जा सकते हैं ?

गोद लेने की पद्धति से शायद माता-पिता बदल जाते हैं (तो भी पुत्र मूल माता-पिता को भूलता नहीं है) परन्तु यहां गुरु कैसे बदले जा सकते हैं ?

सत्ता में केवलज्ञान का सूर्य झगमगा रहा है । ज्ञानावरणीयरूपी घोर बादलों ने उस कैवल्य-सूर्य को ढक दिया है । कैवल्य सूर्य पर छाये हुए आवरण को हटाने के लिए ही अध्ययन करना है, प्रभु भक्ति करनी है ।

ज्यों ज्यों भक्ति करते जाओगे, त्यों त्यों ज्ञान खुलता जायेगा ।

'जेम जेम अरिहा सेविए रे, तेम तेम प्रगटे ज्ञान सलूणा...'

- पं. वीरविजयजी

❖ भगवानने स्वयं कहा है - 'जो गुरु को मानता है वह मुझे मानता है'

'जो गुरुं मन्नइ सो मं मन्नइ'

गुरुपद की स्थापना करनेवाले भी भगवान ही हैं न ? क्या भगवान ने कभी कहा है कि 'मेरी अपेक्षा गुरु को कम महत्त्व देना ।'

तीर्थ की स्थापना करने के बाद ३० वर्ष तक भगवान ने उसे सुदृढ़ बनाया। अब शेष इक्कीस हजार वर्ष तक शासन चलानेवाले गुरु ही हैं न ? गुरु को छोड़ो तो भगवान को ही छोड़ा हुआ गिना जायेगा।

देव, गुरु एवं धर्म - इन तीनों में गुरु बीच में हैं, जो देव तथा धर्म की पहचान कराते हैं। 'मध्यग्रहणाद् आद्यन्तग्रहणम्।' गुरु पकड़ने पर देव एवं धर्म स्वयं पकड़े जा सकेंगे, उसी प्रकार से गुरु को छोड़ने पर देव एवं धर्म दोनों अपने आप छूट जायेंगे।

सम्यग् ज्ञान से विपर्यास बुद्धि, स्वच्छन्द मति आदि का विध्वंस होता है।

मति, श्रुत आदि ज्ञान के पांच प्रकार हैं। ये ज्ञान गुरु की उपासना से ही प्राप्त होते हैं।

देव-गुरु की सेवा ज्यादा तो ज्ञान ज्यादा। यह ज्ञान निर्मल होता है, श्रद्धा उत्पन्न करता है, श्रद्धा हो तो उसे परिपुष्ट करता है, चारित्र में प्रवर्तन कराता है।

ज्ञान की तीक्ष्णता, एकाग्रता ही चारित्र है जो मैंने बार-बार समझाया है।

चलते समय आंखें और पैर एक साथ कार्यरत रहते हैं। आंख को ज्ञान, पांव को चारित्र कहें तो यहां दोनों एक हुए हैं। क्या आप आंखें बन्ध करके चल सकते हैं ? चश्मे की तरह आंखों को पैक करके कहीं रख सकते हैं ? क्या पैरों को एक और रखकर चल सकते हैं ? नहीं; चलते समय आंखें और पैर दोनों आवश्यक हैं। मोक्ष की साधना में भी ज्ञान एवं क्रिया दोनों समानरूप से आवश्यक हैं। आप एक की भी उपेक्षा नहीं कर सकते। 'ज्ञान क्रियाभ्यां मोक्षः।'।

जो निरन्तर प्रवृत्तिशील, उपयोगशील रहे, वह सच्चा ज्ञान है। निरन्तर जो ज्ञान से नियन्त्रित हो, वही सच्चा चारित्र (क्रिया) है।

श्रुतज्ञान को अपेक्षाकृत केवलज्ञान से भी अधिक महत्त्व दिया गया है। क्या श्रुतज्ञान के बिना कोई केवली बना है ? बीज का महत्त्व ज्यादा कि फल का ? बीज श्रुतज्ञान है, फल केवलज्ञान है।

वर्तमान में केवलज्ञान का विरह है, श्रुतज्ञान का नहीं । लेकिन चिन्ता न करें । यदि प्राप्त श्रुतज्ञान को अच्छी तरह पकड़ कर रखेंगे तो केवलज्ञान अपने आप मिलेगा । केवलज्ञानी भी श्रुतज्ञान के द्वारा ही देशना देते हैं ।

श्रुतज्ञान का आदान-प्रदान हो सकता है, केवलज्ञान का नहीं ।

❀ प्रश्न - उच्चारणपूर्वक गाथा कण्ठस्थ करनी कि मौनपूर्वक ?

उत्तर - गाथा उच्चारणपूर्वक कण्ठस्थ की जाती है । प्रतिक्रमण आदि भी उच्चारणपूर्वक ही करते हैं न ? एक बोले तो भी दूसरे को अनुच्चारण (अनु + उच्चारण) करना ही है, जो अभी हमने पंचवस्तुक में देखा है ।

सेठ को छींक आई । 'नमो अरिहंताणं' बोले और सुदर्शनाकुमारी को जातिस्मरण ज्ञान हुआ । यदि सेठ मन में 'नमो अरिहंताणं' बोले होते तो ?

परन्तु प्रातः जल्दी उठकर जोर-जोर से नहीं बोलें, इतना उपयोग रखें ।

❀ 'भव्य नमो गुण ज्ञानने !'

ज्ञान आपकी आत्मा को तो उज्ज्वल करता ही है, परन्तु आप उससे दूसरों को भी उज्ज्वल कर सकते हैं ।

ज्ञान से जितना उपकार होता है, उतना दूसरे से नहीं होता ।

श्रुतज्ञान लिया-दिया जा सकता है, अन्य ज्ञान नहीं । इसीलिए श्रुतज्ञान के अलावा शेष चार ज्ञान मूक कहे गये हैं ।

ज्ञान गुण एक है, परन्तु पर्याय अनन्त है, क्योंकि ज्ञेय पदार्थ अनन्त हैं ।

हम भगवान के ज्ञेय बने कि नहीं ? हमारे जितने पर्याय हैं वे भगवान के ज्ञान के पर्याय बन जायेंगे । अब वे पर्याय अच्छे बनाने या बुरे, यह हमें देखना है ।

यों तो भगवान के केवलज्ञान में हमारे सभी पर्याय प्रतिबिम्बित हो ही चुके हैं । फिर भी यह दृष्टि नजर के समक्ष रखेंगे तो अपना सुधार तीव्रता से होगा । केवलज्ञानी की नजर में मैं ऐसा बुरा दिखूँ तो ठीक लगेगा ?

- यह चिन्तन दोष-निरसन में कितना वेग उत्पन्न करेगा ?

• • • • •



२३-१०-१९९९, शनिवार

आ. सु. १४

मुक्ति के पथिकों को नवपदों का आलम्बन परम हितकर है, आत्मस्वरूप में स्थिर करनेवाला है । प्रत्येक पद आत्मा का ही नैश्चयिक स्वरूप है ।

वस्त्र की उज्ज्वलता शुद्धता के अनुसार होती है, उस प्रकार अपनी आत्मा की उज्ज्वलता चित्त की निर्मलता के अनुसार होती है ।

धवल सेठ, गोशाला, संगम आदि की चित्तवृत्ति कैसी थी ?

यहां मिथ्यात्व की मलिनता स्पष्ट दिखती है । सम्यक्त्वी तो देव-गुरु एवं उपकारी के विरुद्ध कभी खड़ा नहीं होगा ।

वस्त्र की मलिनता शीघ्र दिखती है, लेकिन आत्मा की मलिनता शीघ्र नहीं दिखती । हां, आप वाणी एवं व्यवहार को देखकर अनुमान अवश्य लगा सकते हैं ।

✽ ज्ञान का स्वभाव ज्ञायक है; स्व-पर बोध उसका लक्षण है, मति आदि पांच उसके प्रकार हैं ।

✽ धर्मास्तिकाय आदि भी यहीं है, हम उनके भीतर ही रहते हैं, फिर भी यह सम्बन्ध हानिकारक नहीं है, सिर्फ पुद्गल का सम्बन्ध हानिकारक है ।

इसीलिए भगवान कहते हैं कि पुद्गल के साथ राग-द्वेष मत करो, मध्यस्थ रहो । मध्यस्थ रहना ही मुक्ति का मार्ग है ।

‘देखिये मार्ग शिवनगरनो, जे उदासीन परिणाम रे;
तेह अणछोडतां चालिये, पामिये जिम परम धाम रे...’

- उपाध्याय यशोविजयजी

✽ ज्ञान के बिना आप भक्ष्य-अभक्ष्य या पेय-अपेय आदि नहीं जान सकते ।

✽ जड क्रियावादी ज्ञान की निन्दा करते हुए कहता है -
‘पठितेनाऽपि मर्तव्यमपठितेनाऽपि मर्तव्यम्, किं कण्ठशोषणं कर्तव्यम् ?’

पढा हुआ भी मरेगा और अनपढ भी मरेगा तो व्यर्थ कण्ठशोष क्यों करें ?

यह मानकर पढना बन्द तो नहीं कर दिया न ?

पुस्तकें प्रिय लगती है, परन्तु उन्हें पढना प्रिय लगता है कि सिर्फ संग्रह करना प्रिय लगता है ? आप कुछ नहीं पढ़ेंगे तो आपका परिवार क्या पढ़ेगा ?

मैंने तीस वर्ष की उम्र में दीक्षा ग्रहण की । पहले से ही अध्यात्म की रुचि । उसमें ‘रामः रामौ रामाः’ पढना कहां प्रिय लगे ?

लेकिन दृढ संकल्प था । अनुवाद केवल बासी माल है । कर्ता का सीधा आशय जानना हो तो संस्कृत सीखना ही चाहिये । आठ-दस वर्षों में सीख गया । कहीं उलझन नहीं लगी । ज्ञान स्वयं ही उलझन मिटानेवाला है । वहां उलझन का प्रश्न ही कहां है ? रुचिपूर्वक अध्ययन करके देखो, उसमें रस लो, उलझन कहीं चली जायेगी ।

✽ प्रथम ज्ञान, फिर अहिंसा । ज्ञान के अनुसार ही आप अहिंसा का पालन कर सकते हैं ।

✽ त्रिगुति से गुप्त ज्ञानी एक सांस में इतने कर्मों का क्षय कर सकता है कि अज्ञानी करोड़ों वर्षों में भी क्षय नहीं कर सकता ।

✽ विषय प्रतिभास, आत्मपरिणतिमत, तत्त्व संवेदन अष्टक प्रकरण में उल्लिखित ये ज्ञान के तीन प्रकार हैं ।

विषय प्रतिभास ज्ञान अज्ञान ही कहलाता है । जिस ज्ञान के द्वारा दोषों की निवृत्ति एवं गुणों की प्राप्ति न हो उसे ज्ञान कैसे कहा जा सकता है ?

‘स्वभाव लाभ-संस्कार कारणं ज्ञानमिष्यते ।’

आवेश, अज्ञान, जड़ता, क्रोध आदि से निवृत्त न बनें तो ज्ञानियों की दृष्टि में वह ज्ञान ही नहीं है । ज्ञान का फल विरति है, चारित्र्य है । यदि वह प्राप्त न हो तो ज्ञान किस काम का ? लाभ प्राप्त न हो तो दुकान किस काम की ? फल न मिलें तो वृक्ष किस काम का ?

❖ समस्त क्रियाओं का मूल भले ही श्रद्धा हो, परन्तु यह भूलने जैसा नहीं है कि श्रद्धा का मूल भी ज्ञान है ।

❖ रुचि एवं जिज्ञासा के अनुसार ही ज्ञान मिल सकता है । विनय के अनुसार ही ज्ञान फल दे सकता है ।

❖ पांच ज्ञानों में अभ्यास-साध्य ज्ञान सिर्फ श्रुतज्ञान है । वह स्व-पर प्रकाशक होने से तीनों लोक के लिए उपकारी बनता है ।

दीपक की तरह वह स्व-पर प्रकाशक है । आपके आंगन में जलता दीपक आप को ही उपयोगी हो, ऐसी बात नहीं है । वह आने-जानेवालों सबके लिए काम आता है । ज्ञान भी दीपक है । दीपक ही नहीं, ज्ञान सूर्य, चन्द्रमा और मेघ भी है ।

नल में से पानी लेते हैं, परन्तु बिल भरना पड़ता है । बिजली का उपयोग करते हैं, पर बिल भरना पड़ता है । बादल बरसात बरसाते हैं, सूर्य-चन्द्र प्रकाश देते हैं, परन्तु कोई बिल भरना नहीं पड़ता । सभी मुफ्त ।

ज्ञान भी सूर्य, चन्द्रमा, मेघ जैसा है । कोई बिल नहीं, कोई खर्च नहीं ।

‘दीपक परे त्रिभुवन उपकारी, वली जिम रवि - शशि - मेह’

❖ पांच इन्द्रियों से सीमित जानकारी ही मिलती है, परन्तु श्रुतज्ञान से आप यहां बैठे अखिल ब्रह्माण्ड को जान सकते हैं ।

शत्रुंजय पर जाकर आप खड़े-खड़े पालीताना, कदम्बगिरि, घेटी, नोंधण-वदर आदि कितने गांवों को जान सकते हैं ?

यह तो चर्म-चक्षु हैं, परन्तु श्रुतज्ञान की आंखों से आप ऊर्ध्व

लोकस्थित सिद्धों को, मध्यलोक के मेरु पर्वत को, अधोलोक की सातों नारकों को यहां बैठे-बैठे देख सकते हैं ।

सर्व द्रव्य-क्षेत्र आदि को श्रुतज्ञानी देखते हैं, परन्तु पर्याय का अनन्तवा भाग ही देखते हैं; जबकि केवलज्ञानी सर्व द्रव्य, सर्व पर्यायों को जानते हैं ।

✽ आत्मा स्वयं ज्ञानरूप है । ज्ञान से आत्मा और आत्मा से ज्ञान अलग नहीं है । जिस प्रकार तन्तु से वस्त्र और वस्त्र से तन्तु अलग नहीं है ।

चारित्रपद

‘आराहिअ खंडिय सक्किअस्स,
नमो नमो संजम वीरिअस्स ।’

✽ ज्ञान की जितनी निर्मलता होगी, चारित्र की ही उतनी ही निर्मलता समझें ।

✽ ज्ञान बीज है तो चारित्र फल है ।

✽ वृक्ष की शोभा फलों से होती है । फल रहित वृक्ष बांझ कहलाता है तो चारित्ररहित ज्ञान भी बांझ नहीं ?

✽ चारित्र अर्थात् स्वभाव में स्थिरता ।

✽ ‘अकसायं खु चारित्तं कसायसहिओ न मुणी होइ ।’
कषाय रहितता ही चारित्र है । मुनि कषाययुक्त नहीं होते ।

✽ कषाय चारित्र मोहनीय कर्म है । चारित्रावरणीय कर्म की उपस्थिति में चारित्र किस प्रकार हो सकता है ? इसीलिए कहता हूं कि जब आप कषाय करते हैं तब चारित्र भाग जाता है ।

चारित्र की स्पष्ट बात है - ‘जहां कषाय हो, वहां मैं नहीं रह सकता । आप किसे रखना चाहते हैं ? कषाय को या मुझे ?’

एक ओर आप कहते हैं - ‘मुझे संसार में रहना नहीं है, शीघ्र मोक्ष में जाना है और दूसरी ओर आप कषाय करते रहते हैं; यह कैसे चलेगा ?’

कम = संसार,

अय = लाभ,

जो संसार का लाभ करा दे वह कषाय ।

❖ 'सर्वभूताविनाभूतं स्वं पश्यन् सर्वदा मुनिः ।
मैत्र्यादि-भावसंगमनः क्व क्लेशांशमपि स्पृशेत् ॥'

- योगसार

समस्त जीवों के साथ स्वयं को अभिन्न देखनेवाले मुनि कषाय के अधीन कैसे होंगे ?

❖ संसार यदि सागर है तो चारित्र जहाज है । बड़े सागर को भी छोटी सी नौका पार कर लेती है । उस प्रकार अनन्त संसार को एक भव का चारित्र तोड़-फोड़ कर एक ओर रख सकता है ।

दृढ प्रहारी, अर्जुनमाली आदि ने क्या किया ? इस चारित्र के प्रभाव से छः महिनो में तो संसार को चूर चूर कर दिया ।

❖ छोटे थे तब हम मिट्टि में खेलते थे । अब बड़े हो गये हैं अतः वह सब छोड़ दिया, परन्तु पर-भाव की रमणता अभी तक कहां छोड़ी है ? इसी कारण से ज्ञानियों की दृष्टि में अभी भी हम बालक ही हैं ।

चारित्र से 'बालपन' जाता है, 'पाण्डित्य' आता है ।

❖ आत्म-स्वभावरूप चारित्र आने पर क्षमा पांचवे प्रकार की स्वभाव-क्षमा बनती है ।

❖ चारित्र का प्रारम्भ सामायिक से होता है ।

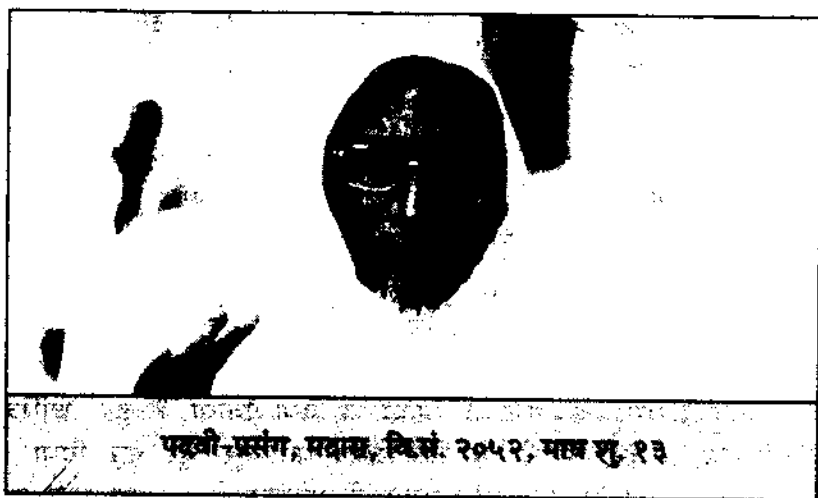
चारित्र की पूर्णता यथाख्यात में होती है ।

• • • • •

पुस्तक 'कहुं कलापूर्णसूरि' मल्युं. आनंद थयो. पूज्यश्रीना
पीरसावेला सुंदर पदार्थोंने तमोए सोहामणो ओप आप्यो. सर्व सुधी
पहोंचता आ अवतरणो खरेखर ज मननीय छे.

- हर्षबोधिविजय

हुबली.



२४-१०-१९९९, रविवार
शरद पूर्णिमा

चारित्र के दो प्रकार हैं - देश एवं सर्व से ।

श्रावकों के लिए देश विरति और साधुओं के लिए सर्व विरति है ।

सुब्रत शेठ, सुदर्शन शेठ, आनन्द आदि श्रावक देश विरति के श्रेष्ठ उदाहरण हैं । पेशवा शाह, देदाशाह, भामाशा आदि श्रावक नगर में, राज्यमें उच्च पद पर भी थे और उस पद पर रहकर श्रावकत्व अत्यन्त श्रेष्ठ प्रकार से देदीप्यमान किया था ।

❖ चार प्रकार के श्रावक :

१. माता-पिता तुल्य ।
२. भाई तुल्य ।
३. मित्र तुल्य ।
४. सौतन तुल्य ।

वर्तमान में भी ऐसे उदाहरण देखने को मिलेंगे । कोई माता-पिता की तरह साधु का हित ही देखेंगे । कोई मित्र तो कोई भाई के समान बनकर रहेंगे और कोई सौतन की तरह दोष ही देखेंगे ।

सर्व विरतिधर भी उत्तम श्रावकों एवं श्राविकाओं का स्मरण करते हैं । 'भरहेसर सज्जाय'में श्रावक एवं श्राविकाएं ही हैं न ?

भगवान भी प्रशंसा करते हैं तो दूसरों की क्या बात ?

‘धन्ना सलाहणिज्जा, सुलसा आणंद कामदेवा य ।

जास पसंसई भयवं, दढव्वयत्तं महावीरो ॥’

❖ ‘तृण परे जे षट्खंड सुख छंडी.’

चक्रवर्ती को जब समझ में आ जाय कि संयम ही लेने जैसा है, तब छः खण्ड की ऋद्धि उसे तिनके के समान लगती है । सनत्कुमार की तरह वह क्षणभर में छोड़ दे ।

संयम का सुख अनुपम है । संयम का वास्तविक सुख तब ही प्राप्त होगा यदि हम भाव से साधुत्व प्राप्त करें ।

❖ ‘हुआ रंक पण जेह आदरी.’

भिखारी भी इस संयम का स्वीकार करते हैं तो इन्द्र एवं नरेन्द्र भी उसके चरणों में झुकते हैं ।

❖ चारित्र के साथ ज्ञान का आनन्द सम्मिलित हो जाये तो वह सुशोभित होगा ।

❖ १२ कषायों का नाश होने पर ही सर्वविरति प्राप्त होती है, अतः साधु को प्रशम का आनन्द होता है । प्रशम ज्ञान का फल है ।

सम्यक्त्व में प्रशम का आनन्द होता है, परन्तु वह अनन्तानुबन्धी कषाय का नाश होने से उत्पन्न हुआ हो । देशविरति को अनन्तानुबन्धी एवं अप्रत्याख्यानी के नाश से प्रशम का आनन्द बढ़ता है । सर्वविरतिधारी साधु को प्रत्याख्यानी का नाश होने से आनन्द बढ़ता है । संज्वलन का नाश होने से यथारव्यात चारित्र में प्रशम आनन्द की चरम सीमा आ जाती है ।

ज्यों ज्यों कषाय क्षीण होते जाते हैं, आवेश मन्द होता जाता है, त्यों त्यों अपने भीतर बैठा परमात्मा प्रकट होता जाता है । कषायों का पूर्णतः नाश होते ही हमारे भीतर विद्यमान प्रभु प्रकट हो उठते हैं, जैसे पत्थरमें से निरर्थक भाग निकल जाते ही भीतर रही प्रतिमा प्रकट हो उठती है ।

‘कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव ।’

कषायों का नाश ही सच्ची साधना है ।

प्रभु एवं हमारे बीच कषायों का ही पर्दा है ।

ज्यों ज्यों कषायों के पर्दे (अनन्तानुबन्धी आदि) हटते जाते हैं, त्यों त्यों आनन्द बढ़ता जाता है। सम्यक्त्वी की अपेक्षा देशविरतिधर को, उसकी अपेक्षा सर्वविरतिधर को अनन्त-अनन्त गुना आनन्द होता है।

कषायों के नाश से ऐसी समता उत्पन्न होती है जहां प्रियत्व-अप्रियत्व नष्ट हो जाती है।

यों तो ग्राहकों के सामने व्यापारी आदि भी समता रखते हैं, परन्तु वह समता आत्म-शुद्धि-कारक नहीं है। साधु की समता आत्म-शुद्धि कारक है।

कषायों की मात्रा घटती जाती है त्यों त्यों समता की मात्रा बढ़ती जाती है।

४, ५, ६, ७ इत्यादि गुणस्थानों में क्रमशः इस कारण ही आनन्द बढ़ता जाता है। एक गुणस्थानक में भी शुद्धि के कारण अनेक प्रकार होते हैं।

आनन्द श्रावक पांचवे गुणस्थानक की ऐसी सीमा पर पहुंचे थे, जहां उन्हें निर्मल अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ था। ऐसा अवधिज्ञान उत्पन्न हुआ कि गौतमस्वामी जैसे भी एक बार विश्वास नहीं कर सके।

कषाय-नाश के लक्ष्यपूर्वक हमारी साधना चलती ही रहे, चलती ही रहे तो आनन्द बढ़ता ही रहे, बढ़ता ही रहे, तेजोलेश्या बढ़ती ही रहे। 'तेज' अर्थात् आनन्द, सुख।

❖ 'चय ते संचय आठ कर्मनो।'।

चारित्र की निर्युक्ति भद्रबाहुस्वामी ने इस प्रकार की है।

च = चय

रिक्त्ति = रिक्त (खाली करना)

अनन्त भवों के कर्मों का कचरा खाली करे वह चारित्र। अब तक हमने कर्म का कचरा एकत्रित करने का ही कार्य किया है। चारित्र कचरा साफ करके हमें स्वच्छ करता है।

कर्मों को एकत्रित करने का काम कषायों का है। चारित्र कचरा साफ करके हमें स्वच्छ बनाता है। कर्मों को साफ करने का काम चारित्र का है। दोनों में से क्या पसन्द करना है? कषाय कि चारित्र?

व्यवहार चारित्र का चुस्तता से पालन करें तो निश्चय चारित्र (भाव चारित्र) प्राप्त होता है ।

स्वर्ण द्रव्य पास हो तो माल मिलता है । उस प्रकार यहाँ भी द्रव्य चारित्र से भाव चारित्र प्राप्त होता है ।

द्रव्य चारित्र में 'द्रव्य' कारण अर्थ में है ।

द्रव्य दो प्रकार के हैं - (१) प्रधान द्रव्य (२) अप्रधान द्रव्य ।

प्रधान द्रव्य वह है जो भाव का कारण बनता है । अपना चारित्र प्रधान द्रव्य हो तो भाव चारित्र प्राप्त हुए बिना नहीं रहता । जिस प्रकार दीपक जलाओ तो प्रकाश मिले बिना नहीं रहता । कोड़िया, तेल, दीवट आदि द्रव्य कहलाते हैं, उसकी ज्योति भाव कहलाती है ।

आत्मा, आत्मा के द्वारा आत्मा में शुद्ध स्वरूप देखे, जाने एवं अनुभव करे वे क्रमशः दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र हैं ।

तपपद

'कम्महुमोम्मूलण - कुंजरस्स, नमो नमो तिव्व - तवोभरस्स ।'

कर्म - वृक्ष को उखाड़ने में तप हाथी के समान है ।

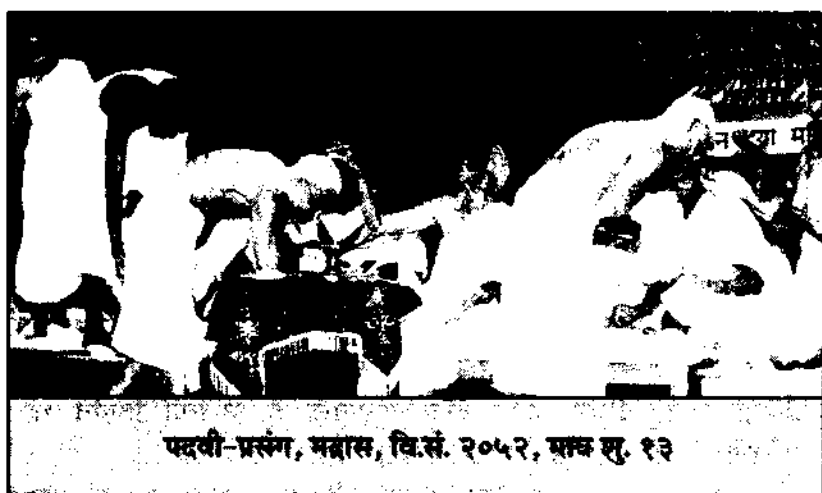
उस तप-धर्म को नमस्कार हो, नमस्कार हो !

❖ चक्रवर्ती का चक्र छः खण्डों को ही विजय करता है, सिद्धचक्र तीन लोक की विजय करता है ।

• • • • •

'कहे कलापूर्णसूरि' नामनुं पुस्तक मळ्युं. मात्र एक ज पानुं
वांच्युं. ने वांच्या पछी एम ज लाग्युं के साक्षात् परमात्मानुं मिलन
आ ज पुस्तकमां छे.

- आचार्य विजयरत्नाकरसूरि
समेतशिखरजी तीर्थ.



पद्मी-प्रसंग, मद्रास, वि.सं. २०५२, माघ शु. १३

२५-१०-१९९९, सोमवार
का. व. १

भावशुद्धि के लिए नवपदों का आलम्बन है। नवपद में समग्र जिनशासन है। क्योंकि जिनशासन नवपद स्वरूप ही है।

पूज्य हेमचन्द्रसूरि कहते हैं -

‘त्वां त्वत्फलभूतान् सिद्धान्, त्वच्छासनरतान् मुनीन् ।

त्वच्छासनं च शरणं, प्रतिपन्नोऽस्मि भावतः ॥’

हे भगवन् ! मैं तेरी ही शरण लेता हूँ। तेरे शरण में शेष तीनों शरण आ जाते हैं।

तेरा, तेरे फलरूप सिद्ध, तेरे शासन में तत्पर मुनि और तेरे शासन की शरण मैं ग्रहण करता हूँ।

प्रभु के शासन में दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप आ गये। मुनि में आचार्य, उपाध्याय और साधु आ गये।

एक अरिहंत में भी सम्पूर्ण जिनशासन आ जाता है तो नवपद में तो सब कुछ आ जाता है।

यह चिन्तन केवल नौ दिनों के लिए नहीं है, अरे... इस भव के लिए नहीं हैं, जब तक मुक्ति नहीं मिले तब तक यह पकड़ रखना है।

जीवन का लक्ष्य परमात्म-पद बन गया हो, प्रभु के प्रति प्रेम जागृत हुआ हो तो नवपद इसमें अत्यन्त सहायक है । जिसे हम प्रेम करते हैं वह प्रभु, परिवार सहित इस नवपद में है ।

जिस मोक्ष में जाना है वे सिद्ध यहां (नवपद में) हैं, जो बनकर साधना करनी है वे साधु आदि इसमें हैं, जिनकी हमें साधना करनी है वे दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप यहां है ।

अब चाहिये क्या ? नवपद की दोस्ती प्रिय लगेगी ?

हम तो चोर-डाकुओं तुल्य विषय-कषायों के साथ दोस्ती करके बैठे हैं । इस मित्रता के कारण भूतकाल में अनेकबार नरक-निगोद की यात्रा की है । यदि अभी तक यह दोस्ती नहीं छोड़ेंगे तो यही हमारा भविष्य है ।

इन डाकुओं के निवारणार्थ कोई (गुरु आदि) समझाये तो हम उस पर क्रोधित हो जाते हैं ।

जो भलाई नवपदों ने की है वह कोई नहीं कर सकेगा । जो अहित विषय-कषायोंने किया है वह कोई नहीं कर सकेगा । किसकी मित्रता करनी है वह हमें सोचना है ।

★ प्रश्न : इन दिनों में असज्जाय क्यों ?

उत्तर : क्योंकि नवपद की आराधना बराबर हो सके, मंत्र आदि का जाप बराबर हो सके, ऐसा समझ लो ।

★ गुरु के पास घंटा बिगड़ा हुआ नहीं कहा जायेगा । उस एक घंटे में अनुभव की अनेक बातें जानने को मिलेंगी, जो अन्यत्र कहीं से भी नहीं मिलेंगी, नवपदों की आराधना में समय बिगड़ा नहीं कहा जायेगा । इसी आराधना में जीवन की सफलता है ।

★ प्रभु मन में हो तो उसे चंचल बनानेवाला एक भी तत्त्व भीतर प्रविष्ट नहीं हो सकेगा । जब सिंह बैठा हो तो सियार आदि की क्या ताकत है जो गुफा में प्रवेश कर सके ?

हमारी हृदय गुफा में सिंह सम भगवान बैठे हों, तो हम निर्भय । भगवान चले जायें तो हम भयभीत ।

भगवान के जाते ही भय आ जाता है ।

भगवान के आते ही भय भाग जाता है ।

❖ चण्डकौशिक, गोशाला, संगम आदि चाहें जो कर जायें तो भी भगवान कुछ भी न करें यह कायरता कहलायेगी या वीरता ? सांसारिक दृष्टि से कायरता कहलायेगी, परन्तु लोकोत्तर दृष्टि से वीरता कहलायेगी ।

‘क्षमा वीरस्य भूषणम् ।’ लोकोत्तर सूत्र है ।

यह धर्म शत्रु पर दया करना सिखाता है ।

सन्निपात के रोगी को आप औषधि देने जाओ और वह थप्पड़ मारे तो भी क्रोध नहीं करते, क्योंकि आप रोगी की विवशता समझते हैं ।

भगवान भी संगम आदि की विवशता समझते हैं । मोह ने संगम आदि को पागल कर दिया है । पागल पर क्रोध क्या ?

यह दृष्टिकोण सामने रख कर जियें तो क्या किसी पर भी क्रोध आयेगा ?

❖ किसी भी व्यक्ति के जीवन में जब ऐसा संकल्प जगे ‘मैं अब पाप नहीं करूंगा’ तो समझ लें कि भगवान की कृपा उतर आई है ।

पाप नहीं करने का विचार प्रभु की कृपा के बिना आ ही नहीं सकता ।

❖ सम्यक्त्व प्राप्त होने पर प्रशम का सुख प्राप्त होता है, साथ ही दुःखी जीवों को देखकर होनेवाला दुःख भी बढ़ता है - ‘इन बिचारों को धर्म की प्राप्ति कब होगी ? ये कब सुखी होंगे ?’ ऐसे विचारों से सम्यग्दृष्टि दुःखी होता है ।

❖ नवपद का वर्णन तो आपने सुना, परन्तु

क्या नवपद में स्थान प्राप्त करने की इच्छा हुई ?

क्या नवपद की आराधना की इच्छा हुई ?

❖ यह कैसे मालुम पड़ेगा कि नवपद की आराधना से कर्म-क्षय हुआ कि नहीं ? कर्म कम होने का चिन्ह कषाय-हास है । कषाय घटते जाये तो आवेश मन्द होता जायेगा, मन प्रसन्न रहेगा, कर्म घटने के ये ही चिन्ह हैं ।

खेद, संक्लेश, क्रोध, आवेश, विह्वलता आदि बढ़ते रहें तो समझें कि कर्म बढ़ रहे हैं ।

‘क्लेशे वासित मन संसार...’

नाड़ी देखकर वैद्य को पता लगता है, रक्त आदि से डोकटर को पता लगता है, उस प्रकार प्रसन्नता-अप्रसन्नता से आत्मा के आरोग्य का पता लगता है ।

❖ डोकटर जयचंदजी ने मद्रास में कहा था कि अब आप कमरे में से बाहर नहीं निकल सकेंगे ।

मैंने कहा : 'मैं बहार निकलूंगा, प्रतिष्ठा भी कराउंगा, मुझे प्रभु पर विश्वास है ।'

डोकटर ने कहा - 'आपकी प्रसन्नता है तो बात हो गई ।'

और सचमुच नेल्लोर-काकटुर की प्रतिष्ठा मैंने कराई ।

जीने की इच्छा न हो वैसे रोगी को डोकटर भी नहीं बचा सकता । तरने की इच्छा न हो उसे भगवान भी तार नहीं सकते ।

❖ समतापूर्वक तप करो तो बेड़ा पार हुआ समझों । समता, भक्ति एवं करुणा आपकी आत्मा की निर्मलता की सूचक हैं । भक्ति से दर्शन, करुणा से ज्ञान और समता से चारित्र्य का पता लगता है ।

❖ कौनसा तप निकाचित कर्मों को भी काट सकता है ?

निष्कामपन से, निर्हेतुपन से और दुर्ध्यान - रहितता से होनेवाला तप कर्म क्षय के लिए समर्थ होता है । वह निकाचित कर्मों के अनुबन्धों को भी तोड़ डालता है ।

'मेरी २०० ओली की पारणा होगा, अतः ये होना चाहिये और वह होना चाहिये' ऐसी कोई इच्छा तपस्वी को नहीं होती । विद्या, मंत्र, जाप, आत्मशक्ति इत्यादि गुप्त रखी जायें तो ही फलदायक होती हैं, उस प्रकार तप भी गुप्त रखा जाये तो ही फल देता है ।

मैं तो कहता हूँ - 'संसार में नाम जमता है, कीर्ति जमती है वह 'पलिमंथ' है । पलिमंथ अर्थात् विघ्न ।' लोगों की भीड़ से होनेवाले विघ्न हैं ।

मैं तो यहां तक कहूंगा - 'अपकीर्ति तो बहुत ही अच्छी । अपकीर्ति होने पर लोगों का आना बंद हो जाता है । लोगों का आना बंध होने पर साधना अत्यन्त ही अच्छी प्रकार से हो सकेगी ।

कहते हैं कि चिदानन्दजी महाराज को यदि पता लग जाता

कि मुझे मिलने आने के लिए लोग एकत्रित हुए हैं, तो वे तुरन्त ही भाग जाते ।

❖ तप से कर्मों के आवरण हट जाते हैं । आवरण हटने पर आत्म-शुद्धि बढ़ती है । बढ़ती हुई समता एवं प्रसन्नता भीतर हो रही आत्म-शुद्धि की सूचक हैं ।

❖ गाथा कण्ठस्थ कर ली अतः ज्ञानावरणीय कर्म हट गया और गाथा याद हो गई । पुनरावर्तन करना बंद कर दिया तो गाथा गई और ज्ञानावरणीय कर्म लग गया, क्योंकि ज्ञानावरणीय कर्म निरन्तर चालु ही है ।

जो बात गाथा के लिए सच है, वही बात समता, सन्तोष, सरलता इत्यादि गुणों के लिए भी सच है । यदि हमने उनकी दरकार नहीं की तो वे गुण चले जायेंगे । धन को नहीं सम्हालोगे तो जाने में देर कितनी ? कमाने में श्रम करना पड़ता है, उस प्रकार उसकी सुरक्षा में भी कम श्रम नहीं है ।

❖ प्रकट हो चुका सम्यक्त्व टिका रखें तो वह कभी दुर्गति में जाने नहीं देगा । भले ही ६६ सागरोपम आप संसार में रहे, परन्तु सम्यग्दर्शन कभी दुर्गति में नहीं ही जाने देगा । ६६ सागरोपम के बाद क्षायोपशमिक सम्यक्त्व क्षायिक बन जाता है, मोक्षप्रद ही बनता है ।

कुमारपाल महाराजा, श्रेणिक राजा जैसे तो केवल चौरासी हजार वर्षों में मोक्ष जाने वाले हैं ।

❖ इच्छारोधन तप नमो. ।

तप को पहचानें कैसे ?

इच्छा का निरोध करना ही तप है ।

तप की यह संक्षिप्त व्याख्या सदा याद रखें ।

उपवास किया, परन्तु रातभर राबड़ी-दूध याद आते रहे तो द्रव्य उपवास तो हुआ, परन्तु इच्छारोध नहीं हुआ ।

अनशन आदि बाह्य तपों में बाह्य इच्छाओं का निरोध है । आभ्यन्तर तप में भीतर की इच्छाओं का निरोध है ।

अनशन में खाने की इच्छा का

उणोदरी में ज्यादा खाने की इच्छा का

वृत्तिसंक्षेप में ज्यादा द्रव्य खाने की इच्छा का ।

रसत्याग में विगड़ये खाने की इच्छा का
 काय-क्लेश में सुखशीलता की इच्छा का और
 संलीनता में शरीर को इधर-उधर हिलाने की इच्छा का रोध
 होता है ।

आभ्यन्तर तप

प्रायश्चित्त में दोष छिपाने की इच्छा का
 विनय में अक्कड़ बनकर रहने की इच्छा का
 वैयावच्च में स्वार्थपरता की इच्छा का
 स्वाध्याय में निन्दा-कुथली की इच्छा का
 ध्यान में मन की स्वच्छंद विचारणा करने की इच्छा का और
 कायोत्सर्ग में मन-वचन-काया की चपलता की इच्छा का
 निरोध होता है ।

स्वाध्याय

तप के बारह प्रकारों में स्वाध्याय जैसा तप नहीं है । 'सज्ज्ञाय-
 समो तवो नत्थि ।'

स्वाध्याय बगीचे का कुआ है जहां से जल प्राप्त होता रहता
 है । जिनवाणीरूपी जल यहीं से ही प्राप्त होता है न ?

'स्वाध्याय ताजा, उसके सभी योग ताजे ।

चौबीस ध्यान में से प्रथम ध्यान में आज्ञा-विचय आदि हैं ।
 भगवान की आज्ञा स्वाध्याय के द्वारा जानी जाती है ।

❖ 'धम्मो मंगलमुक्किट्ठं' में स्वर्णसिद्धि भी विद्यमान है -
 ऐसा पूर्वाचार्यों ने कहा है ।

लोहे जैसे आत्मा को स्वर्ण बनानेवाला धर्म का स्वर्णसिद्धि
 रस है ।

स्वाध्याय में दुष्ट ध्यान (आर्तध्यान आदि) की इच्छा का
 रोध होता है ।

प्रश्न : अन्य पदार्थों की इच्छा करनी पड़ती है । दुध्यान
 तो अपने आप होता रहता है तो वह इच्छा रूप कैसे ?

उत्तर : दुध्यान स्वयं इच्छारूप है । दुध्यान करने की इच्छा

चाहे न हो, परन्तु यह स्वयं इच्छारूप है । आर्त्तध्यान के चार प्रकारों में इच्छा ही दिखती है न ? इष्ट की प्राप्ति न होना, अनिष्ट प्राप्त होना - यह सब क्या है ? उसे शिष्य मिल गये, मुझे नहीं मिले, ये सभी इच्छाएं ही हैं न ?

✽ पर-परिणति के साथ अत्यन्त परिचय किया है । स्व के साथ परिचय किया ही नहीं । प्रभु के साथ परिचय किया ही नहीं । प्रभु अपने हैं, ऐसा कभी लगा ही नहीं । प्रभु - माता, पिता, भाई, बन्धु, गुरु, नेता और सर्वस्व है - ऐसा अनुभवी भले कहें, परन्तु यह अपना अनुभव बने तब काम होगा ।

✽ स्वाध्याय में एकाग्रता आने पर ध्यान प्राप्त होता है । ध्यान के दो प्रकार हैं : (१) धर्म ध्यान - सालम्बन ध्यान - मूर्ति आदि का ध्यान । (२) शुक्ल ध्यान - आत्मा का ध्यान - परम ध्यान ।

परमात्मा के साथ जो एकता कराये वह धर्म ध्यान है ।
आत्मा के साथ जो एकता कराये वह शुक्ल ध्यान है ।

.

क्यांथी मळे ?

स्वाति नक्षत्रमां छीपमां पडेलुं वर्षानुं पाणी मोती बने, तेम
मानवना जीवनमां प्रभुना वचन पडे अने ते परिणाम पावे तो अमृत
बने. अर्थात् आत्मा परमात्म-स्वरूपे प्रगट थाय. परंतु संसारी जीव
अनेक पौद्गलिक पदार्थोमां आसक्त छे, तेने आ वचन क्यांथी शीतळता
आपे ? अग्निनी उष्णतामां शीतळतानो अनुभव क्यांथी थाय ? जीव
मनने आधीन होय त्यां शीतळता क्यांथी मळे ?



पूज्यश्री के गुरुदेव पू. कंचनविजयजी म.

२६-१०-१९९९, मंगलवार

का. व. २

छ: छ: माह में नवपद की आराधना आती है, ताकि प्रत्येकबार उसकी आराधना में नया नया स्फुरण होता रहे । नया नया उल्लास बढ़ता ही रहे ।

प्रति छ: महिने नवपद की एक ही बात से कंटला न आ जाये ? यदि यह प्रश्न पूछते हो तो मैं कहूंगा कि क्या आप नित्य एक ही एक रोटी से उबते हैं क्या ? यदि वहां कंटला नहीं आता तो यहां कंटला कैसे ?

नवपद में आत्मा को देखना या आत्मा में नवपद को देखना, इसका अर्थ यह है कि नवपद की प्रत्येक अवस्था का आत्मा में अनुभव करना । भले हम स्वयं अरिहंत नहीं बने, परन्तु हमारे ध्येय में तो अरिहंत आ सकते हैं न ? साध्य में तो अरिहंत आ सकते हैं न ? इसका ही नाम नवपद की प्रत्येक अवस्था का आत्मा में अनुभव करना ।

अपना उपयोग नवपदों में से किसी भी पद में रहता है तब अपनी आत्म-शक्ति बढ़ती है । विषय-कषायों में उपयोग रहता है तब आत्मशक्ति का ह्रास होता है, यह समझ लीजिये ।

‘तुम न्यारे तब सब ही न्यारा...’

भगवान (उपलक्षण से नवपद) समीप तो सब समीप, भगवान दूर तो सब ही दूर ।

❖ जब किसी के प्रति अमैत्रीभाव आये तब कभी विचार आया - मैं ‘मित्री मे सव्वभूएसु’ दिन में दो बार तो बोलता ही हूँ ?

मैत्री की दृष्टि से जीवों को देखना तो मित्रादृष्टि का, सम्यक्त्व से भी पूर्व का लक्षण है । साधु तो जीवों को आत्मवत् देखते हैं ।

मैत्री तो मानवता का प्रथम सोपान है ।

जिसे कण्ठस्थ किये बिना बड़ी दीक्षा नहीं होती उस दशवैकालिक में आपने क्या पढा है ?

‘सव्वभूअण्णभूअस्स, सम्मं भूआइं पासओ ।’

सब जीवों में स्व जीव को देखनेवाले साधु होते हैं, इसीलिए साधु सर्वभूतात्मभूत कहलाते हैं ।

मार्गानुसारिता में रहा हुआ व्यक्ति भी जीवों को मित्र की दृष्टि से देखता है । साधु तो समस्त जीवों को आत्मवत् देखते हैं । वे दूसरों में अपना ही स्वरूप देखते हैं । दूसरे की हिंसा में अपनी, दूसरे के अपमान में अपना ही अपमान देखते हैं, वे साधु हैं ।

❖ यह सब मैं अपना वक्तृत्व बताने के लिए नहीं कहता । हम तो केवल इस माध्यम से स्वाध्याय करते हैं ।

❖ जीवों के साथ सम्बन्ध सुधरते ही परमात्मा के साथ सम्बन्ध सुधरने लगता है ।

❖ निर्मलता, स्थिरता एवं तन्मयता यह क्रम है ।

जिन जिन अनुष्ठानों से आत्मा की निर्मलता आदि हो, उन उन अनुष्ठानों में ध्यान देना आवश्यक है ।

निर्मलता से - सम्यग्दर्शन ।

स्थिरता से - सम्यग्ज्ञान ।

और तन्मयता से सम्यक्चारित्र की प्राप्ति होती है ।

ध्यान में तीनों की एकता होती है ।

इस अवस्था में योगी स्व आत्मा में ही परमात्मा को देखते हैं । फिर लगता है कि अपने से शरीर जितना समीप है, उससे भी अधिक समीप परमात्मा है ।

पर शरीर को हम अपना मान बैठे हैं ।

अपने प्रभु को हम पर मान बैठे हैं ।

भगवान सात राजलोक दूर नहीं है, यहीं हैं, अपना ही स्वरूप है, ऐसा भान तब आता है ।

✽ जो अन्तरात्म-दशा प्राप्त करता है वही परमात्म - दशा प्राप्त कर सकता है । परमात्म - दशा का सर्टिफिकेट (प्रमाणपत्र) है, अन्तरात्म-दशा । यह जिसके पास हो वही परमात्मा बन सकता है ।

✽ वृत्ति दो प्रकारकी है : (१) मनोवृत्ति, (२) स्पंदनरूप वृत्ति ।

(१) मनोवृत्ति : बारहवे गुणस्थान पर जाती है ।

(२) स्पंदनवृत्ति : चौदहवे गुणस्थान पर जाती है ।

चौदहवे गुणस्थान पर अयोगी, अलेशी एवं अनुदीरक भगवान होते हैं ।

✽ नवपद में पांच परमेष्ठी गुणी एवं ज्ञान आदि चार गुण हैं ।

✽ नवपद का बहुमान करना अर्थात् सर्वोत्कृष्ट गुणी एवं सर्वोत्कृष्ट गुणों का बहुमान करना । नवपद का तीनों योगों से बहुमान होना चाहिये ।

मन, वचन का बहुमान तो समझे, परन्तु काया से बहुमान किस प्रकार होता है ? उन गुणों को जीवन में अपनाने से बहुमान होता है ।

✽ नवपदों का ध्यान हमें नवपदमय बनाता है । एक बार आत्मा उसमें रुचि लेने लगे तो प्रत्येक जन्म में नवपद मिलेंगे । उदाहरणार्थ - मयणा - श्रीपाल ।

✽ कुसंस्कार यदि प्रत्येक भव में साथ आते हों तो सुसंस्कार साथ क्यों नहीं आये ? यदि आप सुसंस्कारों का स्टोक नहीं रखोगे तो कुसंस्कार तो आर्येंगे ही । वे तो भीतर विद्यमान ही हैं ।

नवपद समस्त लब्धियों एवं सिद्धियों का घर है । उन्हें अन्तर में बसाओ तो समस्त लब्धियां एवं सिद्धियां आपके हाथ में हैं ।

तपपद

जाणंता तिहुं नाण समग्गह.

आज जैन संघमें तप की अत्यन्त महिमा है और वह होनी ही चाहिये । इससे ही हम उजले हैं ।

मन की निर्मलता देने वाला तप है ।

स्वयं भगवान भी, उसी भवमें मोक्ष में जाने वाले हैं, यह जानते हुए भी घोर तप करते हैं । उसका कारण क्या है ? तप की महिमा समझने के लिए तीर्थंकरों का जीवन ही पर्याप्त है ।

‘मैं मोक्षमें जानेवाला हूँ’ यह भगवान जानते हैं और यह भी जानते हैं कि कर्म क्षय हुए बिना मोक्ष नहीं है तथा यह भी जानते हैं कि तप के बिना कर्मों का क्षय नहीं होगा ।

अनेक व्यक्ति कहते हैं कि हम आलोचना में तप तो नहीं कर सकते । आप कहोगे वहां पैसे खर्च कर लेंगे ।

क्या ऐसे चलेगा ? तप कर्म-निर्जरा का अनन्य साधन है ।

✿ तप जिन-शासन को दीपानेवाला है । आठ प्रभावकों में तपस्वी भी पांचवा प्रभावक है । वह कैसा होगा ?

‘तप गुण ओपे रे रोपे धर्मने, गोपे नहीं जिन आण;

आश्रव लोपे रे, नवी कोपे कदा, पंचम तपसी ते जाण.’

तप-गुण से ओपे, धर्म को रोपे, भगवान की आज्ञा का उल्लंघन नहीं करे, आश्रव लोपे और कभी क्रोध न करे, वह सच्चा तपस्वी है ।

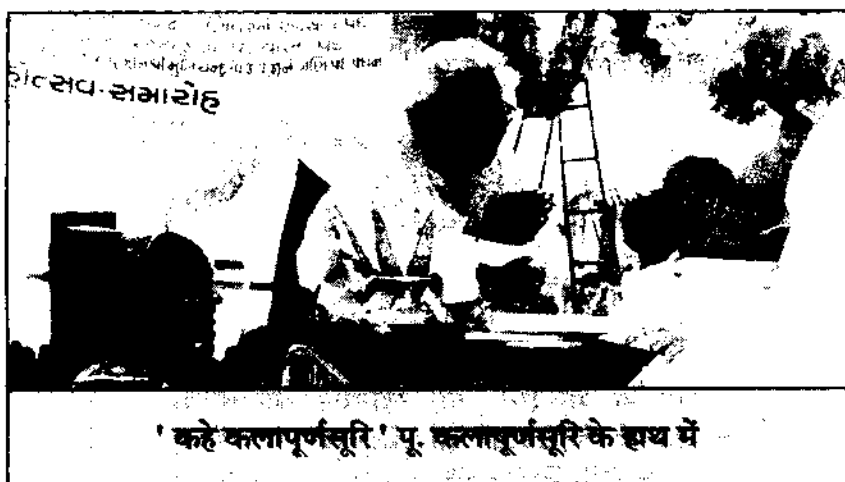
* * * * *

‘कहुं कलापूर्णसूरिए’ पुस्तक मळयुं. पूज्यश्रीना प्रवचनोमां

अमृत-अमृत ने अमृत ज होय. एमां बीजुं काईं कहेवा जेवुं ज नथी.

- पंन्यास मुक्तिदर्शनविजय

गारेगांव, मुंबई.



'कहे कलापूर्णसूरि' पू. कलापूर्णसूरि के हथ में

**श्रीमती पन्नाबेन दिनेशभाई खजीभाई महेता
परिवार द्वारा आयोजित उपधान तप प्रारम्भ,
३८० आराधक**

**२७-१०-१९९९, बुधवार
का. व. ३**

❖ नवपदों की आराधना करना अर्थात् आत्मा के ही शुभ भावों की आराधना करना । अरिहंत आदि पद अपनी ही विशिष्ट अवस्थाएं हैं । हममें से कोई अरिहंत बनकर या कोई आचार्य, उपाध्याय या साधु बनकर सिद्ध बनेंगे ।

आखिर सिद्ध तो बनना ही पड़ेगा । आज अथवा कल बनना ही पड़ेगा, उसके बिना उद्धार तो होना ही नहीं है ।

❖ ज्ञान, दर्शन, चारित्र की विशुद्ध आराधना इसी जन्म में मुक्ति प्रदान करती है । काल, संघयण आदि की अनुकूलता नहीं मिले तो दो या तीन भव, सात-आठ भव तो बहुत हो गये । इतने भवों में तो मोक्ष मिलना ही चाहिये ।

जब भी सिद्धि मिलेगी तब अरिहंत आदि की भक्ति से ही मिलेगी; तो फिर क्यों अभी से ही अरिहंत आदि की भक्ति शुरू न करें ?

कहे कलापूर्णसूरि - १ *** ४६३**

✿ शुक्लध्यान के कुल चार में से दो भेदों से केवलज्ञान प्राप्त होता है । शेष दो अयोगी गुणस्थानक पर मिलते हैं ।

✿ 'ध्यान-विचार' में अभी ही ध्यान के कुल भेद चार लाख, बयालीस हजार, तीनसौ अड़सठ (४४२३६८) पढ़कर आये । ध्यान दो प्रकार से आता है - १. पुरुषार्थ से, २. सहजता से । तीर्थकरों को नियमा पुरुषार्थ से ही ध्यान सिद्ध होता है, क्योंकि उन्हें दूसरों को मार्ग बताना है ।

पुरुषार्थ से होनेवाले ध्यान को 'करण' कहा जाता है ।

सहजता से होनेवाले ध्यान को 'भवन' कहा जाता है ।

भवनयोग में मरुदेवी का उदाहरण श्रेष्ठ है ।

करणयोग में तीर्थकरों का उदाहरण श्रेष्ठ है ।

✿ घड़ी में केवल सुइयें का ही नहीं, मशीन के समस्त पुर्जों का महत्त्व है । उसी तरह साधना में भी ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप आदि समस्त अंगों का महत्त्व है । एक की भी उपेक्षा नहीं चलती । गौणता या प्रधानता चल सकती है, परन्तु उपेक्षा नहीं चलती ।

✿ एकाग्रतापूर्वक किया गया चिन्तन ध्यान है ।

✿ योग, वीर्य, स्थाम, उत्साह, पराक्रम, चेष्टा, शक्ति एवं सामर्थ्य के द्वारा कर्मों का भिन्न-भिन्न प्रकार से नाश होता है, जो 'ध्यान-विचार' के द्वारा समझ में आयेगा । कभी पढ़ेंगे तो बहुत आनन्द आयेगा । कोई कर्म को उपर ले जाता है, कोई नीचे ले जाता है, कोई तिलों में से तेल निकालने की तरह कर्मों को निकालता है; इस प्रकार की व्याख्याएं वहां बताई गई हैं ।

✿ सांप के बिल में बालक गिर पड़ा । माने उसे खींचकर बाहर निकाला, बालक को कई खरोंच आ गई, खून निकला और वह रोने लगा । माता ने अच्छा किया कि बुरा ?

बालक उस समय शायद कहेगा - माने बुरा किया परन्तु दूसरे लोग कहेंगे - 'माने अच्छा किया, ऐसा ही करना चाहिये ।'

गुरु भी कईबार इस तरह अधिक दोषों से शिष्य को बचाने के लिए उसका निग्रह करते हैं । उस समय शिष्य को चाहे समझ में न आये, परन्तु गुरु के निग्रह में उसका कल्याण ही छिपा होता है ।

✿ संयम ढाल है, तप तलवार है । कर्मों के आक्रमण के समय

इस तलवार और ढाल को साथ रखना है, इनका उपयोग करना है ।

युद्ध के मैदान में राजपूत (क्षत्रिय) केसरिया करके टूट पड़ते थे । उनका एक ही निश्चय होता था कि या तो विजयी बनकर लौटूंगा, या शहीद हो जाऊंगा । कायर बनकर पीठ नहीं दिखाऊंगा ।

साधक का भी ऐसा ही निश्चय हो, तो ही कर्म-शत्रु पर विजय प्राप्त हो सकता है ।

साधक यह सोचकर कर्मरूपी सेना पर टूट पड़ता है कि अब तो हद हो गई । अब मैं कर्म-सत्ता के अधीन नहीं रहूंगा । बहुत हो गया । अनन्त काल बीत गया । अब कहां तक यह गुलामी सहन करूं ?

‘देहं पातयामि, कार्यं साधयामि ।’ करेंगे या मरेंगे ।

ज्ञान के अध्ययन में, वैयावच्च में, ध्यान में समस्त अनुष्ठानों में ऐसा उत्साह चाहिये, तो ही आप विजय प्राप्त कर सकते हैं ।

उत्साह के बिना तप नहीं हो सकता ।

अडतालीस लब्धियां तप से ही प्रकट होती हैं ।

प्रश्न : इस समय कितनी लब्धियां प्रकट होती हैं ?

उत्तर : मुनि ऐसे होते हैं कि लब्धि प्रकट हो जाये तो भी कहते नहीं है । जो लब्धि दिखाना चाहते हैं, उनमें लब्धि प्रकट नहीं होती । इस समय प्रकट नहीं होती, क्योंकि इस समय इतनी निःस्पृहता नहीं रही । शासन-प्रभावना के बहाने भी अहंकार की प्रभावना करने की इच्छा ही छिपी होती है ।

इस समय आप संयम का श्रेष्ठ पालन करो, वह भी भारी लब्धि मानी जायेगी ।

भरत को नौ निधान आदि मिले थे वे पूर्व जन्म में की हुई वैयावच्च रूप तप-साधना का फल था ।

प्रश्न : तप मंगलरूप है, नवकार भी मंगलरूप कहलाता है ।

दोनों में कौनसा मंगल समझा जाय ?

उत्तर : नवकार में ‘नमो’ मंगल है । ‘नमो’ विनयरूप है । विनय तप का ही भेद है । अतः दोनों एक ही हैं । दोनों महामंगल हैं ।

तप शिव-मार्ग का सच्चा मार्गदर्शक है ।

‘भवो भव मुझे बारहों प्रकार का तप करने की शक्ति प्राप्त हो’ संकल्प करो तो भी दोष नहीं है ।

‘भवो भव तुम चरणोनी सेवा’ भगवान को इस प्रकार कहते ही हैं न ? सेवा विनयरूप तप ही है ।

ज्ञान, तप आदि उत्कृष्ट कक्षा के हों तो समझे कि पूर्व जन्म के संस्कार पड़े हुए हैं । इसीलिए ये गुण उत्कृष्ट कक्षा के बने हैं । इस जन्म में यदि और अधिक संस्कार डालेंगे तो आगामी जन्म में गुण और भी पराकाष्ठा पर पहुँचेंगे ।

❖ इच्छारोधे संवरी.

इच्छा-रोध अर्थात् संवर; इच्छा करना अर्थात् आश्रव ।

संवर से आत्म-गुणों का आस्वाद प्राप्त होता है । ऐसा आस्वाद करनेवाली आत्मा स्वयं ही नैश्चयिक दृष्टि से तप है ।

आगम या नोआगम से शुभ भाव ही सत्य है । आप अपने आत्म-भाव में स्थिर बनें । पर-भाव में राबो मत ।

स्वगृह में रहोगे तो कोई निकालेगा नहि । यदि दूसरे के घर में रहने गये तो आपको निकाल दिया जायेगा ।

स्वभाव स्वगृह है ।

परभाव पर घर है ।

शास्त्रों में असंख्य योग बताये हुए हैं ।

ध्यान के चार लाख भेद तो स्थूल हैं । बाकी प्रत्येक भेद में भी अनेक भेद-स्थान होते हैं । इन सब में मुख्य योग नवपद हैं । नवपद युक्त आत्मध्यान ही प्रभाणभूत माना जाता है । इसे छोड़कर कहीं मत जाना । सीधे अनालम्बन में छलांग मत लगाना ।

‘योग असंख्य ते जिन कक्षा, नवपद मुख्य ते जाणो रे;

एह तणे अवलम्बने, आत्मध्यान प्रमाणो रे...’

आत्मध्यान करो तो ही नवपद प्रमाणभूत है । ऐसा अर्थ भी इस पद्य में से आप खींचकर कर सकते हैं । अपना मन चाहा अर्थ यहां नहीं चलता । ऐसा अर्थ आपकी मानसिकता का प्रतिबिम्ब है । आप शास्त्रों के अनुसार चलना नहीं चाहते, परन्तु जो करते हो उसे शास्त्र-सम्मत बनाने के लिए शास्त्र की मोहर लगाने के लिए खींच तान कर अर्थ करते हैं ।

यह केवल आत्मवंचना होगी ।

• • • • •



थाणा में दक्षिण-प्रदर्शनी, वि.सं. २०५४

२८-१०-१९९९, गुरुवार
का. व. ४

★ ज्यों ज्यों बुद्धि, बल आदि घटते गये, त्यों त्यों आगमों के गूढ़ रहस्यों को समझाने के लिए पूर्वाचार्य अनेक प्रकरण ग्रन्थों की रचना करते गये । अकेले हरिभद्रसूरिजीने १४४० ग्रन्थों की रचना की ।

उन्होंने अपना सम्पूर्ण जीवन इस में लगा दिया । उनके बाद हुए प्रत्येक गीतार्थ ने हरिभद्रसूरिजी का समर्थन किया । उन्होंने प्रायः प्रत्येक स्थान पर पूज्य हरिभद्रसूरिजी को आगे किये हैं ।

गुजराती पठन, बाह्य पठन इतना बढ़ गया कि साधनानुसार पठन सर्वथा भुला दिया गया । सम्पूर्ण जीवन परलक्षी बन गया ।

‘अध्यात्म गीता’ में केवल ४९ गाथा ही हैं, परन्तु यह साधना के लिए अद्भुत ग्रन्थ है ।

मैं सबको सूचित कर रहा हूँ कि ‘यह कण्ठस्थ कर लेना ।’

पंचवस्तुक

प्रश्न : नौकारसी आदि के पचवक्खाण लेने के बाद दूसरों के लिए आहार आदि ला सकते हैं ? क्योंकि करना, कराना, अनुमोदन करना तीनों रीतियों से पाप का त्याग होता है ।

उत्तर : नौकारसी आदि के पच्यक्खाण स्वयं पालनार्थ हैं । दूसरों के लिए आहार आदि लाने में दोष नहीं है । आप मिश्रन्न नहीं खाते तो दूसरों के लिए भी नहीं लाना ऐसा नहीं है । यदि ऐसा हो तो सेवायोग ही समाप्त हो जाये । विनय-वैयावच्च चले जायें तो साधना में रहेगा क्या ?

निर्युक्तिकार भद्रबाहुस्वामी ने कहा है -

दान और दान के उपदेश का कहीं भी निषेध नहीं है ।

असांभोगिक प्राधूर्णक साधु हो तो उसे गोचरी के घर बताने । यदि सांभोगिक हो तो स्वयं ही गोचरी लाकर दें ।

स्वयं के उपवास हो तो भी आचार्य, उपाध्याय, बालमुनि, ग्लान आदि के लिए आहार लाने में दोष नहीं है ।

जिन-वचनामृत घोट-घोट कर पीनेवाले साधु को स्व-पर का भेद नहीं होता । इसीलिए वे स्व-पर की पीड़ा का परिहार हो इस प्रकार वर्तन करते हैं ।

वैयावच्च पर-पीड़ा - परिहारक है ।

ज्ञानाचार स्वयं के लिए ही है, परन्तु वीर्याचार स्व-पर दोनों के लिए है ।

वैयावच्च वीर्याचार के अन्तर्गत है ।

वैयावच्च की भी विधि जाननी चाहिये, अन्यथा भक्ति के स्थान पर अभक्ति हो जायेगी ।

स्वाध्याय की वृद्धि हो, नित्य का कार्यक्रम व्यवस्थितरूप से चले, सुख से हितोपदेश दिया जा सके, बल की हानि न हो, कफ की उत्पत्ति न हो, दूसरों का यह सब ध्यान में रखकर वैयावच्च करना है ।

स्वयं को ज्ञान आदि की पुष्टि होती है ।

वैयावच्च नहीं किया जाये तो कर्म-निर्जरा रुक जाये ।

वैयावच्च करनेवाला अपने अनुष्ठान भी बराबर करे ।

अपने अनुष्ठान छोड़कर वैयावच्च न करे ।

भरत-बाहुबली ने पूर्व जन्म में ५०० साधुओं की सेवा की थी, जिसके प्रभाव से एक चक्रवर्ती बने और दूसरे को पराघातपन मिला । भरहेसर सञ्ज्ञाय में सर्व प्रथम भरत का ही नाम आता

है। उन्हें कैसे भूल सकते हैं ? पूर्वभव के वैयावच्च के कारण ही उन्हें आरीसाभुवन में (सीसमहल में) केवलज्ञान प्राप्त हुआ था।

दीक्षा बिना ही उन्हें केवलज्ञान मिल गया था तो दीक्षा की आवश्यकता क्या ? ऐसा मत समझना। उनकी पूर्वभव की साधना को याद करना।

महावीर स्वामी का जीवन चरित्र पढ़ने पर केवलज्ञान कितना दुष्कर, कितना महंगा लगता है ? भरत का जीवन पढ़ने पर कितना सस्ता लगता है ?

अतः यह न भूलें कि केवलज्ञान को इतनी सरलता से देने वाला वैयावच्च है।

चक्रवर्ती आदि भौतिक फल तो आनुषंगिक है। वैयावच्च का मुख्य फल केवलज्ञान है, मोक्ष है। इसीलिए अनुकम्पा निषिद्ध नहीं है और न वैयावच्च भी निषिद्ध है।

मुक्ति के दो मार्ग हैं :

१. अनुकम्पा - शान्तिनाथ का पूर्वभव - मेघरथ।

२. वैयावच्च - बाहु-सुबाहु (भरत-बाहुबली)

अनुकम्पा आदि का प्रयत्न रहित सामान्य मार्ग।

प्रथम मार्ग तीर्थकरों आदि उत्तम जीवों का है।

दूसरा मार्ग सामान्य साधुओं का है।

पूज्य देवचन्द्रजी कृत अध्यात्मगीता

‘प्रणमिये विश्वहित जैन वाणी, महानंदतरु सींचवा अमृतपाणी;

महामोह पुर भेदवा वज्रपाणि, गहनभव फंद छेदन कृपाणी. (१)’

तीर्थकरों को नमन करने से तो मंगल होता ही है,

तीर्थकरों की वाणी को नमन करने से भी मंगल होता है।

भगवती में ‘नमो सुअस्स’ ‘नमो बंधीए लिवीए’ कहकर मंगल किया है।

यह प्रणाली आज भी सुरक्षित है। आगम को हम सब नमन करते हैं।

जिनवाणी को नमन परम मंगल है।

जिनवाणी सम्पूर्ण विश्व को हितकर है।

जिनवाणी में से एक शब्द भी ऐसा खोज निकालो, जिससे

किसी का अहित होता हो ।

चारों माताएं (वर्णमाता, नवकारमाता, अष्टप्रवचन माता और ध्यानमाता) जिनवाणी से सम्बन्धित ही हैं । चारों माताओं की माता यह जिनवाणी ही है ।

सामायिक से बिन्दुसार (चौदहवा पूर्व) तक जिनवाणी विस्तृत है ।

माता वही कहलाती है जो बालक का अहित निवारण करती है, एकान्त से हित ही करती है । यह माता शाश्वत सुख देकर परम हित करती है ।

इसीलिए लिखा है -

‘महानंद तरु सींचवा अमृतपाणी’

महानंद अर्थात् मोक्ष; मोक्ष-वृक्ष का सिंचन करने के लिए यह जिनवाणी अमृत की धारा है ।

बाह्य तृषा जल से शान्त होती है, परन्तु आन्तरिक तृषा तो जिनवाणी से ही शान्त होती है । जल नहीं पियोगे तो अजीर्ण होगा, स्वास्थ्य बिगड़ेगा । उसी तरह जिनवाणी न मिले तो भाव-आरोग्य बिगड़ता है ।

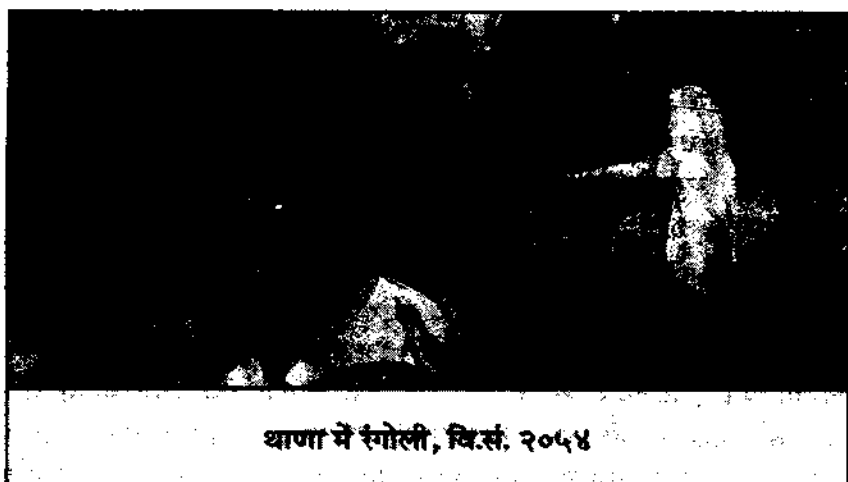
महामोहरूपी पुर (दैत्यनगर) को भेदने में यह जिनवाणी इन्द्र है, भयंकर भव-अटवी को छेदने में कृपाणी है, कुल्हाड़ी है ।

• • • • •

बने दळदार ग्रंथ मळ्या. घणी खुशी थई. पूज्यश्रीनो आ पवित्र
वाणी-गंगाने वहेती करी तपो बने पूज्य गणिवर्योए अतीव महत्त्वनुं
संपादन कार्य कर्तुं छे जे धन्यवादार्ह छे.

- पंन्यास विश्वकल्याणविजय

श्री पार्श्व प्रज्ञालय तीर्थ.



धाणा में गोली, वि.सं. २०५४

२९-१०-१९९९, शुक्रवार
का. व. ५

❖ अभी पंचवस्तुक में छः आवश्यक चलते हैं ।

आवश्यक करने योग्य हो वह है आवश्यक ।

ऐसा नहीं है कि शाम को ही छः आवश्यक करने है । सारा दिन छः आवश्यकों में ही जीना है । प्रत्येक क्षण आवश्यकमय होनी चाहिये । शाम को तो केवल लगे हुए दोषों का प्रायश्चित्त करना है ।

❖ प्रति पल कर्म जगता रहता है तो हम किसी भी क्षण में नींद कैसे कर सकते हैं ? क्या युद्ध के समय सैनिक आराम कर सकता है ? हम जितना प्रमाद करेंगे उतना पराजय समीप आयेगा । ऐसा प्रत्येक सैनिक को ध्यान होता है, उस प्रकार साधु को भी ध्यान होता है । राग-द्वेष के विरुद्ध हमारा युद्ध चल रहा है ।

हमने अहिंसत को क्यों देव के रूप में पसन्द किये ? क्योंकि वे राग-द्वेष के विजेता हैं । हमें भी राग-द्वेष-विजेता बनना है । 'कार्य साधयामि, देहं वा पातयामि ।' की प्रबल भावना चाहिये ।

छः आवश्यक हमें युद्ध में जीतने की कला सिखाते हैं ।

कहे कलापूर्णसूरि - १ ***** ४७१

❖ ध्यान के द्वारा प्रभु का स्पर्श करना समापत्ति है । इन्द्रियों के द्वारा विषयों का स्पर्श अनेक बार किया । अब इन्द्रियों को प्रभु-गामी बनानी है, प्रभु स्पर्शी बनानी है । आंखों से टेलिविज़न आदि बहुत देखे । अब प्रभु को देखने हैं । अन्य गीत बहुत सुने, अब जिनवाणी सुननी है ।

इधर-उधर का बहुत पढ़ा, अब जिनागम पढ़ें ।

दूसरों की खुशामद बहुत की, अब इस जीभ से प्रभु के गुण गाने हैं ।

जगत् के स्पर्श अनेक किये । अब हमें प्रभु-चरणों का, गुरु-चरणों का ('अहो कायं काय', यह गुरु-चरणों की स्पर्शना ही है । गुरु को कष्ट न हो अतः रजोहरण (ओघा) में चरणों की स्थापना करनी है) स्पर्श करना है । आगे बढ़कर आत्मा के शुद्ध स्वभाव का स्पर्श करना है, सिद्धों के शुद्ध स्वरूप का स्पर्श करना है ।

❖ सिद्ध मानते हैं कि जगत् के जीवों ने हमें यहां पहुंचाये । अन्यथा हम यहां कैसे पहुंचते ?

दानी मानेंगे : दान लेनेवाले नहीं मिले होते तो हम क्या करते ?

गुरु मानेंगे : शिष्य नहीं होते तो मैं किसे पढ़ाता ? किसको बोध देता ?

शिष्य मानेंगे : गुरु ने मुझे सेवा करने का कितना उत्तम लाभ दिया ?

ऐसी विचारधारा से कहीं भी किसी को अभिमान नहीं आता । सब का दृष्टिकोण भिन्न होता है । दूसरे का दृष्टिकोण हम अपनाते हैं तब हम दोष के भागीदार बनते हैं ।

❖ शक्ति होते हुए भी पञ्चक्खाण न करें तो हमारा अणाहारी पद विलम्ब में पड़ेगा ।

कई बार शक्ति होते हुए भी हम थोड़े से ही चूक जाते हैं ।

गृहस्थ जीवन में मैंने १६ उपवास किये थे, अत्यन्त ही स्फूर्ति एवं उल्लास था । मासक्षमण आराम से हो जाता, परन्तु अवसर चला गया । बाद में मासक्षमण नहीं हो सका ।

शक्ति होते हुए भी तप न करें तो हम अपराधी हैं ।

❖ 'बहुवेल संदिसाहुं' के आदेश किस लिए ?

'बहुवेल संदिसाहुं' के आदेश में गुरु-समर्पण छिपा हुआ है । कोई भी कार्य गुरु को पूछे बिना नहीं ही किया जा सकता, परन्तु सांस आदि की प्रवृत्ति हेतु बारबार कहां पूछें ? ऐसी प्रवृत्ति की आज्ञा 'बहुवेल संदिसाहुं' के आदेश से मिल जाती है ।

यद्यपि इसमें सांस लेने जैसी बातों की ही हम आज्ञा नहीं लेते, दूसरे बड़े कार्यों की भी आज्ञा ले लेते हैं । पूछने योग्य बड़े कार्यों में जितना न पूछें उतना गुरु-समर्पण कम समझें ।

अध्यात्म गीता

'द्रव्य अनन्त प्रकाशक, भासक तत्त्व स्वरूप,
आतम तत्त्व विबोधक शोधक सच्चिद्रूप;
नयनिक्षेप प्रमाणे जाणे वस्तु समस्त,
त्रिकरण योगे प्रणमुं, जैनागम सुप्रशस्त ॥ २ ॥'

वेदों आदि शास्त्रों को उनके अनुयायी भगवान मानते हैं । सिख गुरु-ग्रन्थ को भगवान मानते हैं । हमें भी आगम में भगवद्बुद्धि करनी है ।

मूर्ति आकार से मौन भगवान है, जबकि आगम बोलते भगवान है ।

❖ दुनिया के पदार्थ भी इसलिए जानने हैं कि ये पुद्गल पदार्थ मैं नहीं हूं, आत्मा नहीं है यह समझ में आ जाये ।

❖ आत्मा के अलावा किसी वस्तु में जानने की शक्ति नहीं है, जबकि आत्मा में स्व-पर ज्ञायक शक्ति है ।

❖ आत्मा के सभी प्रदेश-पर्याय साथ मिलकर ही कार्य करते हैं, अलग-अलग नहीं । दो आंखों से एक ही वस्तु दिखाई देती है ।

यदि इस उपयोग को सम्पूर्णतः भगवान में जोड़ दें तो ?

❖ अनादिकाल से हमारी चेतना पुद्गलों की ओर ही आकर्षित है, बिखरी हुई है, अब उसे आत्मस्थ करनी है, बाहर से हटाकर भीतर खींचनी है ।

❖ सिंह को बकरों के समूह में देखकर अन्य सिंहों को कितना दुःख होगा ? हमारा जातिभाई इस तरह 'बै-बै' करे ?

भगवान की दृष्टि में हम सब सिंह जैसे होते हुए भी 'बै-

बैं' करनेवाले बकरे के जैसे हैं । इसीलिए भगवान हमें स्व-स्वरूप याद करने का कहते हैं ।

✿ नय, निक्षेप, प्रमाण की शैली का ज्ञान मात्र यहीं देखने को मिलेगा, अन्य किन्हीं शास्त्रों में देखने को नहीं मिलेगा ।

✿ देवचन्द्रजी ने ज्ञानसार पर ज्ञानमंजरी टीका लिखी है जो नयपूर्वक लिखी है । भले शास्त्र में नय की बात करने का निषेध किया है, परन्तु योग्य श्रोतागण हो तो कर सकते हैं ।

✿ नय से आत्मा का स्वरूप कैसा ? आदि समस्त बातें यहां बताई जायेंगी ।

• • • • •

'कहे कलापूर्णसूरि' पुस्तक मळ्युं. खूब ज खंत-चीवटथी
आपे संकलन कर्युं छे, ते साधुवादने पात्र छे. अनेक खपी जीवोने
आ ग्रंथ महा-उपकारक बनशे ते निःशंक छे. आवा अनेकविध ग्रंथो
आपना थकी शासनने मळता रहे एवी शुभेच्छा...

- अरविंदसागर
अमदावाद.



दावजगिरि - उज्जैन में पूज्यजी का एक अवसर, १९५३

३०-१०-१९९९, शनिवार

का. व. ६-७

✽ पूर्वाचार्यों ने सम्हाल कर रखा, अपने शिष्यों को दिया, अतः श्रुतज्ञान का कुछ उत्तराधिकार हमें प्राप्त हुआ है। हमें भी यह धरोहर अपने अनुगामियों को देनी चाहिये। यदि नहीं दे तो अपराधी माने जायेंगे। अभी शासन श्रुतज्ञान के आधार पर साढ़ा ठारह हजार वर्षों तक और चलेगा।

श्रुतज्ञान केवल पढ़-पढ़ाकर टिकाना नहीं है, उसके अनुसार जीवन जीकर टिकाना है। पढ़ने-पढ़ाने की अपेक्षा श्रुतज्ञान के अनुसार जिया जानेवाला जीवन अधिक प्रभावशाली होता है। हमें पूज्य कनकसूरजी के जीवन के द्वारा ही बहुत अधिक जानने को मिला है। प्रत्यक्ष जीवन दूसरों के लिए बड़ा आलम्बन है।

✽ स्वाध्याय साधु का जीवन है। इधर-उधर का पठन स्वाध्याय नहीं गिना जाता। स्वाध्याय के समय तो स्वाध्याय करना ही है, परन्तु बीच बीच में भी जहां जहां, जब-जब समय मिले तब-तब भी स्वाध्याय करना है।

व्यापारी देखता है कि प्रत्येक अवसर पर लाभ कैसे प्राप्त करना, उसी तरह साधु प्रत्येक अवसर पर स्वाध्याय का मौका देखते हैं।

संवर-निर्जरा मुक्ति का मार्ग है ।

स्वाध्याय से संवर-निर्जरा दोनों होते हैं ।

स्वाध्याय से नया नया संवेग उत्पन्न होता है । स्वाध्याय करते समय उल्लसित हृदय विचार करता है - भगवान् द्वारा कथित तत्त्व ऐसे अद्भुत हैं ? यह संवेग है । स्वाध्याय से भगवान् के मार्ग में निश्चलता-निष्कंपता होती है । स्वाध्याय बड़ा तप है । तप से निर्जरा होती है ।

स्वाध्याय से दूसरों को समझाने की शक्ति उत्पन्न होती है । दान कौन कर सकता है ? जिसके पास धन हो वह । उपदेश कौन दे सकता है ? जिसके पास ज्ञान का खजाना हो वह ।

वाचना आदि पांचों प्रकार का जो स्वाध्याय करता है उस में उपदेशक शक्ति स्वयं उत्पन्न हो जाती है ।

स्वाध्याय से आत्महित का ज्ञान होता है ।

स्वाध्याय से भगवान् हृदय में निवास करते हैं । क्योंकि आगम स्वयं भगवान् है । भगवान् हृदय में आते ही अहित से निवृत्ति और हित की ओर प्रवृत्ति होती है । आप हित ही नहीं जाने तो प्रवृत्ति कैसी करोगे ? अहित से कैसे रुकोगे ?

पंचसूत्र में कहा है -

‘हिआहिआधिण्णे सिया ।’

‘हिताहिताभिज्ञः स्याम् ।’

भगवन् ! मैं मूढ़-पापी हूँ । आप मुझे हित-अहित का ज्ञाता बनायें ।

आवेश में आकर दोषारोपण, निन्दा इत्यादि करके हम नित्य-प्रति कितना अहित करते हैं ?

हित-अहित से अनभिज्ञ व्यक्ति कर्तव्य नहीं करता, अकर्तव्य करता रहता है । ऐसी आत्मा भवसागर को कैसे पार कर सकती है ? एकबार दुर्गति में पड़ने पर पुनः उपर किस प्रकार आ सकेंगे ? हिमालय की खाई में लुढ़कने के बाद मनुष्य फिर भी बच सकता है, परन्तु दुर्गति में पड़ने के बाद बचना कठिन है ।

पण्डित अमूलखभाई : ‘दुर्गति आदि में भवितव्यता भी कारणरूप है न ?

उत्तर - भवितव्यता का विचार दूसरों के लिए किया जा सकता है, स्वयं के लिए नहीं; अन्यथा पुरुषार्थ गौण बन जायेगा। अपने भूतकाल के लिए भवितव्यता लगाई जा सकती है। प्रथम से ही भवितव्यता स्वीकार कर लें तो धर्म या धर्मशास्त्रों का कोई अर्थ ही नहीं रहेगा। गोशालक मत आकर खड़ा हो जायेगा।

मैं धर्म में भवितव्यता लगानेवालों को पूछता हूँ कि क्या आप व्यापार में भवितव्यता लगाते हैं ? क्या आप भोजन में भवितव्यता लगाते हैं ?

नियति की बात कहकर अनेक व्यक्ति पुरुषार्थहीन बन गये हैं।

समझाने पर भी आप न मानें तो मैं भवितव्यता का दृष्टिकोण अपना सकता हूँ। आप स्वयं अपने लिए नहीं अपना सकते।

अतः क्या आपको स्वाध्याय करने की प्रतिज्ञा दूँ ? कि नये वर्ष में दूँ ?

कुछ नया पढोगे ? भूल जाने के भय से नया पढना छोड़ मत देना। चाहे वह भूल जाये, परन्तु उसके संस्कार भीतर बने रहेंगे।

जितने सूत्रों के अर्थ दृढ़-रूढ़ बनाओगे, उतने संस्कार गहराई में उतरेंगे।

‘नमुत्थुणं’ भी मुझे कितना काम लगता है ? निर्भयता, चक्षु, मार्ग आदि बतानेवाले भगवान सिर पर बैठे हैं, मुझे क्या चिन्ता है ? न कभी किसी ज्योतिषी को कुण्डली बताई है, न कभी भविष्य की चिन्ता की है। यह शक्ति कौन प्रदान करता है ? अन्तर में बैठे भगवान।

❖ संसारी आदमी धन व्यय करके ख्याति प्राप्त करते हैं। हम थोड़ा ज्ञान प्रदर्शित करके ख्याति प्राप्त करते हैं। फर्क क्या पड़ा ?

हमारा ज्ञान प्रदर्शक नहीं, प्रवर्तक होना चाहिये। यह बात मैं अनेकबार कह चुका हूँ।

❖ आगमों की केवल पूजा नहीं करनी है, उसका पठन एवं अध्ययन करना है, समझना है। आगे बढ़कर तदनुसार जीवन भी जीना है।

अध्यात्म गीता

‘जिणे आतमा शुद्धताए पिछाण्यो, तिणे लोक-अलोकनो भाव जाण्यो;
आत्परमणी मुनि जगविदिता, उपदिशी तिणे अध्यात्म - गीता ॥ ३ ॥’

कतिपय जिज्ञासु श्रावकों के लिए पू. देवचन्द्रजी ने इस अध्यात्म गीता की रचना की है। वैदिकों में भगवद्गीता प्रसिद्ध है, उस प्रकार अपनी यह गीता है।

श्रुतकेवली दो कहे गये हैं :

१. सम्पूर्ण - द्वादशांगी के ज्ञाता।
२. आत्म-रमणी मुनि।

समस्त आगमों का सार आत्म-रुचि, आत्म-ज्ञान एवं आत्म-रमणता है; पररुचि, परभावमणता से रुकना है।

‘आगम-नोआगम तणो, भाव ते जाणे साचो रे।

आतम भावे स्थिर होजो, परभावे मत राचो रे ॥’

यह ज्ञान का सार है, मुष्टि है। इतनी मुट्ठी में सब समा गया। शेष उसका विस्तार है।

‘निज स्वरूप जे क्रिया साधे, तेह अध्यात्म कहिये रे।’

पूज्य आनंदधनजी अध्यात्म की संक्षिप्त व्याख्या करते हुए कहते हैं कि जिस क्रिया से आपका स्वरूप समीप आये वह सच्चा अध्यात्म है। जिससे हम स्वरूप से दूर जायें वह अध्यात्म नहीं है।

प्रत्येक क्रिया के समय यह व्याख्या नजर के समक्ष रखें तो जीवन कितना बदल जायेगा ?

अध्यात्म, भावना, ध्यान, समता, वृत्तिसंक्षय - ये पांच प्रकार का योग हरिभद्रसूरिजी ने बताया है। प्रारम्भ अध्यात्म से हुआ है।

तत्त्व-चिन्तन करना अध्यात्म है। किसका तत्त्व-चिन्तन ?

आगम के आधार पर तत्त्व-चिन्तन करना चाहिये। वह चिन्तन मैत्री आदि से युक्त होना चाहिये, तथा जीवन में विरति होनी चाहिये।

जैन-दृष्टि से यह अध्यात्म है।

निष्णात एवं विशेषज्ञ वैद्य समस्त रोगों का उपचार एक औषधि से करता है। उस प्रकार भगवान हमारे भव-रोग का उपचार एकही औषध से करते हैं। वह औषध है : अध्यात्म !’

♦ ♦ ♦ ♦ ♦



बीकानेर प्रसंग, वि.सं. १०५१

३१-१०-१९९९, रविवार

का. व. ८

धर्म-कार्य में प्रोत्साहित करनेवाले ज्यों ज्यों बढ़ते हैं, त्यों त्यों वह अधिक फलदायक बनता है। मजदूर लोग भारी शिला अथवा चट्टान मुंह से आवाज कर-करके चढ़ाते हैं, युद्ध में सैनिक भी रण-भेरी सुनकर जोश में आ जाते हैं, उस प्रकार भाविकगण भगवान के वचन सुनकर उत्साहित बनते हैं।

निष्णात वैद्य देह की शुद्धि-पुष्टि करता है, उस तरह छः आवश्यक भी आत्मा की शुद्धि-पुष्टि करते हैं।

साधु का धन ज्ञान है। गृहस्थ धन उपार्जन करने के लिए कितना श्रम करते हैं ? उससे भी अधिक परिश्रम ज्ञान उपार्जन करने के लिए साधु करते हैं। ज्ञान, श्रद्धा आदि ही साधु का धन है। विद्या का लालची बनना बुरा नहीं है।

❖ धन साथ नहीं आता, ज्ञान भवान्तर में भी साथ आयेगा। बाकी याद रखें कि दांतों में लगा हुआ सोना भी लोग निकाल लेंगे।

चंचल लक्ष्मी के लिए इतना समय (समय ही जीवन है) बिगाड़ने की अपेक्षा अमर लक्ष्मी के लिए प्रयत्न करना

ही श्रेयस्कर है ।

✿ स्वाध्याय से होनेवाले लाभ :

आत्महित का ज्ञान, अहित से निवृत्ति ।

लाभ-हानि व्यापारी जानता है उस प्रकार साधु आत्मा का हित-अहित जानते हैं ।

हिंसा, असत्य आदि अहितकर हैं । अहिंसा, सत्य आदि हितकर हैं । इतनी बात निरन्तर दृष्टिगत रखकर साधु को जीवन जीना है ।

छः जीव निकाय में स्व आत्मा का दर्शन न हो तब तक दीक्षा ग्रहण करने के लिए योग्यता उत्पन्न हुई नहीं गिनी जायेगी । इसीलिए बड़ी दीक्षा से पूर्व चार अध्ययन सीखने आवश्यक हैं ।

✿ समाधि अर्थात् चित्त की प्रसन्नता ।

विनय, श्रुत, तप एवं आचार से चित्त की प्रसन्नता बढ़ती है, इसीलिए दशवैकालिक में उन्हें समाधि कहा है - विनय - समाधि, श्रुतसमाधि आदि । विनय समाधि का कारण है अतः विनय-समाधि । गुरु का विनय नहीं करने वाले कूलवालक, गोशालक क्या समाधि प्राप्त कर सकते हैं ?

विनय का फल समाधि है ।

अविनय का फल है संयम से पतन ।

विद्या से नहीं, विनय से मनुष्य की शोभा बढ़ती है । अविनीत धनाढ्य भी सुशोभित नहीं होता । विनय न हो तो धीमंत (बुद्धिमान) भी सुशोभित नहीं होता । सभी गुण विनय के साथ हो तो ही सुशोभित होते हैं ।

✿ जिसे चारित्रनिष्ठ बनना हो उसे नित्य स्वाध्याय करना ही है । ज्ञान के महत्त्व के लिए ही बीस-स्थानक में तीन स्थान ज्ञान के लिए बताये हैं । ज्ञानसार में ज्ञान, विद्या, अनुभव ये तीन अष्टक ज्ञान के लिए हैं ।

नये-नये भाव जानने से स्वाध्याय में मग्न मुनि का चित्त प्रसन्न होता रहता है ।

कमाई के समाचार प्राप्त होने पर आप प्रसन्न होते हैं, उस प्रकार ज्ञानी ज्ञान-वृद्धि से प्रसन्न होते हैं ।

ज्ञान से श्रद्धा बढ़ती है । जानने के बाद उस पदार्थ पर अपना

विश्वास अत्यन्त सुदृढ होता जाता है ।

स्वाध्याय से अनुप्रेक्षा शक्ति बढ़ती है । एक शब्द के अनेक अर्थ बताने की शक्ति बढ़ती है ।

✽ अन्य दार्शनिकों को प्रभु के आगम नहीं मिले हैं, फिर भी वे एक प्रभु के नाम पर कितने गर्वोन्नत हैं ?

हम अभी तक प्रभु के नाम की महिमा समझे ही नहीं है ।

भगवान् कितने उदार हैं ? मोक्ष में गये तो भी नाम छोड़कर गये । आप अपना प्रतिष्ठित नाम क्या किसी को उपयोग करने के लिए देते हैं ? आपको सन्देह है कि कहीं वह नाम पर उल्ट-सीधा कर डालेगा । भगवान् ने अपना नाम उपयोग करने की छूट दी है ।

✽ छः माह में चौथाई गाथा कण्ठस्थ होती हो तो भी नया अध्ययन करने का उद्यम छोड़ें नहीं, ऐसा ज्ञानी कहते हैं । हम में ऐसा तो कोई भी नहीं होगा जो छः महिनों में चौथाई गाथा भी कण्ठस्थ नहीं कर सके ।

‘बारसविहंमि वितवे, सर्बिभतर - बाहिरे कुसलदिदु ।

नवि अत्थि नवि होही, सज्झाय समं तवोकम्पं ॥’

भगवान् के द्वारा प्ररूपित बारहों प्रकार के तप में स्वाध्याय के समान कोई तप है ही नहीं और होगा नहीं ।

अध्यात्म गीता

‘द्रव्य सर्वना भावनो, जाणग पासग एह,
ज्ञाता, कर्ता, भोक्ता, रमता परिणति गेह ।

ग्राहक रक्षक व्यापक, धारक धर्म समूह,
दान, लाभ, भोग, उपभोग, तणो जे व्यूह ॥’

हमारे स्वयं के घर में कितनी समृद्धि भरी है, जो यहां जानने को मिलता है । शरीर के विषय में हम सब जानते हैं, परन्तु आत्मा के विषय में हम कुछ नहीं जानते ।

आत्म-रमणी मुनि सर्व द्रव्यों के भाव को जानते हैं और देखते हैं और जानकर प्रत्येक गुण को प्रवृत्ति करते हैं, जैसे आप दुकान के नौकरों को प्रवृत्ति करते हैं ।

अपनी स्वयं की ही शक्तियों का ज्ञान नहीं होने से हमने

उन्हें अन्य कार्यों में लगा दी । आपके पुत्र को आप दूसरे की दुकान पर कार्य कराके क्या दूसरे को कमाई करने दोगे ? हम ऐसा ही करते हैं । हम आत्म-शक्ति का प्रयोग कर्म-बन्धन में ही करते हैं ।

आत्मरतमुनि...

ज्ञान के द्वारा जानते हैं, देखना - दर्शन

दर्शन के द्वारा देखते हैं, जानना - ज्ञान

चारित्र के द्वारा रमण करते हैं, जीते हैं; जीना... चारित्र ।

आत्मा की दान, लाभ, भोग, उपभोग एवं वीर्य - इन पांच शक्तियों को (जो पांच अन्तराय के नाश से उत्पन्न होती हैं) साधक काम में लगाता है ।

ज्ञानके लिए वीर्य-शक्ति काम में लगती है । वीर्य-शक्ति के लिए ज्ञान काम में लगता है, इस प्रकार आत्मगुण परस्पर सहायक बनते हैं ।

मुनित्व आत्मगुण प्रकट करने के लिए है ।

मुनि का ही यह विषय है और वही यदि यह न कर सके तो कौन करेगा ?

पदवी के लिए स्थान-निर्णय की घोषणा :

आज पदवी के प्रसंग हेतु भद्रेश्वर, वांकी, आधोई, मनफरा, कटरिया आदि स्थानों से विनतियां आई हैं । यह पदवी का प्रसंग दक्षिण में होने वाला था । ए. डी. महेता ने वहां कई बार कहा था, 'आप वहीं दक्षिण में ही पदवी दे दें ।'

परन्तु मेरा विचार यह कि जिस भूमि के प्रति लगाव है, जिनका प्रेम मिला है, उस कच्छ की भूमि को कैसे भूलें ? इसीलिए मैंने उन्हें अप्रसन्न करके भी पदवी का प्रसंग कच्छ के लिए सुरक्षित रखा ।

आप सब मिलकर एक स्थान तय कर देते तो बहुत अच्छा होता, परन्तु वह सम्भव नहीं हुआ । आपने मुझ पर डाला । मेरा स्वभाव है कि मैं भगवान पर डालूं ।

मैं जो निर्णय सुनाऊं, उसका आप स्वागत करना, नाराज मत होना ।

सभी लोग बारह नवकार गिनो (बारह नवकार के बाद) स्थान

के लिए निर्णय ही मुझे करना है ।

‘वांकी’ नगर में यह प्रसंग मनाया जायेगा । दोनों समाजों के नाम यथावत् रहेंगे । (समस्त संघों ने समर्थन किया, उसके बाद वांकी से मनफरा संघ की विनती हुई)

वांकी का निर्णय हमने इसलिए लिया कि सबको अपना लगे । कच्छ की प्रजा के साथ संबंध बना रहे, अतः यह निर्णय लिया गया है । ‘मनफरा’ भी पूज्य जीतविजयजी दादा गुरु की जन्मभूमि है । प्राचीन प्रतिमा है, अतः आपकी विनती का हम आदर करते हैं ।

चातुर्मास (वर्षावास) का निर्णय मार्गशीर्ष शुक्ला ५ को होगा ।

• • • • •

बनेय पुस्तको मळ्या छे. दाद मांगी ले तेवी महेनत करी
छे आवरण तथा अंतरंग - उभय दृष्टिऐ ऊडीने आंखे वळगे ने
अंतरमां वसे तेवुं प्रकाशन थयुं छे.

तमारे श्रम धन्यवादने पात्र छे.

- विजय महाबलसूरि - पुण्यपालसूरि

- मुनि भव्यभूषणविजय

पुना.



काकद्वार (नेखेर) तीर्थ प्रतिष्ठा, वि.सं. २०५२

१-११-१९९९, सोमवार
का. व. ६

✽ प्राप्त हुए जिन-शासन की विधिपूर्वक आराधना करने से कर्म-शुद्धि शीघ्र होती है और आत्मा शीघ्र मोक्षगामी बनती है ।

✽ 'समयं गोयम मा पमायए' इस प्रकार भगवान गौतम स्वामी को कहते थे । कोई यह भी समझ बैठे कि गौतम स्वामी अत्यन्त प्रमादी होंगे । अतः भगवान को उन्हें बार-बार यह कहना पड़ता होगा । नहीं, गौतमस्वामी के माध्यम से भगवान का अखिल विश्व को सन्देश है कि ऐक क्षण भी प्रमाद करने योग्य नहीं है ।

शरीर के प्रति इतना मोह है कि उसके लिए किया गया प्रमाद, प्रमाद लगता ही नहीं, जरूरी लगता है । प्रमाद अनेक रूप में हमे घेर लेता है । कभी निवृत्ति के रूप में तो कभी प्रवृत्ति के रूप में भी आ धमकता है । निवृत्ति (नींद आदि) को तो सभी प्रमाद मानते हैं, परन्तु जैन दर्शन तो प्रवृत्ति को भी प्रमाद मानता है । विषय-कषायों से युक्त कोई भी प्रवृत्ति प्रमाद है । संसार भले ही उसे उद्यमी कहता हो, अप्रमत्त कहता हो अथवा कर्मवीर कहता हो, परन्तु जैन-दर्शन की दृष्टि में विषय-कषायों से की जानेवाली कोई भी प्रवृत्ति प्रमाद ही है ।

✿ स्वाध्याय से सात महान् लाभ :

१. आत्महित का ज्ञान ।
२. पारमार्थिक भाव संवर ।
३. नवीन जानने से अपूर्व संवेग बढ़ता है ।
४. निष्कम्पता आती है ।
५. उत्कृष्ट तप होता है ।
६. कर्मों की निर्जरा होती है ।
७. परोपदेश शक्ति आती है ।

✿ स्वाध्याय उपयोग युक्त होना चाहिये । तोता रटन नहीं चलता । उपयोगपूर्वक यदि आप मुहपत्ति के ५० बोल भी बोलें तो भी काम हो जाये । मैं कहता हं कि केवल एक ही बोल पर चिन्तन करो ।

‘सूत्र, अर्थ, तत्त्व करी सद्वृत्त ।’

यदि इस पर आप सोचेंगे तो प्रतीत होगा कि समग्र जैनशासन इस में समाविष्ट है ।

आप यह न मानें कि केवल बाह्य क्रियाओं से, निष्प्राण क्रियाओं से मोक्ष मिल जायेगा, उन में प्राण भरने पड़ेंगे ।

‘अध्यात्म विण जे क्रिया, ते तनु मल तोले;

ममकारादिक योगथी, एम ज्ञानी बोले.’

अध्यात्म-रहित क्रिया अर्थात् देह के उपर का मैल । ऐसी शुष्क क्रियाओं का भी अभिमान कितना ? ‘मेरे समान किसी की क्रिया नहीं !’

✿ भगवान को परोपकार का व्यसन होता है जो कुछ दृष्टान्तों से ज्ञात होगा ।

इनकार करने पर भी भगवान चंडकौशिक को प्रतिबोध देने गये । उन्होंने शूलपाणि, हालिक आदि को प्रतिबोध दिया । संगम को प्रतिबोध नहीं दे सकने के कारण अश्रु छलकाये ।

भगवान ऐसे परार्थ-व्यसनी हैं, हम कैसे हैं ?

✿ सच्चा ज्ञान वही है जो गुप्ति से गुप्त एवं समिति से समित बनाये ।

तीन गुप्तियों में मनोगुप्ति सर्वाधिक कठिन है । मन बन्दर से

भी चपल है ।

आंख आदि इन्द्रियों के द्वारा मन चंचल बनता है । अतः मन वश में करने पर विजयी होना जरूरी है ।

योगशास्त्र में...

प्रथम इन्द्रियों पर विजय ।

फिर कषायों पर विजय ।

उसके बाद मनोजय, यह क्रम बताया है ।

पूज्य कनकसूरिजी ने हमें संस्कृत की दो बुकें, छः कर्मग्रन्थ तक के अध्ययन के बाद वैराग्य-शतक, इन्द्रिय पराजय शतक इत्यादि पढ़ने की प्रेरणा दी थी । उनकी धारणा यह थी कि जितेन्द्रिय बने वही साधक बन सकता है ।

पं. भद्रंकरविजयजी महाराज कई बार कहते - 'तुम्हें क्या बनना है ?' विद्वान या आराधक ? गीतार्थ बनना ।' यह उनका मुख्य स्वर था । गीतार्थ बनने के लिए जितेन्द्रिय बनना पड़ता है ।

यह बात सामने रखकर ही कहा गया है कि त्रिगुप्ति गुप्त मुनि एक क्षणभर में इतनी कर्म-निर्जरा कर लेता है जो अज्ञानी करोड़ों वर्षों में भी नहीं कर सकता ।'

आज ही भगवती के पाठ में आया है 'कात्यायन गोत्रीय स्कंधक भगवान महावीर से दीक्षा ग्रहण करता है और भगवान स्वयं ही उसे कैसे चलना, खाना, पीना, बोलना, सोना इत्यादि की शिक्षा देते हैं । यह समस्त समिति एवं गुप्ति की ही शिक्षा है ।

✧ तीनों योगों में कोई भी गड़बड़ी हुई हो उसके लिए हम -

सव्वस्सवि देवसिय

दुच्चितिय - मन का पाप

दुब्भासिय - वचन का पाप

दुच्चिद्धिय - काया का पाप

मिच्छामि दुक्कडं ।

यह सूत्र बोलते हैं ।

इस सूत्र में पूरा प्रतिक्रमण समाया हुआ है, ऐसा कहें तो भी चले ।

अध्यात्म गीता :

संग्रहे एक आया वखाण्यो,

नैगमे अंशथी जे प्रमाण्यो,

विविध व्यवहार नय वस्तु विहंचे,

अशुद्ध वली शुद्ध भासन प्रपंचे ॥

आज नय, निक्षेप, प्रमाण इत्यादि का ज्ञान अत्यन्त ही कम रहा है । पू. देवचन्द्रजी इस ज्ञान के तलस्पर्शी अभ्यासी है ।

संग्रह नय से आत्मा एक है ।

नौ तत्त्वों में १, २, ३, ४, ५, ६ प्रकार से आत्मा बताई है । अपेक्षा बदलने के साथ भेद भी बदल जाते हैं । भिन्न-भिन्न स्थानों से भिन्न-भिन्न दृश्य दृष्टिगोचर हो, उस प्रकार भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से भिन्न-भिन्न भेद प्रतीत होते हैं ।

जैन दर्शन की अच्छी तरह समझना हो उसे अपेक्षा समझनी ही पड़ेगी । कौनसी बात किस अपेक्षा से कही गई है ? जो यही नहीं जानता है वह पाट पर क्या बोलेगा ?

नयवाद अर्थात् अपेक्षावाद ।

नय अर्थात् दृष्टिकोण ।

नैगमनय अंश से आत्मा मानता है ।

व्यवहारनय जीवों के विभाग करता है ।

यदि सब एक ही हैं तो साधना की आवश्यकता ही क्या है ? भक्त एवं भगवान, गुरु एवं शिष्य, सिद्ध एवं संसारी ऐसे भेद किस लिए हैं ?

यह व्यवहार का तर्क है ।

उस की अपेक्षा से यह तर्क सही है ।

मैत्री आदि भावनाओं के लिए संग्रहनय को आगे करें ।

पालन में व्यवहार नय एवं

हृदय में निश्चय नय अपनाये वह नयवाद समझा हुआ कहा जायेगा ।

घर की वृद्धा सब को एक समान नहीं परोसती । जिसको जितना हजम हो, अनुकूल हो वह और उतना ही देती है । उसी तरह भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के लिए भिन्न-भिन्न नयों का आश्रय लेना है ।

व्यवहार नय का कार्य भेद करने का है ।

कोई भी वस्तु अनन्त धर्मात्माक (धर्म अर्थात् गुण) है, यह जैन दर्शन की मान्यता है ।

किसी एक धर्म को आगे करके, अन्य धर्म को गौण करके, जो व्याख्या की जाये वह 'नय' है ।

बोलते समय कोई सभी धर्म एक साथ नहीं बोले जा सकते । तीर्थंकर भी एक साथ सब नहीं बोल सकते, परन्तु गौण एवं मुख्यतापूर्वक क्रमशः बोलते हैं ।

वाणी सदा एक ही दृष्टिकोण को एक साथ प्रस्तुत कर सकती है । शब्दों की यह मर्यादा है । यह मर्यादा नहीं समझने से ही अनेक मतभेद खड़े होते रहते हैं ।

♦ ♦ ♦ ♦ ♦

अपार्थिव आस्वाद

भव्यात्मन् ! भोजनना षड्रस पौद्रलिक पदार्थो जीह्वाना स्पर्श
वडे सुखाभास उत्पन्न करे छे. कंठ नीचे उतरी गया पछी तेनो स्वाद
चात्यो जाय छे, ज्यारे आत्मायां रहेलो स्वयं शांतरस सर्वदा सुख
आपनारो छे. तेमां पौद्रलिक पदार्थोनी जरुर रहेती नथी. ते आत्मायां
छूपायेतो छे. आत्मा वडे ज प्रगट थाय छे.



२-१०-१९९९, मंगलवार
का. व. १०

✽ स्वाध्याय का सातवां फल परोपदेश - शक्ति है ।

हमने स्वयं ने शास्त्रों का गहन अध्ययन किया हो, ज्ञान के फल उपशम से स्व-आत्मा को भावित किया हुआ हो तो ही पर-उपदेश के लिए क्षमता प्राप्त कर सकेंगे और हमारा उपदेश प्रभावशाली बन सकेगा ।

ऐसा साधक जहाज की तरह स्वयं भी पार होगा और दूसरों को भी पार करेगा ।

तीर्थकर इसके उत्तम उदाहरण है ।

✽ माता-पिता की सेवा करने वालों को उनकी सम्पत्ति प्राप्त होती है, तो भगवान की भक्ति करनेवालों को क्या भगवान की सम्पत्ति प्राप्त नहीं होगी ? माता-पिता की सम्पत्ति शायद न भी प्राप्त हो, परन्तु भगवान की सम्पत्ति तो अवश्य ही प्राप्त होगी ।

✽ कोई भी ज्ञान पास रखने के लिए नहीं होता, दूसरों को देने के लिए ही होता है । यदि दूसरों को नहीं दोगे तो उस ज्ञान को जंग लग जायेगा ।

धन नहीं देनेवाला कृपण (कंजूस) गिना जाये तो ज्ञान नहीं देनेवाला क्या कृपण नहीं गिना जायेगा ? दूसरों को देने से ही अपना ज्ञान बढ़ता है ।

कहे कलापूर्णसूरि - १ ***** ४८९

अध्ययन करने के लिए आनेवाले को अध्यापन करनेवाला दुत्कारे नहीं; वात्सल्यपूर्वक अध्ययन कराये ।

ऐसा करने से अखण्ड परम्परा चलती है ।

मैं यदि अपने शिष्यों को पढाउंगा तो वे भी अपने शिष्यों-प्रशिष्यों को पढायेगें, इस प्रकार परम्परा चलेगी ।

सिद्धि के बाद यह बताने के लिए ही विनियोग बताया है ।

प्रणिधान, प्रवृत्ति, विघ्नजय एवं सिद्धि तक पहुँचने के बाद भी यदि विनियोग नहीं आया तो ज्ञान सानुबन्ध नहीं बनेगा, भवान्तर में साथ नहीं चलेगा ।

यदि कोई पढनेवाला (अध्ययन करनेवाला) नहीं है तो सामने से बुलाकर पढाओ ।

पुष्प खिलने के बाद महक (सुगन्ध) फैलाते हैं, उसी तरह पढने के बाद आप ज्ञान की सुगन्ध फैलायें । यह विनियोग से ही सम्भव है ।

तीर्थ की परम्परा इस प्रकार ही चलेगी । जैन-शासन की चलती अखण्ड परम्परा में हम थोड़ा भी निमित्त बनें, ऐसा अहो भाग्य कहां से ?

बीज कायम रहना चाहिये, बीज होगा तो वृक्ष स्वतः ही मिल जायेगा, श्रुतज्ञान बीज है ।

छोटी उम्र के अनेक साधु-साध्वीजी यहां हैं । यह सुनकर पढने-पढाने में आगे बढ़ोगे कि सन्तोषी बनकर बैठे रहोगे ? यहां सन्तोषी बनना अपराध है ।

परन्तु ज्ञान अभिमान उत्पन्न न करे यह भी देखना है । इसके लिए भक्ति साथ में रखें ।

‘जेम जेम अरिहा सेविये रे, तेम तेम प्रकटे ज्ञान.’

धन कमाने के बाद उसकी सुरक्षा करना कितना कठिन है, यह किसी अनुभवी को पूछोगे तो पता लगेगा । क्यों दिनेशभाई ! सच है न ? थोड़ी सी गफलत में रहे कि धन गायब !

ज्ञान में भी ऐसा ही है । ज्ञान प्राप्त करने के बाद उसे टिकाना कठिन है । ज्ञान को टिकाना हो तो दूसरों को पढाओ । दूसरों को पढाओगे तो पुनः आप ही पढोगे । आपका ज्ञान सुरक्षित होगा । मैं वाचना आदि

में जो बातें कहता हूं वे टिकती हैं, अन्य चली जाती हैं ।

यहां हम ११० साधु-साध्वी हैं । पन्द्रह-बीस वृद्धों को एक ओर रखें तो अन्य तो पढ़ सकते हैं, पढ़ा सकते हैं न ?

इस प्रकार जो पढ़ते-पढ़ाते हैं, उन्हें क्या मिलता है, जानते हो ? वे तीर्थकर नाम-कर्म भी बांध सकते हैं, ऐसा हरिभद्रसूरिजी कहते हैं ।

❖ गुरु की भक्ति नहीं करोगे तो भगवान नहीं मिलेंगे । भगवान से मिलाप करनेवाले गुरु हैं ।

गुरु के प्रभाव से ही परम गुरु का योग होता है ।

पंचसूत्र में कहा है -

‘गुरु-विणओ मोक्खो ।’

योग दृष्टि समुच्चय में कहा है -

गुरु-भक्ति के प्रभाव से तीर्थकरों के दर्शन होते हैं ।

आयपरसमुत्तारो आणावच्छद्दीवणाभत्ती ।

होइ परदेसिअत्ते अव्वोच्छिन्ती य तित्थस्स ॥ ५६५ ॥

एत्तो तित्थयरत्तं सब्वन्नुत्तं च जायइ कमेणं ।

इअ परमं मोक्खंगं सज्झाओ होइ णायव्वो ॥ ५६६ ॥

- पंचवस्तुक

अध्यात्म गीता :

नैगम नय अंश से भी पूर्ण मानता है ।

आठ प्रदेश शुद्ध हैं अतः समस्त जीव शुद्ध हैं ।

व्यवहारनय भेद करता है । सिद्ध शुद्ध है । संसारी अशुद्ध हैं ।

अशुद्ध के भी भेद ।

‘अशुद्धपणे पण-सय तेसठी भेद प्रमाण,

उदय-विभेदे द्रव्यना भेद अनन्त कहाण;

शुद्धपणे चेतनता, प्रगटे जीव विभिन्न,

क्षयोपशमिक असंख्य, क्षायिक एक अनन्त ॥ ५ ॥

५६३ के अतिरिक्त आगे बढें तो अशुद्ध जीवों के अनन्त भेद भी हो सकते हैं ।

शुद्धता से भी अनेक प्रकार से चेतनता प्रकट होती है, उसमें मुख्य दो प्रकार हैं : (१) क्षायोपशमिक एवं (२) क्षायिक । क्षायिक एक ही है और क्षायोपशमिक असंख्य है ।

‘नामथी जीव चेतन प्रबुद्ध, क्षेत्रथी असंख्य प्रदेशी विशुद्ध ।
द्रव्यथी स्व-गुण पर्याय पिण्ड, नित्य एकत्व सहज अखंड ॥६॥

नाम से जीव, चेतन आदि कहलाता है,

क्षेत्र से स्व-गुण-पर्याय का पिण्ड कहलाता है ।

भाव से नित्य, एक, सहज स्वभावी एवं अखण्ड कहलाता है ।

नय के सात भेद भी हो सकते हैं ।

सातसौ भेद भी हो सकते हैं ।

परन्तु मुख्य दो भेद हैं -

१. द्रव्यार्थिक नय; द्रव्य (मूल पदार्थ) से सम्बन्धित सोचे वह ।

२. पर्यायार्थिक नय; पदार्थों में होने वाले परिवर्तन - अवस्था सोचे वह ।

काला, गौरा इत्यादि अवस्था पर्याय कहलाती हैं ।

द्रव्यार्थिक नय के चार भेद : नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र ।

पर्यायार्थिक नय के तीन भेद : शब्द, समभिरूढ और एवंभूत ।

प्रश्न - चार प्रकरण आदि का अध्ययन होता है, उस प्रकार नय का अध्ययन नहीं होता ।

उत्तर - अध्ययन ग्रन्थ तैयार करो, मैं सहायता करूंगा ।

‘तत्त्वज्ञान प्रवेशिका’ इसी प्रकार से तैयार हुई थी । जामनगर के चातुर्मास में प्रारम्भ हुआ था । जामनगर में, जो पदार्थ सीखे, वे दूसरों को सिखाता हूँ । एक महिना कहीं रुकूँ तो भी श्रावकों को सिखाता हूँ ।

अंजार के चातुर्मास में ऐसा पाठ शुरू किया था । यु. पी. देढिया प्रतिदिन दूर से आते । उन्हें वह अत्यन्त पसन्द आया । उस समय (वि. संवत् २०२३) पैतीस हजार रूपयों में दस हजार प्रतियां छपवाई थी ।

प्रथम पुस्तक - तत्त्वज्ञान प्रवेशिका ।

द्वितीय पुस्तक - यह अध्यात्म गीता ।

नय का ज्ञान नहीं हो तो आगम के रहस्य ही नहीं समझ में आयेंगे ।

अन्त में इन नयों के ज्ञान के द्वारा मुनि कैसे बनते हैं ? यह बतायेंगे ।

• • • • •



भारतीय - भद्र - बाकी प्र 'ह' पालक संघ

वि. सं. १९४६, कलकत्ता

३-११-१९९९, बुधवार

का. व. ११

✽ ज्ञान अपना स्वरूप है । उसे क्षणभर भी कैसे छोड़ा जा सकता है ? स्वरूप हमें छोड़ेगा नहीं यह सच है, परन्तु जब तक मिथ्यात्व बैठा है, तब तक अज्ञान ही कहा जायेगा ।

✽ व्यवहार से जीवों के ५६३ भेद समझे हैं, निश्चय से समझना बाकी है ।

प्रथम से ही निश्चय की बात की जाये तो कानजी मत की तरह दुरुपयोग हो सकता है । सातवे गुणस्थानों की बातें बालजीवों के समक्ष प्रस्तुत की गई और उन्हें कहा गया - 'यह क्रियाकाण्ड व्यर्थ है ।'

नयों का दुरुपयोग होने की सम्भावना से ही उसकी बात गौण की गई है ।

परमात्मा के समान ही अपना स्वरूप है, इस नैश्चयिक बात का भी दुरुपयोग हो सकता है ।

✽ स्वाध्याय आदि विधिपूर्वक करने हैं । अविधि से हों तो मूर्खता होगी । रोग आदि भी हो सकते हैं । रुष्ट हुए देव उपद्रव कर सकते हैं ।

कहे कलापूर्णसूरि - १ ***** ४९३

प्रश्न : अभी कुछ ऐसा दिखता नहीं है ।

उत्तर : स्वाध्याय ही छोड़ दिया, फिर क्या दिखेगा ?

वस्त्र पहनने ही छोड़ दिये हों उसके वस्त्र क्या मैले होंगे ?
क्या फटेंगे ?

अविधि से किये गये स्वाध्याय आदि से रोग आदि तो आते ही हैं, वह भविष्य में चारित्र-धर्म से भ्रष्ट भी हो सकते हैं । इससे अधिक क्या हानि होगी ?

❖ विषय - कषाय संसार है ।

सामायिक संसार से पार है ।

सामायिक तीन प्रकार के हैं - सम्यक्, श्रुत एवं चारित्र ।

सामायिक गया तो सब गया ।

एकबार 'सर्वज्ञ कथित सामायिक धर्म' पुस्तक तो पढ़िये ।
सामायिक से सम्बन्धित पूरी सामग्री उसमें गुजराती में है ।

अब उस पर भी वाचना रखनी पड़ेगी ।

❖ लघु - जघन्य ।

गुरु - मध्यम ।

गुरुतर - उत्कृष्ट

अविधि के ये तीन दोष कमशः जानें । थोड़ी अविधि हो जाय तो उन्माद, रोग आदि थोड़े प्रमाण में होते हैं । अविधि बढ़ने पर उन्माद आदि की भी वृद्धि होती जाती है ।

उत्तराध्ययन आदि सूत्र पर्याय के अनुसार किये जाते हैं ।

पढ़नेवाले और पढ़ानेवाले दोनों अखण्ड चारित्रवान् होने चाहिए ।

प्रश्न - यहां पुनः योग्यता की बात क्यों लाये ? दीक्षार्थी की योग्यता के समय योग्यता की बात आ गई ।

उत्तर - दीक्षा ग्रहण करने के बाद भी भाव गिर सकते हैं । दीक्षा ग्रहण करने के समय धोखा हो गया हो । संसार से उसे शीघ्र छूटना हो, अतः दोष छिपाकर रखे हों, फिर उनका पता लगता है ऐसा भी होता है । ऐसे अयोग्य व्यक्तियों को सूत्र आदि नहीं दिये जा सकते ।

प्रवज्या दी हो तो मुण्डन नहीं होता । मुण्डन हो गया हो तो बड़ी दीक्षा नहीं दी जाती ।

जिन वचनों के विपरीत चलकर जो शिष्यों के लोभ से अयोग्य को दीक्षित करे वह गुरु चारित्रवान एवं तपस्वी हो तो भी वह स्व-चारित्र खोता है । अन्य व्यक्ति पर उपकार करने तो गये, पर वह तो हो नहीं सका, स्व-उपकार भी गया ।

चमार, भील, ढेढ (मेघवाल) आदि अकुलीन दीक्षा के लिए निषिद्ध हैं फिर भी लोभ-वश दीक्षा दी जाये तो गुरु का भी चारित्र नष्ट होता है । ऐसे व्यक्ति को बड़ी दीक्षा दी जाय तो आज्ञा-भंग, मिथ्यात्व, अनवस्था एवं विरधना आदि सब दोष लगते हैं ।

बड़ी दीक्षा के बाद पता लगे तो मांडली में प्रवेश नहीं दिया जाय । संवास नहीं करना । यदि संवास हो जाय तो पढ़ाना नहीं ।

जिस प्रकार असाध्य रोग मालूम हो जाने के बाद वैद्य उपचार नहीं करता । ऐसे रोगी की उपेक्षा करके उसका बहिष्कार करना ही उपचार है ।

अध्यात्म गीता :

ऋजु सुइए विकल्प, परिणामी जीव स्वभाव,

वर्तमान परिणतिमय व्यक्ते ग्राहक भाव;

शब्द नये निज सत्ता, जोतो इहतो धर्म,

शुद्ध अरूपी चेतन, अणग्रहतो नव कर्म ॥ ८ ॥

ऋजुसूत्र विकल्प के रूप में वर्तमान परिणति को ग्रहण करता है ।

साधु-वेष हो परन्तु वर्तमान में साधु-भाव न हो तो ऋजुसूत्र उसे साधु नहीं मानता ।

‘इणि परे शुद्ध सिद्धात्मरूपी, मुक्त परशक्ति व्यक्त अरूपी;

समकिति देशव्रती, सर्व विरति, धरे साध्यरूपे सदा तत्त्व प्रीति ॥ ९ ॥’

वीर्यशक्ति सत्ता में है, परन्तु व्यक्तरूप में वह दृष्टिगोचर नहीं होती ।

सम्यग्दृष्टि, देश एवं सर्वविरतिधर, साध्यरूप तत्त्वों के प्रति प्रीति रखते हैं ।

समकित्ती को आत्मसत्ता का ध्यान होता है, क्योंकि स्वसत्ता का ध्यान आने पर ही समकित आता है ।

एकबार मालूम हो जाये कि घर में खजाना गड़ा हुआ है तो स्वाभाविक है कि मनुष्यों को उससे बाहर निकालने की इच्छा हो ।

आत्मा के भीतर अनन्त ऐश्वर्य विद्यमान है । इसका पता लगते ही उसे प्राप्त करने की उत्कण्ठा होती है । यह उत्कण्ठा ही सम्यक्त्व है ।

नाम या रूप अपने नहीं है, पराये हैं । हम फोटो या नाम का प्रचार करते हैं, परन्तु वे सब 'पर' हैं ।

नाम तो केवल संकेत के लिए है । एक नाम वाले अनेक व्यक्ति होते हैं, फिर भी अपने नाम के लिए हम कितने लड़ते हैं ?

आपके पड़ोसी को कोई व्यक्ति गालियां दे जाये तो क्या आप क्रोधित होओगे ?

नाम एवं रूप हमारे पड़ोसी हैं । हमारी आत्मा तो भीतर बैठी है; नाम एवं रूप से पर !

नाम एवं रूप तो अपने पड़ोसी है । उनका अपमान होने पर झगड़ा करें वह हमारे लिए शोभनीय नहीं है ।

भीतरी ऐश्वर्य को प्रकट करने की रुचि समकित है । उसके लिए उपायों में आंशिक प्रवृत्ति करना देशविरति है और सर्व शक्तिपूर्वक प्रवृत्ति करना सर्व विरति है ।

१. नैगम : जिसके अनेक गम-विकल्प हों वह ।

संकल्प, आरोप एवं अंश को ग्रहण करे वह ।

१. संकल्प : लकड़ी की पाईली (अनाज नापने का एक लकड़ी का साधन) बनाने के उद्देश्य से कोई जंगल में लकड़ी काटने के लिए जायेगा, परन्तु कहेगा 'मैं पाईली लेने जा रहा हूं ।'

पालीताना संघ का प्रथम पड़ाव है, फिर भी हम कहते हैं - हम पालीताना जाते हैं ।

आपको मोक्ष की इच्छा हो गई । बस, नैगमनय कहेगा - यह मोक्ष का यात्री है

२. आरोप : उदाहरणार्थ आज भगवान का निर्वाण कल्याणक है । यहां भूतकाल का वर्तमान में आरोप हुआ है ।

३. अंश : आठ रुचक प्रदेश ही खुले हैं, फिर भी आत्मा पूर्ण-स्वरूपी माना जायेगा । मनफरा के चार आदमी ही आये, फिर भी कहा जायेगा कि पूरा मनफरा आया । रसोई शुरू ही हुई है फिर भी कहा जायेगा कि रसोई हो गई ।

२. संग्रह : वस्तु के सामान्य धर्म का संग्रह ही संग्रह है ।

संगृहणाति वस्तु सत्तात्मकं सामान्यं सः संग्रहनयः ।

* * * * *



प्रवचन में मुनि-गण, वांछी (कच्छ), वि.सं. २०५५

४-११-१९९९, गुरुवार

का. व. ११

❖ भगवान ने श्रावकों एवं साधुओं के दो धर्म इसलिए बताये हैं कि सभी यथाशक्ति धर्माश्रयना करें। कोई शक्ति से अधिक करके विराधना करके पाप का भागीदार न बने।

❖ भगवान द्वारा प्ररूपित अनुष्ठान करते समय भगवान याद आने चाहिये। गुरु द्वारा कथित कार्य करते समय गुरु याद आते हैं उस प्रकार भगवान याद आने चाहिये। हम मानते हैं कि 'मुझ में क्षमता नहीं है, परन्तु गुरु के प्रभाव से मुझे सफलता मिलती है।' उस प्रकार भगवान के अनुष्ठानों में भी विचार करना चाहिये।

❖ भगवान जो अनुष्ठान बताते हैं वे मुक्ति-साधक ही होते हैं। जैन दर्शन में ऐसा एक भी अनुष्ठान देखने को नहीं मिलता जो संसार-वर्धक हो। हां, हेय के रूप में अवश्य देखने को मिलेगा। त्याग्य के रूप में न बताये तो त्याग भी कैसे होगा ?

❖ पाप का अभ्यास अनादिकाल का है।

पुन्य, संवर, निर्जरा का अभ्यास नया है।

इसीलिए इतना अधिक सुनने पर भी खास मोके पर यह सब भूल जाते हैं, आवेश में कुछ भी याद नहीं रहता। अनादि

कहे कलापूर्णमूरि - १ ***** ४९७

अभ्यस्त संस्कार हम पर सवार हो जाते हैं ।

और, मोक्ष में कहाँ हमें शीघ्र जाना है ? शान्ति से बैठे हैं । यदि मोक्ष में शीघ्र जाना हो तो सुविहित अनुष्ठानों में कितना वेग आयेगा ?

आप इतना अच्छी तरह समझ रखो कि मोक्ष-प्राप्ति में जितना विलम्ब होगा, दुर्गति के दुःख उतने अधिक होंगे ।

एक बार दुर्गति में जाने के बाद मानव बनकर ऐसी सामग्री मिलना हाथ की बात नहीं है ।

‘होगा, क्या उतावल (शीघ्रता) है ?’ ऐसे विकल्प कार्यों के मन में आते हैं, शूरी के मन में नहीं । धर्म का मार्ग शूरी का है ।

इस समय आठ कर्मों का उदय एवं सात कर्म का बंध चालु है । आयुष्य के समय आठ कर्मों का बंध होता है ।

कर्मों का आक्रमण हो रहा हो और हम निश्चिन्त बनकर नींद करते रहें तो कैसे चलेगा ? क्या सिर्फ बैठे-बैठे विजय प्राप्त हो जायेगा ? क्या नींद में पड़ा सैनिक विजयी बन जायेगा ?

शिस्त पालक सावधान सैनिक विजयश्री प्राप्त कर सकेगा, उस प्रकार सावधान साधक विजयमाला पहन सकता है । यहाँ प्रमाद नहीं चलता ।

❖ भले ही समस्त आगम-शास्त्र न पढ़ सकें, परन्तु अमुक रहस्यपूर्ण शास्त्र तो खास चाहिये ।

• प्रभुदास बेचरदास कृत ‘आनंदघन चौबीसी’ के अर्थों की पुस्तक देख लेना । उसमें पूरा नक्शा बताया है कि उसमें मार्गानुसारी से लगा कर अयोगी गुणस्थानक तक का विकासक्रम कैसे रखा हुआ है ?

ऐसी - ऐसी कृतियाँ तो कण्ठस्थ होनी चाहिये ।

❖ दो प्रकार की परिज्ञा है -

१. ज्ञपरिज्ञा : जानना... ग्रहणशिक्षा.

२. प्रत्याख्यान परिज्ञा : जीना... आसेवनशिक्षा.

❖ जिन गुणों का आप विनियोग नहीं करते, वे गुण भवान्तर में साथ नहीं चलेंगे । जो आप दूसरों को देते हैं वही आपका है ।

❖ १. प्रवज्या (रजोहरण (ओघा) देना)

२. मुण्डन

३. शिक्षा

४. उपस्थापना

५. सहभोजन

६. संवास (साथ रहना)

शिष्य अयोग्य जानने पर उत्तर-उत्तर के कार्य नहीं कराना, उसे उत्प्रवजित करना ।

❖ कितने वर्षों के पर्यायवाले को कौन सा सूत्र पढाया जाता है ?

तीन वर्ष के पर्यायवाले को - आचार प्रकल्प (निशीथ)

चार वर्ष के पर्यायवाले को - सूयगडंग (पहले तो आचारांग सूत्र बड़ी दीक्षा से पूर्व पढा लिया जाता था)

पांच वर्ष के पर्यायवाले को - दशा कल्प व्यवहार सूत्र (आज जो कल्पसूत्र के जोग चलते हैं वे ।)

आठ वर्ष के पर्यायवाले को - स्थानांग, समवायांग ।

दस वर्ष के पर्यायवाले को - व्याख्या प्रज्ञप्ति (भगवती)

ग्यारह वर्ष के पर्यायवाले को - खुड्डिया विमाण पविभक्ती, आदि पांच अध्ययन ।

बारह वर्ष के पर्यायवाले को - अरुणोववाई आदि पांच अध्ययन ।

१३ वर्ष के पर्यायवाले को - उत्थानश्रुत आदि
पांच अध्ययन ।

१४ वर्ष के पर्यायवाले को - आशीविष भावना ।

१५ वर्ष के पर्यायवाले को - दृष्टिविष भावना ।

१६ वर्ष के पर्यायवाले को - चारण भावना ।

१७ वर्ष के पर्यायवाले को - महासुमिण भावना ।

१८ वर्ष के पर्यायवाले को - तेओगिनिसगग ।

१९ वर्ष के पर्यायवाले को - बारहवां दृष्टिवाद ।

२० वर्ष के पर्यायवाले को - बिन्दुसार सहित सम्पूर्ण ।

शशिकान्तभाई : यह तो साधुओं का आया । साठ वर्ष से उपरवाले श्रावकों को क्या करना ?

पूज्यश्री : श्राद्धविधि, धर्म संग्रह भाग १, योगशास्त्र - चार प्रकाश, चार प्रकरण, तीन भाष्य, छः कर्मग्रन्थ, कम्पपयडी, पंचसंग्रह आदि बहुत हैं। जिसका निषेध नहीं है, वह तो पढो ! फिर यह समस्त आगम सुनने का तो अधिकार है ही। तुंगीया नगरी के श्रावक लद्धिअट्टा, गहिअट्टा कहे गये हैं। उन्हें ग्यारह अंगों के पदार्थ कण्ठस्थ होते थे। वहां जानेवाले साधुओं को भी विचार करना पड़ता था कि क्या उत्तर देंगे ?

शशिकान्तभाई ! आपके लिए समाधि शतक ग्रन्थ श्रेष्ठ है।

अध्यात्म गीता :

अध्यात्म का ज्ञान नहीं, अध्यात्म पूर्ण जीवन होना चाहिये तो ही आमूलचूल परिवर्तन होगा। बार-बार उसका अभ्यास करते रहें। गहन संस्कार पड़ेंगे।

जगत् की समस्त क्रियाओं में चैत्यवन्दन, देववन्दन, श्रावक-साधुओं के आचार सब से श्रेष्ठ अध्यात्म है।

जो आपको अपने स्वरूप की ओर ले जाये वह अध्यात्म है। विरति के बिना सच्चा अध्यात्म नहीं आ सकता। रुचि हो तो अविरति में बीज मात्र के रूप में अध्यात्म हो सकता है और वह अध्यात्म मैत्री आदि भावों से युक्त होना चाहिये।

यह 'अध्यात्म गीता' इसमें सहायक होगी।

★ जितना उपयोग स्वरूप में होगा, उतना कर्मबंध रुकेगा।

'समभिरुढ नय निरावरणी, ज्ञानादिक गुण मुख्य,

क्षायिक अनन्त चतुष्टयी भोगमुग्ध अलक्ष्य;

एवंभूते निर्मल सकल स्वधर्म प्रकाश,

पूरण पर्याये प्रगटे, पूरण शक्ति विलास ॥ १० ॥'

संग्रह नय स्थूल है। उसके बाद उत्तरोत्तर नय सूक्ष्म होते जाते हैं। एवंभूत नय सब से सूक्ष्म है। व्याख्या क्रमशः सूक्ष्म होती जाती है।

संग्रह नय या नैगम नय हमें कह दे कि 'तू सिद्धस्वरूपी है तो नहीं चलेगा। एवंभूत कहे तब सही मानना। फिर भी इतना चोक्स है कि संग्रह एवं नैगम नय हमें विश्वास देते हैं - तू सिद्धस्वरूपी है। तू बकरी नहीं है, सिंह है। तू पत्थर भले ही प्रतीत

हो, परन्तु तुझमें प्रतिमा छिपी हुई है । मैं वह देख रहा हूं ।

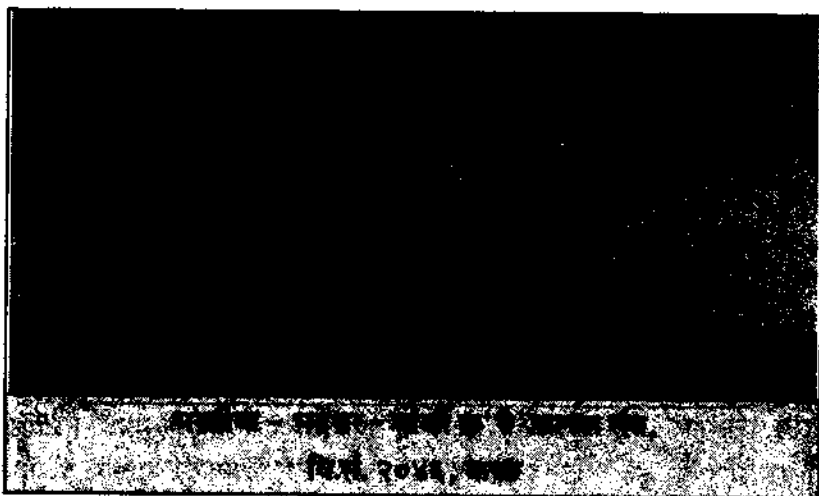
शिल्पी ज्यों ज्यों टांकी मारता जाता है, त्यों त्यों पत्थर में से प्रतिमा प्रकट होती जाती है । शिल्पी कहां तक टांकी मारेगा ? जब तक पूर्ण प्रतिमा नहीं बन जाती । गुरु की शिक्षा कहां तक ? जब तक हमारे भीतर पूर्णता प्रकट नहीं होती ।

समभिरूढ नय तो केवलज्ञानी को भी सिद्ध मानने के लिए तैयार नहीं है । अभी तक अघाती कर्म, ८५ कर्म-प्रकृति सत्ता में पड़ी है । वह तो सिद्धशिला में जीव पहुंच जाय तब ही सिद्ध मानता है ।

• • • • •

तो काम थई जाय

सोनामांथी बनेला अलंकार सोनुं मनाय छे. तेम शक्तिरूपे
अप्रगट एवुं परमात्म-स्वरूप परमात्मा ज छे. अर्थात् परमात्मांमां जे
छे ते ज आत्मांमां छे. तेनी शक्तिओ अनंत छे. चैतन्यनुं लक्षण ज
ज्ञान स्वरूप छे. आपणे आपणे ज्ञान स्वरूप मानता नथी. देहादि
स्वरूप मानीने अनादिकाळथी भूल खाता आव्या छीए, पण आ जन्ममां
ए मान्यताने मूकी साचा पुरुषार्थमां लागी जईए तो काम थई जाय.



५-११-१९९९, शुक्रवार

का. व. प्र. १३

❖ भगवान ने तो विश्व मात्र को मुक्ति का मार्ग बताया, परन्तु उसमें चलने को तैयार हुआ चतुर्विध संघ, साधु-साध्वी, श्रावक एवं श्राविका ।

मुक्ति मार्ग पर चलें तो भगवान हमारे मार्ग में सहायक होंगे ही । भगवान धर्म-चक्रवर्ती हैं ।

मोह-जाल में से छुड़ाकर संसारी जीवों को मोक्ष-मार्ग की ओर प्रयाण करानेवाले भगवान हैं, परन्तु भगवान उसे ही प्रयाण करा सकते हैं जिसे मोह जाल स्वरूप प्रतीत हो, संसार कारागार प्रतीत हो; परन्तु जिसे कारागार ही महल प्रतीत होता हो, बेड़ियों में कंगन लगते हों, उसके लिए भगवान कुछ भी नहीं कर सकते ।

❖ परिग्रह एवं ममता के भार के साथ मुक्ति-मार्ग पर प्रयाण करना असंभव है । पहाड़ पर चढ़ते समय सामान्य बोझ भी हमें कष्टदायक होता है तो मोक्ष-मार्ग पर बोझ कैसे सहन होगा ?

❖ ज्ञान एक ऐसी वस्तु है, जिससे स्व का जीवन तो प्रकाशमय बनता ही है, अन्य व्यक्तियों के जीवन भी प्रकाशमय बनते ही हैं ।

लकड़ा जड़ है, वह अपना स्वभाव नहीं छोड़ता । उसे जल में डालोगे तो वह स्वयं भी तैरेगा और स्वयं को पकड़ने वाले को भी तारेगा । ज्ञानी भी लकड़े के समान है । स्वयं भी तरता है और अन्यो को भी तारता है ।

✿ तीन प्रकार के जीव :

(१) अतिपरिणत - उत्सर्ग मार्गी - जली हुई रोटी । शक्ति से भी अधिक करनेवाला ।

(२) अपरिणत - अपवाद मार्गी - कच्ची रोटी, शक्ति हो उतना भी नहीं करनेवाला ।

(३) परिणत - समतोल - पकी हुई रोटी, शक्ति के अनुसार करनेवाला ।

✿ केवली भगवंत ने ज्ञान से जो देखा, उससे विपरीत विधान करने से जिनाज्ञा भंग आदि दोष लगते हैं । ये दोष प्राणातिपात आदि से भी बढ़ जाते हैं, क्योंकि यहां भगवान के प्रति अश्रद्धा हो गई । स्वयं पर अथवा अपनी बुद्धि पर श्रद्धा हुई, भगवान पर नहीं हुई ।

'भगवान भूल गये' ऐसे शब्द कब निकलते हैं ? जब मिथ्यात्व का घोर उदय होता है ।

'भगवान भूल गये' ऐसा वाक्य जमालि ने भगवान महावीर की उपस्थिति में बोला था, आभिनवेशिक मिथ्यात्व से वे ग्रस्त हुए ।

उत्सूत्र प्ररूपणा के समान कोई पाप नहीं है ।

प्रश्न : अजैन ध्यान पद्धति में मिथ्यात्व लगता है ?

उत्तर : दूसरी ध्यान पद्धति स्वीकार करनेकी इच्छा कब होती है ? जब भगवान के प्रति अश्रद्धा हो जाती है तब ।

मेरे पास अनेक अन्य ध्यान-पद्धतियां आई हैं । मैंने उस ओर कभी दृष्टि नहीं डाली । किसी को पूछ तक नहीं । जो मिलेगा वह भगवान की ओर से ही मिलेगा, ऐसा विचार प्रथम से ही था ।

✿ युगप्रधान आचार्यश्री मंगु अमुक क्षेत्र में स्थिरता करने से रसना के पराधीन बन गये । रात-दिन वे खाने के विचार में ही रहते थे । वे मरकर यक्ष बने (अन्यथा वैमानिक देवलोक से

कम नहीं मिलता) वे गटर के समीप मन्दिर में भूत बने ।

उस स्थान से गुजरने वाले अपने शिष्यों को प्रतिबोध देने के लिए अपनी (मूर्तिकी) जीभ बाहर निकाली और लप-लप करने लगे ।

साधु चौंक पड़े ।

यक्ष की मूर्ति बोली - 'मैं पूर्व भव का तुम्हारा गुरु हूँ । रस की आसक्ति के कारण आज देवलोक में मेरी दुर्गति हुई है । अतः इस रसना (जीभ) से सावधान रहना ।

इसीलिए पंन्यासजी महाराज 'आयंबिल का तप, नवकार का जप और ब्रह्मचर्य का खप' इन तीनों पर विशेष बल देते थे ।

कम खाना - तन का विजय - आयुर्वेद का सार ।

गम खाना - मन का विजय - नीतिशास्त्र का सार ।

नम जाना - सर्व का विजय - धर्मशास्त्र का सार ।

❖ गृहस्थ जीवन में हम तीन समय भोजन करते थे (वापरते थे) । बड़ी दीक्षा के समय पू. आचार्य कनकसूरिजी को हम राधनपुर में मिले । सभी साधुओं को एकासणे करते देखकर हम अपने आप एकासणे करने लग गये ।

किसीने कहा नहीं था, किसीने जबरजस्ती नहीं की । एकासणा करने की अपने आप आदत पड़ गई । धर्म बलात्कार से कराने की वस्तु नहीं है ।

फिर तो एकासणा का अभिग्रह लिया; चाहे उपवास, छट्ठ, अट्ठम या अट्ठाई का पारणा हो, परन्तु एकासणा ही होता था । जब तक शक्ति थी तब तक एकासणा ही किया । संघ के साथ जाते तब तो कितनी ही बार दोपहर में तीन-चार बजे भी एकासणे किये थे ।

जैसे ज्ञान की परम्परा है, उस प्रकार तप एवं संयम की भी परम्परा है । हम करेंगे तो ही यह परंपरा चलेगी ।

अध्यात्म गीता :

किसी व्यक्ति को मिलना हो तो उसका पक्का पता प्राप्त करना पड़ता है । हम भगवान को मिलना चाहते हैं, परन्तु भगवान का स्वरूप जानने की कोई उत्कण्ठा नहीं है । आत्मा प्राप्त करनी है,

परन्तु आत्मा के विषय में कुछ भी जानने की इच्छा नहीं है । कैसे मिलेगी आत्मा और कैसे मिलेंगे परमात्मा ? सारी दुनिया को आप जानना चाहते हैं, सिर्फ अपनी आत्मा को छोड़कर ।

✻ जैन दर्शन सात नयों से शुद्ध आत्मा की पहचान कराता है ।

संग्रह : एक ही आत्मा है । सर्वत्र ब्रह्म है - ऐसा अद्वैतवाद यहां से निकला है ।

नैगम : आप में शुद्धता का एक अंश है, तो भी मैं आपको शुद्ध आत्मा मानूंगा । आप चिन्ता नहीं करें ।

व्यवहार : नहीं, आत्मा कर्म सहित एवं कर्मरहित, इस प्रकार अनेक भेदवाली है । मैं भेदों में मानता हूं ।

ऋजुसूत्र : आपका उपयोग सिद्ध में हो तो ही सिद्धस्वरूपी मानूंगा ।

शब्द : आत्म-सम्पत्ति प्रकट करने की भावना हो तभी मानूंगा ।

समभिरूढ : केवलज्ञान हुआ हो तो ही मानूंगा ।

एवंभूत : आठों कर्मों से मुक्त बनो तो ही मानूंगा ।

सभी नय अपनी दृष्टि से सच्चे हैं, पूर्णतः सच्चे नहीं हैं । हाथी को देखनेवाले सात अंधों के समान हैं । जब सातों एकत्रित हो जायें तब प्रमाण बने ।

नय सात हैं, परन्तु वैसे उसके सातसौ नय होते हैं ।

एवंभूत नय जब तक हमें शुद्ध आत्मा न कहें, तब तक हमें साधना से रुकना नहीं है ।

‘एम नय भंग संगे सनूरो, साधना सिद्धतारूप पूरो;

साधक भाव त्यां लगे अधूरो, साध्य सिद्धे नहीं हेतु शूरो ॥११॥’

आप साधना करो तब ही पूर्ण बन सकते हो ।

संग्रह या नैगम नय ३३% (तैंतीस प्रतिशत) में पास कर देते हैं, परन्तु एवंभूत नय तो ९९ प्रतिशत में भी पास नहीं करता । शत प्रतिशत ही चाहिये, थोड़ा भी कम नहीं ।

साध्य संग्रह ने निश्चित कर दिया । तेरी सत्ता में परम तत्त्व पड़ा है, ऐसा संग्रह ने बताया है ।

मिट्टी में घड़े (मटके) की योग्यता है ।

आत्मा में परमात्मा की योग्यता है, संग्रह ने सर्व प्रथम यह समाचार दिया ।

संग्रह नय से साध्य की प्रतीति होती है । शब्द नय से उसकी अनुभूति होती है । एवंभूत नय से सिद्धि होती है । साधना के लिए नैगम एवं व्यवहार नय लागू होते हैं ।

व्यवहार से यदि आत्मा को अशुद्ध नहीं मानें तो साधना कैसे होगी ? मैं विषय-कषायों से परिपूर्ण हूं, ऐसा नहीं मानें तो साधना होगी ही नहीं ।

तीर्थ की स्थापना आदि व्यवहार नय से होते हैं । संग्रह नय तो पूर्ण ही मानता है । उसके लिए तीर्थ क्या ? स्थापना क्या ? और साधना क्या ?

औदयिक भाव का आक्रमण हो तब कैसे बचा जाये ? यह सब व्यवहार नय सिखाता है ।

• • • • •

चार भावनाओ

मैंत्री एटले निर्वैर बुद्धि, समभाव.

प्रमोद एटले गुणवानोना गुण प्रत्ये प्रशंसाभाव.

करुणा एटले दुःखीजनो प्रत्ये निर्दोष अनुकंपा.

माध्यस्थ्य एटले अपराधी प्रत्ये पण सहिष्णुता.



बाबाभाई (पूर्व वित्तमंत्री, गुजरात) व गंगाजीभाई (उग्र)
गुरु-पूजन, लखनौ (कलकत्ता) वि.सं. १९५५

६-११-१९९९, शनिवार
का. व. द्वि. १३

✽ हम एक आज्ञा-भंग करे, हमें देखकर अन्य व्यक्ति आज्ञा भंग करे, तीसरे व्यक्ति भंग करे, एक परम्परा खड़ी होती है, इसे अनवस्था कहा जाता है ।

हमारी शिथिलता हमें ही नहीं, अन्य को भी उल्लय आलम्बन देती है ।

स्वभाव से हमें कोमल बनना है, परन्तु आचार में हमें उग्र बनना है ।

भगवान वैसे समस्त जीवों के प्रति कोमल है, परन्तु कर्मों के प्रति क्रूर है, उग्र है ।

✽ 'अरिहंताइसामत्थओ ।'

यहां पंचसूत्र में अरिहंत आदि के सामर्थ्य से यह कहा है - यहां 'आदि' किस लिए ? अरिहंत तो सर्वज्ञ, वीतराग हैं । आचार्य, उपाध्याय, साधु, सर्वज्ञ वीतराग कहां हैं ? ऐसे प्रश्न के उत्तर में कहते हैं कि आचार्य, उपाध्याय, साधु भी अंश में सर्वज्ञ हैं, वीतराग हैं, क्योंकि यह उनकी भावी अवस्था है ।

'एसो पंचनमुक्कारो' पांचों को किया गया नमस्कार समस्त पापों

कहे कलापूर्णसूरि - १ ***** ५०७

का नाशक हैं। यहां अरिहंत, सिद्ध के साथ आचार्य, उपाध्याय, साधु भी हैं। उन्हें किया गया नमस्कार भी सर्व-पाप नाशक है। साधु के दर्शन से केवलज्ञान भी होता ही है न ?

✻ आज्ञा भंग, अनवस्था के बाद तीसरा दोष है - 'मिथ्यात्व।' भगवान की नहीं, अपनी बुद्धि से चलना मिथ्यात्व है।

भगवान से, गुरु से अलग करने का काम मिथ्यात्व करता है।

अपना अलग वर्ग खड़ा करना इत्यादि मिथ्यात्व का ही प्रभाव है।

चौथा दोष - 'विराधना।' ये चारों दोष अत्यन्त ही खतरनाक हैं।

संयम एवं आत्मा दोनों की इससे विराधना होती है। अशुभ कर्मों का अनुबन्ध पड़ता है, जो अनेक जन्मों तक चलता है।

मरीचि ने उस कपिल को कहा था - 'कपिल ! वहां भी धर्म है, यहां भी धर्म है।' इस वाक्य में आज्ञा-भंग आदि चारों दोष आ गये।

शशिकान्तभाई - इस समय तो ऐसे एक नहीं, अनेक मरीचि हैं, जो कहते हैं 'वहां भी धर्म है, यहां भी धर्म है।'।

पूज्यश्री - अरे, इससे भी वे लोग आगे बढ़ गये हैं। वे तो स्वयं को ही भगवान के रूप में बताते हैं।

मंत्र में जिस प्रकार अविधि आपत्ति को निमंत्रित करती है, उस प्रकार जिनाज्ञा में अविधि आपत्ति को निमंत्रित करती है।

विधि की आराधना, अविधि का निषेध दोनों जिनाज्ञा में समाविष्ट हैं। विधि का पालन सम्यग् नहीं होता हो तो कम से कम दिल में दर्द तो होना ही चाहिये।

जिनाज्ञा भंग करने से जिस प्रकार अनवस्था आदि चार दोष लगते हैं। उस प्रकार जिनाज्ञा का सम्यग् पालन करने से आज्ञा-पालन, व्यवस्था, सम्यक्त्व एवं आराधना आदि लाभ होते हैं। दूसरे लोग भी सन्मार्ग की ओर अग्रसर होते हैं।

हम ६-७ (छः-सात) वर्ष दक्षिण में रहे। वहां ऐसे लाभ देखने को मिले।

अध्यात्म गीता

हमारा मनोरथ है एवंभूत नय से सिद्ध बनने का, परन्तु यह मनोरथ करनेवाले हैं - संग्रह एवं नैगम नय।

संग्रहनय का कथन है - समस्त जीव एक हैं । नैगम नय का कथन है - तू शुद्ध स्वरूपी है । तेरे आठ अंश तो शुद्ध ही हैं । पूरी खिचड़ी तपासने की आवश्यकता नहीं है । एक दाना दबाने पर पता लग जाय कि खिचड़ी पक गई कि नहीं ? तेरे शुद्ध आठ अंश ही कहते हैं - तू शुद्ध स्वरूपी है ।

❖ विषय-कषायों के विरुद्ध हमने युद्ध छेड़ दिया है । मानो न्यायालय में केस चलता है । हमारा केस (मुकदमा) यदि भगवान को सौंप दें तो बेड़ा पार हो जाय ।

❖ निर्धन दशा में कोई धनाढ्य सहायता करे तो हमारे दिल में कितनी शीतलता महसूस होती है ? सुख में सब सांथ देते हैं, दुःख में कौन ? हम निगोद में अत्यन्त दुःखी दशा में थे तब हमारा हाथ पकड़ने वाले भगवान थे ।

‘काल अनादि अतीत अनन्ते जे पररक्त,

संगांगि परिणामे, वर्ते मोहासक्त;

पुद्गल भोगे रीझ्यो, धारे पुद्गल खंध,

परकर्ता परिणामे, बांधे कर्मना बंध ॥१२॥’

अपना ही नहीं, तीर्थकरों का भी ऐसे ही दुःखों से ग्रस्त भूतकाल है ।

जीव अनादि से है, कर्म अनादि है, अतः सब की यही स्थिति स्वीकार करनी रही, ऐसा क्यों ? जीव में पर की आसक्ति विद्यमान है । पुद्गल की अच्छी संगति पाकर जीव प्रसन्न होता है और नये-नये कर्म बांधता है ।

‘मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं’ आदि विकल्प उसे आते हैं ।

निश्चय नय से चाहे आत्मा कर्म से अलिप्त हो परन्तु व्यवहार नय से कर्मों से लिप्त है ।

जितना समय कर्म के संयोग में गया, उतना ही समय कर्म के वियोग में जाये, ऐसा नहीं है । चरमावर्तकाल में आने के बाद तुरन्त कार्य हो जाता है । अचरमावर्तकाल के जीव असाध्य रोगियों के समान हैं । उनके लिए कर्मविगम कठिन है ।

‘बंधक वीर्य करणे उदेरे, विपाकी प्रकृति भोगवे दल विखेरे !
कर्म उदयागता स्वगुण रोके, गुण विना जीव भवोभव ढौंके ॥१३॥’

कोई भी कर्म अपने स्वभाव को रोके बिना नहीं ही रहेगा ।
जो गुणों को रोकते हो उन्हें उत्तम कैसे कहा जा सकता है ?

इसीलिए ज्ञानी सातावेदनीय कर्म जो सुख प्रदान करता है, उसे भी अच्छा नहीं मानते, क्योंकि वह कर्म आत्मा के अव्याबाध सुख को रोकता है ।

आठों कर्मों का राजा मोहनीय है । यह दो गुणों को (दर्शन-चारित्र को) रोकता है । इसीलिए मोहनीय के क्षयोपशम के बिना साधना में एक कदम भी आगे बढ़ा नहीं जा सकता ।

जब जब हम गुणों की उपेक्षा करेंगे, तब-तब कर्म-बन्धन होगा ही ।

एक भी दोष देखते ही उसे निकालो । जिस प्रकार अग्नि की एक चिनगारी का भी आप विश्वास नहीं करते, उस प्रकार दोष के एक अंश का भी आप विश्वास न करें ।

इसीलिए गुणीपुरुषों का आलम्बन एवं अनुमोदन आवश्यक माना है । उसके प्रभाव से हम प्रच्छन्न गुणों का आविष्कार कर सकते हैं ।

अब गुण प्रकट करने के लिए पुरुषार्थ का यज्ञ शुरू कर दें, दृढ़ निर्णय करें कि मुझे ६६ सागरोपम में तो मोक्ष जाना ही है, यदि इससे पहले मोक्ष मिल जाय तो बहुत ही अच्छा है, परन्तु ६६ सागरोपम से ज्यादा विलम्ब तो नहीं ही करना है ।

दीपावली पर्व : आश्विन कृष्णा १४, भक्तामर पूजन ।
शशिकान्तभाई -

❖ पुष्प के तीन गुण :

१. कोमलता - अहिंसा ।
२. सुगन्ध - संयम ।
३. निर्लेपता - तप ।

❖ समर्पण के छः प्रकार :

१. अनुकूलता - स्वीकार ।
२. प्रतिकूलता - वर्जनम् ।
३. संरक्षण विश्वास ।

४. भर्तृत्ववरेण्य ।
५. कार्पण्य (दैन्य भाव) ।
६. आत्म-निवेदन ।

गाथा १० :

✽ संसार का नियम है -

धनवान के पास मनुष्य धनवान बनते हैं ।

ज्ञानी के पास मनुष्य ज्ञानी बनते हैं ।

वैद्य के पास मनुष्य नीरोग बनते हैं ;

उस प्रकार प्रभु ! आपके पास रहकर मैं आपके समान न बनूँ ?

भगवन् ! संसार के इस नियम का उल्लंघन होता है ।

भगवन् ! आप मुझे अपने समान बना दो ।

✽ 'मृत्यु का विचार वैराग्य लाता है, मोक्ष का विचार मैत्री लाता है।' यह बात पूज्य पं. भद्रंकरविजयजी महाराज कई बार कहते थे ।

गाथा ११ :

✽ प्रभु-दर्शन थकावट मिटाता है ।

प्रभु-दर्शन से समस्त प्रश्न समाप्त हो जाते हैं ।

दर्शनं देव देवस्य. कैसा दर्शन...?

सात दर्शन : अणु, जगत्, तत्त्व, धर्म, कर्म, आत्म, परमात्म दर्शन ।

प्रदूषण संसार में है । परमात्म-दर्शन में ओक्सिजन (प्राणवायु) ही है ।

जहां प्रभु का मिलन नहीं होता वहां अन्य किसी का मिलन भी सही नहीं होता ।

✽ प्रभु का दर्शन करता है वह दर्शनीय बनता है ।

प्रभु का स्तवन करता है वह स्तवनीय बनता है ।

प्रभु की पूजा करता है वह पूजनीय बनता है ।

॥ १२ ॥ प्रभु का सौंदर्य देह का नहीं, समाधि का है ।

इस सौन्दर्य के दर्शन से हमारे भीतर भी समाधि का, समता का अवतरण होता है ।

१२वीं गाथा से २०वीं गाथा में सूरिमंत्र निहित है । पूज्य पं. महाराज कहते थे कि दीपावली में इसका जाप किया जाता है ।

‘अल्पश्रुतं श्रुतवतां’ गाथा में ज्ञान का मंत्र है । पंन्यासजी महाराज विद्यार्थियों को यह मंत्र गिनने का खास कहते थे ।

गाथा १३ :

भगवान के चार अतिशय उन्हें त्रिभुवन - नायक बनाते हैं ।
ये अपायापगमातिशय आदि चार भावनाओं से आये हैं ।

मैत्री से अपायापगमातिशय, प्रमोद से पूजातिशय,
करुणा से वचनातिशय, माध्यस्थ से ज्ञानातिशय प्रकट हुए हैं ।

गाथा १४ :

प्रभु के गुण चौदह राजलोक में फैले हुए हैं ।

गुणों को कोई प्रतिबन्ध कहां से हो ?

प्रभु ! यदि आपके गुण मुझ में आये हों तो मैं मानूंगा कि आप ही मेरे अन्तर में आये हैं । भगवान को घर में लाना अर्थात् उनके गुण लाना । भगवान शक्ति के रूप में तथा गुणों के रूप में सर्वत्र व्याप्त है ।

गाथा १५ :

ब्रह्मचर्या का वर्णन -

तेजस्वी, यशस्वी, वचस्वी, वर्चस्वी प्रभु किसी से भी चलित नहीं होते ।

ब्रह्मचर्य एवं ब्रह्मचर्या में फरक है । ब्रह्म में चर्या वह ब्रह्मचर्या ।

पांच परमेष्ठी ब्रह्म के ही रूप हैं ।

ब्रह्म - प्राकट्य : अरिहंत ।

ब्रह्म - स्थिति : सिद्ध ।

ब्रह्म - चर्या : आचार्य ।

ब्रह्म - विद्या : उपाध्याय ।

ब्रह्म - सेवा : साधु ।

प्रभु का नाम लो और ब्रह्मचर्य की शक्ति आप में आये बिना नहीं रहेगी ।

गाथा १६ :

भगवान (अनस्त) सदैव उगा हुआ सूर्य है । केवलज्ञान रूपी सूर्य अस्त नहीं होता । अप्रकट दीपक को प्रकट (प्रज्वलित) होना हो तो प्रज्वलित (प्रकट) दीपक के पास जाना पड़ता है । हम अप्रकट है, प्रभु के पास जाना पड़ेगा ।

✻ प्रभु के दर्शन से संसार हरा-भरा नहीं रखना है, परन्तु छोड़ना है ।

गाथा १७ :

✻ ज्ञानातिशय से ज्ञान-दीपक प्रकट होता है ।

हमारी चेतना खण्डित है । प्रभु के पास अलग और दूसरी जगह अलग बात करें, इसमें भक्ति का अनुसन्धान कहां से रहे ? अनुसन्धानात्मिका भक्ति चाहिये ।

चार पूजा :

अंग, अग्र, भाव, प्रतिपत्ति पूजा । प्रतिपत्ति पूजा अर्थात् आज्ञा-पालन ।

आज्ञापालन रूप पूजा आये तो भगवान के साथ अभेद सधता है ।

गाथा १८ :

भगवान का चरित्र यथाख्यात है, कहीं भी न्यूनता नहीं है ।

✻ अनन्तविज्ञान:ज्ञानातिशय,अतीतदोष:अपायापगमातिशय ।

अबाधसिद्धान्त : वचनातिशय, अमर्त्यपूज्य : पूजातिशय
ये चार विशेषण कलिकाल - सर्वज्ञ ने दिये हैं ।

गाथा १९ :

✻ सिर्फ केवलज्ञानादि के साथ नहीं, प्रभु ! आपके साथ मुझे ओतप्रोत होना है ।

खेत में अन्न पक जाने के बाद वर्षा की आवश्यकता नहीं रहती, उस प्रकार आप के साथ ओतप्रोत होने के बाद आपकी आवश्यकता नहीं है ।

गाथा २०, ज्ञानं यथा...

रत्न का तेज कांच में नहीं आता । प्रभु ! आपके जैसा केवलज्ञान का तेज अन्य देवों में नहीं हो सकता ।

एक ही देव उपास्य होने चाहिये । एक साथ अनेक देव-देवियों की हम कई बार आराधना करते हैं, हम भले दूसरों का अनादर न करें, परन्तु साथ ही साथ समकक्ष भी न बनायें ।

अमेरिका आदि में अरिहंत की मूर्ति के साथ अन्य अनेक मूर्तियां देखने को मिलती है । वे कहते हैं कि हम तो सबको मानते हैं ।

मैं कहता हूं - 'इस प्रकार अरिहंत की भक्ति नहीं होती, नहीं फलती ।'

गाथा २१, पूज्य आचार्यश्री...

प्रभु आपको देखने के बाद कोई देखने जैसा नहीं लगता । मेरा मन इस भव में ही क्या, भवान्तरों में भी अन्यत्र स्थिर नहीं होगा ।

गाथा २२ स्त्रीणां...

★ तारे असंख्य हैं, सूर्य एक है । प्रभु, मेरे मन तो तू एक है ।

★ प्रभु की माता है - करुणा । प्रभु को यदि हृदय में लाने हों तो करुणा लानी पड़ेगी ।

गाथा २३, पूज्यश्री...

प्रभु ! मृत्युंजयी आप ही हैं । आपको पाकर मनुष्य मृत्यु पर विजय पा सकते हैं । प्रभु अजरामर हैं, वे भक्तों को भी अजरामर बनाते हैं । जरा-मृत्यु के निवारण से ही अजरामर बना जा सकता है । अजरामर स्थान अर्थात् ब्रह्मरंध्र । सम्यग्दृष्टि उसे प्राप्त करता है ।

प्रभु ! आप स्वयं तीर्थंकर हैं और तीर्थ भी हैं । मार्ग-दाता हैं और मार्ग भी हैं ।

रत्नत्रयी बतानेवाले ही नहीं, आप स्वयं रत्नत्रयी स्वरूप हैं । यह गम्भीर बात यहां बताई है ।

गाथा २४-२५, पूज्यश्री...

प्रभु सर्वोपरि सत्ता है । उनका ऐश्वर्य, आर्हत्य तीनों लोक में व्याप्त है । प्रभु ! आप अव्यय, अविनाशी, विभु (जैन दृष्टि से ज्ञान के रूप में व्यापक) नित्य एवं अचिन्त्य, विचारों (विकल्पों)

से प्राप्त नहीं किये जा सकी, ऐसे हो । असंख्य गुणों से आप 'असंख्य' हैं ।

तीर्थ की आदि करनेवाले होने के कारण आद्य हैं ।

परब्रह्म स्वरूप प्राप्ति से आप परब्रह्म हैं । ऐश्वर्य से ईश्वर हैं । शरीर नहीं होने से आप अनङ्गकेतु हैं और योगियों के नाथ योगीश्वर हैं ।

एक : चेतना लक्षण से और अनेक : संख्या से है ।

गाथा २६ :

थाओ मारा नमन तमने दुःखने कापनारा,
थाओ मारा नमन तमने भूमि शोभावनारा;
थाओ मारा नमन तमने आप देवाधिदेवा,
थाओ मारा नमन तमने पापने शोषनारा.

पूज्यश्री : प्रभु ! केवल आप मेरी आधि, व्याधि, उपाधि की पीड़ा हरो, यह मैं नहीं कहता; मैं तो कहता हूँ कि आपके विरह की पीड़ा हरो ।

आप भूमि (धरा)के शृंगार हैं ।

'मंचाः क्रोशन्ति ।' के अनुसार आप पृथ्वी के मनुष्यों की शोभारूप हैं । मनुष्य तब ही सुशोभित होता है जब वह प्रभु को अन्तर में बसाता है । अतः प्रभु ! आप मुझसे दूर न जायें । आप मेरे अनन्य अलङ्कार हैं, आभूषण हैं; क्योंकि आप ही त्रिलोकीनाथ हैं ।

ऐसे प्रभु को अन्तर में बसाये तो भवोदधि सूख जाये । अर्थात् आपके हृदय में उछलता विषय-कषायों का सागर सूख जाये । भवोदधि कहीं बाहर नहीं है, भीतर ही है ।

गाथा २७, २८, २९, ३०, ३१; पूज्यश्री...

गुणों को कहीं स्थान नहीं मिलने के कारण वे प्रभु में जा बसे ।

दोष क्रोधित होकर भाग गये और भागते-भागते कह गये - 'आप न रखो तो कोई बात नहीं, हमें रखने वाले बहुत हैं ।

शशिकान्तभाई - प्रातिहार्यों का ध्यान क्या देता है ?

अशोक वृक्षके ध्यान से सात लाभ :

१. शोक हरता है ।

२. शूद्र जनों से अनभिभवनीया ।

३. वचन की अप्रतिहतता ।

४. रोगों आदि की शान्ति ।

५. समर्पण ।

६. अर्थोपार्जन की क्षमता ।

७. सौभाग्य का अखण्डितत्व ।

✿ सिंहासन - ध्यान से साधक स्थान-भ्रष्ट नहीं होता ।

✿ चामर-ध्यान से चमरबन्धी की सेवा नहीं करनी पड़ती ।

✿ छत्र-ध्यान से जीवन में भक्त का छत्र (आबरू) नष्ट नहीं होता ।

गाथा ३२, ३३ :

भगवान चलते हैं वहां पृथ्वी स्वर्णमय बनती है ।

भगवान चलते हैं वहां उपद्रव शान्त हो जाते हैं ।

मेरे कदम भी आपकी आज्ञारूप तीर्थधरा पर पड़ें तो काम बन जाये ।

गाथा ३४ :

सिंह, हाथी आदि प्रतीकों से क्रोध, अहंकार आदि दोषों के विघ्न टल जाते हैं, यह समझें ।

गाथा ३५, ३६, ३७ :

दावानल आदि रूपी कषाय उत्पन्न होने पर प्रभु ! आपका नाम जल का कार्य करता है ।

गाथा ३८, ३९, ४० :

भगवान की भक्ति छोड़कर अन्यत्र कहीं से जीवन के विघ्न दूर नहीं होते, ऐसी अविहङ्ग, अटूट श्रद्धा होनी चाहिये ।

गाथा ४१, ४२ :

उद्धूत... गाथा से पू. पंन्यासजी भद्रंकरविजयजी याद आते हैं । वे लुणावा में कहते - 'व्याधि अधिक है । १०८ बार उद्धूत... गाथा बोलें ।' बोलने से शान्ति मिलती ।

प्रभु की चरण-रज का अंश भी पड़े तो रोग मिटेगा ही । इससे ज्ञात होता है कि शरीर बीमार नहीं पड़ता, मन बीमार पड़ता है ।

कैन्सर का रोगी भी ये गाथा १०८ बार जपने से सुख-शान्ति का अनुभव करता है ।

गाथा ४४ :

सब बंधा हुआ है, परन्तु मेरा सिर खुला है । जब तक मेरा सिर खुला है, तब तक मुक्ति का मार्ग खुला है ।

हमारे जीवन में भगवान ही हैं कि भगवान भी हैं ?

हमारे जीवन में भगवान ही हैं, ऐसा होगा तब दोष दरिद्रता इत्यादि जायेंगे । भक्त भगवान से अलग होता है तब ही दोष सम्भव है । अन्यथा जो दोष भगवान में न हो वे दोष भक्त में कहां से आयेंगे ?

गाथा ४३, ४४; पूज्यश्री :

प्रथम गुणों का, फिर नाम के प्रभाव का वर्णन आया । अन्त में उपद्रव नष्ट करने के प्रभाव का वर्णन आया । रागरूपी सिंह, द्वेषरूपी हाथी, क्रोधरूपी दावानल, कामरूपी संग्राम, लोभरूपी समुद्र, मोहरूपी जलोदर, कर्म-बन्धनरूप बेड़ी - ये सब प्रभु के नाम के प्रभाव से टलते हैं । वे स्वयं ही भगवान को देखकर भयभीत होकर भाग जाते हैं, जैसे सिंह को देखकर हाथी भाग जाता है ।

मानतुंगसूरिजी कहते हैं : प्रभु की यह स्तुति जो कण्ठ में धारण करेगा वह केवलज्ञानरूपी लक्ष्मी प्राप्त करेगा ।

• • • • •

पुस्तक मल्युं छे सुंदर प्रेरणादायी छे

अनेकने उपयोगी बनशे.

- पद्मसागरसूरि



८-११-१९९९, सोमवार
(धोखा) का. व. ३०

नवकार आराधना :

शशिकान्तभाई :

‘नमो तित्थस्स’ कहकर भगवान भी नमस्कार करते हैं, ऐसे तीर्थ के तीन प्रकार हैं :

१. प्रथम गणधर, २. चतुर्विध संघ, ३. द्वादशांगी ।

नवकार में तीर्थ, तीर्थकर और तीर्थकर का मार्ग तीनों हैं । प्रभु ने देने योग्य सभी दे दिया । क्या बाकी रहा ? कितना उपकार ?

चतुर्विध संघ की चेतना पंचपरमेष्ठी की खान है । इसीलिए संघ पच्चीसवां तीर्थकर है । नवकार का आराधक संघ का अनादर नहीं करता ।

✽ नवकार दोषत्रयी को (राग, द्वेष, मोह को) रत्नत्रयी के द्वारा निकालता है और कालत्रयी को (भूत, भविष्य, वर्तमान को) तत्त्वत्रयी (देव, गुरु, धर्म) के द्वारा निकालता है ।

✽ भगवान का शासन मिला । शासन-स्थित साधु एवं नमस्कार मिला । अब क्या चाहिये ?

(एक माला के बाद...)

५१८ ***** कहे कलापूर्णसूरि - १

सर्वमंत्र शिरोमणि, महामंत्र नवकार;
समस्तां सुख ऊपजे, जपतां जयजयकार ॥ १ ॥

ऊगे सूरज सुखनो, न रहे दीन ने हीन;
जो समरो नवकारने, सुखमां जाये दिन ॥ २ ॥

अवला सौ सवला पडे, सवला सफला थाय;
जपतां श्री नवकारने, दुःख समूला जाय ॥ ३ ॥

✽ नवकार की यात्रा शोभायात्रा नहीं, शोधन यात्रा है ।
संस्कार, सदुण, सदाचार, स्वास्थ्य, समृद्धि एवं समाधि की
यात्रा है । नवकार से अपने आप योग्यता के द्वार खुलते हैं ।
नवकार का साधक यह निर्णय करे कि भविष्य में मेरे कदम
तीर्थ के बहार नहीं पड़ेंगे - ऐसा मैं प्रण लेता हूँ ।'

नवकार के अलावा किसी भी मंत्र में उसका फल नहीं बताया ।
चूलिका में फल-कथन है : 'एसो पंच नमुक्कारो ।' यह नवकार
समस्त पाप नष्ट करेगा ।

एक नमस्कार समस्त आराधना का अर्क है ।

भावपूर्वक नमस्कार नहीं होगा तो अनुष्ठान द्रव्य बनेगा । चूलिका
भाव नमस्कार है ।

जिस प्रकार डोक्टर रोग दूर करता है उस प्रकार नवकार
के अक्षर विभाव को दूर करते हैं, अष्ट कर्मों को नष्ट करते हैं ।

नवकार के दर्शन से दर्शनावरणीय,
नवकार के स्वाध्याय से ज्ञानावरणीय,
नवकार में, स्वयं का ही स्वरूप, ओह ! मेरा ऐसा स्वरूप ?
ऐसा भाव देखने से मोहनीय ।

नवकार को नमस्कार करने से अन्तराय कर्म नष्ट होते हैं ।
अघाती कर्न भी ध्यान से नष्ट होते हैं, देह को हम भूल
जाते हैं, देव याद रहते हैं ।

'अहं देहोऽस्मि' के स्थान पर 'अहं देवोऽस्मि' आये तब
नामकर्म,

सब जीव आत्मवत् प्रतीत हों तब गोत्रकर्म

अक्षरों में अद्वैत आये तो आयुष्य ।

मंगलरूप अक्षर गिनने से वेदनीय कर्म जाता है...

❖ चित्त नहीं लगता हो तो उच्चारण पूर्वक नवकार बोलो या पढ़ो, निर्विकल्प रूप से गिनो, तो साक्षात् अरिहंत के साथ अनुसंधान होगा ।

❖ शास्त्र-मंत्रवित् बनने के लिए नहीं, आत्मवित् बनने के लिए नवकार की आराधना है । नवकार शास्त्र, मंत्र है उसी तरह आत्मा भी है ।

❖ तीर्थयात्रा करनेवाला आत्मानुभूति नहीं करेगा तो द्रव्ययात्रा रहेगी ।

❖ नवकार पूर्ण योग है । समस्त योग उसकी परीक्षा करते हैं । कोई भी योग बाकी नहीं है ।

नवकार का 'पंच मंगल महाश्रुतस्कंध' यह सच्चा नाम है । नवकार मंत्र ही नहीं, मंगल भी है । परमेश्वरी मंगल के महाकेन्द्र है । प्रचण्ड अवतरण एवं प्रचंड संक्रामण शक्ति है ।

मां गालयति भवादिति मंगलम् ।

जो संसार से मुझे मिला दे वह मंगल है ।

❖ पांच गुण :

१. परहित - चिन्ता : स्वस्थता देती है, स्वार्थी शीघ्र अस्वस्थ होता है । स्व की चिन्ता कितनी और 'पर' की चिन्ता कितनी ?

परहित-चिन्ता में कोई खर्चा नहीं है, फिर भी कठिन है ।

२. परोपकार : समृद्धि का उपादान कारण । धनाढ्यता परोपकार से ही सफल होती है ।

३. प्रमोदभाव : शिव मंगल तत्त्व प्रदान करता है । इन सब में मेरे समान ही स्वरूप है उस प्रमोदभाव से मैं जीवों के विशुद्ध चैतन्य की वाङ्मयी पूजा करता हूं, ऐसा भाव उत्पन्न होना चाहिये ।

४. प्रतिज्ञा : (सत्य का ढक्कन खोलती है) पांचों परमेश्वरी करेमिभंते की प्रतिज्ञा लेकर बने हैं ।

५. प्रशान्त अवस्था : समता - समाधि प्रदान करती है । भगवान का यह शंखनाद है : आपको क्या चाहिये ? जो चाहिये वह गुण पकड़ लो ।

विद्या-स्नातकों का नहीं, व्रत-स्नातकों का यहां काम है । उपधान

की माला व्रत-स्नातक की डिग्री है ।

❖ चौदह पूर्व का समस्त सारभूत ज्ञान 'नवकार' है ।

❖ जिसे आप नमन करते हैं, वैसे बनते हैं । टी.वी. में जिसे नमन करते हैं वैसे बनते हैं ।

❖ नवकार के अक्षर पापों का दहन करते हैं, कृपा का स्पर्श और निर्भयता का आनन्द प्रदान करते हैं ।

❖ नवकार तपोधन-दृष्ट है । मंत्र का दर्शन तप से होता है । आर्ष शब्द (जो रचित नहीं है, परन्तु अनुभूत है) अणु शक्ति है, जिसका प्रयोग से विस्फोट होता है ।

❖ युग-युग में साधक मंत्र के नये-नये अर्थ प्रस्फुटित करते रहते हैं परन्तु वे सदा परस्पर अविरोधी होते हैं ।

❖ मंत्रमें विज्ञान है (अनुभव ज्ञान);

शरीर का पोषण :

शरीर-बल, प्राण-बल, वाग् बल, बुद्धि-बल चतुर्विध शक्ति है ।

❖ प्रकर्षेण नवः प्रणवः ।

जिसमें प्रचुर नवीनता है, नित्य नया सृजन करने की क्षमता है, वह प्रणव है । 'प्रतिक्षणं यन्नवतामुपैति, तदेव रूपं रमणीयतायाः ।'

- कालिदास

❖ एक अणु में सम्पूर्ण सौर मण्डल है, उस प्रकार नवकार के प्रत्येक अक्षर में ब्रह्माण्ड समाविष्ट है । जप के द्वारा विस्फोट होने पर ब्रह्माण्ड का रहस्योद्घाटन होता है ।

नवकार का जाप भाव-मन की शुद्धि करता है । (लेश्या शुद्धि) मंत्र में प्रचण्ड शुभ संक्रामक शक्ति है ।

❖ नवकार अन्तरात्मा में ज्ञान-दीपक प्रज्वलित करता है ।

एक कमरे में एक हजार दीपक प्रज्वलित किये जायें तो प्रकाश हजारगुना होता है, परन्तु प्रकाश सब को समान मिलता है ।

❖ भगवान दो प्रकार से हृदय में आते हैं -

१. नेत्रों से - स्थापना - मूर्ति ।

२. श्रोत्र से - नाम - जाप ।

रूप में कृतक देवत्व है, मंत्र में अनादिसिद्ध देवत्व है ।

❖ 'अयं मे हस्तौ भगवान्, अयं मे भगवत्तरः ।

अयं मे विश्वभेषजः, अयं मे शिवाभिमर्शनः ॥'

❖ न दुरुक्ताय स्पृहयेत् ।

जिसकी वाणी दूषित हो, उसमें मंत्र चैतन्य उत्पन्न नहीं होता ।
वाणी में और खाने पीने में विकार न आये यह ध्यान रखें ।

❖ एक हजार आराधकों का जाप अशुभ को जलाकर राख कर देता है, मंगल का स्रोत बहा देता है और प्रकृति को नमस्कृति से भिगा देता है ।

सामूहिक जापमें प्रत्येक आराधक को एक हजार गुना प्रकाश मिलता है ।

चौदह राजलोक में मनोवर्गणा के पुद्गल फैला देता है ।

पावर (शक्ति) कितना ? एक आराधक = १ होर्स पावर ।

एक हजार आराधक = एक हजार होर्स पावर ।

शक्ति का स्रोत = ७२९० = विस्फोट

नवकार शान्ति का प्रक्षेपास्त्र, दिव्य चेतना का अवतरण, सुरक्षा का कवच, पर्यावरण की शुद्धि रूप संकल्प - सिद्ध मंत्र है ।

पूज्यश्री :

'सर्वे जीवा न हंतव्या ।'

यह प्रभु की मुख्य आज्ञा है । इसका पालन करनेवाले को तीर्थंकर-पद प्राप्त होता है । आज्ञा की आराधना अहिंसा के द्वारा होती है ।

अहिंसा की रक्षा के लिए ही शेष चार व्रत हैं ।

अहिंसा के प्रश्न व्याकरण में ६० (साठ) पर्यायवाची शब्द हैं ।

इसमें एक शब्द है : शिवा ।

'अहं तित्थयरमाया सिवादेवी...'

में शिवा का अर्थ अहिंसा - करुणा करके देखे, फिर अर्थ कैसा बैठता है ?

केवल अरिहंत की ही नहीं, पांचों परमेष्ठियों की जननी अहिंसा है, करुणा है ।

आज्ञा एवं आज्ञा-पालक एक हैं । आज्ञा पालन करते ही प्रभु हृदय में आ जाते हैं ।

जड़ कागज के टुकड़े पर लिखे नाम मात्र से आप 'कोलकाता' तक पहुँच गये ?

शशिकान्तभाई ! नाम की कितनी ताकत है ?

शशिकान्तभाई कोलकाता तक जा सकते हैं तो भगवान अपने हृदय में क्यों न आये ? नाम लो और भगवान हाजिर !

'नाम ग्रहंता आवी मिले, मन भीतर भगवान'

प्रभु ने तो हम सब के साथ आत्मभाव विकसित किया है ।

'सर्वभूअप्यभूअस्स' भगवान का यह विशेषण है ।

प्रभु कहते हैं कि तू यदि मेरे साथ तन्मय होना चाहता हो तो हे आत्मन् ! तू जगत के समस्त जीवों के साथ तन्मय बन ।'

प्रश्न : भगवान के साथ एकात्म बना जा सकता है, परन्तु समस्त जीवों के साथ एकात्म कैसे बना जा सकता है ?

उत्तर : मैं तो यहां तक कहता हूं कि समस्त जीवों में सिद्धों का रूप देखो, उसके बाद ही भीतर की गाँठ खुलेगी । कुण्डली - उत्थान कोई सरल नहीं है, परन्तु चिन्ता नहीं, प्रारम्भ करेंगे तो किसी समय, किसी भव में अवश्य फलेगी । धैर्य चाहिए ।

★ शशिकान्तभाई - आत्मा को जो जगाये, सम्हाले वह आज्ञा है ।

नमो अरिहंताणं (अरिहंत + आणं)

पाँचों परमेष्ठियों की आज्ञा को भी नमस्कार ।

आर्हत्यमयी चेतना ही समस्त कारणों का परम कारण है । वही सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमयी, सर्वअन्तर्यामी, सर्व क्षेत्र-काल-व्यापिनी है । इसीलिए वह मधुर परिणाम लाती है ।

इस नवकार में योगियों का योग, ध्यानियों का ध्यान, ज्ञानियों का ज्ञान, भक्तों की भक्ति तथा आराधकों की आराधना समाविष्ट हैं ।

• • • • •





८-११-१९९९, सोमवार
का. व. ३०

पंचवस्तुक

जहाज में बिठा कर इष्ट स्थान पर पहुंचाने वाले का हम कितना उपकार मानते हैं ? उससे भी अनन्त उपकार तीर्थकरों का है, जिन्होंने हमें तीर्थरूपी जहाज में बिठाये हैं ।

जहाज का स्वामी चाहे अनुपस्थित हो, परन्तु जहाज का कार्य चलता ही रहता है, उसी प्रकार भगवान भले ही अनुपस्थित हो, तीर्थ का कार्य चलता ही रहता है ।

☆ अष्टांग को योग कहते हैं, उस प्रकार चारित्र भी योग कहलाता है । चारित्र में दर्शन-ज्ञान होता ही है । चारित्रि ज्ञानी एवं श्रद्धालु होता ही है । अन्यथा उसका चारित्र सच्चा नहीं माना जायेगा ।

☆ 'भाव से भाव उत्पन्न होते हैं' उस प्रकार संसार में भी कहा जाता है । हम जैसा भाव रखते हैं, सामनेवाले व्यक्ति के मन में वैसा ही भाव उत्पन्न होता है । हम यदि धोखाधड़ी का भाव रखें और उपर से चाहे जितना दिखावा करें, परन्तु सामनेवाले

व्यक्ति को पता लगे बिना नहीं रहता ।

वक्ता के भावों का श्रोताओं पर गहरा प्रभाव पड़ता है । वक्ता यदि स्वयं माला नहीं फेरता हो और कहे कि 'आप माला फेरें' तो उसका उपदेश शायद ही श्रोताओं के गले उतरेगा ।

ज्यादा गुड़ खाने वाले लड़के को उस संन्यासी ने उसी समय प्रतिज्ञा नहीं दी, परन्तु पन्द्रह दिनों के बाद उसे प्रतिज्ञा दी । संन्यासी ने स्पष्टीकरण दिया कि 'मैं स्वयं गुड़ खाता होऊं तो गुड़ बंध करने की प्रतिज्ञा दूसरे को कैसे दे सकता हूँ ? मुझे पन्द्रह दिनों से गुड़ बन्ध है । मैं अब ही वह प्रतिज्ञा देने का अधिकारी हूँ ।

यह दृष्टान्त आपने अनेक बार सुना होगा ।

शिष्यों को जो देना हो वह गुरु स्वयं अपने भीतर उतारे । गुरु शिष्यों को तैयार करने के लिए अनेकबार ऐसे प्रयोग करते थे । प्रेमसूरिजी ने स्वयं फलों का त्याग किया था, क्योंकि वे शिष्यों को त्यागी बनाना चाहते थे ।

फल ज्यादातर दोषित ही होते हैं ।

समस्त जीवों को अभयदान देने की प्रतिज्ञा लेने के बाद छः काय-जीवों की कहीं भी विराधना न हो, उसकी हमें सावधानी रखनी चाहिये ।

प्रश्न : लोग हमारे हृदय के भाव किस प्रकार जान सकते हैं ?

उत्तर : विशुद्ध भाव प्रायः बाह्य चारित्र की शुद्धि से जाने जा सकते हैं । गुरु में बाह्य चरण हों, शायद आन्तर चरण नहीं हो तो भी शिष्य को थोड़ा भी दोष नहीं है । मेरे गुरु ऐसे महान् ! ऐसे उच्च ! ऐसे भावों से उसकी तो भावोल्लास में वृद्धि ही होगी । अंगारमर्दक के शिष्य स्वर्ग में गये हैं । उसके पास भाव चारित्र नहीं था । वह अभव्य जीव था, परन्तु शिष्यगण गुरु का विनय करने से लाभान्वित हो गये । उनका बाह्य चारित्र उत्कृष्ट था ।

अतः अयोग्य गुरु के प्रति भी योग्य गुरु के परिणाम हो जायें तो कोई दोष नहीं है । शिष्यों का कल्याण तो निश्चित ही है ।

परन्तु यहां मोह नहीं होना चाहिये, अन्यथा कुगुरु में भी सुगुरु की बुद्धि आ जाय जो कल्याणकारी नहीं है ।

अध्यात्म गीता

✽ ज्ञान-सम्पत्ति देते रहें तो ऋण-मुक्ति होती है । अपने पास रखें तो ब्याज चढ़ता है ।

✽ अध्यात्म-गीता इसलिए ली है कि उसके प्रणेता के जीवन में अध्यात्म था । उनके उद्गार ही उनकी अनुभूति व्यक्त करते हैं, पू. देवचन्द्रजी, यशोविजयजी, आनंदघनजी, वीरविजयजी, मानविजयजी आदि अनुभवी पुरुष थे, जिसकी साक्षी उनकी रचनाएं हैं ।

✽ जीवन-निर्वाह की हमें कोई चिन्ता नहीं है तो हम क्यों यह समय आत्म-साधना में न लगा दें ?

हमें आवास, भोजन, पानी आदि सब तैयार मिलता है, कोई चिन्ता नहीं है । यदि यहां रहकर भी हमारी आत्म-दृष्टि नहीं खुली तब तो हद ही हो गई ।

✽ नैगम एवं संग्रह नय ने तो हमें सिद्धत्व का प्रमाण-पत्र दे दिया, परन्तु जब शब्द नय प्रमाणपत्र दे तब सही मानें ।

शब्द नय सम्यक्त्व, देश-विरति, सर्व विरति में लागू होता है ।

नैगमनय, संग्रहनय सब जीवों के साथ मैत्री की शिक्षा देते हैं । सब जीव सिद्धस्वरूपी है । किसी के भी साथ शत्रुता क्यों ? भीतर विद्यमान सिद्धत्व को प्रकट करने की रुचि भी ये ही उत्पन्न करते हैं ।

नैगम एवं संग्रह दोनों अभेद बतानेवाले हैं ।

संग्रह नय मात्र सामान्यग्राही है, जबकि नैगम सामान्य विशेष - उभयग्राही है । व्यवहार नय आपकी अशुद्धता का ध्यान दिलाता है ।

‘मेरे पिताजी ने एक व्यक्ति को एक करोड़ रुपये दिये थे । आप अभी मुझे दस लाख रुपये दीजिये । उस व्यक्ति के रुपये आयेंगे तब मैं आपको लौट दूंगा ।’ एक योगी ने कहा है - ‘घर में खजाना है’, निकलेगा तब दे दूंगा । अभी मुझे ग्यारह लाख रुपये दो । ऐसा व्यवहार में चलेगा ?

नैगम - संग्रह का उधारवाद व्यवहार में नहीं चलता । व्यवहार नय कहता है : अभी तुम कैसे हो ? वह देखो । तुम सिद्धस्वरूपी हो, ऐसी बातें यहां नहीं चलती । आप कर्मयुक्त हैं । यह वास्तविकता स्वीकार करें । यही आत्मसंप्रेक्षण योग कहलाता है ।

‘कर्मसत्ता से मैं दबा हुआ हूं’ इस प्रकार अपनी स्थिति देखना आत्म-संप्रेक्षण है ।

कौनसे व्यक्ति या कौनसी वस्तु के प्रति हमारा राग, द्वेष या मोह ज्यादा है ? इस प्रकार का चिन्तन आत्म-संप्रेक्षण है, ताकि उसका निवारण करने के लिए हम कटिबद्ध हो सकें ।

ऋजुसूत्र वर्तमान में स्थिर करता है । भविष्य में महाविदेह क्षेत्र में जन्म लेकर मैं यह करूंगा, वह करूंगा आदि बचकानी बातें हैं । वर्तमान में जो प्राप्त हुआ है उसका उपयोग नहीं कर रहे तो भविष्य में कैसे करोगे ?

ऋजुसूत्र वर्तमानग्राही है ।

शब्दनय आत्म-सम्पत्ति प्रकट करने के अभिलाषी को सिद्ध मानता है । समभिरूढ केवलज्ञानी को और एवंभूत अष्ट-कर्म-मुक्त सिद्ध को सिद्ध मानता है ।

जब तक एवंभूत नय सिद्ध न कहे तब तक हमें साधना चालु रखनी है ।

❖ गुप्ति अर्थात् अशुभ से निवृत्ति एवं शुभ में प्रवृत्ति ।

❖ ‘मौन’ का अर्थ केवल ‘बोलना नहीं’ ऐसा नहीं है । ऐसा तो वृक्ष आदि भी करते हैं । पुद्गलों में प्रवृत्ति नहीं करना वास्तविक मौन है ।

काया से पुद्गलों में प्रवृत्ति नहीं करना काया का मौन है ।

वचन से पुद्गलों में प्रवृत्ति नहीं करना वचन का मौन है ।

मन से पुद्गलों में प्रवृत्ति नहीं करना मन का मौन है ।

‘आत्मगुण आवरणे न ग्रहे आत्मधर्म,

ग्राहक शक्ति प्रयोगे जोडे पुद्गल शर्म;

परलोभे, परभोगने, योगे थाये पर-कर्तार,

एह अनादि प्रवर्ते, बाधे पर विस्तार’ ॥ १४ ॥

अपनी शक्तियां पुद्गल में लगाकर हमने पर का ही विस्तार

किया है। गुणों का विकास ही स्व-विस्तार कहलाता है। आत्म-गुणों के बिना भव-भव भटकना ही है।

भव-भ्रमण के फेरे बन्ध करने हों तो गुण प्राप्त करने ही पड़ेंगे।

ममता दोष है, समता गुण है - यह समझ में आता है ? जानते हुए भी ममता बढ़ाते रहें तो क्या कहें ? जहां मूर्च्छा आयेगी वहां ममता आयेगी ही। ममता से समाधि उद्वेलित हो जायेगी।

समस्त दोषों ने गुणों को रोक दिया है। जहां गुण रह सकते हैं वहीं दोष रहते हैं। आत्म-प्रदेशों की जगह इतनी ही है। जो जो दोष है, उन्होंने गुणों का स्थान दबा दिया है, यह मानना।

दोषों की केबिनेट हमारे भीतर डेरा डाले हुए है। वह जो निश्चय करती है, उन पर हम सिग्नेचर करते रहते हैं।

क्या आप जानते हैं कि आत्मा की कर्तव्य, भोक्तृत्व, ग्राहक, रक्षक, शक्तियां आज कहाँ प्रवृत्त है ?

शक्ति उल्टी चलती है अतः हम चाहे जो वस्तु एकत्रित करते रहते हैं। हम बच्चे जैसे हैं। चमकदार कंकड़ों को भी हम एकत्रित करने लग जाते हैं।

इसी कारण से संसार की वृद्धि हो रही है।

शशिकान्तभाई -

संसार को नहीं, शासन को हरा-भरा रखने का आशीर्वाद मांगे। बीसवीं शताब्दी का यह अन्तिम दीपावली पर्व है। गुरु के पास मत मांगिये, परन्तु मैं शासन को क्या दे सकता हूं, यह सोचें।

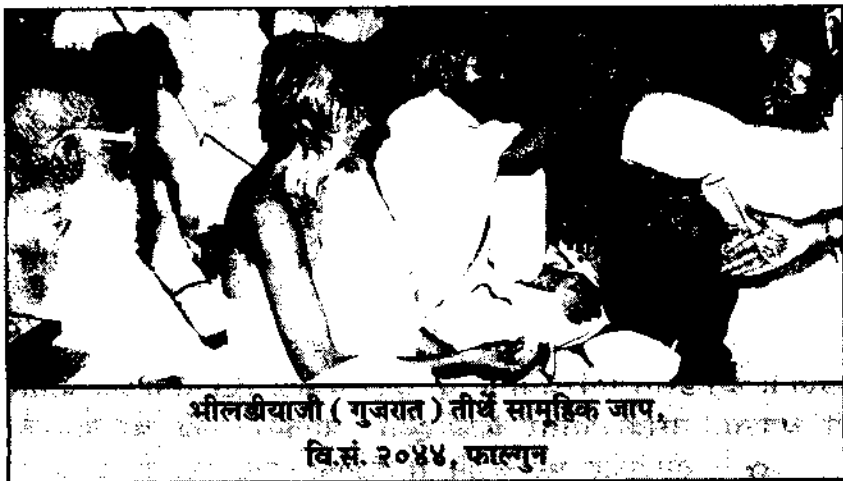
दीपोत्सवी पर्व में संकल्प लें -

छः अरब की जनसंख्या में जैन केवल एक करोड़ ही हैं। यह संख्या भी घटती जा रही है। यह हम पर बड़ा भारी उत्तरदायित्व है।

एक छोटी सी चिट्ठी लिख कर संकल्प लिखें। मिशन एक्ट बनायें।

आपके इस जीवन का ध्येय क्या है ? यह लिख कर बताओ। आपका संकल्प पूर्ण करने के लिए प्रकृति सहायता करने के लिए आ पहुंचेगी। प्रकृति का यह नियम है।

• • • • •



भीलखीयाजी (गुजरात) तीर्थ सामूहिक जाप,
वि.सं. २०४४, फाल्गुन

९-११-१९९९, शनिवार
नूतन वर्ष, वि. संवत् २०५६, का. सु. १

✽ संयम-जीवन सुरक्षित रहे, मोक्ष का उद्देश्य सफल हो, जिसके लिए शास्त्रकारों ने उपाय बताये हैं ।

✽ संयम-जीवन का श्रेष्ठ पालन करने से यही मोक्ष के सुख की अनुभूति होती है ।

✽ चार गतियों में सर्वोच्च मनुष्यगति है । तीर्थंकर भी अन्त में मनुष्य बनकर ही मोक्ष में जाते हैं ।

आज तक तीर्थंकर बनकर मोक्ष गये हुए (जिन सिद्ध) कितने हैं ? तीर्थंकर हुए बिना मोक्ष गये हुए (अजिन सिद्ध) कितने हैं ? दोनों अनन्त हैं, परन्तु दोनों में फरक है । तीर्थंकर अनन्त से असंख्यात गुने अनन्ता अन्य मोक्ष में गये हैं ।

भरतक्षेत्र की अपेक्षा से एक अवसर्पिणी में चौबीस ही तीर्थंकर मोक्ष में गये हैं परन्तु उनके शासन में असंख्यात मोक्ष में गये ।

महाविदेह क्षेत्र में इतने काल में असंख्यात तीर्थंकर मोक्ष में गये हैं । इनसे दूसरे असंख्यात समझ लें ।

✽ साधु-जीवन के व्रत संसार के क्षय के लिए हैं ।

कर्म का मूल अविरति है । 'एगविहे असंजमे ।'

संसार का मूल केवल एक ही प्रकार में बताना हो तो असंयम, अविरति है। इनसे अब तक जीव ने कर्मों का ही संग्रह किया है।

बालक कंकड़ों का संग्रह करता है, उस प्रकार स्वर्ण-चांदी एकत्रित करनेवाला भी ज्ञानी की दृष्टि में बालक ही हैं। केवल रंग में अन्तर है। ज्ञानी की दृष्टि में स्वर्ण अर्थात् पीले कंकड़, चांदी अर्थात् श्वेत कंकड़। व्यक्ति चाहे जितना बड़ा बन जाय परन्तु यदि वह जिन-वचन नहीं समझता तो बच्चा ही रहेगा, केवल उसके खिलौने बदलेंगे, उसकी वृत्तियां नहीं बदलेंगी। कंकड़ों से खेलनेवाला बालक वयस्क होकर पीले कंकड़ों से खेलता है। इसमें तात्त्विक फरक कहाँ पड़ा ? खिलौनों का प्रकार ही बदला, उसके भीतर बैठा हुआ 'बालक' नहीं बदला।

✽ तप्त लोहे पर चलने में जितना कष्ट होता है उतना ही कष्ट संवेगी जीव को हिंसा आदि पाप करने में होता है। कच्चे पानी पर या वनस्पति पर चलने में उसे तप्त लोहे पर चलने जैसा लगता है।

✽ आज मैं सभी साधु-साध्वियों को वासक्षेप डालूंगा, परन्तु गृहस्थ गुरु-पूजन करते हैं उस प्रकार आप क्या करेंगे ? आप कोई न कोई अभिग्रह ग्रहण करके संयम जीवन को सुशोभित करें; परिग्रह का बोझ कम हो, ऐसा कुछ करें।

हमारे गुरुदेव पू. कंचनविजयजी कालधर्म को प्राप्त हुए तब उपकरणों में केवल संथारिया एवं उत्तरपट्टा ही थे। वे सर्वथा फक्कड़ थे।

जिसके पास 'बोक्स' कम है, उसका 'मोक्ष' शीघ्र होगा, यह याद रहे।

अध्ययन का भी अभिग्रह लिया जा सकता है।

शान्तिनगर, अहमदाबाद में एक साध्वीजी ने 'ग्यारह हजार, एकसौ ग्यारह' श्लोक कण्ठस्थ करने का अभिग्रह किया था, फिर एक वर्ष में पूर्ण करके पूरी सूची हमें भेजी थी।

आत्मा का नैश्चयिक स्वरूप हम 'संथारा पोरसी' के समय नित्य बोलते हैं।

‘एगोहं नत्थि मे कोई ।’

अकेले आये हैं, अकेले जायेंगे, मरते समय कौन साथ

आयेगा ? ये ज्ञानादि गुण ही । तो फिर इन गुणों को संस्कार का पुट क्यों न दें ?

वज्रस्वामी को तीन वर्ष की उम्र में ग्यारह अंग कैसे याद रह गये ? इतनी बुद्धि उन्हें कहां से मिली ? तिर्यग्जुंभक के पूर्व जन्म में नित्य पुण्डरीक-कण्डरीक अध्ययन का पांचसौ बार पुनरावर्तन करते थे, जो अष्टपद तीर्थ पर गौतमस्वामी के मुंह से सुना था ।

अध्यात्म गीता :

एम उपयोग वीर्यादि लब्धि, परभाव रंगी करे कर्मवृद्धि;
परदयादिक यदा सुह विकल्पे, तदा पुण्यकर्मतणो बंध कल्पे ॥ १५ ॥

पौद्गलिक लाभ (धन आदि) मिलने पर जीव गौरव एवं आनन्द का अनुभव करता है कि मैं सुखी हुआ; परन्तु वास्तव में तो यह दुःख का मूल है, यह बात जीव समझता नहीं है ।

जीव की मुख्य दो शक्तियां हैं :

१. उपयोग शक्ति - ज्ञान ।

२. वीर्य शक्ति - क्रिया ।

इन दोनों शक्तियों को हमने परभाव संगी बना दी है । उसके द्वारा कर्मों की ही वृद्धि की है ।

पुन्य-कर्म स्वर्ग में पहुंचाते हैं, परन्तु मोक्ष में जाना हो तो आत्मशुद्धिजन्य गुण चाहिये । उसके लिए सद्गुरु-योग चाहिये ।

हिंसा दो प्रकार की है : १. द्रव्य : जीव हिंसा, २. भाव : गुण हिंसा ।

जब आवेश में आते हैं तब हम भूल जाते हैं कि हम भाव-प्राण की हिंसा कर रहे हैं ।

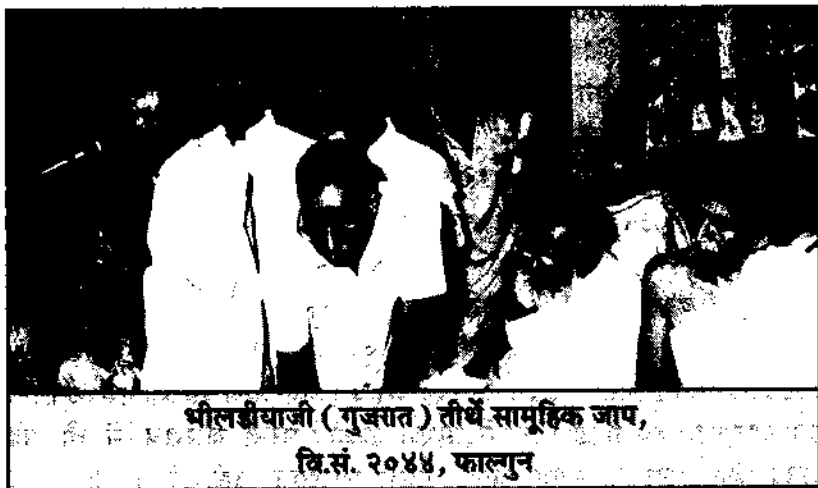
द्रव्य-हिंसा से भी यह भाव-हिंसा खतरनाक है ।

दूसरे को क्रोधित करते हैं यह भी हिंसा है । अन्य को मारने से हिंसा होती है उस प्रकार अन्य को क्रोधित करना भी उसकी हिंसा है । यह प्रथम हिंसा से खतरनाक है ।

दोष मिटें और गुण बढ़ें, यही नूतन वर्ष की शुभेच्छा है ।

परस्पर प्रेमपूर्वक रहें, क्लेश से दूर रहें, एक दूसरे को सहायक बनें, वैयावच्च करते रहें, तो जीवन धन्य बनेगा ।

♦ ♦ ♦ ♦ ♦



भीलडीयाजी (गुजरात) तीर्थे सामूहिक जाप,
वि.सं. २०४४, फाल्गुन

१०-११-१९९९, बुधवार
का. सु. २

❖ संसार में भटकती-परिभ्रमण करती हमारी आत्मा को अनन्त पुद्गल परावर्त व्यतीत हो गये, परन्तु अभी तक भव-भ्रमण का अन्त नहीं आया । महा पुन्योदय से ही जिनवचनों को श्रवण करने का सुअवसर मिलता है । श्रवण करने का लाभ सद्गुरु-संयोग से ही मिलता है । सद्गुरु-संयोग दुर्लभ है । सद्गुरु का सम्पर्क योगावंचकता से होता है ।

१. योगावंचक ।
२. क्रियावंचक ।
३. फलावंचक ।

इन तीनों में भी योगावंचकता ही दुर्लभ है । गुरु में तारकता के दर्शन करना योगावंचकता है ।

समवसरण में अनेक बार जा आये, देशना श्रवण कर आये, परन्तु तारक-भाव उत्पन्न नहीं हुआ, अतः सब व्यर्थ गया ।

इस समय भगवान नहीं है, भगवान का शासन है । उसमें तारक-बुद्धि उत्पन्न हो जाये तो काम हो जाये । आत्मज्ञान की सच्ची भूख लगी हो तो आज भी तृप्ति हो सकती है । भोजनशाला का

स्वामी (भगवान) भले उपस्थित न हों, परन्तु भोजन परोसनेवाला रसोइया उपस्थित है, फिर आपकी तृप्ति को कौन रोक सकता है ?

भिखारी हो, भूख लगी हो, सामने घेवर तैयार हों तो क्या वह इनकार करेगा ? इनकार करे तो वह कैसा कहलायेगा ? हम इस प्रकार के मूर्ख भिखारी हैं । सामने से मिलता है फिर भी इनकार करते हैं ।

‘भूख्या ने जिम घेवर देतां, हाथ न मांडे घेलोजी’

फिर भी रसोइया (गुरु) दयालू है । सोचता है कि यह भिखारी बेचारा रोगी है । उसका उपचार करने से रुचि बढ़ती है । उसे तत्त्व-प्रीतिकर पानी (दर्शन), विमला-लोक अंजन (ज्ञान), परम अन्न भोजन (चारित्र) दूंगा तो ठिकाना पड़ेगा; और उस प्रकार करते करते, वह धीरे-धीरे भिखारी को ठिकाने लाता है ।

आप भिखारी के स्थान पर स्वयं को रखें ।

रसोइये के स्थान पर गुरु को रखें ।

तो यह सब बातें अच्छी तरह समझ में आ जायेंगी ।

❖ योग्य दीक्षा पर्याय के बिना, आवश्यक ज्ञान एवं आन्तरिक परिणति की परीक्षा के बिना यदि बड़ी दीक्षा दी जाये तो मिथ्यात्व, अनवस्था आदि दोष लगते हैं ।

बड़ी दीक्षा (उपस्थापना) के लिए तीन मर्यादाएं हैं :

जघन्य : ७ दिन ।

मध्यम : ४ महिने ।

उत्कृष्ट : ६ महिने ।

हमारी बड़ी दीक्षा १२ महिनों के बाद हुई । पू. पद्मविजयजी महाराज (पू. जीतविजयजी महाराज के गुरु) की बड़ी दीक्षा तेरह वर्षों के बाद हुई जो उनकी अयोग्यता के कारण से नहीं, परन्तु पदवीधर की प्राप्ति नहीं होने के कारण हुई ।

सात दिनों की मर्यादा अपने लिए नहीं है, अमुक साधुओं के लिए ही है ।

ऐसा जो नहीं करते उन्हें मिथ्यात्व आदि का दोष लगते हैं ।

अध्यात्म गीता :

ते हिंसादिक द्रव्याश्रय करतो चंचल चित्त,

कटुक विपाकी चेतना मेले कर्म विचिन्तित;

आत्मगुणने हणतो, हिंसक भावे थाय,

आत्म धर्मनो रक्षक, भाव अहिंसक कहाय. ॥ १६ ॥

कार्य करने की और कार्य करने से पूर्व जानने की आत्मा की ये दो मुख्य शक्तियां हैं ।

वीर्यगुण और ज्ञानगुण को कर्म सर्वथा ढक नहीं सकता, परन्तु जब तक उपयोग परभावरंगी बना हुआ हो, तब तक कर्म-बन्धन चालु रहता है । हम ही अपने आसपास जाल रचते हैं, अपनी बेड़ियों को सुदृढ़ करते हैं ।

एक आत्म-प्रदेश कर्म का बन्धन करे और दूसरा आत्म-प्रदेश कर्म काटे, ऐसा कभी नहीं होता । कोई भी कार्य सभी आत्म-प्रदेश मिलकर ही कर सकते हैं ।

✻ आसक्ति के कारण अत्यन्त ही चिक्ने अशुभ कर्म बंधते हैं । कभी-कभी शुभ कार्य से शुभ कर्म बंधता है, परन्तु भीतर का उपयोग बदला न होने के कारण शुभ अनुबंध नहीं पड़ता ।

अनन्तानुबंधी कषाय भीतर पड़ा हो वैसे जीव ऐसे आवेश में होते हैं । थोड़ा भी छोड़ने के लिए वे तैयार नहीं होते । ऐसे जीव शुभ क्रिया करें तो भी अनुबंध तो अशुभ ही पड़ते हैं ।

याद रहे कि अनन्तानुबंधी की उपस्थितिमें एक भी गुण सही तरीके से प्रकट नहीं हो सकता ।

‘मेले’ अर्थात् प्राप्त करना है, कर्म-बन्धन करता है ।

अनन्तानुबंधी एवं मिथ्यात्व की उपस्थिति में नरक की आयु बंधती है । सम्यक्त्व की उपस्थिति में तो वैमानिक का ही आयुष्य बंधता है । देव हो तो मनुष्य की आयु बांधता है ।

✻ आत्म-गुणों की हिंसा करनेवाला भाव-हिंसक कहलाता है, स्वभाव-घातकी कहलाता है । हम दूसरे को मारनेवाले को हिंसक कहते हैं, परन्तु भाव-प्राण की हिंसा कभी हमारी दृष्टि में ही नहीं आती ।

द्रव्य-हिंसा हो गई हो फिर भी स्वभाव दशा में मुनि को हिंसा का दोष नहीं लगता या पूजा करनेवाले को हिंसा का दोष नहीं लगता । इसका यही कारण है ।

यहां भाव-प्राणों की हिंसा नहीं है, क्योंकि यहां आत्मगुणों की रक्षा करने का उद्देश्य है । यदि यह मानने में नहीं आये तो साधर्मिक-भक्ति, प्रवचन-श्रवण आदि एक भी कार्य नहीं हो सकेगा ।

‘आत्मगुण रक्षणा तेह धर्म, स्वगुण-विध्वंसना तेह अधर्म;
भाव अध्यात्म अनुगत प्रवृत्ति, तेहथी होय संसार-छिन्ति’ ॥ १७ ॥

दूसरे के द्रव्य-प्राणों की तरह भाव-प्राणों की भी रक्षा करनी है । उसे क्रोध न आये आदि की भी सावधानी रखनी है । क्या हम यह समझे हैं ?

इस प्रकार अध्यात्मानुसार प्रवृत्ति शुरू हो तब ही संसार का छेद शुरू होता है ।

द्रव्य से गुरु-निश्रा मिली हो वह नहीं, परन्तु गुरु में भगवद्बुद्धि, तारक-बुद्धि उत्पन्न हुई वह योगावंचकता है ।

ऐसी आत्मा प्रभु की वाणी सुनती है, श्रद्धा करती है और उस पर आचरण करती है ।

✽ मेघकुमार का जीव हाथी में से आया था । उसे प्रथम देशना से ही क्यों वैराग्य हुआ ? क्योंकि उसके जीव ने पूर्व भव में शशक की (खरगेश की) निष्काम भाव से दया की थी ।

१. संसार परिमित किया ।

२. मनुष्य जन्म प्राप्त किया ।

३. तीर्थंकर जैसे गुरु प्राप्त किये ।

उसने ये तीन वस्तु प्राप्त कर लीं । ऐसा पू. हरिभद्रसूरिजी ने उपदेशपद में कहा है ।

यह अध्यात्मानुगत किया कहलाती है ।

✽ यथाप्रवृत्तिकरण को अव्यक्त समाधि कहा गया है । अव्यक्त इसलिए कि अभी तक सम्यक्त्व प्राप्त नहीं किया ।

✽ गुणों की अनुमोदना तथा उनके प्रति रुचि के द्वारा ही सदा गुणों की प्राप्ति होती है । उससे पूर्व गुण दरवाजे पर भी नहीं आते ।

.



११-११-१९९९, गुरुवार
 का. सु. ३

❖ ग्रहण-आसेवन-शिक्षा से तैयार कर के गुरु शिष्य को बड़ी दीक्षा देते हैं ।

श्रावक कुल में उत्पन्न व्यक्ति ही दीक्षा ग्रहण कर सकता हो ऐसी बात नहीं है, जैनतर ब्राह्मण आदि भी दीक्षा ग्रहण कर सकते हैं । उन्हें पृथ्वी आदि में भी चैतन्य है, ऐसी श्रद्धा करने के बाद ही बड़ी दीक्षा देते हैं । उन्हें उसके लिए वनस्पति आदि में जीवत्व की सिद्धि तर्क पूर्ण रीति से समझाते हैं ।

१. पत्थर खान में खोदने के बाद ही बढ़ता है ।
 २. मैढकों की तरह पानी भीतर से फूटता है ।
 ३. अग्नि लकड़ेरूपी खुराक से बढ़ती है ।
 ४. वायु किसीसे प्रेरित न होकर बहता है ।
 ५. वनस्पति बढ़ती है, पुनः उगती है, वृद्ध होती है, मरती है ।
- यह सब समझा कर उसमें जीवत्व सिद्ध करते हैं ।
 बड़ी दीक्षा के समय हितशिक्षा देते हुए गुरु कहते हैं -
सम्मं धारिज्जाहि

सीखा हुआ सम्यक् प्रकार से धारण करना ।

अत्रेसि पवज्जाहि

अन्य को देना ।

गुरुगुणेहि वुद्धिज्जाहि

महान गुणो से वृद्धि प्राप्त करना ।

नित्थारपारगा होह

संसार से पार उतरना ।

प्रदक्षिणा देते समय शिष्य के संचार पर से गुरु उसका भविष्य देखते हैं कि उसके कदम किस ओर जा रहे हैं ? उससे ही उसका भविष्य जाना जा सकता है ।

बड़ी दीक्षा के बाद भी परिणत हो तो ही मांडली में प्रवेश दिया जा सकता है, अन्यथा नहीं ।

व्रत-पालन के उपाय :

व्रत तो दे दिये परन्तु व्रतों की रक्षा कैसे करें - यह भी महत्वपूर्ण बात है । पुत्र को दुकान तो सौंप दी, परन्तु सौंपने के बाद उसे कैसे संभालना, यह भी सिखाना पड़ता है ।

गमन, शयन, आसन, आहार, स्थंडिल, समिति, भावना, गुप्ति, चैत्य इत्यादि साधु व्यवहार के विषय में व्यवस्थितरूप से गुरु समझाये ।

अध्यात्म गीता

दूसरे के प्राण बचाना दया कहलाती है उस प्रकार उसके गुण बचाना भी महान् दया कहलाती है ।

उदाहरणार्थ - कोई आवेश में आने के कारण आत्म-हत्या करने जाता हो, तो उसे समझायें - 'भले आदमी ! ऐसा किया जाता है ? क्या ये जीवन नष्ट करने के लिए हैं ? उसके आवेश का शमन करना भी भाव-दया है ।

ये समस्त हित-शिक्षा भाव-धर्म की रक्षार्थ ही है, हृदय कोमल रहे उसके लिए ही है ।

आवेश में रहें, माया-प्रपंच करें, आसक्ति रखें तो समझ लें कि 'हम अपने ही भाव-प्राणों की हत्या कर रहे हैं ।'

भगवान ने कहा है - 'आत्मगुणों की रक्षा करें', परन्तु हम विपरीत कर रहे हैं ।

शक्ति होते हुए भी नहीं पढो तो क्या ज्ञान-गुण का हनन नहीं होगा ? क्या ज्ञानावरणीय कर्म नहीं बंधेंगे ? दुकान लेने के बाद गृहस्थ यदि दो वर्षों तक बंध रखे तो... ?

हमें अध्ययन ज्यादा लगता है । गृहस्थों को सन्तोष नहीं है । हमें सन्तोष है ।

कमाई करके खर्च ही करना हो तो फिर कमाई नहीं करना ही अच्छा, ऐसा सोचकर कोई गृहस्थ कमाई करना छोड़ नहीं देता तो फिर हम किसी बहाने की आड़ लेकर पढना छोड़ कैसे सकते हैं ?

अध्ययन करना, परन्तु कैसा अध्ययन करना ? जो अध्ययन अध्यात्म में प्रवृत्ति कराये वह अध्ययन करें । 'निज स्वरूप जे क्रिया साधे, तेह अध्यात्म कहिये रे'

हमारी विशिष्ट क्रिया के द्वारा हमारा ज्ञान अभिव्यक्त होता है । क्रिया अर्थात् हमारा दैनिक वर्तन । हमारे व्यवहार के द्वारा ज्ञान की परीक्षा होती है ।

भाव-चारित्र आ गया तो ज्ञान और दर्शन आ ही गये समझें । इसके बिना भाव-चारित्र आता ही नहीं ।

❖ किसी की बारत में जाओ तो क्या दूल्हे को भूल जाओगे ? दूल्हे के बिना तो बारत हो ही नहीं सकती ।

हमारी अभी यही दशा है । दूल्हे को, आत्मा को हम भूल गये हैं । अतः संथारा पोस्सी में 'एगोह' इन दो गाथा के द्वारा आत्मा को याद करनी है ।

'एह प्रबोधना कारण तारण सद्गुरु संग,

श्रुत उपयोगी चरणानंदी करी गुरुसंग;

आतम तत्त्वावलंबी रमता आतमराम,

शुद्ध स्वरूपने भोगे, योगे जस विश्राम' ॥ १८ ॥

❖ जाना था पूर्वमें, हम जा पहुंचे पश्चिम में । गुरु हमें उल्टे मार्ग पर जाने से रोकते हैं ।

❖ इस समय हम बीच में हैं ।

'पंथ वच्चे प्रभुजी मल्या...'

बीच में तीन प्रकार से :

१. सातवे गुणस्थान की अपेक्षा से ।

२. मध्य लोक की अपेक्षा से ।

३. मानव भव की अपेक्षा से ।

निगोद से निर्वाण की यात्रा में मानव-भव बीच में है ।

❖ यदि दीक्षा ग्रहण नहीं की होती, गृहस्थी में रहे होते तो किसी का मानना पड़ता कि नहीं ?

दूसरों का मानना अच्छा कि भगवान का मानना अच्छा ?

भगवान की आज्ञानुसार जीवन जियें, कि मोह की आज्ञानुसार जीवन जियें ? यह हमें निश्चित करना है ।

गुरु ही मोह-तिमिर के नाशक हैं, सत्य ज्ञान प्रदाता है ।

सद्गुरु कैसे होते हैं ?

श्रुत में उपयोगवंत होते हैं । केवल शिक्षित ही नहीं, परन्तु शिक्षा के अनुसार उपयोगपूर्वक जीने वाले होते हैं ।

चारित्र में रमण करनेवाले होते हैं, आत्म-तत्त्व का आलम्बन ग्रहण करनेवाले होते हैं ।

• • • • •

‘कह्युं कलापूर्णसूरि’ पुस्तक जोयुं अद्भुत वाचनाओने उद्भूत
करीने लख्युं छे ते श्रमण वृंदोने उपयोगी बनशे बंधु-युगल जोडीए
ज्ञान-साधनामां अभिवृद्धि करी तेनी अनुमोदना.

- आ. विजयगुणरत्नसूरि

- पं. रविरत्नविजय
मुस्त.



सीमाधीनानी (गुजरात) सीमेंट सामायिक जात,

दिनांक २०४४, फाल्गुन

१२-११-१९९९, शुक्रवार

का. सु. ४

★ 'सामायिक' शब्द के श्रवण मात्र से अनन्त जीव केवलज्ञानी बने हैं । उपशम, विवेक और संवर शब्द के श्रवण से हत्यारा चिलातीपुत्र स्वर्गवासी बना था । सामायिक की इस समय आराधना करके संस्कार सुदृढ बनायें तो आगामी जन्म में सामायिक, शब्द के स्मरण से हमें 'जाति स्मरण ज्ञान' हो सकता है ।

'आगामी भव (जन्म)में मैं बन्दर बननेवाला हूँ ।'

सीमंधरस्वामी से यह बात जानकर एक देव ने उस जंगल की शिलाओं पर नवकार कोतरा । यह देखकर उसे बन्दर के भव में जाति स्मरण ज्ञान हुआ ।

★ चाहे जितने अधम से अधम जीव का तारणहार शासन है, जिसके अर्जुनमाली, चंडकौशिक, शूलपाणि, कमठ इत्यादि उदाहरण हैं । बाहर से खराब प्रतीत होने वाला अयोग्य जीव भी ज्ञानी की दृष्टिमें अयोग्य नहीं है ।

'कटोरे में शराब भरी है तो क्या हुआ ?

आखिर तो वह कटोरा सोने का है न ?'

हमारा जीव सोने का कटोरा है । आज भले ही उसमें शराब

हो, परन्तु कल उसमें अमृत आयेगा, ऐसा ज्ञानी देख रहे हैं ।

✿ पंचवस्तुक में से मैं सब नहीं कहता, आवश्यक बातें ही करता हूँ ।

गुरु, गच्छ, वसति, संसर्ग, भक्त, उपकरण, तप, विचार, भावना, कथा इन स्थानों में मुनि प्रयत्न करते हैं ।

✿ कृपा करके गुरु ने पांच चिन्तामणि तुल्य पांच महाव्रत दिये हैं, उनकी रक्षा कैसे की जायें ? कैसे उनका संवर्धन किया जाये ? यह हमें देखना है ।

‘ज्ञाता धर्म कथा’में वर्णित उन चार पुत्र-वधूओं के समान चार प्रकार के जीव होते हैं :

१. कई खो देनेवाले (उज्झिका)
२. कई खानेवाले (भक्षिका)
३. कई रक्षा करनेवाले (रक्षिका)
४. कई संवर्धन करनेवाले (रोहिणी)

हमारा नम्बर किसमें है ?

अब कम से कम इतना करें :

जिनके आप शिष्य बने हैं, वे (गुरु) आपके लिए पश्चात्ताप नहीं करेंगे कि ‘ऐसे को कहां दीक्षा दी ?’

संवर्धन न हो तो कोई बात नहीं, कम से कम सुरक्षा तो करें । ‘रोहिणी’ तुल्य बनने के लिए तो शायद पुन्य चाहिये, लेकिन ‘रक्षिका’ बनने में तो पुरुषार्थ चाहिये, जो स्वाधीन है ।

✿ लक्ष्मी की हानि (धन-हानि) होने के कारण :

खो जाये, लुट जाये, घर का बुझ्ग चला जाये ।

उदाहरणार्थ : मोतीशा सेठ के स्वर्गवास के बाद खेमचन्द सेठ की दशा अन्त में निर्धन जैसी हो गई थी ।

मोतीशा सेठ के चीन जानेवाले जहाज के पीछे चांचिये पड़े । सेठ को समाचार मालूम होने पर सेठ ने मनौती मानी - ‘इसमें से जहाज बच जाये और जितना लाभ हो वह मैं सुकृत मार्ग में खर्च करूंगा ।’ बारह लाख का लाभ हुआ, जिसमें से कुन्तासर की खाई भर कर मोतीशा सेठ की टूंक का निर्माण हुआ ।

भादौ शुक्ला ३ को मोतीशा का स्वर्गवास हुआ, परन्तु उससे

पूर्व प्रतिष्ठा का मुहूर्त निकलवा लिया था और पुत्र को उन्होंने धूमधाम से प्रतिष्ठा करने का कहा था ।

कुम्भ स्थापना के दिन पालीताना में खेमचन्द की माता दीवालीबेन का देहान्त हो गया, फिर भी प्रतिष्ठा धूमधाम से हुई ।

कुलक्षणवाला मकान (प्राचीन कालमें दास-दासी-ढोर आदि भी सुलक्षणयुक्त रखते थे) कुलक्षणवाले अभिमंत्रित वस्त्र, कुछ रोगी आदि से वासित उपकरणों का परिभोग, अजीर्ण पर बार बार भोजन करने से हुई बीमारी के पीछे खर्च, बार बार बीमारी के पीछे खर्च, प्रतिकूल विचार एवं राजा आदि की टीकात्मक वाणी (राजा क्रोधित होकर देश निकाला देता है), अशुभ अध्यवसाय (क्रोध के विचार से भी धनहानि होती है) अयोग्य स्थान पर निवास, राज्य के विरुद्ध कथा कहना इत्यादि कारणों से बड़े-बड़े धनवान भी निर्धन बन जाते हैं । इनसे विपरीत कारणों से रंक भी धनवान बन जाते हैं । हमारे पास भी आभ्यन्तर चारित्र की सम्पत्ति है, वह लुट न जाये, उसकी सावधानी रखनी है ।

गुरु, गच्छ, आदि चारित्र धन की वृद्धि करनेवाले परिबल है ।

अध्यात्म गीता

‘सद्गुरु योगथी बहुलजीव, कोई वली सहजथी थई सजीव;
आत्मशक्ति करी ग्रन्थि भेदी, भेदज्ञानी थयो आत्मवेदी ॥ १९ ॥

❖ विद्या होठों पर (कण्ठस्थ) होनी चाहिये, धन (पैसा) जेब में होना चाहिये । उधार धन से माल नहीं मिलता । उधार ज्ञान साधना में काम नहीं आता । इसीलिए कहता हूँ कि यह ‘अध्यात्म गीता’ कण्ठस्थ करें ।

❖ सीढियों पर जाना हो तो पीछे की सीढियां पार करनी पड़ती हैं । वहां दृढता से स्थिर बनना पड़ता है । उसके लिए पल-पल का ध्यान रखना पड़ता है । थोड़ी असावधानी होते ही गुणस्थानक चला जाता है । एक समान गुणस्थानक तो केवल भगवान को ही रहता है ।

प्राप्त भूमिका में स्थिरता एवं आगे बढ़ने की प्रेरणा क्रिया करने से प्राप्त होती है, इस प्रकार सद्गुरु हमें समझाते हैं ।

कई जीव सद्गुरु के सम्पर्क से राग-द्वेष की तीव्र ग्रन्थि तोड़कर आत्म-शक्ति प्रकट करते हैं, सम्यग्दर्शन प्रकट करते हैं। यहां होनेवाला ज्ञान विषय प्रतिभास नहीं, परन्तु आत्मपरिणतिमान ज्ञान होता है। इतना हो जाये तो मानव-जीवन सफल। सम्यग्दर्शन प्राप्त होने पर भेद ज्ञान होता है, शरीर से आत्मा की भिन्नता की अनुभूति होती है। कतिपय जीव मरुदेवी माता की तरह गुरु के बिना भी ग्रन्थि-भेद कर लेते हैं।

‘द्रव्य गुण - पर्याय अनन्तनी थई परतीत,
जाण्यो आत्मकर्ता-भोक्ता गई परभीत;
श्रद्धा-योगे उपन्यो भासन सुनय सत्य,
साध्यालंबी चेतना वलगी आत्म-तत्त्व’ ॥ २० ॥

केवलज्ञान आदि के अनन्त पर्यायों की प्रतीति हुई। मेरी आत्मा स्वगुणों की कर्ता-भोक्ता है, उसकी खात्री हो गई, जिससे पर-पुद्गल का भय टल गया। ऐसी श्रद्धा के कारण सुनय का ज्ञान मिला (अन्य नयों को मिथ्या न कह कर अपना मण्डन करें वह सुनय कहलाता है), ऐसी चेतना साध्य तत्त्व का आलम्बन लेकर आत्म-तत्त्व को लिपटी रहती है।

• • • • •

आ पुस्तक स्वाध्याय माटे / आत्मिक-विकास माटे घणुं ज
सुंदर छे. वांचवानुं शरु कर्युं छे.

- मुनि संवेगवर्धनविजय
घाटकोपर, मुंबई.



भीलडीयाजी (गुजरात) तीर्थ साप्ताहिक जाप,
वि.सं. २०४४, फाल्गुन

१३-११-१९९९, शनिवार
ज्ञान - पंचमी

व्याख्यान

✧ मानव भव, पंचेन्द्रिय-परिपूर्णता आदि हमें बहुत मिला है, परन्तु उसके सदुपयोग की कला गुरु से प्राप्त नहीं की तो सब निरर्थक है ।

✧ जैन कुल में जन्म लिया अतः ओष से भी नवकार गिनना, दर्शन-पूजा के लिए जाना, व्याख्यान में जाना आदि स्वाभाविक रूप से प्राप्त हो ही जाते हैं ।

✧ प्रभावना मिलने के लोभ से भी पूजा आदि में जाना होता है । हम स्वयं भी प्रभावना के लोभ से पूजामें जाते थे । प्रभावना वितरण करने में गड़बड़ होने के भय से प्रभावना बंध नहीं की जाती । पू. नेमिसूरि के फलोदी चातुर्मास (वि.सं. १९७२) के समय गड़बड़ के कारण प्रभावना बंध रखी गई, परन्तु उन्होंने पुनः शुरू कराई थी ।

✧ आज ज्ञान पंचमी है ।

ज्ञान में प्रमाद करें तो ज्ञानकुशील कहलाते हैं । इस तरह अन्य स्थान पर भी दर्शन-कुशील आदि भी समझें ।

पांच प्रहर तक स्वाध्याय आदि न करें तो ज्ञान-कुशील का विशेषण मिल जायेगा ।

ज्ञान का फल विरति मिलता है तब वह ज्ञान सफल होता है । हमें जड़ से भिन्न बतानेवाला ज्ञान है । ज्ञान जीव का भाव-प्राण है ।

द्रव्य-प्राण चले जाते हैं, यही रह जाते हैं, परन्तु भाव-प्राण साथ ही रहते हैं । यदि भाव-प्राण न हों तो द्रव्य-प्राण का कोई मूल्य नहीं है । शव देखो । उसमें द्रव्य-प्राण है, परन्तु भाव-प्राण नहीं है । शव का कोई मूल्य नहीं है ।

❖ नाम इस देह का है फिर वह कल्पित है । आत्मा तो अनामी है । नाम केवल पहचान एवं व्यवहार के लिए है । इसके अलावा नाम की कोई उपयोगिता नहीं है । नाम लक्ष्मीचंद है और उसके पास लक्ष्मी का अभाव हो ऐसा भी होता है । नाम जीवनलाल हो और वह मृत्यु-शैया पर पड़ा हुआ हो यह भी बनता है । नाम ईश्वर हो और वह पूर्णतः कंगाल हो, ऐसा भी होता है । ऐसा हम चारों ओर देखते भी हैं, फिर भी इस नाम के लिए कितनी सिरपच्ची करते हैं ? लगभग आधा जीवन तो हम इस नश्वर नाम को अमर करने के पीछे व्यतीत कर देते हैं ।

सम्यग्ज्ञान हमें सिखाता है कि इस नाम एवं रूप का मोह छोड़ो और अनामी तथा अरूपी प्रभु की उपासना करो ।

❖ ज्ञान-विहीन मनुष्य पशु कहलाता है । मनुष्य को पशु से भिन्न करनेवाला ज्ञान है ।

ज्ञान की उत्कृष्ट आराधना करके मनुष्य अपने भीतर विद्यमान दिव्यता को विकसित कर सकता है । ज्ञान से दूर रहकर वह 'पशुता' की श्रेणि में भी जा सकता है ।

❖ पहले बालक अध्ययन हेतु जाने से पूर्व सरस्वती की पूजा करते थे ।

सरस्वती का यहां कोई विरोध नहीं है । इसे हम 'श्रुत-देवता' कहते हैं । नित्य प्रतिक्रमण आदि में हम श्रुत-देवता का स्मरण करते हैं ।

श्रुतदेवता अर्थात् आगम ।

भगवान के जितना ही मूल्य आगमों का गिना जाता है । भगवान के विरह में तो आगमों का मूल्य अनेक गुना बढ़ जाता है ।

यदि हमें आगम प्राप्त नहीं हुए होते तो हम क्या करते ? चुनाव प्रचारकों की तरह केवल भाषण देते, जिनमें स्व-प्रशंसा एवं पर-निन्दा के अलावा कुछ नहीं होता ।

अपेक्षाकृत मूर्ति से भी आगम बढ़कर हैं । यह मूर्ति पूज्य है, ऐसा बतानेवाले भी आगम ही हैं ।

आंखें और पैर दोनों में मूल्यवान कौन है ? आंखें मूल्यवान हैं । पैर चलने का कार्य करते हैं, परिश्रम का कार्य करते हैं । आंखें आराम से उपर बैठी हैं, विशेष कोई कार्य करती प्रतीत नहीं होती, फिर भी आंखें ही मूल्यवान गिनी जाती है, पैरों को कांटे, विष्टा, जीव-हिंसा आदि से बचानेवाली आंखें हैं । पैर = क्रिया । आंखें = ज्ञान ।

इसीलिए उपाध्याय यशोविजयजी ने 'ज्ञानसार' में ज्ञानरहित क्रिया एवं क्रिया-रहित ज्ञान के बीच जुगनु और सूर्य के जितना अन्तर बताया है ।

ज्ञान की आराधना से कितना लाभ ?

ज्ञान की विराधना से कितनी हानि ?

यह हम वरदत्त और गुणमंजरी की कथा से अनेकबार सुन चुके हैं ।

वरदत्त ने पूर्व के आचार्य के भव में वाचना आदि को बन्ध करके तथा गुणमंजरी ने सुन्दरी के भव में पुत्रों को अनपढ़ रखकर पुस्तकों आदि को जलाकर ज्ञानावरणीय कर्म का बन्धन किया था ।

दोनों गूंगे उत्पन्न हुए ।

ज्ञानपंचमी की आराधना से वे दोनों सुखी हुए । हम भी ज्ञान की विराधना कर-करके कई बार वरदत्त गुणमंजरी जैसे जड़ एवं गूंगे बने होंगे, लेकिन उसके बाद का उत्तरार्द्ध हमारे जीवन में घटित नहीं हुआ होगा । ज्ञानपंचमी की आराधना से हम लाभान्वित नहीं हुए होंगे । यदि लाभान्वित हुए होते तो आज हमारी ऐसी दशा नहीं होती ।

पद्मपुरनगर में चतुर्जानी अजितसेन आचार्य ने देशना में ज्ञान-प्रधान देशना दी कि 'समस्त क्रिया का मूल श्रद्धा है, भक्ति है। श्रद्धा का मूल भी ज्ञान है।'

देशना सुनकर वरदत्त के पिता राजा ने वरदत्त के गूंगेपन के विषय में तथा गुणमंजरी के पिता ने गुणमंजरी के गूंगेपन के विषय में प्रश्न पूछे। आचार्यदेव ने दोनों के पूर्वभव बताये। उन्होंने ज्ञानावरणीय कर्म किस प्रकार बांधा यह समझाया।

सच्ची माता पढ़ाने के लिए ध्यान रखती है।

गुणमंजरी के जीव ने सुन्दरी के भव में शिक्षक की अवहेलना की थी। उसने पुत्रों का अध्ययन बन्ध कर दिया। पुस्तक आदि जला दिया। इससे भयंकर ज्ञानावरणीय कर्म-बन्धन किया।

पुत्र बड़े होने पर उन्हें कोई अपनी कन्या विवाह में देने के लिए तैयार न होने पर रुष्ट पति ने पत्नी सुन्दरी को लताड़ दी। सुन्दरी भी शान्त रहनेवाली नहीं थी। वह गर्ज उठी, 'पुत्री माता की और पुत्र पिता के माने जाते हैं। पुत्रों का उत्तरदायित्व तुम्हारा गिना जाता है। मुझे क्यों धमकाते हो? तुम भी मूर्ख हो और तुम्हारे पिता भी मूर्ख हैं। तुम मूर्ख हो तो पुत्र कैसे विद्वान बनें? आखिर सन्तान तो तुम्हारे ही है न?'

आदि आदि बातें सुनकर क्रोधित पति ने उस पर स्लेट फेंकी। स्लेट सिर में जोर से लगने के कारण वह मर गई।

वही सुन्दरी आज गुणसुन्दरी बनी है।

श्रीपुरनगर - वासुदेव सेठ - दो पुत्र - वासुसार एवं वासुदत्त। मुनिसुन्दरसूरि के परिचय से दोनों ने दीक्षा ग्रहण की।

छोट्य भाई होशियार था। विद्याध्ययन करके आचार्य बने। वाचना आदि में कुशल बने। बड़े भाई में विशेष बुद्धि नहीं थी। परन्तु बड़े आचार्य भी कैसे भूलते हैं? यह देखने योग्य है। अतः बड़े साधक को भी प्रतिक्षण सावधानी रखनी आवश्यक है।

एकबार आचार्य शयन कर चुके थे। उस समय एक शिष्य कुछ पूछने के लिए आया। उसे देखकर अन्य शिष्य भी पूछने आ गये। आचार्यश्री की नींद खराब हो गई। नींद बिगड़ने से उनका मन बिगड़ गया। वे विचार में पड़ गये - 'इसकी अपेक्षा

बड़े भाई की तरह मैं मूर्ख रहा होता तो ठीक था । उन्हें मूर्ख के आठ गुण याद आये :

मूर्खत्वं, हि सखे ममापि रुचितं तस्मिन् यदष्टौ गुणा ।

निश्चिन्तो बहुभोजनोऽत्रपमना नक्तंदिनं शायकः ।

कार्याऽकार्यविचारणान्धबधिरो मानाऽपमाने समः ।

प्रायेणाऽऽमयवर्जितो दृढवपुः मूर्खः सुखं जीवति ॥

निश्चिन्तता, अधिक भोजन खा सकने की शक्ति, निर्लज्जता, रात-दिन सोये रहना, कार्य या अकार्य की विचारणा ही नहीं करनी, मान या अपमान में समभाव, रोग-रहितता, सुदृढ शरीर - ये मूर्ख के आठ गुण हैं । अतः हे मित्र ! मुझे भी मूर्खता प्रिय है ।

बस, अब उन्हें पढ़ाना बन्ध किया, जिसके कारण इस भव में यह राजकुमार वरदत्त मूक (गूंगा) बना है ।

झूठे मुंह बोलना, जेब में छपे हुए कागज आदि रखकर दीर्घशंका-लघुशंका हेतु जाना, अक्षरवाले वस्त्र पहनने, समाचारपत्रों आदि पर बैठना, चित्रों पर पांव रखना आदि ज्ञान की आशातनाएं हैं ।

श्रुतज्ञान की विराधना करेंगे तो बहरे-गूंगे बनना पड़ेगा, आराधना करेंगे तो श्रुतज्ञान केवलज्ञान तक पहुंचा देगा ।

• • • • •

'कहे' अने 'कह्युं' ना जाजरमान प्रकाशनो जैन संघने भेट आपी
महान उपकार कयों छे.

अमने पूज्यश्रीनी वाणीनो साक्षात् संयोग करावी आप्यो.

- मुनि देवरात्रसागर

मुंबई.



भीमासुर (कच्छ) अंजन शलाका - प्रसिद्ध, वि.सं. २०४९

१४-११-१९९९, रविवार

का. सु. ६

❖ व्यापार के लिए धन चाहिये । अधिक धन हो तो अधिक माल रख सकने के कारण व्यापार अधिक होता है । धन अर्थात् ज्ञान, माल अर्थात् क्रिया, व्यापार में लाभ अर्थात् कर्म की निर्जरा ।

अल्प ज्ञान हो तो छोटे व्यापारी अथवा फेरीवालेके जितनी कमाई (कर्म निर्जरा) होती है ।

अधिक ज्ञान हो तो बड़ी दुकान के व्यापारी की तरह भारी कमाई होती है ।

ज्ञान की अधिक सम्पत्ति लगाओ, अत्यन्त ही लाभ होगा । इसके लिए गुरुकुल-वास चाहिये, यह न भूलें ।

श्रेष्ठ गुरुकुलवास, श्रेष्ठ साथी, श्रेष्ठ (सुलक्षणयुक्त) उपकरण रखें तो अत्यन्त ही कर्म-निर्जरा रूप लाभ होता है ।

हमारा ज्ञान चाहे अल्प हो, परन्तु अप्रतिहत सामर्थ्ययुक्त ज्ञानी गुरु का ज्ञान हमारे काम आता है ।

हम अपने भाग्य की क्या सराहना करें ? अनायास ही हमें ऐसे गुरुदेव प्राप्त हो गये ।

पुन्य जोरदार हो तो कुलक्षण युक्त साधनों से भी मनुष्य कमा

कहे कलापूर्णसूरि - १ *** ५४९**

लेता है, कारागार में भी कमा लेता है। भाग्य खराब हो तो सुलक्षण युक्त साधनों से भी मनुष्य दरिद्र ही रहता हो, यह भी सम्भव है। परन्तु यहां सुगुरु की निश्चा आप जिनाज्ञापूर्वक स्वीकार करो तो खराब होने का कोई अवसर नहीं है। अतः शुभ गुरु की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिये।

सर्व प्रथम यह देखना चाहिये कि गुरु एवं गुरुकुल कैसे हैं ? गुरु महान गुणों से युक्त होते हैं।

जिस प्रकार बड़े उदार सेठ के पास नौकरी करते हो और सेठ को आपके प्रति प्रेम हो तो धीरे-धीरे आप उसके पास उधार माल लेकर धंधा (व्यवसाय) शुरू करो तो कितने मालामाल हो जाओगे ?

उस प्रकार ज्ञानदाता उदार गुरु मिल जायें तो काम हो जाये। गुरु के गुण देखते-देखते शिष्य में भी संक्रान्त होंगे ही। पढ़ने से नहीं आये वह देखने से आता है। पू.पं. भद्रंकरविजयजी महाराज के पास तीन वर्ष रहने से उनके गुण प्रत्यक्ष देखने का अवसर मिला, जिससे अत्यन्त ही लाभ हुआ।

नवसारी स्थित आदिनाथ जिनालयवाले तीन चार वर्षों से प्रतिष्ठा के लिए विनती करते रहे। अन्त में पूज्य पं. भद्रंकरविजयजी ने उन्हें बेड़ा (राजस्थान) में समझा दिया। उसके बाद उन्होंने पूज्य सुबोधसागरसूरिजी से प्रतिष्ठा कराई।

पू. पंन्यासजी महाराज के पास रहने से हमें बहुत ही फायदा हुआ।

उत्तम सेठ को कोई नहीं छोड़े तो उत्तम गुरु को शिष्य कैसे छोड़े ? गुरुकुलवासी का पुन्य और गुणों का भण्डार भरता ही जाता है।

गुरु का विनय करने से वह साधु दूसरों के लिए मार्गदर्शक बनते हैं। आपके दृष्टान्त से दूसरों को भी प्रेरणा मिलेगी।

गुरुकुल - वास मार्ग है, क्योंकि ज्ञान, दर्शन, चारित्र की प्राप्ति एवं पालन गुरुकुलवास से ही सम्भव है।

आत्म-निवेदन अर्थात् स्वयं को गुरु के चरणों में समर्पित करना।

आप गुरु का बहुमान करते हैं, तब सचमुच गौतमस्वामी से लगाकर समस्त गुरुओं का बहुमान करते हैं और तीर्थंकरों की आज्ञा

का पालन करते हैं क्योंकि गुरुकुल-वास में रहना तीर्थंकरों की ही आज्ञा है ।

गुरुकुल में रहने से वैयावच्च का लाभ मिलता है । शुद्ध ज्ञान आदि की प्राप्ति होती है । आज आया, कल गया, ऐसा नहीं, परन्तु सदा टिकनेवाला ज्ञान प्राप्त होता है । 'आदि' से दर्शन आदि की भी प्राप्ति होती है ।

अध्यात्म गीता

❖ सम्यक्त्व दो प्रकार से प्राप्त होता है : निसर्ग से, एवं अधिगम से ।

किसी को लोटरी से धन मिलता है । (निसर्ग)

किसी को पुरुषार्थ से धन मिलता है । (अधिगम)

इलाचीकुमार, भरत इत्यादि को हुआ केवलज्ञान नैसर्गिक नहीं गिना जाता । इसमें पूर्व जन्म का पुरुषार्थ कारण माना जाता है । मरुदेवी का केवलज्ञान नैसर्गिक गिना जाता है ।

❖ जीवन में भूल होना बड़ी बात नहीं है, पश्चात्ताप एवं प्रायश्चित्त करना बड़ी बात है । मार्ग भूलना बड़ी बात नहीं है, भूलने के बाद वहां से लौटना बड़ी बात है । अनेक व्यक्ति तो कुमार्ग से भी लौटने के लिए तैयार नहीं होते । हमारे दर्शनविजयजी महाराज 'घराणा' के पास आकर भी मार्ग भूलने से 'आधोई' के बजाय 'लाकड़िया' पहुंच गये थे ।

❖ सच्चा यथाप्रवृत्तिकरण वह है जो अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण लाकर सम्यक्त्व देता है । अन्यथा इससे पूर्व अनेक यथाप्रवृत्तिकरण किये, परन्तु वे सब सम्यक्त्व नहीं दे सके । चरम यथाप्रवृत्तिकरण ही सम्यक्त्व देता है ।

'इन्द्रचन्द्रादि पद रोग जाण्यो,

शुद्ध निज शुद्धता धन पिछाण्यो;

आत्मधन अन्य आपे न चोरे,

कोण जग दीन वली कोण जोरे ?' ॥ २१ ॥

इष्ट वस्तु मिलने पर सुख मिलेगा ऐसी अब तक जो भ्रमणा थी, वह आत्मा मिलने पर चली जाती है । आत्मधन प्राप्त होने

पर ऐसे सुख, इन्द्र-चन्द्र आदि के सुख भी रोग प्रतीत होते हैं, क्योंकि उसने आन्तरिक सुख जान लिया है। ऐसे साधक में कभी दीनता नहीं होती।

मेरे आत्मधन को कोई चुरा नहीं सकेगा, कोई राजा छीन नहीं सकेगा और कोई बलपूर्वक लूट सकेगा नहीं। फिर भय किस बात का ?

जो मेरा है वह जानेवाला वहीं है।

जो जाता है वह मेरा नहीं है।

फिर भय किस बात का ?

* * * * *

विणयमूलो धम्मो

संसारो ताप, उत्ताप अने संताप ए त्रिविध दुःखथी मुक्त
करावनार एक मात्र आत्मज्ञान छे। आत्मा ते ज्ञान-रहित छे नहि,
पण जीवने हुं आवो सुख संपन्न, दुःख रहित, कोई अचिंत्य पदार्थ
हुं तेवुं भान नथी। गुरुगम वडे जिज्ञासु ए निधानने जाणे छे अने
शुद्ध भाव वडे तेनो अनुभव करे छे। गुरुगम प्राप्तिनो उपाय विनय
छे।



अपने शिष्य-गण के साथ पूज्यश्री,
भचाउ - अंजन शलाका, वि.सं. २०५५

१५-११-१९९९, सोमवार
का. सु. ७

✻ जो उल्लास से दीक्षा अंगीकार करता है वह उल्लास से पालता ही है, फिर इतना उपदेश किस लिए ? जीव के परिणाम समान नहीं रह सकते । परिणाम सदा बढ़ते-घटते रहते हैं, क्योंकि वे क्षायोपशिमक हैं ।

इसी कारण से ही सिंह + सियार की चतुर्भंगी शास्त्रों में बताई है ।

मन में सतत उठनेवाली विविध वृत्तियों पर विजय प्राप्त करनी कोई सरल नहीं है ।

हमारे परिणाम निरन्तर बने रहें, इसीलिए शास्त्रकारों ने शास्त्रों की रचना की है । इसीलिए महापुरुषों के जीवन श्रवण करने हैं, उनके नाम श्रवण करने हैं । भरहेसर सज्जाय क्या है ? केवल महापुरुषों के नाम हैं । उनके नामों में उनका इतिहास छिपा है । प्रत्येक नाम में संयम एवं सत्त्व का बल भरा हुआ है ।

सिंह के जैसे परिणाम सियार के जैसे बनने लगे तब उन्हें टिकाने वाले धर्मशास्त्रों के उपदेश है, महापुरुषों के नाम हैं ।

गुरुकुल-वास का सर्वाधिक लाभ नित्य गुरु के दर्शन होना

है। नित्य पुण्य के भण्डार भरते हैं। नमस्कार-भाव, पुण्य का परम कारण है।

हमारे विनय को देखकर अन्य व्यक्ति विनय सीखते हैं। अन्य व्यक्ति भी गुरु-कुल-वास स्वीकारें, चारित्र्य में भी स्थिरता रहे। वृद्धों के पास रहने से संयम सुरक्षित रहता है। यह भी गुरुकुल-वास का महान् लाभ है।

यह दीक्षा, ज्ञान आदि की साधना के लिए ली है जो गुरु-सेवा से ही सम्भव है।

विशुद्ध संयम से योग्य शिष्य प्राप्त होते हैं और वे भी गुरु की तरह निर्मल आराधना करते हैं। इससे जन्मान्तर में भी शुद्ध मार्ग की प्राप्ति होती है। इस जन्म में प्राप्त शुद्ध मार्ग सूचित करता है कि पूर्व जन्म में हमने संयम की विशुद्ध साधना की है।

शुद्धि एवं अशुद्धि के संस्कार जन्मान्तरों तक चलते हैं। हम चिलातीपुत्र आदि के उदाहरण जानते हैं।

गुरुकुल-वास मोक्ष का मुख्य कारण है, क्योंकि मोक्ष मार्गरूप रत्नत्रयी गुरुकुलवास से ही प्राप्त होती है।

भगवान् महावीर के ७०० साधु, १४०० साध्वी, गौतम स्वामी के ५०००० (पचास हजार) शिष्य मोक्ष में गये हैं जो इस विशुद्ध संयम के बल से गये हैं। उस संयम की विशुद्धि की उपेक्षा कैसे की जाये ?

अध्यात्म गीता

ज्ञान आदि को उज्ज्वल बनाने के लिए अध्यात्म योग चाहिये। मन आदि तीन का शुभ व्यापार ही अध्यात्म योग है।

❖ जितने अंशों में आत्मा की रुचि होगी, उतने ही अंशों में उसकी जानकारी होगी। जितने अंशों में जानकारी होगी, उतने ही अंशों में आप उसकी रमणता कर सकते हैं। इस प्रकार रुचि, ज्ञप्ति एवं रमणता उत्तरोत्तर निर्भर है।

पुद्गल द्रव्यों की रुचि, ज्ञप्ति एवं रमणता का अनुभव हमें हैं, परन्तु आत्मा का थोड़ा भी अनुभव नहीं है। आत्मा स्वयं ही स्वयं से ही अनजान है। सब को देखनेवाली आंखें स्वयं को ही देख नहीं सकती।

✿ चारित्र का पालन करने से आत्मानुभूति प्रकट होती ही है । यदि प्रकट नहीं हो तो चारित्र के पालन में कहीं त्रुटि समझें ।

✿ मिथ्यात्व एवं चारित्र मोहनीय कर्म की निर्जरा होती है तब आत्मानन्द प्रकट होता ही है । कर्म-निर्जरा को जानने की यही एकमात्र कसौटी है । यह आनन्द समता का, प्रशम का होता है ।

✿ मोहराजा का भय तब तक ही लगता है, जब तक हम आत्मशक्ति एवं प्रभु-भक्ति का बल नहीं जानते । बकरों के टोले (समूह)में रहनेवाले सिंह को जब निज-सिंहत्व का ज्ञान हो जाता है, फिर वह क्यों डरेगा ?

'तप-जप मोह महा तोफाने, नाव न चाले माने रे;
पण मुज नवि भय हाथो हाथे, तारे ते छे साथे रे.'
यशोविजयजी के ये उद्गार देखें ।

'आतम सर्व समान, निधान महासुखकंद,
सिद्धतणा सार्धमिक सत्ताए गुण वृंद;
जेह स्वजाति बंधु तेहथी कोण करे वध बंध,
प्रगट्यो भाव अहिंसक जाणे शुद्ध प्रबंध.' ॥ २२ ॥

आज तक जीवों के प्रति द्वेष था, वह अब मैत्री में बदल जाता है । जो हमारा माने नहीं, अपमान करे, वैसे जीवों के प्रति भी प्रेम प्रवाहित होता है ।

अपुनर्बन्धक (मार्गानुसारी) में मित्रा आदि चार दृष्टि आ गई । अन्य दार्शनिकों में भी ऐसे साधक मिलते हैं, जो सबके प्रति प्रेम की वृष्टि करते हों, प्रभु को जपते हों चाहे वे अल्लाह, ईश्वर, राम, रहीम, कृष्ण या अन्य किसी नाम से ईश्वर को पुकारते हों ।

देखिये 'अल्लाह' एवं 'अर्हम्' में कितनी समानता है ? दोनों में पहले 'अ' और अन्त में 'ह' है; बीच में 'र' का 'ल' हो गया है । इतना ही अन्तर है ।

ऐसा साधक सब को कैसे देखता है ?

'आत्मवत् सर्वभूतेषु ।'

समस्त जीवों को अपने समान देखता है ।

'मातृवत् परदारेषु ।'

परस्त्रियों में माता का रूप देखते हैं ।

‘यः पश्यति स पश्यति ।’

वही वास्तव में देखता है ।

समस्त जीवों में सिद्धत्व का ऐश्वर्य है । अब जगत् के समस्त जीव सिद्धों के साधर्मिक बन्धु बने, उनका वध-बंध कैसे हो सकता है ? इसमें तो सिद्धों का ही अपमान गिना जायेगा ।

म.सु. ४ ना हृदयने व्यथित करी दे, दिलने हचमचावी दे एवा दुःखद समाचार मळ्या ।

श्री जैनशासननी एक अत्यंत विरल कक्षानी अने विशिष्ट कक्षानी साधक व्यक्तिनी विदाय कोने व्यथित न करे ? आप सहने तो शिरच्छत्र गुमाव्यानो अत्यंत आघात हशे ज । पण पू.आ.भग.श्री तो एवुं व्यक्तित्व हतुं के आखा श्री जैन संघने शिरच्छत्र गुमाव्या जेवुं लागे छे ।

पं.श्री अजितशेखरविजयजीनी पंच्यास पदवीं वखते सुरतमां पूज्यश्रीनी साथे रहेवानुं थयेलुं अने ए वखते तेओश्रीनी प्रभुभक्ति अने सतत अध्यात्मरमणता माणवा मळेली । जेना द्वारा तेओश्रीना आंतरवैभवनी कईक पण झारखी थयेली... तेओश्री विविध शासन प्रभावक प्रसंगो दाम्यान हजारोनी वच्चे रहेवा छतां अंदरथी तो मात्र पोताना आत्मा साथे ज रहेता हता ए वातनी ए वखते अनुभूति थयेली । स्वाध्याय तेओश्रीनो प्राण हतो । एक क्षण पण अवकाश मळे एटले स्वाध्यायनुं पुस्तक तेओश्रीना हाथमां दृष्टिगोचर बने ज । तेओश्री अध्यात्मना आनंदने सतत माणी रहा हता अने एटले ज तेओश्रीना मुख पर पण सदा प्रसन्नता वाताती हती । तेओश्रीनो विशुद्ध कक्षानो पुण्यप्रकर्ष पण विरल कक्षानो हतो अने तेथी शासनप्रभावनाना कार्योनी हारमाळओ सतत सर्जाती रहेती हती । तेओश्रीना दर्शन माटे सतत भीड रहेती, लोको कलाको सुधी प्रतीक्षा कस्ता...

चतुर्विध श्रीसंघने तेओश्री प्रत्ये अनहद, आदर-बहुमान भाव हतो । तो तेओश्रीना दिलमां पण श्रीसंघनुं अनेरुं स्थान हतुं । जे तेओश्रीना नम्रतासूचक ‘श्रीसंघे मने दर्शन आप्या’ वचनथी अनेकवार व्यक्त थतुं हतुं ।

आवो विरल साधक आत्मा श्री जैन संघने फरो क्यारे मळशे ? ए तो भविष्य ज कहेसे... आप सर्वे पण श्री जिनवचनोने परिणत करनार छो... एटले एना बळे वधुमां वधु स्वस्थता - समाधि जाळवनार बनी रहो एवी परमकृपाळु परमात्माने प्रार्थना करुं छुं ।

समाचार मळ्या पछी अमे देववंदन कर्या हता तथा श्री चिन्तामणि पार्श्वनाथ जैन संघ, गोरगाममां म.सु. ५ ना रविवारे गुणानुवादी सभातुं आयोजन कर्युं हतुं तथा तेओश्रीना साधनामय जीवननी अनुपेदनार्थे मं.सु. ६नो अहुम कर्यो छे ।

- एज... अभयशेखरसूरिनी अनुवंदना

म.सु. ७, गोरगाम, मुंबई



१६-११-१९९९, मंगलवार
का. सु. ८

☆ थर्मामीटर से ज्ञात होती गर्मी भीतर के ज्वर को बताती है, उस प्रकार बहार व्यक्त होते राग-द्वेष आदि भीतर का कर्म-रोग बताते हैं। अध्यात्म-योग के बिना यह कर्म-रोग मिट नहीं सकता।

होटल में जाकर आप ज्यादा-ज्यादा ओर्डर देते जाओ, त्यों ज्यादा-ज्यादा बिल बढ़ता जाता है। पुद्गल का उपयोग ज्यादा-ज्यादा करते जायें त्यों-त्यों उसका बिल बढ़ता जाता है।

☆ ग्रन्थि-भेद होता है तब केवल प्रभु ही नहीं, जगत के समस्त जीव भी पूर्ण प्रतीत होते हैं, वे सिद्ध के सार्थक प्रतीत होते हैं। 'ज्ञानसार' के प्रथम अष्टक में यही बात समझाई गई है। ऐसा साधक अनन्तकाय कैसे खा सकता है? प्रत्येक जीव में उसे पूर्णता प्रतीत होती है।

एक जीव का आप अपमान करते हैं, मतलब आप अपना ही अपमान करते हैं, यह बात समझनी है। त्रिपृष्ठ ने शय्यापालक का अपमान किया, उसके कानों में सीसा गला कर डाला गया। परिणाम क्या हुआ? महावीर के भव में कानों में कीलों की वेदना सहन करनी पड़ी।

‘ज्ञाननी तीक्ष्णता चरण तेह, ज्ञान एकत्वता ध्यान गेह;
आत्म तादात्म्यता पूर्ण भावे, तदा निर्मलानन्द सम्पूर्ण पावे.’ ॥ २३ ॥

❖ हिंसा में जीव का दुःख जानता है फिर भी बचा नहीं सकता,
जिसका दुःख सम्यक्त्वी को होता है, इसीलिए वह दुःखी होता है ।

❖ तलवार तीक्ष्ण होती है तो काम में आती है ।

ज्ञान तीक्ष्ण हो तो ध्यान हो सकता है ।

ध्यान तीक्ष्ण हो तो स्वभाव-रमणता हो सकती है ।

बाज़ार में माल खरीदने के लिए रोकड़ा धन चाहिये, उस प्रकार यहां भी रोकड़ा ज्ञान चाहिये । उधार ज्ञान नहीं चलता । युद्ध के मोर्चे पर शस्त्रागार में रखी तोप काम नहीं आती । जो शस्त्र पास में, युद्ध के मैदान पर तैयार हों वे ही शस्त्र काम में आते हैं । पुस्तकों में तथा नोट बुकों में रहा ज्ञान काम में नहीं आता । जीवन में आत्मसात् किया गया ज्ञान ही काम में आता है । यही चारित्र है, यही ध्यान का घर है ।

जब भी आप निर्मल आनन्द प्राप्त करना चाहते हों तब ज्ञान को तीक्ष्ण बनाना ही पड़ेगा ।

• • • • •

ज्ञानी : मान-सरोवरनो हंस

मान सरोवरनो हंस गंदा पाणीमां मुख न नाखे, ते मोतीनो
चारो चरे, तेम साधक-ज्ञानी संसारना व्यावहारिक प्रयोजनो करवा
पडे तो करे, पण तेने प्राधान्य न आपे, परंतु ज्ञानीने मार्गे चाले.
जिनाज्ञाने अनुसरे.



पूज्यश्री का निर्मल हास्य, वि.सं. २०५७

१७-११-१९९९, बुधवार

का. सु. ६

❖ गुरु का परिवार गच्छ है । वहां रहनेवालों की विपुल कर्म-निर्जरा होती है, क्योंकि वहां विनय का विकास होता है, वहां सारणा-वारणा आदि मिलती है, जिससे दोष नष्ट होते हैं । उनका विनय देखकर नूतन शिष्य भी विनय सीखते हैं । जिससे उनकी परम्परा चलती है । यह बड़ा भारी लाभ है ।

दूसरों की आराधना में निमित्त बनना अतिप्रशस्त लाभ है ।

१. सारणा - स्मारणा = याद कराना ।

पड़िलेहण आदि कोई भी बात याद करानी ।

२. वारणा - निषेध करना ।

अशुभ प्रवृत्ति से दूसरों को रोकना ।

३. चोयणा - प्रेरणा करना ।

दूसरों को उंचे गुणस्थानक पर चढ़ने की प्रेरणा देना ।

जिन-जिन गुणों की योग्यता प्रतीत हो, उनमें प्रेरणा देना ।

४. पड़िचोयणा - प्रतिप्रेरणा - अयोग्य व्यवहार करना बंध न करे तो ताड़ना आदि का भी प्रयोग करना ।

ये चारों बातें गच्छ में ही हो सकती हैं । गच्छ का यह भारी लाभ है ।

गच्छ में एक दूसरे के सहायक बनने से मोक्ष निकट आता है ।

आदिनाथ भगवान के जीव ने पूर्व भव में जीवानन्द वैद्य के रूप में पांच मित्रों के साथ मुनि की कैसी सेवा की थी, जिसके प्रभाव से भरत, बाहुबली, ब्राह्मी, सुन्दरी एवं श्रेयांसकुमार आदि सभी अन्तिम भव में मोक्ष में गये ।

सहकार का कितना बड़ा प्रभाव है ?

सारणा आदि होते रहने से गच्छ में रहनेवाले शिष्यों का शीघ्र कल्याण होता है ।

✽ आज पू. पं. भद्रकरविजयजी का चिन्तन थोड़ा याद करें । वि. संवत् २०३३में कच्छ आते समय प्रसादी के रूप में जो नोट बुक दी थी उसे खोलता हूं ।

शुद्ध आज्ञायोग एवं भावधर्म क्या है ? वह देखें । धर्म के चार प्रकार हैं - दान, शील, तप एवं भाव ।

चार प्रकार का धर्म समग्र जगत् के लिए उपकारी है । भगवान के चार मुंह, चार प्रकार का धर्म एक साथ बताने के लिए ही मानों किये हैं । ऐसी कल्पना कलिकाल सर्वज्ञ श्री हेमचन्द्रसूरिजी ने की है ।

भावधर्म तात्त्विक है । शेष तीन उसके साधक हैं । इन तीनों के बिना भाव धर्म उत्पन्न नहीं होता, यह भी न भूलें ।

✽ केशी स्वामी एवं गौतम स्वामी मिले तब परस्पर चर्चा हुई, समाधान हुआ, आज की तरह झगड़े नहीं हुए । उत्तराध्ययन में इसका एक पूरा अध्ययन है । पूज्य कनकसूरिजी 'ए दोय गणधरा' सज्जाय खास बोलते थे । सुनने में आनन्द आता था ।

✽ अन्य के प्रति औचित्य बतायें तब हम स्वयं पर ही अपना उपकार करते हैं ।

दूसरों को धर्म में जोड़ने में निमित्त बनने से अच्छा और क्या है ? यह 'विनियोग' कहलाता है ।

आप खराब करेंगे तो आपका देखकर दूसरे खराब करना सीखेंगे । मोहराजा के माल का विनियोग होगा । आपको किसका माल बेचना है ?

धर्मराजा की ओर से स्वर्ग - अपवर्ग मिलेगा ।

मोहराजा की ओर से कमीशन के रूप में संसार-भ्रमण मिलेगा ।

उत्कृष्ट स्तर का विनियोग करनेवाले को धर्मराजा भगवान बनाते हैं । विनियोग अल्प मात्रा में होता जाये त्यों त्यों उसे गणधर, युगप्रधान आचार्य आदि पद देते हैं ।

अध्यात्म गीता

‘चेतन अस्ति स्वभावमां, जेह न भासे भाव,
तेहथी भिन्न अरोचक, रोचक आत्म स्वभाव;
समकित भावे भावे, आतम शक्ति अनन्त,
कर्म-नाशन चिन्तन, नाणे ते मतिमंत.’ ॥ २४ ॥

✽ ज्ञान-ध्यान में मस्त अप्रमत्त मुनि मोह से नहीं डरते, कर्म से नहीं डरते, कोई दुर्भावना उत्पन्न करने की शक्ति उन कर्मों में नहीं होती । उल्टे वे कर्म मुनि से डरते हैं : कब यहां से भाग जायें ।

इस दशा में विभाव दशा से अरुचि, आत्म-स्वभाव की ही रुचि होती है ।

✽ आत्मप्रदेश में कर्म एवं गुण दोनों हैं ।

एक अस्ति स्वभाव से, दूसरे नास्ति स्वभाव से हैं ।

कर्म संयोग सम्बन्ध से वस्त्र की तरह हैं ।

गुण समवाय सम्बन्ध से चमड़ी की तरह हैं ।

गुण अस्ति स्वभाव से और कर्म नास्ति स्वभाव से है ।

सत्ता में गुण अनादिकाल से हैं, उस प्रकार कर्म भी अनादिकाल से हैं । परन्तु दोनों के संयोग में अत्यन्त फरक है । परिवारजनों में एवं नौकरों में फरक तो होगा न ?

वस्त्र में मैल भी है और तन्तु भी हैं, फरक है न ?

कर्म मैल है, गुण तन्तु है ।

कर्म नौकर है, गुण परिवार-जन हैं ।

हम गुणों को, परिवार-जनों को निकालते हैं और उद्धत नौकरों को (दोषों को) निकालने के बदले उन्हें थपथपाते हैं ।

✽ डॉक्टर को पूछे बिना अपने आप दवा लेकर रोगी नीरोगी नहीं बन सकता, उस प्रकार गुरु के बिना अपने आप शिष्य भाव रोग से मुक्त नहीं हो सकता ।

.



अपने दो पुत्र-शिष्यों के साथ, वि.सं. २०५२

१८-११-१९९९, गुरुवार
का. सु. १०

अध्यात्म गीता

'व्यवहार से जीव चाहे बंधा हुआ है, परन्तु निश्चय से वह अलिप्त है, क्योंकि सभी द्रव्य परस्पर अप्रवेशी हैं। अनादि काल से जीव एवं पुद्गल साथ रहते हैं, फिर भी जीव पुद्गल नहीं बनता और पुद्गल जीव नहीं बनता।' ऐसी बातें जानता होने से अलिप्त साधक, मोह को पराजित करता है। मोह को जीतने के ये तीक्ष्ण शस्त्र हैं।

✽ 'ज्ञानसार' व्यवहार एवं निश्चय दोनों के सन्तुलन से युक्त अद्भुत ग्रन्थ है। साधकों के लिए अत्यन्त ही उपयोगी है। इसीलिए पू. देवचन्द्रजी ने यशोविजयजी को भगवान कहकर उस पर 'ज्ञान मंजरी' टीका लिखी है। 'ज्ञानसार' सर्वमान्य ग्रन्थ है।

✽ जो पुद्गल स्व से भिन्न है, उसके प्रति प्रेम क्या? उसके प्रति आसक्ति क्या? यह बात अप्रमत्त मुनि जानते हैं; जबकि हमें पुद्गलों के प्रति प्रगाढ़ आसक्ति है, पुद्गल हमें अपने लगते हैं।

जब तक हमारी ओर से सम्मान एवं सत्कार प्राप्त होते रहेंगे,

तब तक पुद्गल आत्म-घर में से निकलने का नाम नहीं लेंगे । चिपकु मेहमानों को आप नित्य मिष्टान्न देते रहो, फिर वे क्यों जायेंगे ?

अप्रमत्त मुनि इन चिपकु अतिथियों को पहचान गये हैं । वे उनको सम्मान देना बन्ध करते हैं ।

❖ स्वद्रव्य आदि चार से अस्तित्व

परद्रव्य आदि चार से नास्तित्व आत्मा में रहा हुआ है ।

मोहराजा की सारी सेना आत्मा में नास्तित्व के रूप में ही है, अस्तित्व के रूप में नहीं । इस बात का हमें ध्यान नहीं होने से ही हम दुःखी हैं ।

आत्मा तो निर्मल स्फटिक तुल्य है । इसमें कहीं भी अशुद्धि का अंश नहीं है ।

जीवन से उब जायें, निराशा हमें चारों ओर से घेर ले, तब शुद्ध स्वरूप का विचार हमारे भीतर से कायरता को भगा देता है ।

दुर्गादास अत्यन्त ही जिज्ञासु श्रावक था । उसके निवेदन पर ही अध्यात्मगीता की रचना हुई है । उस समय लाइबेन नाम की श्राविका अत्यन्त ही जिज्ञासु थी जो उसके तत्त्वपूर्ण पत्र से ज्ञात होता है ।

उक्त पत्र एक पुस्तक में छपा हुआ है ।

'स्वगुण चिंतनरसे बुद्धि घाले, आत्मसत्ता भणी जे निहाले; शुद्ध स्याद्वाद पद जे संभाले, पर घरे तेह मुनि केम वाले ?' ॥ २५ ॥

❖ आज चाहे पिता की रकम है, परन्तु कल वह पुत्र की ही होगी । उस प्रकार भगवान का ऐश्वर्य अन्ततोगत्वा भक्त का ही है ।

❖ भगवान की प्रतिमा और भगवान के आगम हमारे लिए दर्पण हैं, जिनमें निरीक्षण करने पर तुरन्त ही अपने दोष दिखने लगते हैं ।

जब हम क्रोध के आवेश में हों और भगवान की शान्त प्रतिमा देखें, तब हम कैसे दिखते हैं ? कहां शान्तरसमय प्रभु और कहां क्रोध से तमतमाता मैं ?

भगवान के आगम पढ़ते समय भी हमारे अपार दोष स्पष्ट दिखते हैं ।

दर्पण कुछ भी पक्षपात नहीं करता । आप यदि रोते हों तो

दर्पण आपका मुंह रोता हुआ बताता है । आप यहि हंसते हों तो दर्पण आपको हंसता हुआ बताता है । भगवान की प्रतिमा एवं आगम भी कोई पक्षपात नहीं करते । जो है वही बताते हैं ।

✽ भगवान की पूजा वस्तुतः आत्मा की ही पूजा है ।

गुरु या भगवान खुद का विनय नहीं करते खुद की पूजा नहीं कराते, परन्तु साधक का यही मार्ग है । वह पूजा-विनय करता जाये त्यों उसका साधना का मार्ग स्पष्ट बनता जाता है । उसे स्वयं को भी लाभ होता जाता है ।

इसीलिए 'जेह ध्यान अरिहंत को सो ही आतम ध्यान' कहा गया है । इसीलिए प्रभु के गुणों में तन्मयता वस्तुतः आत्मा में ही तन्मयता है, ऐसा कहा गया है ।

जिसे आत्म-रमणतारूप अमृत मिल गया, उसे पर-भाव का विचार हलाहल विष लगता है ।

स्वभाव दशा अमृत है ।

विभाव दशा विष है ।

विष छोड़ कर अमृत-पान करें, इतनी ही शिक्षा है ।

'यस्य ज्ञानसुधा - सिन्धौ, परब्रह्मणि मग्नता ।

विषयान्तर-सञ्चारस्तस्य हालाहलोपमः ॥'

ज्ञान अमृत का समुद्र है । वह पर ब्रह्मरूप है । जो उसमें डूब गया उसे अन्य विषय हलाहल विष तुल्य लगते हैं ।

• • • • •

विचारी बुद्धि !

हुं चैतन्य स्वरूप हुं तेनुं अनुभव-प्रमाण बुद्धि पौद्गलिक होवाथी
केवी रीते करी शके ? हुं चैतन्य स्वरूप हुं मने जन्म, मरण, रोग,
शोक नथी तेवुं बुद्धिमां उतरतुं नथी अने आत्मज्ञानमां विश्वास नथी.
तेथी मनुष्यना दुःखो पण टळता नथी.



चिंतन में मग्नता, वि.सं. २०५७

११-११-१९९९, शुक्रवार

का. सु. ११

✽ साधना बढ़ने के साथ आत्म-शक्ति बढ़ती है ।

साधना बढ़ाने के लिए भक्ति एवं श्रुत-अभ्यास बढ़ाने चाहिये । तदनुसार चारित्र्यमय जीवन जीना चाहिये । ये तीनों अनुष्ठान गुण-समृद्धि बढ़ाते हैं, दोष नष्ट होते हैं । दवा वही कहलाती है जो रोग मिटाये तथा शरीर को पुष्ट भी करें ।

✽ प्रभु की आज्ञा का भाव-धर्म के साथ सम्बन्ध है । यह बात उपदेश-पद में सविस्तर कही है ।

शुद्ध आज्ञायोग से अध्यात्म

अध्यात्म से क्रिया-योग

क्रिया-योग से विमर्श एवं विमर्श से तात्त्विक स्पर्शना ।

तत्त्वस्पर्शना से पुन्यानुबंधी पुन्य का बन्ध होता है ।

✽ दवा तीन प्रकार से जानी जाती है :

१. रोग निवृत्ति ।

२. आरोग्य - वृद्धि

३. सौन्दर्य - तुष्टि - पुष्टि - प्रसन्नता की वृद्धि ।

जिनाज्ञा भी तीन कार्यों से परखी जाती है :

कहे कलापूर्णसूरि - १ ***** ५६५

१. नये कर्म रोकती है - संवर ।
 २. अशुभ कर्मों का क्षय करती है - निर्जरा ।
 ३. शुभ कर्मों का बंध होता है - पुन्य ।
- इन तीनों का फल परम पद मोक्ष प्राप्ति है ।

❀ धर्म केवल क्रियापरक नहीं, किंतु भावपरक है । गुणस्थानकों की गणना भाव से होती है, क्रिया से नहीं । व्यापार में लाभ मुख्य होता है, उस प्रकार धर्म में भाव मुख्य होता है । व्यापार में समस्त पदार्थों में भाव (मूल्य) मुख्य है, एक कि.ग्रा. लोहा पन्द्रह रुपये में मिलता है और एक तोला स्वर्ण पांच हजार में मिलता है ।

कौनसी वस्तु आप कितने में बेचते हैं, उसका व्यापार में मूल्य है । भाव के घटने-बढ़ने पर लाभ-हानि आधारीत है ।

यहां धर्म में भी भाव मुख्य है ।

सब में जीवत्व समान होते हुए भी भव्य, अभव्य, दुर्भव्य आदि भेद भाव के कारण होते हैं ।

धर्म भावनाशील व्यक्ति को ही लागू होता है ।

वर्षा होती है, परन्तु लाभ कौन सी धरती को पहुंचता है ? उस धरती को लाभ होता है जिसमें बीज बोये हुए होते हैं । यहां भी भाव, बीज के स्थान पर है ।

भाव एवं अध्यात्म दोनों एक ही हैं । दान आदि तीनों को भावयुक्त करना ही अध्यात्म है ।

‘नाम अध्यातम ठवण अध्यातम, द्रव्य अध्यातम छंडो रे;
भाव अध्यातम निज गुण साधे, तो तेहशुं रढ मंडो रे.’

भाव उत्पन्न करनेवाले हों तो नाम आदि एवं दान आदि भी उपादेय हैं, यह भी न भूलें ।

भाव कैसा होना चाहिए ?

१. समस्त जीवों के प्रति मैत्री युक्त
२. गुणी जीवों की ओर प्रमोद युक्त
३. दुःखी जीवों के प्रति करुणा युक्त
४. निर्गुणी जीवों के प्रति माध्यस्थ युक्त होता है ।

फिर शुभ आज्ञायोग आता है, जो परम-पद का अवध्य कारण

बनता है । तथाभव्यत्व की परिपक्वता से ग्रंथिभेद होने पर शुभ आज्ञायोग आता है ।

✽ तथाभव्यत्व परिपक्व नहीं हुआ, ग्रन्थि-भेद नहीं हुआ, ऐसा मत कहो, इसके लिए कोई प्रयत्न (दुष्कृतगर्हा, सुकृत अनुमोदन, शरणागतिरूप) नहीं किये, ऐसा कहो ।

✽ प्रस्तावना या अनुक्रमणिका में जिस प्रकार ग्रन्थ का परिचय आता है, उस प्रकार नवकार में सम्पूर्ण जिनशासन का परिचय है । नवकार अर्थात् जिनशासन की प्रस्तावना अथवा अनुक्रमणिका । ऐसा समझने के बाद जो भी शास्त्र आप पढ़ोगे उसमें नवकार ही दिखेगा ।

अध्यात्म गीता :

आत्मलीनता भले थोड़े समय की हो, परन्तु इतनी झलक से मुनि का सम्पूर्ण जीवन बदल जाता है । व्यवहार में भी उस झलक की छाया दिखती है ।

फिर समस्त अवगुण भाग जाते हैं - 'भगवान् हृदय में प्रविष्ट हो गये हैं । वे हमें निकाल दें उससे पूर्व ही हम बिस्तर-गठरी बांधकर चल पड़ें ।' ऐसा सोचकर दोष भागने लग जायें ।

'पुन्यपाप बे पुद्गल - दल भासे परभाव,

परभावे परसंगत पाये दुष्ट विभाव;

ते माटे निजभोगी योगीसर सुप्रसन्न,

देव नरक तृण मणि सम भासे जेहने मन्न' ॥ २६ ॥

पुन्य-पाप के प्रति भी उस योगी को समभाव होता है । स्वर्ण हो या मिट्टी, दोनों पुद्गल हैं, उस प्रकार पुन्य-पाप भी पुद्गल हैं ।

पुन्य से प्राप्त सुखों में आसक्ति से आत्मा दुष्ट विभाव दशा को प्राप्त होगी, ऐसा योगी जानते होते हैं ।

अनिष्ट के प्रति घृणा नहीं,

इष्ट के प्रति खुशी नहीं,

मुनि का यह मध्य मार्ग है ।

जहां आप साता के अभिलाषी बनते हैं, तत्क्षण कर्म आपको चिपकते हैं । जिस क्षण आप कहीं घृणा करते हैं, उसी क्षण कर्म आपको लिपटते हैं ।

ऐसा जाननेवाले समभाव में लीन मुनिको स्वर्ग या नरक, स्वर्ण या मिट्टी, वन्दक या निन्दक, मान या सन्मान सब पर समान भाव होता है ।

‘तेह समतारसी तत्त्व साधे, निश्चलानन्द अनुभव आराधे; तीव्र घनघाती निज कर्म तोड़े, संधि पड़िलेहिने ते विछोड़े’ ॥ २७ ॥

श्रेणि अर्थात् उत्तरोत्तर विशुद्ध परिणाम । समुद्र में उठता ज्वार देख लो । उस समय नये कर्मों का बंध नहीं होता, परन्तु ध्यान की कुल्हाड़ी से तीव्र घनघाती कर्मों के लकड़े तड़-तड़ टूटने लगते हैं ।

गांठवाले लकड़ों को तोड़ने में अत्यन्त कठिनाई होती है । लकड़े की तरह कर्मों में भी गांठें होती हैं । ऐसे गांठवाले कर्मों को तोड़ना कठिन होता है । (सन्धि अर्थात् गांठ)

पर-पदार्थों के प्रति राग की गांठ,

जीवों के प्रति वैर की गांठ ।

ऐसी अनेक गांठों के कारण कर्म भी गांठवाले लकड़े के समान मजबूत होते हैं ।

✽ इस काल में सीधा आत्मा का आलम्बन नहीं लिया जा सकता, प्रभु का आलम्बन ही प्रथम आवश्यक है । जिस प्रकार उपर जाने के लिए सीढ़ी चाहिये, उस प्रकार आत्मा के पास जाने के लिए प्रभु चाहिये ।

सीढ़ी के बिना ठोकरें खानेवाले की हड्डियां टूटती हैं । प्रभु के बिना साधना करनेवालों के मार्ग भ्रष्ट होने की अधिक सम्भावना है ।

* * * * *

आत्म-साधक अल्प होय

लोकोत्तरमार्गनी साधना करनार पण मोक्षनी ज अभिलाषावाद्या
अल्पसंख्यामां होय छे. तो पछी लौकिकमार्ग के ज्यां भौतिक सुखनी
अभिलाषानी मुख्यता छे, त्यां मोक्षार्थी अल्प ज होयने ? जेम मोटा
बजारोमां रत्नना व्यापारी अल्प संख्यामां होय तेम आत्मसाधकनी संख्या
पण अल्प होय छे.



२०-११-१९९९, शनिवार
का. सु. १२

✧ भगवान के उपदेश का फल है : आत्मानुभव । यह फल प्राप्त करके ही महापुरुषों ने लोगों के लिए मार्गदर्शक ग्रन्थों की रचना की है, अहं के पोषण के लिए नहीं ।

✧ शुद्ध आज्ञायोग अध्यात्म का अवध्य कारण है ।

शुद्ध आज्ञायोग आने पर अध्यात्म आये बिना रहेगा ही नहीं । वह चरमावर्त काल में ही प्राप्त हो सकता है ।

चरमावर्त भी बहुत लम्बा है । अनन्त भव हो जायें, अनन्त उत्सर्पिणी- अवसर्पिणी निकल जायें । अतः उनमें भी जब ग्रन्थि का भेद होता है, तब ही अध्यात्म आता है ।

अध्यात्म नहीं आये तब तक कर्मों का भरोसा नहीं किया जा सकता । लोग चाहे कहने लगे - 'ओह ! महाराज अत्यन्त सद्गुणी', परन्तु इससे आप भ्रम में मत पड़ना । भगवान की दृष्टि में हम सद्गुणी बनें तब ही वास्तविक अर्थ में सद्गुणी बने समझें ।

कर्मों का थोड़ा शमन होने पर गुण दिखने लगते हैं, परन्तु वे कब चले जायें, कोई भरोसा नहीं ।

भगवान की आज्ञा अर्थात् गुरु की आज्ञा ।

आप भगवान की आज्ञा का पालन कर रहे हैं जिसका गुरु विश्वास दिला सकते हैं । गुरु आगमानुसारी ही होते हैं ।

यह सब तथाभव्यता की परिपक्वता से ही होता है । इसके लिए चतुःशरणगमनादि के लिए हमें ही प्रयत्न करना पड़ता है ।

✽ वैराग्य आदि गुणों से तथाभव्यता की परिपक्वता ज्ञात होती है ।

मुमुक्षु में सर्वप्रथम वैराग्य चाहिये । उसके प्रति ज्यादा मोह में न फसें । आज का मुमुक्षु आपका शिष्य तो नहीं बनेगा, कहीं गुरु न बन बैठे, यह ध्यान रखना, केवल बुद्धि न देखकर उसकी परिणति देखें ।

✽ रत्नों का हार बनाना हो तो छिद्रों में होकर डोरा पिरोना चाहिये । यहां भी कर्म में छिद्र (ग्रंथिभेद) पड़ना चाहिये, तो ही गुण-रत्नों की माला बन सकती है ।

✽ ग्रंथिभेद का पदार्थ कथा के माध्यम से समझना हो तो सिद्धर्षि रचित 'उपमिति' ग्रन्थ का प्रथम प्रस्ताव पढ़ें । अद्भुत वर्णन हैं ।

इक्कीस बार बौद्ध भिक्षु बनने के लिए तत्पर सिद्धर्षि गुरु के आग्रह से बार-बार रुक जाते थे । अन्त में 'ललित विस्तर' ग्रन्थ पढ़ने से उनकी आत्मा जागृत हो गई; वीतराग प्रभु की अनन्त करुणा प्रतीत हुई । बुद्ध की करुणा फीकी लगी ।

पं. ब्रजलालजी उपाध्याय :

'विषं विनिर्धूय कुवासनामयं, व्यचीचरद्यः कृपया ममाशये ।
अचिन्त्यवीर्येण सुवासना - सुधां, नमोऽस्तु तस्मै हरिभद्रसूरये ॥'

'कुशास्त्रों के विष को नष्ट करके जिन्होंने मेरे अन्तःकरण में अचिन्त्य शक्ति से सुसंस्कारों का अमृत भरा, उन हरिभद्रसूरि को नमस्कार हों ।'

- न्यायावतार टीका के मंगलाचरण में सिद्धर्षि

पूज्यश्री : ये हमारे जामनगर के पंडितजी हैं । देखने आये हैं कि हमारे विद्यार्थी कैसे हैं ?

✽ भगवान ही चारित्र आदि के दाता हैं, मोक्षदाता है - यह बात सिद्धर्षि को हरिभद्रसूरि रचित 'ललित विस्तर' के द्वारा

समझ में आई । इसीलिए उन्होंने हरिभद्रसूरिको अपने गुरु माने ।
 'उपमिति' के प्रथम प्रस्ताव में उन्होंने उन्हें इस प्रकार याद किये हैं -

‘नमोऽस्तु हरिभद्राय, तस्मै प्रवरसूरये ।

मदर्थं निर्मिता येन, वृत्तिर्ललितविस्तरा ॥’

‘उन हरिभद्रसूरि को नमस्कार हो, जिन्होंने मानो मेरे लिए ललित विस्तरा टीका बनाई ।’

✽ छिद्र के बिना मोती में डोरा नहीं पिरोया जा सकता, उस प्रकार अभिन्न-ग्रन्थि में गुण नहीं आते । (संस्कृत में ‘डोरे’ के लिए ‘गुण’ शब्द भी है ।)

वह अन्य के लिए शायद उपयोगी हो सकता है, परन्तु स्व के लिए थोड़ा भी नहीं । वह भेद-प्रभेद सब गिना देगा, परन्तु भीतर नहीं उतरेगा, उसमें विषय-प्रतिभास ज्ञान ही होगा ।

आत्म-परिणतिमत् ज्ञान चौथे गुणस्थानक से और तत्त्व संवेदन ज्ञान छठे गुणस्थानक से होता है ।

आज्ञायोग गुरु-लाघव से होता है । गुरु-लाघव विज्ञान है । गुरु-लाघव अर्थात् लाभ-हानि का विचार ।

व्यापारी जिस प्रकार व्यापार में लाभ-हानि का विचार करता है उस प्रकार संयमी भी संयम में लाभ-हानि का विचार करते हैं ।

उत्सर्ग या अपवाद दोनों में लाभदायक हो, उसका प्रयोग करे । उपदेश-पद की टीका में यह लिखा हुआ है ।

अध्यात्म गीता :

केवल ४९ श्लोकों में ‘अध्यात्म’ का पू. देवचन्द्रजी द्वारा खींचा गया शब्दचित्र वास्तवमें अद्भुत है ।

मैंने ५० वर्ष पूर्व ये ४९ श्लोक कण्ठस्थ किये थे । वि. संवत् २०१७ में राजकोट में प्रथम बार देखा कि श्रावक इन श्लोकों का पाठ कर रहे थे । मुझे आनन्द हुआ ।

‘सम्यग्रत्तत्रयीरस राच्यो चेतनराय,

ज्ञानक्रिया चक्रे, चकचूरे सर्व अपाय;

कारक चक्र स्वभावथी, साधे पूरण साध्य,

कर्ता कारण कारज, एक थया निराबाध’ ॥ २८ ॥

❖ आज तक पुद्गल का, अर्थ-काम का रस था, वह, दीक्षा ग्रहण करने पर छूट गया, परन्तु यहां पुनः नया सांसारिक कहा जा सके वैसा रस तो उत्पन्न नहीं हुआ न ? वह देखें ।

ये समस्त रस तोड़ने हों तो रत्नत्रयी का रस उत्पन्न करना पड़ता है । ज्ञान एवं क्रिया का चक्र ऐसा प्रबल है जो मोहराजा का सिर काट डालेगा । मोहराजा के नष्ट होते ही समस्त अपाय दूर होते हैं, चेतन राजा विजयी होता है ।

कुमारपाल ने जिस प्रकार अर्णोराज को परास्त किया, उस प्रकार चेतन मोहराजा को परास्त करता है ।

जैसे चक्रवर्ती के पास शत्रु-संहारक चक्र होता है, उस प्रकार चेतन के पास भी कारक-चक्र है । कारक-चक्र से (षट्कारक-चक्र) मोह की सेना धराशायी हो जाती है, तब कर्ता-कारण एवं कार्य तीनों एक हो जाते हैं ।

षट्कारक चक्र के बिना कोई भौतिक कार्य भी नहीं हो सकता तो आध्यात्मिक कार्य की तो बात ही क्या करनी ?

इस समय भी हम षट्कारक चक्र से ही व्यवहार चला रहे हैं ।

षट्कारक-शक्ति खुली हुई है । उस पर कोई कर्म का आवरण नहीं है । यदि उस पर भी कोई कर्म का आवरण होता तो कर्म-बन्धन ही नहीं होता । यह कारक-चक्र केवल जीव के पास ही है ।

इन छः में कारक मुख्य है । शेष पांच उसके अधीन है ।

पू. देवचन्द्रजी महाराज का यह मुख्य विषय है । उन्होंने अपने स्तवन में इस विषय का अत्यन्त ही रसपूर्ण वर्णन किया है । इसी कारण उनके स्तवन कण्ठस्थ करने का मैं आग्रह रखता हूँ ।

इस समय हमारे छःओ कारक कर्म-बन्धन का ही कार्य कर रहे हैं । घर के लोग भूखें मरें और कोई आदमी दूसरों के लिए कमाई करे, तो उसे हम कैसा कहेंगे ? अपना चेतन ऐसा ही करता है । अपनी ही शक्तियों के द्वारा हम कर्म का कार्य कर रहे हैं ।

‘घर के लोग चक्की चाटें और उपाध्याय को आटा देना ।’ यह क्या ठीक है ?

✿ इस समय हम कषाय-नोकषाय आदि की आज्ञा से जी रहे हैं, ऐसी प्रवृत्ति कर रहे हैं । फिर भी मानते हैं यह कि हम स्वतन्त्र हैं, हम चाहें वह करते हैं । हमारी स्वतन्त्रता का मोहराजा उपहास कर रहा है । कठपुतली कहती है : 'मैं स्वतन्त्रतापूर्वक नाचती हूँ', उसके जैसा हमारा अभिमान है ।

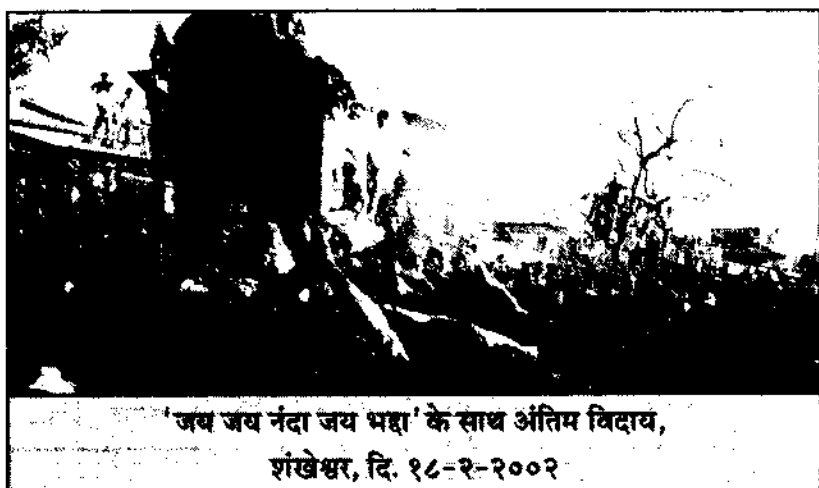
✿ मिट्टी से घड़ा बनता है, यह सच है । जाओ धरती में से खोदकर घड़े ले आइयें । क्या मिलेंगे ? नहीं मिलेंगे । घड़ों के लिए कुम्हार की सहायता चाहिए । हम भी निगोद में मिट्टी जैसे थे । वहां से हमें निकालने वाले भगवान हैं । उनके द्वारा ही हम भगवत् - स्वरूप प्राप्त करेंगे ।

षट्कारक

१. करनेवाला कारक - कर्ता ।
२. करने का कार्य - कर्म - घड़ा ।
३. कार्य का साधन, उपादान एवं निमित्त कारण
उपादान - मिट्टी ।
निमित्त -- दण्ड, चक्र आदि ।
४. सम्प्रदान - नये नये पर्यायों की प्राप्ति ।
मिट्टी - पिण्ड, स्थासक आदि
मिट्टी की अवस्थाएं ।
५. अपादान - पूर्व पर्याय का नाश, उत्तरपर्याय का उत्पाद ।
६. अधिकरण - समस्तपर्याय का आधार, जैसे घड़े के लिए भूमि ।
रोटी में भी यह कारक घटया जा सकता है ।
यही कारक चक्र हमारी आत्मा पर घटित करना है ।

* * * * *





'जय जय नंदा जय भद्रा' के साथ अंतिम विदाय,
शंखेश्वर, दि. १८-२-२००२

२१-११-१९९९, रविवार
का. सु. १३

❖ 'सयल संसारी इन्द्रियरामी, मुनिगण आतमरामी रे'

संसार के समस्त प्राणी इन्द्रियों में आनन्द माननेवाले हैं ! मुनि ही केवल आत्मा में आनन्द मानने वाले हैं । पतंगों को दीपक में स्वर्ण दिखाई देता है और उसमें कूद-कूद कर मृत्यु के मुंह में समा जाते हैं, उस प्रकार संसारी जीव इन्द्रियों के पीछे भाव-प्राणों को खतम कर देते हैं ।

पतंगा तो चौरिन्द्रिय है, उसकी भूल क्षम्य गिनी जाती है, परन्तु विवेकी मनुष्य के लिए यह लज्जाजनक नहीं है ?

❖ संस्कृत का अध्ययन तो हमने बाद में किया । उससे पूर्व हमारे लिए तो पू. आनन्दघनजी, पू. देवचन्द्रजी आदि का गुजराती साहित्य ही आधारभूत था । कितना उपकार किया है उन्होंने हम जैसों पर ?

आज-कल के बालक तो ऐसे तैयार हो रहे हैं कि उन्हें गुजराती, हिन्दी भी नहीं आता । उन्हें विदेशी भाषा अंग्रेजी आती है, परन्तु घर की भाषा नहीं आती । ऐसे व्यक्तियों पर उपकार कैसे करें ? यह भी प्रश्न हो रहा है ।

❖ यदि अपनी ही आत्मा ही हम नहीं जान सकें तो क्या जानेंगे ? क्या हमारी द्रव्य क्रियाएं हमें मोक्ष दे देंगी ?

यद्यपि क्रियाएं निरर्थक नहीं हैं । अकेला ध्यान उपयोगी नहीं होता । क्योंकि दिनभर ध्यान नहीं हो सकता । ध्यान करने के अतिरिक्त समय में क्रिया उपयोगी होती है । क्रिया छोड़कर जो ध्यान में ही जुड़ने का प्रयत्न करता है, वह ध्यान को तो पाता नहीं, परन्तु क्रिया से भी भ्रष्ट हो जाता है ।

❖ भुज के एक अजैन भाई ने 'मैं परिवार को सन्तुष्ट नहीं कर सकता' आदि कहकर ध्यान की उंची बातें की ।

मैंने कहा, 'आप इस समय कहां हैं ? यह देखो; कर्तव्य निभाओ, फिर उसके फल स्वरूप ध्यान मिलेगा ।

कल ही वह पुनः आया और बोला, 'महाराज ! अब आनन्द - आनन्द हो गया ।'

❖ आप जानते हैं - दस पूर्वी के लिए जिनकल्प स्वीकार करने का निषेध है ?

किस लिए ? क्योंकि वे गच्छ पर बहुत ही उपकार कर सकते हैं । यही बात अमुक अंशों में अन्यत्र भी लागू पड़ सकती है ।

❖ कल के षट्कारक चक्र आत्मा में घटित करें ।

१. कारक - द्रव्य-भावकर्म करने वाली आत्मा स्वयं कारक है । कर्म-बन्धन का यह कार्य चौबीसों घण्टे चालु ही है क्योंकि जीव में कर्तृत्व आदि शक्तियां खुली ही हैं । इन शक्तियों को विभाव से रोक कर जब तक स्वभावगामी न बनायें, तब तक मोक्ष तो क्या सम्यक्त्व भी प्राप्त नहीं होगा । कर्म बाद में ही करेंगे । यद्यपि प्रयत्न तो बाद में भी करना ही पड़ता है ।

नाखून काटने के लिए भी प्रयत्न करना पड़ता है तो प्रयत्न किये बिना कर्म कैसे कट सकते हैं ?

२. कर्म - द्रव्य - भाव कर्म का बन्धनरूप कार्य ।

३. करण - भावाश्रव - अशुद्ध भाव परिणति । प्राणातिपात आदि द्रव्याश्रव ।

४. सम्प्रदान - नई अशुद्धता से नये कर्मों का लाभ हो वह ।

५. अपादान - आत्मस्वरूप का अवरोध । क्षायोपशमिक गुणों की हानि होना, स्वरूप से अलग होना ।

६. आधार - ऐसी अनन्त अशुद्धियों का आश्रयस्थान आत्मप्रदेश ।

इन कारक शक्तियों का कार्य अनादिकाल से चल रहा है । हमारी ही कारक शक्तियां हमारी ही हानि कर रही हैं ।

‘स्व-गुण आयुध थीकी कर्म चूरे,
असंख्यात गुणी निर्जरा तेह पूरे;
टले आवरणथी गुण विकासे,

साधना शक्ति तिम तिम प्रकाशे’ ॥ २९ ॥

छ:ओं कारक सर्व प्रथम भगवन्मय बनें तब सब बदलने लगता है । इससे स्वगुणरूपी शस्त्र उत्पन्न हुए । ये शस्त्र कर्मों का क्षय कर डालते हैं । फिर तो साधक असंख्यगुणी निर्जरा करता रहता है । प्रतिक्षण निर्जरा का प्रकर्ष बढ़ता रहता है ।

ध्यान में ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य एक बन जाते हैं । कोई भी कार्य जीव करता है तब समस्त शक्तियां एक साथ कार्य करने लगती हैं । चाहे वह कार्य शुभ हो अथवा अशुभ । आत्म-प्रदेशों में कभी अनेकता नहीं होती । सब साथ मिल कर ही कार्य करते हैं । मिथ्यात्व के समय ज्ञान आदि शक्तियां मिथ्याज्ञान आदि शक्तियां कहलाती हैं । समकित की उपस्थिति में वे सम्यग्ज्ञान आदि शक्तियां कहलाती हैं ।

❖ पू. देवचन्द्रजी अभ्यासी उदार पुरुष थे । स्वयं खरतरगच्छीय थे फिर भी तपागच्छीय उपाध्याय यशोविजयजी द्वारा कृत ज्ञानसार पर ज्ञानमंजरी टीका रची है, उस समय तपागच्छीय जिनविजयजी के शिष्य उत्तमविजयजी को उन्होंने विशेष आवश्यक, अनुयोगद्वारा आदि पढ़ाये हैं ।

❖ परसों भद्रगुप्तसूरिजी का अहमदाबाद में कालधर्म हुआ । हमारे पूर्व परिचित थे । हिन्दी-गुजराती साहित्य के बड़े सर्जक थे । उनके ग्रन्थ आज भी लोग प्रेम से पढ़ते हैं । अभी कुछ समय पूर्व हम अहमदाबाद में उन्हें मिल भी आये । उनकी आत्मा जहां हो वहां समाधि प्राप्त करे, परम पद को समीप लाये ।

• • • • •



२३-११-१९९९, मंगलवार
का. सु. १५

‘प्रगट्यो आतम-धर्म थया सवि साधनरीत,
बाधक-भाव ग्रहणता भागी जागी नीत;
उदय उदीरणा ते पण पूख निर्जराकाज,
अनभिसंधि बंधकता, नीरस आतमराज’ ॥ ३० ॥

❖ यह प्रतिमा कोई खिलौना नहीं है । यह साक्षात् प्रभु का रूप है । भक्त उसमें प्रभु को ही देखता है ।

आगे बढ़कर भक्त प्रभु के नाम में भी प्रभु को देखता है । प्रिय व्यक्ति के पत्र में जैसे पत्र पढ़नेवाले व्यक्ति के ही दर्शन करते हैं, उस प्रकार प्रभु के नाम में भक्त प्रभु का ही दर्शन करता है ।

जगत् के समस्त व्यवहारों में हम नाम तथा नामी के अभेद से ही चलाते हैं, परन्तु यही (साधना में ही) रुकावट आती है । रोटी का नाम आते ही रोटी याद आती है । घोड़ा कहते ही घोड़ा याद आता है, परन्तु प्रभु बोलते ही प्रभु याद नहीं आते ।

❖ व्यक्ति दूर है कि निकट यह महत्त्व की बात नहीं है, उस पर बहुमान कितना है, यही महत्त्व की बात है ।

भगवान के समीप रहने वाले कालिया कसाई आदि कुछ प्राप्त नहीं कर पाये, दूर रहनेवाले कुमारपाल आदि ने प्राप्त करने योग्य प्राप्त कर लिया, क्योंकि समीप रहनेवाले कसाई में बहुमान नहीं था । कुमारपाल में बहुमान था ।

साक्षात् भगवान के विरह में भगवान के नाम तथा रूप में भक्त साक्षात् भगवान को ही देखता है । प्रश्न केवल बहुमान का ही है ।

❖ मैं लोभी तो हूँ ही । लोभ अभी तक गया नहीं है । मैंने अध्यात्म गीता अच्छी तरह कण्ठस्थ कर ली है । अभी तक याद है । मुझे यह भी लोभ है कि दूसरे व्यक्ति भी इसे कण्ठस्थ कर लें । मुझ पर जो उपकार हुआ है, वह उपकार दूसरे व्यक्तियों पर भी हो, ऐसा लोभ है सही ।

❖ बचपन में फलोदी में सर्व प्रथम 'अध्यात्म कल्पद्रुम' पुस्तक उदयरजजी कोचर के घर से मिली थी । गुजराती में होते हुए भी मैंने उसे पढ़ने का प्रयत्न किया । आनन्द आया ।

❖ अब तक छः कारक बाधक बने हुए हैं । अब उन्हें साधक कैसे बनाया जाये ? यह कला हमें सीखनी है ।

पू. देवचन्द्रजी द्वारा रचित मल्लिनाथ एवं मुनिसुब्रत स्वामी के स्तवनों में यह कला दिखाई गई है । अवसर पर आप देखना ।

जब तक शरीर आदि का कर्तव्यभाव हम मानते हैं, तब तक छःओं कारक उल्टे ही चलेंगे । 'मैं अपने ज्ञान आदि गुणों का कर्ता हूँ' ऐसा अनुभूतिजन्य ज्ञान होते ही बाधक कारकचक्र साधक बनने लगता है ।

❖ प्रत्येक नया वैज्ञानिक पूर्व वैज्ञानिकों द्वारा किये गये संशोधनों के आधार पर आगे बढ़ता है । उसका इतना श्रम बचता है । योगियों को ज्ञानी एवं अनुभवियों के आधार पर आगे बढ़ना है । उनके अनुभव की पंक्तियाँ हमारे लिए 'माईल स्टोन' बनती हैं ।

❖ ज्ञानियों के कथन का रहस्य समझने के लिए उनके प्रति बहुमान होना आवश्यक है । पं. मुक्तिविजयजी यहाँ तक कहते कि आप जिस ग्रन्थ का अध्ययन कर रहे हों, उसके कर्ता की एक माला जब तक ग्रन्थ पूरा न हो जाये तब तक नित्य गिनें ।

✿ निश्चय से आत्मा पर का कर्ता है ही नहीं, आत्मगुणों का ही कर्ता है । फिर भी यदि परकर्तृत्व का अभिमान अपने उपर ले तो दण्डित होता है । न्यायालय में यदि कोई बोल जाये - 'मैंने चोरी की है' तो उसे अवश्य दण्ड मिलेगा, चाहे उसने चोरी नहीं की हो ।

स्वआत्मा उपादान कारण है ।

✿ सुदेव-सुगुरु आदि मुख्य कारण हैं ।

मुख्य कारण से उपादान कारण पुष्ट होता है ।

✿ छोटे व्यापारी बड़े व्यापारी से माल खरीदता है, उस प्रकार हमें प्रभु के पास गुणों का माल खरीदना है । व्यापारी तो फिर भी इनकार भी कर सकता है, उधार न भी दे । भगवान कभी इनकार नहीं करेंगे । खरीदने वाला थकेगा, परन्तु देनेवाले भगवान कभी नहीं थकेंगे । ऐसे दानवीर हैं भगवान ।

हम स्वयं अपनी आत्मा को गुणों (या दुर्गुणों) का दान करें वह सम्प्रदान हैं ।

अर्थात् नये गुणों का लाभ सम्प्रदान है ।

अशुद्धि की निवृत्ति अपादान है ।

ये दोनों साथ ही होते हैं ।

लाभ हुआ वह सम्प्रदान, हानि हुई वह अपादान ।

'देशपति जब थयो नीति रंगी,

तदा कुण थाय कुनय चाल संगी;

यदा आतमा आत्मभावे रमाव्यो,

तदा बाधकभाव दूरे गमाव्यो' ॥ ३१ ॥

'यथा राजा तथा प्रजा: ।'

राजा न्यायी होगा तो प्रजा भी न्यायी होगी । आत्मा जब स्वभावरंगी बनती है, तब कारकचक्र भी स्वभावरंगी बनता है । बाधकभाव अपने आप चला जाता है ।

'सहज क्षमा-गुण-शक्तिथी, छेद्यो क्रोध सुभट्ट,

मार्दव-भाव प्रभावथी, भेद्यो मान मरुट्ठ;

माया आर्जवयोगे लोभथी निःस्पृह भाव,

मोह महाभट ध्वंसे ध्वंस्यो सर्व विभाव ॥ ३२ ॥

हम यह मानते हैं कि क्रोध अपने आप चला जायेगा, प्रयत्न क्या करना ? प्रयत्न किये बिना घर का कचरा भी नहीं जाता तो क्रोध कैसे जायेगा ? उसके लिए क्षमा का प्रयत्न करना पड़ता है ।

अपराधी का अपराध भूल जाना क्षमा है ।

अपराधी का अपराध नहीं भूलना क्रोध है ।

हम किस पर ज्यादा जोर देते हैं ?

क्षमा आने पर क्रोध भाग ही जाता है ।

क्षमाबहन प्रशमभाई के साथ ही आती है । इन दोनों की उपस्थिति में क्रोध जायेगा ही ।

✽ गुणी के गुणों को जीवन में उतारना गुणी का उत्कृष्ट बहुमान है । केवल कायिकसेवा नहीं, आत्मिक गुण उतारना उत्कृष्ट भक्ति है । यद्यपि बाह्य सेवा भी उपयोगी है ही ।

✽ क्षमा, मार्दव, आर्जव एवं मुक्ति (निर्लोभता) ये चारों उत्तम कोटि के बनने पर ही शुक्ल ध्यान में प्रवेश हो सकता है ।

मान अपने आप नहीं जाता, मृदुता लाने पर ही मान जाता है ।

झुकना नहीं वह मान है, बड़ाई है । सामनेवाले व्यक्ति को मान देना नम्रता है, मृदुता है ।

हम दोनों में से किसे ज्यादा महत्त्व देते हैं ?

माया को सरलता से और लोभ को निःस्पृहता से जीतने हैं । चारों को जीतने पर मोह निर्बल हो जाता है, वह पराजित हो जाता है ।

मोह जाने पर समस्त विभाव गया ही समझें ।

शंखेश्वर में राजनेताओं की उपस्थिति में एक महात्मा ने भाषण दिया । भाषण कठोर होने से दो-चार नेताओं चलते ही बने, उस प्रकार मोह भी चला जाता है ।

इम स्वाभाविक थयो आत्मवीर, भोगवे आत्म-सम्पद सुधीर;
जेह उदयागत प्रकृति बलगी, अव्यापक थयो खेरवे ते अलगी ॥ ३३ ॥

फिर योगी बलवान बनता है, आत्म-सम्पत्ति का भोक्ता बनता है और अन्य लिपटी हुई प्रकृतियों को भी वह झटक देता है ।

चेतना का स्वभाव व्यापक बनना है । गुलाबजामुन खाते समय

उसके स्वाद में भी व्यापक बनती है और शान्तरसमयी मूर्ति में भी व्यापक बनती है ।

चेतना कहां लगानी वह हमें सोचना है ।

‘धर्मध्यान इकतानमें ध्यावे अरिहा सिद्ध,
ते परिणतिथी प्रगटी तात्त्विक सहज समृद्ध;

स्व स्वरूप एकत्वे तन्मय गुण पर्याय,

ध्याने ध्यातां निर्मोहीने विकल्प जाय’ ॥ ३४ ॥

दादर चढने के बाद ही उपर की मंजिल पर जा सकते हैं, उस प्रकार धर्म-ध्यान के बाद ही शुक्ल ध्यान हो सकता है ।

शुक्ल ध्यान के दो पायों में धर्मध्यान का भी अंश होता है, यह भूलने योग्य नहीं है ।

निर्विकल्प में जाने से पूर्व शुभ विकल्प का आश्रय लेना ही पड़ता है । यदि शुभ विकल्प का आश्रय नहीं लें तो अशुभ विकल्प आर्येंगे ही । इसी कारण से मैं जैसा-तैसा पढने का इनकार करता हूं ।

जो कुछ भी पढ़ें-सोचें, उसके पुद्गल हमारे आसपास घूमते ही रहते हैं । हम उनकी पकड़ में तुरन्त ही आ जाते हैं । जो जो पढते हैं, सोचते हैं, अवगाहन करते हैं उन सब के संस्कार हमारे भीतर पड़ेंगे ही ।

❀ सविकल्प और निर्विकल्प दो प्रकार की समाधि हैं ।

निर्विकल्प - अपना घर है ।

सविकल्प - मित्र का घर है ।

अशुभ विकल्प - शत्रु का घर है ।

शत्रु के घर में क्या होता है वह आप समझ सकते हैं । शत्रु का घर समृद्ध हो ऐसा कोई कार्य करेगा ? अशुभ विकल्पों की वृद्धि हो वैसा पठन आदि करके हम शत्रु का घर तो समृद्ध नहीं करते हैं न ?

‘यदा निर्विकल्पी थयो शुद्ध ब्रह्म,
तदा अनुभवे शुद्ध आनन्द शर्म;
भेद रत्नत्रयी तीक्ष्णताये,
अभेद रत्नत्रयीमें समाये’ ॥ ३५ ॥

योगी निर्विकल्पी होते हैं तब शुद्ध आनन्द के सुख का अनुभव करते हैं । पहले ज्ञान आदि अलग-अलग थे, वे एक-दूसरे के सहायक बनते थे, अब एक हो जाते हैं ।

दर्शन ज्ञान चरण गुण सम्यग् एक-एक हेतु,
स्व स्व हेतु थया समकाले तेह अभेदता खेतु;
पूर्ण स्वजाति समाधि घनघाती दल छिन्न,
क्षायिकभावे प्रगटे आत्म-धर्म विभिन्न ॥ ३६ ॥

अब तक दर्शन आदि एक-एक के हेतु थे । अब सब एक साथ अभेद के हेतु बनते हैं ।

पछी योग संधी थयो ते अयोगी,
भाव शैलेशता अचल अभंगी;
पंच लघु अक्षरे कार्यकारी,
भवोपग्राही कर्म संतति विदारी ॥ ३७ ॥

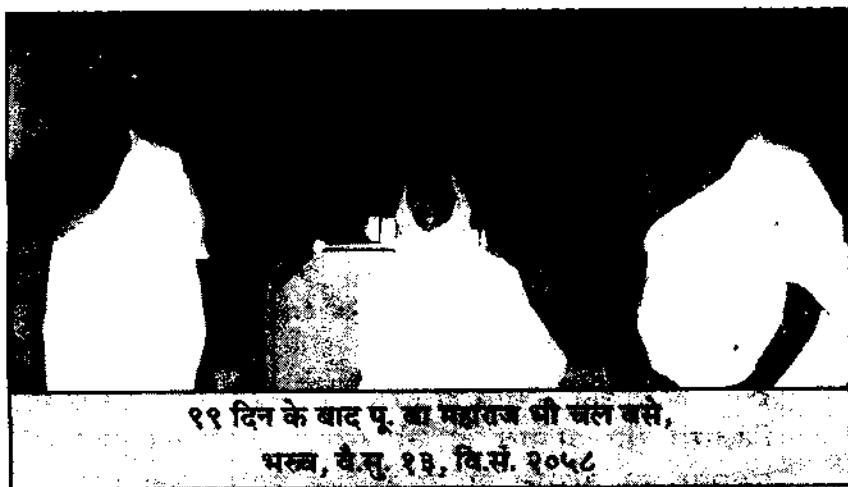
योग का रोध करके अयोगी गुणस्थानक में मेरु जैसी अडोल स्थिति प्राप्त कर के पांच ह्रस्वाक्षर काल में आत्मा वह पूर्ण करके सिद्धशिला पर जा बैठता है ।

समश्रेणे समये पहीता जे लोकान्त,
अफुसमाण गति निर्मलचेतन भाव महांत;
चरम त्रिभाग विहीन प्रमाणे जसु अवगाह,
आत्मप्रदेश अरूप अखंडानंद अबाह ॥ ३८ ॥

इन समस्त गाथाओं का अर्थ सर्वथा सरल है, कहने की भी आवश्यकता नहीं है, परन्तु उन्हें जीवन में उतारना अत्यन्त ही कठिन है । जीवन में उतारने के लिए कितने ही जन्म चाहिये । यह प्राप्त करने के लिए ही यह सब प्रयत्न है ।

• • • • •





११ दिन के बाद पू. का महासत्र भी चल बसे,
भस्म, वै.सू. १३, वि.सं. २०५८

२४-११-१९९९, बुधवार
माग. व. १ + २

साधना यदि विधिपूर्वक एवं आदरपूर्वक निरन्तर की जाये तो अवश्य सफल होती है । बीच में अन्तर नहीं पड़ना चाहिये ।

व्यापारियों को पूछे कि महिने में पन्द्रह दिन दुकान बन्द रहे तो क्या होगा ? उतने ग्राहक जोड़ने में कितना समय लगेगा ? नर्मदा नदी का पुल यदि अखण्ड न हो, बीच में एक फुट का खड्डा हो तो चलनेवालों की क्या दशा होगी ? हमारी साधना का पुल भी अखण्ड होना चाहिये ।

आत्म-साधना के बिना सर्वत्र हम सातत्य रखते हैं । नियमित साधना नहीं होने से, आदरपूर्वक नहीं होने से, विधिपूर्वक नहीं होने से ही हमारा अभी तक मोक्ष नहीं हुआ ।

✽ मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, योग आदि ज्यों ज्यों मन्द होते जाते हैं, त्यों त्यों साधना की गति में वृद्धि होती रहती है और साधना का आनन्द बढ़ता जाता है ।

मिथ्यात्व नष्ट होने पर चौथा गुण स्थानक आता है, सम्यक्त्व का आनन्द प्राप्त होता है ।

अविरति जाने पर छठा गुणस्थानक मिलता है, सर्वविरति का

कहे कलापूर्णसूरि - १ ***** ५८३

आनन्द प्राप्त होता है ।

प्रमाद जाने पर सातवां अप्रमत्त गुणस्थानक मिलता है, वीर्योल्लास¹ का आनन्द प्राप्त होता है ।

कषाय नष्ट होने पर वीतरागता (बारहवां गुणस्थानक) प्राप्त होती है ।

वीतरागता प्राप्त होने पर सर्वज्ञता (तेरहवां गुणस्थानक) प्राप्त होती है ।

योग जाने पर अयोगी गुणस्थानक मिलता है और अन्त में मोक्ष प्राप्त होता है ।

❖ श्रद्धा का अभाव हो तो सम्यग् दर्शन प्राप्त नहीं होता ।

जिज्ञासा का अभाव हो तो सम्यग् ज्ञान नहीं मिलता ।

स्थिरता का अभाव हो तो सम्यक् चारित्र नहीं मिलता ।

अनासक्ति का अभाव हो तो सम्यक् तप नहीं मिलता ।

उल्लास का अभाव हो तो वीर्य की प्राप्ति नहीं होती ।

यदि वीर्याचार नहीं हो तो एक भी आचार का पालन नहीं हो पायेगा । वीर्य सर्वत्र अनुस्यूत है । इसी लिए दूसरे चार आचारों के भेद ही वीर्य के भेद माने गये हैं ।

‘जिहां एक सिद्धात्मा तिहां छे अनंता,

अवत्रा अगंधा नहीं फासमंता;

आत्मगुण पूर्णतावंत संता,

निराबाध अत्यन्त सुखास्वादवंता’ ॥ ३९ ॥

हम एक कमरे में सीमित संख्या में ही रह सकते हैं, परन्तु सिद्ध जहां एक हैं वहां अनन्त है, क्योंकि वे अरूपी हैं, वर्ण-गंध-रस-स्पर्श आदि से रहित हैं ।

नाम कर्म ने हमें इतने ढक दिये हैं कि वर्ण आदि से परे अवस्था की कल्पना ही नहीं आती ।

मनुष्य की आसक्ति देह से आगे बढ़कर वस्त्र, आभूषण एवं मकान तक पहुंच गई है । वह इनकी सुन्दरता में अपनी सुन्दरता मानता है । अनामी, अरूपी आत्मा का देह के साथ भी कोई सम्बन्ध नहीं है तो वस्त्र या मकान की तो बात ही क्या करनी ?

समस्त इन्द्रियां स्व-इष्ट पदार्थ प्राप्त होने पर प्रसन्न होती हैं ।

यह सब स्वाद हम चख चुके हैं, परन्तु आत्मा के सुख का स्वाद कभी नहीं चखा। इसी कारण से सिद्धों के सुख की हम कल्पना भी नहीं कर सकते। हमने तो आसक्ति को सुख मान लिया है जो सचमुच, दुःख ही है। जितनी अधिक आसक्ति करते हैं, उतने अधिकाधिक चिकने कर्मों का बन्ध होता है, जिसे हम सर्वथा भूल गये हैं।

इसीलिए साधक स्वाद लिये बिना भोजन करता है। जैसे साँप बिल में प्रविष्ट होता है, उस प्रकार कौर (ग्रास) मुँह में जाता है। उसे यह ध्यान तक नहीं रहता कि चाय में नमक है कि शक्कर ? साधक में इतनी अन्तर्मुखता होती है।

इन्द्रियों के सभी सुखों को एकत्रित करके उनके अनन्त वर्ग किये जायें, तो भी वे सिद्ध के अनन्त वर्गहीन एक आत्म-प्रदेश के सुख की भी तुलना नहीं कर सकते। संसार का सुख कृत्रिम है। यह सहज है, यही बड़ा फरक है।

ऐसा सुख सुनने से लाभ क्या ? अतः अपने भीतर ही ऐसा सुख विद्यमान है ऐसा प्रतीत हो ताकि उसे प्राप्त करने की तीव्र रुचि उत्पन्न हो जाये, यही बड़ा लाभ है।

कर्ता कारण कार्य निज परिणामिक भाव,

ज्ञाता सायक भोग्य भोक्ता शुद्ध स्वभाव;

ग्राहक रक्षक व्यापक तन्मयताए लीन,

पूरण आत्म धर्म प्रकाश रसे लयलीन ॥ ४० ॥

सिद्ध शुद्ध स्वभाव के भोक्ता होते हैं, प्रकाश रस में लीन होते हैं।

सिद्धों को वहां करना क्या है ?

वैशेषिक दर्शन मुक्त को जड़ मानता है।

उसकी हंसी उड़ाते हुए किसीने कहा है -

‘वृन्दावन में सियार बनना अच्छा, परन्तु वैशेषिक की मुक्ति अच्छी नहीं।’

जैन दर्शन की मुक्ति ऐसी जड़ नहीं है। वहां अभाव नहीं है, परन्तु आत्म-शक्तियों का सम्पूर्ण विकास है। वहां जड़ता नहीं है, परन्तु पूर्ण चैतन्य की पराकाष्ठा है।

द्रव्यथी एक चेतन अलेशी,

क्षेत्रथी जे असंख्य प्रदेशी;

उत्पात-नाश-ध्रुव काल धर्म,

शुद्ध उपयोग गुणभाव शर्म ॥ ४१ ॥

द्रव्य से एक चेतन लेश्यारहित है ।

क्षेत्र से आत्मा असंख्य प्रदेशवाली है ।

काल से उत्पाद - व्यय - ध्रौव्य युक्त है ।

भाव से शुद्ध उपयोग में रमण करनेवाली है ।

प्रश्न - आत्मा में उत्पाद - व्यय - ध्रौव्य कैसे घटित होते हैं ?

उत्तर - आत्मा में अभिनव पर्याय की उत्पत्ति होती है, पूर्व पर्याय का नाश होता है और ज्ञान आदि से आत्मा ध्रुव (शाश्वत) है । निश्चय से हमारा रहने का स्थान हमारी आत्मा ही है । स्थान हेतु झगड़े होने की सम्भावना उत्पन्न हो तब यह वास्तविकता याद करें ।

सादि अनन्त अविनाशी अप्रयासी परिणाम,

उपादान - गुण तेहिज कारण - कार्य - धाम;

शुद्ध निक्षेप चतुष्टय जुत्तो रत्तो पूर्णानंद

केवलनाणी जाणे जेहना गुणनो छंद ॥ ४२ ॥

एहवी शुद्ध सिद्धता करण ईहा,

इन्द्रिय सुखथकी जे निरोहा;

पुद्गली भावना जे असंगी,

ते मुनि शुद्ध परमार्थ रंगी ॥ ४३ ॥

ऐसी शुद्ध सिद्धता मेरी कब प्रकट हो ? ऐसी रुचि जगे तो हमारी साधना सच्ची । इस रुचि के लिए इन्द्रियों के सुख पर निःस्पृहता रखे, पौद्गलिक भावों से दूर रहे वही मुनि वास्तव में मुनि है ।

स्याद्वाद आत्मसत्ता रुचि समकित तेह,

आत्म धर्मनो भासन, निर्मल ज्ञानी जेह;

आत्म रमणी चरणी ध्यानी आतम लीन,

आतम धर्म रम्यो तेणे भव्य सदा सुख पीन ॥ ४४ ॥

आत्मसत्ता की रुचि अर्थात् सम्यक्त्व ।

आत्मसत्ता का बोध अर्थात् सम्यग्ज्ञान ।

आत्मसत्ता की रमणता अर्थात् सम्यक् चास्त्रि ।

इस रत्नत्रयी को प्राप्त करनेवाली आत्मा पुष्ट बनती है ।

अहो भव्यो ! तुमे ओलखो जैन धर्म,

जिणे पामिये शुद्ध अध्यात्म मर्म;

अल्पकाले टले दुष्ट कर्म,

पामिये सोय आनन्द शर्म ॥ ४५ ॥

हे भव्यो ! मेरी सलाह मानो तो जैन धर्म को पहचानो । आपको शुद्ध अध्यात्म धर्म का मर्म मिलेगा । यदि प्रयत्न करेंगे तो अल्पकाल में दुष्ट कर्मों का क्षय हो जायेगा, कल्याण हो जायेगा । ऐसा पूज्य देवचन्द्रजी कहते हैं ।

मुख्य पदार्थ है : आत्मा । इस एक आत्मा को पहचानते ही अन्य सब अपने आप पहचान में आ जायेंगे ।

मुख्य बात तो मार्ग-दर्शन की है । शेष मार्ग तो मार्ग अपने आप बतायेगा । ज्यों ज्यों आगे बढ़ते जायेंगे, त्यों त्यों आगे - आगे का मार्ग स्पष्ट होता जायेगा । पूर्व अनुभव ही बाद में होनेवाले अनुभव की झलक बतायेगा ।

नय निक्षेप प्रमाणे जाणे जीवाजीव,

स्व-पर विवेचन करतां थाये लाभ सदैव;

निश्चय ने व्यवहारे विचरे जे मुनिराज;

भवसागर तारणा निर्भय तेह जहाज ॥ ४६ ॥

भगवान ही नहीं, मुनि भी तरण-तारण जहाज हैं ।

मुनि जीव-अजीव, नय-निक्षेप, निश्चय-व्यवहार आदि के ज्ञाता और स्व-पर का विवेक करनेवाले होते हैं ।

वस्तु तत्त्वे रम्या ते निर्ग्रन्थ,

तत्त्व अभ्यास तिहां साधु पंथ;

तिणे गीतार्थ चरणे रहिजे,

शुद्ध सिद्धान्त रस तो लहिजे ॥ ४७ ॥

‘हम अपने आप सब प्राप्त कर लेंगे’ - इस भ्रम में कोई न रहे, अतः यहां अध्यात्मवेत्ता गीतार्थ गुरु की आवश्यकता बताई

है । तो ही शुद्ध सिद्धान्त रस पान करने को मिलेगा ।

‘श्रुत अभ्यासी चौमासी वासी लीबडी ठाम,

शासनरागी सोभागी श्रावकना बहु धाम;

खरतरगच्छ पाठक श्रीदीपचन्द्र सुपसाय,

‘देवचन्द्र’ निज हरखे, गायो आतमराय ॥ ४८ ॥

‘लीबडी’ में श्रावकों के बहुत घर है । आज भी है । वहां मैंने आत्मा के गुण-गान किये हैं - ऐसा कर्ता कहते हैं ।

आत्मगुण रमण करवा अभ्यासे,

शुद्ध सत्ता रसीने उल्लासे;

‘देवचन्द्रे’ रची अध्यात्म-गीता,

आत्मरमणी मुनि सुप्रतीता ॥ ४९ ॥

अध्यात्म से अपरिचित अन्य जीवों पर भी उपकार हो अतः इस अध्यात्म गीता की रचना की गई है ।

इसमें मुझे क्या रचना करनी है ? आत्मरमणी मुनिको तो यह अच्छी तरह ज्ञात ही है । इस प्रकार अन्त में कविश्री अपना कर्तृत्व भाव हटा देते हैं ।

✻ आज हमारे गुरुदेव पू. कंचनविजयजी महाराजकी २८वीं स्वर्गतिथि है । वे अनशनपूर्वक ग्यारहवें चौविहार उपवास में कालधर्म को प्राप्त हुए थे । वे अत्यन्त ही निःस्पृह थे । संथारिया एवं उत्तरपट्टा के अलावा उनके पास कोई उपधि नहीं थी ।

गृहस्थ जीवन में वे पांच-सात वर्ष पालीताणा में रहे । वे वहां विशेष करके गुरु तय करने के लिए ही रहे थे । वे अनेक आचार्यों के परिचय एवं सम्पर्क में आये । अन्त में उन्होंने पूज्य कनकसूरिजीको गुरु के रूप में स्वीकार किये । हम यहां आये उसमें वे भी कारण हैं ।

उनका उपकार भला कैसे भूल सकते हैं ?

उनके चरणों में अनन्त वंदन ।

• • • • •



गुरु-स्तुति

मंगलं पद्म-जीताद्या, मंगलं - कनको गुरुः ।
मंगलं सूरिदेवेन्द्रः, कलापूर्णोस्तु मंगलम् ॥



नमस्तुभ्यं कलापूर्ण ! मग्नाय परमात्मनि ।
त्वयात्र दुःषमाकाले, भक्तिगंगावतारिता ॥



यो गुरुः सर्वभक्तेषु, प्रभुरूपेण संस्थितः ॥
कलापूर्णाय पूर्णाय, गुणैस्तस्मै नमो नमः ॥



ज्ञानं ध्यानं तपो भक्ति-मैत्री गुणानुरागिता ।
निराश्रया गुणा जाताः, कलापूर्णे दिवं गते ॥



अध्यात्ममूर्ति शशिशुभ्रकीर्ति, संसारभीति परमात्मप्रीतिम् ।
पयोजकान्ति परमप्रशान्ति, सूरि कलापूर्णमहं नमामि ॥



टळे जेमना नामथी सर्व कष्टे,
फळे जेमना नामथी सर्व इष्टे;
बळे पापना पुंज जेना प्रभावे,
नमुं ते कलापूर्णसूरीन्द्र भावे ॥



अहो 'कलापूर्ण' पवित्र नाम,
जा जीवडा ! ए जपी मुक्ति-धाम ।
तारे बीजा मंत्र वडे शुं काम ?
छे मंत्र मोटो गुरुदेव नाम ॥



विशाल भाल, सुनिर्मल लोचन, सुप्रसन्न मुख मुद्रा,
नहीं म्लानि, नहीं ग्लानि क्यारे, नहीं आळस, नहीं तन्द्रा;
अद्भुत प्रभु-भक्तिनी मस्ती, अद्भुत क्रिया-स्फूर्ति,
कलापूर्णसूरिजी जगमां जय पामो शम-मूर्ति.

- रचयिता : श्री मुक्ति/मुनि

.

गुरु-स्तुति

जे कच्छवागड देशकेरा, परम उपकारी खरा,
ज्यां ज्यां पड्या गुरुना चरण, त्यां त्यां बनी पावन धरा;
अरिहंत प्रभु शासन प्रभावक, कार्यथी परहित करा,
कलापूर्णसूरिवर चरणमां, होजो सदा मुज वंदना १

जे मोक्षना अभिलाषथी सुविशुद्ध संयम धारता,
भव-भ्रमणना निर्वेदथी विषयो कषायो वारता;
जे रहे प्रवचन मात शरणे आतमा संभाळता,
कलापूर्णसूरिवर चरणमां, होजो सदा मुज वंदना २

जे ब्रह्मचर्य वडे निज परम पावन आतमा,
शत्रु प्रमाद पछाडता बनवा सदा परमातमा;
हितकार थोडुं बोलता वैराग्य भरता वातमां,
कलापूर्णसूरिवर चरणमां, होजो सदा मुज वंदना ३

जे गुरुकृपाथी आगमोना अर्कने तुरत ज ग्रहे,
अमृत थकी पण अधिक मीठी वाणी जिनवरनी कहे;
आसक्ति पुढलनी तजीने निज स्वभावे जे रहे,
कलापूर्णसूरिवर चरणमां, होजो सदा मुज वंदना ४

जेना हृदयमां संघ पर वात्सल्यनुं झरणुं वहे,
शासन तणी सेवा तणो अभिलाष अंतरमां रहे;
जस नाम मंत्र प्रभावथी सहु भाविको पापो दहे,
कलापूर्णसूरिवर चरणमां, होजो सदा मुज वंदना ५

કટુતા કદી ના કોઈથી સહુ જીવ પર મૈત્રી ધરે,
બાલક તળા પળ ગુણ નિહાળી હર્ષથી હૈયું ભરે;
દુઃખી અને પાપી વિષે જસ હૃદયથી કરુણા ઝરે,
કલાપૂર્ણસૂરિવર ચરણમાં, હોજો સદા મુજ વંદના

૬

જે યોગ્ય જીવો જોઈને હિત શીખડી પ્રેરક કહે,
સુધરે ન એવા જીવ પર માધ્યસ્થભાવ હૈયે રહે;
સત્કાર કે અપમાનમાં સમભાવની સરિતા વહે,
કલાપૂર્ણસૂરિવર ચરણમાં, હોજો સદા મુજ વંદના

૭

જે શ્વાસ અને ઉચ્છ્વાસમાં અરિહંત અંતરમાં ધરે,
વાળી સુધાથી ભવિકમાં અરિહંત રસ હૃદયે ભરે;
મન-મંદિરે અરિહંત ધ્યાને આત્મા નિર્મલ કરે,
કલાપૂર્ણસૂરિવર ચરણમાં, હોજો સદા મુજ વંદના

૮

પ્રભુ મૂર્તિમાં પ્રભુને નિહાળી જગતને જે ભૂલતા,
નિજ મધુર કંઠે સ્તવન ગાતા બાઝ જિમ જે ડોલતા;
'પ્રભુ' ભક્તિની મસ્તી વડે નિજ હૃદયને જે ખોલતા,
કલાપૂર્ણસૂરિવર ચરણમાં, હોજો સદા મુજ વંદના

૯

- રચયિતા : ભૂકંપમાં અવસાન પામેલ પ્રભુલાલ વાઘજી છેડા, મનપરા (કચ્છ)

.



गुरु-स्तुति

शरीर छे विष-बेलडी आ, गुरु अमृतनी खाण रे,
माथुं कपातां गुरु मळे जो, तोय सस्ता जाण रे;
वर्णव्यो सघळे स्थळे, महिमा घणो सदुरु तणो,
कलापूर्णगुरुने वंदतां आनंद थाये अति घणो ।



सम्यकत्वनुं सर्जन करे तुं, तुं ज छे ब्रह्मा खरो,
धारण करे शुभ धर्मने तुं, तुं ज छे विष्णु खरो;
उच्छेदतो अज्ञानने शंकर जणायो तुं मने,
परब्रह्मरूपी ओ कलापूर्णप्रभु ! वंदुं तने ।



अनंत महिमा छे गुरुनो, अनंत नित उपकार छे,
अनंत लोचन खोलनारा, गुरु सदा प्रभु-द्वार छे;
अनंत तत्त्व बतावनारा, गुरु सुधारस धार छे,
कलापूर्णसूरि गुरुदेव वंदुं, नक्की बेडो पार छे ।



‘अमृत भरेलो गगन-मंडलमां रहेलो छे कूवो,
गुरु-कृपाथी मेळवी अमृत पीए विनयी जुओ;
तरसे मरे नगुरा बिचारा’ इम कहे आनंदघन,
अमृत-दाता ओ कलापूर्ण-प्रभु ! तुजने नमन ।



वात्सल्य तारुं एटलुं के सिंधु पण नानो पडे,
माधुर्य तारुं एवुं के साकर सदा फीकी पडे;
सुप्रसन्नता तुज एटली के फूल पण झाखुं पडे,
कलापूर्णसूरिदेव ! तारा चरणमां मुज शिर ढळे ।

- रघयिता : श्री मुक्ति/मुनि



गुरु-स्तुति

हे गुरु ! तव मूर्ति अद्भुत, ध्यान का यह मूल है,
हे गुरु ! तव चरण अद्भुत, पूजना के मूल है;
हे गुरु ! तव वचन अद्भुत मंत्र के ये मूल है,
कलापूर्णसूरि ! गुरुदेव ! तू अद्भुत भक्ति-फूल है ।



‘है तू ही ब्रह्मा तू ही विष्णु, तू ही है शंकर यहां,
तू ही है परब्रह्म’ गुरु की, है स्तुति यह अन्य में;
पा कर तुम्हें गुरुदेव ! प्यारे ! हूं बना अतिधन्य मैं,
अध्यात्मयोगी श्रीकलापूर्णप्रभु ! तुझको नमन ।



‘गुरु’ शब्द का संदेश सुन लो : है रहस्यों से भरा,
‘गु’ गुणातीत ‘रु’ रूपातीत है प्रभु सोचो जरा;
प्रभु प्राप्त करना हो अगर सेवो गुरु, गुरु द्वार है,
कलापूर्णसूरि गुरुदेव को वंदन करो, उद्धार है ।



तू दीप है, तू देव है गुरु ! तू ही दिव्य प्रकाश है,
तू मात है, तू तात है गुरु ! तू ही चित्त-उल्लास है;
तू स्वर्ग है, तू मुक्ति है गुरु ! तू धरा-आकाश है,
कलापूर्णगुरुवर ! तू अहो ! अद्भुत भक्ति-विकास है ।



रोती-रोती गंगा बोली : हो गई हूं आज मैं मैली,
जल है दूषित सर्वथा मम, शुद्धि नष्ट हो गई मेरी;
मत रो ओ गंगा मैया ! शुद्धि अभी सुरक्षित है,
कलापूर्णसूरि नाम की गंगा, इस धरती पर बहती है ।
(रो रो ओ गंगामैया ! शुद्धि कभी सुरक्षित थी,
कलापूर्णसूरि नाम की गंगा, इस धरती पर बहती थी.)

- रचयिता : श्री मुक्ति/मुनि



मातृवंदना

आस्तां तावदियं प्रसूति-समये दुर्वार-शूलव्यथा-
नैरुच्ये तनु-शोषणं मलमयी शय्या च सांवत्सरी ।
एकस्यापि न गर्भभार-भरण-क्लेशस्य यस्याः क्षमो
यातुं निष्कृतिमुन्नतोऽपि तनयः तस्यै जनन्यै नमः ॥

- आ. शंकर (शार्दूलविक्रीडितम्)



मा, तें दुःसह वेदना प्रसवनी जे भोगवी ना गशुं,
झाया दीधी नीयोवी ना कहुं ભલે તે ધોઈ બાળોતિયાં;
આ જે એક જ ભાર માસ નવ તેં વેઠ્યો હું તેનું ઋણ,
પામ્યો ઉન્નતિ તોય ના ભરી શકું હે મા ! તને હું નમું.

- ગુજરાતી અનુવાદ : મકરંદ દવે



मां ! तूने अति वेदना प्रसव की जो भोग ली, ना गिनुं,
सूखाया अपना शरीर कपड़े धो धो उसे ना गिनुं;
ढोया जो नव मास गर्भ उसका भी एक कर्जा बना,
पाऊं उन्नति तो भी ना भर सकूं, हे मां ! तुझे वंदना.

- हिन्दी अनुवाद : मुक्ति / मुनि



‘मां’ : पुत्र की दृष्टि में

पू. मां महाराज के कालधर्म के बाद
पू.पं. कल्पतरुविजयजी का संवेदनात्मक एक पत्र...

सादर अनुवंदना ।

- मां महाराज गये, भीतर के मनः-प्रदेश को भीगा-भीगा करता एक वात्सल्य-निर्झर सदा के लिए लुप्त हो गया ।

भले दूर हो, साथ में न हो तो भी मां का अस्तित्व मन को एक बलप्रद व आनंद-प्रद बनता अस्तित्व है ।

अंदाजन ३-३० से ४-३० तक शाम को हम तीनों भाई भरूच होस्पिटल में मां महाराज के पास ही थे । अंतिम सांस तक उन्हें

देखते रहे । आत्मा का निर्गमन तो नहीं दिखता, लेकिन श्वास-
प्राण की विदाई किस प्रकार होती है, वह नज़र के सामने देखा ।
मृत्यु को इतनी निकटता से देखने का यह पहला अवसर था ।

मां ने अंतिम सांस ली और आंखें भर गई - एकदम, हृदय
गद्गद हो गया । मन के भीतर शून्यकार छा गया । बंध आंखों
में आंसु बहाये - भीतर अंधकार के अलावा कुछ भी नहीं था ।

सर्व संबंधों में सर्वोत्कृष्ट संबंध मां का है । चाहे जैसे संयोगों में मां ही
ऐसी होती है जो अपने संतान का आत्यन्तिक रूप से हित ही चाहती है ।

मां की उपमा हम भगवान को देते हैं, गुरु को देते हैं, लेकिन
मां को किसकी उपमा दी जाय ? मां को कोई विशेषण की,
उपमा की जरूरत नहीं है । मां निरुपम है ।

कितना कष्ट सह कर वह जन्म देती है ?

कितना कष्ट सह कर वह अपने संतानों का पोषण करती है ।

कितने कष्ट सह कर उन्हें वे आत्मनिर्भर बनाती है ।

हमें धर्म के संस्कार मां ने ही दिये, दीक्षा के भाव भी मां
ने ही जगाये ।

मां ने अगर दीक्षा न ली होती तो हम कभी दीक्षा नहीं लेते ।

जिनके उपकार का बदला न दिया जा सके ऐसी मां चली
जाय तो किस पुत्र के हृदय को झटका न लगे ?

९९ दिनों में दोनों शिरछत्र चले गये । भावि-भाव कौन मिट
सकता है ?

वे (मां महाराज) मानो हम दोनों भाईओं की प्रतीक्षा करते
ही बैठे हो, वैसे हमें देख कर एकदम प्रसन्न हुए, सुखसाता पूछी,
अपनी तकलीफ की बात कही । उपयोग नवकार के श्रवण -
स्मरण में ही था । हमने भी एक घंटे तक नवकार सुनाये ।

निर्मोही मां हमें छोड़ कर चल बसी । बस ! अंतिम दिन
में अंतिम तीन घंटे उनके पास द्रव्यतः हमारा आगमन हुआ और
भावतः नवकार मंत्र का श्रवण कराया । इस प्रकार हम उनकी
समाधि में सहायक बने उसका आनंद भी रहा ।

आनंद और विषाद के मिश्र भावों में मन उद्विग्न - गमगीन रहा ।

स्वर्गस्थ पिता गुरुदेव और मां महाराज स्वर्गलोक में से हम

पर कृपा - वृष्टि करते रहे और हमें संयम के मार्ग पर सत्त्व, जिम्मेदारी की समझ और शक्ति मन को निर्मलता व निश्चलता प्रदान करते रहें, इसी आंतर भावना के साथ रुकता हूं ।

- पं. कल्पतरुविजय

✧ मां महाराज को पालखी में बिठाने का चढावा :

१,३०,०००/- (धीरुभाई कुबडीआ)

✧ अग्नि-संस्कार का चढावा :

१४,६०,०००/- (हितेशभाई गढेचा)

✧ दूसरे १४/१५ चढावे हुए । कुल आय १८,८०,०००/- रु.

✧ जीवदया का फंड :

५ लाख से उपर हुआ । कुल मिलाकर २४ लाख रूपये हुए ।

मां महाराज की समाधि उत्तम थी । पू. मां महाराज के पवित्र देह का भरूच पिंजरापोल के परिसर में चंदन की चिता में अग्निदाह हुआ ।

• • • • •

गुरु-स्तुति अष्टक

प्यारा हता अरिहंत ने प्यारा जीवो संसारना,

प्यारुं हतुं प्रभु-नाम ने प्यारा पदो नवकारना;

प्यारी हती प्रभु-भक्ति ने प्यारी हती निज-साधना,

कलापूर्णसूरि-गुरु-चरणमां, हो भावभीनी वंदना

॥ १ ॥

निज-देहमां रहेवा छतांये, देहथी न्यारी दशा,

कार्यो करे पर-हित तणा पण चित्तमां चिन्मय दशा;

बळी सर्वमां होवा छतां, जल-कमलवत् आसंग ना,

कलापूर्णसूरि-गुरु-चरणमां, हो भावभीनी वंदना

॥ २ ॥

जे छे प्रतापी सूर्य जेवा सौम्य बळी शशधर समा,

गंभीर जे सागर समा ने धीर बळी महीधर समा;

जेनी प्रभा सुवर्ण जेवी, वाणी शीतल चंदना,

कलापूर्णसूरि-गुरु-चरणमां, हो भावभीनी वंदना

॥ ३ ॥

५९६ ***** कहे कलापूर्णसूरि - १

છે નામ પ્રભુનું શક્તિશાલી, કામ પ્રભુનું જે કરે,
 જે સ્મરણ-કીર્તન-ભક્તિ કરતાં મન भीतर जिनवर धरे;
 अरिहंत प्रभुना ध्यानमां अरिहंतमय જે ચેતના,
 कलापूर्णसूरि-गुरु-चरणमां, हो भावभीनी वंदना ॥ ४ ॥
 પ્રભુ-મૂર્તિમાં પ્રભુને નિહાળે, એવી નિર્મલ આંખ છે,
 क्षणवारमां प्रभु-द्वार पहरेंचे, एवी मननी पांख છે;
 જે નામ-મૂર્તિ-દ્રવ્ય-ભાવે નિત કરે પ્રભુ-અર્ચના,
 कलापूर्णसूरि-गुरु-चरणमां, हो भावभीनी वंदना ॥ ५ ॥
 માધુર્ય છે મૈત્રીતણું મુદિતા તળી સુપ્રસન્નતા,
 कोमलपणुं करुणातणुं माध्यस्थ्यनी मनोहारिता;
 આ ચાર ભાવોથી સુભાવિત જેમનો શુભ આતમા,
 कलापूर्णसूरि-गुरु-चरणमां, हो भावभीनी वंदना ॥ ६ ॥
 નથી માન-માયા-લોભ ને સમતાધર્યો જે આતમા,
 नथी काम-कदुता-कोध-गृद्धि, शान्त निर्मल आतमा;
 નથી દ્વેષ-મત્સર-ક્લેશ કે નથી નામનાની કામના,
 कलापूर्णसूरि-गुरु-चरणमां, हो भावभीनी वंदना ॥ ७ ॥
 જે કચ્છ-વાગડ-દેશના શૃંગાર અદ્ભુત ગુરુવરા,
 श्री पद्म-जीत-हीर-कनकसूरि-देवेन्द्रसूरिवर हितकरा;
 જે શિષ્ય કંચન ગુરુ તળા કરી વિશ્વ-વ્યાપી નામના,
 कलापूर्णसूरि-गुरु-चरणमां, हो भावभीनी वंदना ॥ ८ ॥

- रचयिता : पू.पं. श्री कल्पतरुविजयजी

गुरु-स्तुति

✧ कल्याणांकुरपोषणे जलधरो लावण्यलीलायुतः
 पूर्णः सद्गुणशिभिः गुरुवरो नम्रः प्रभोः पत्कजे ।
 सूर्यो भव्यपयोजबोधकरणे रिक्तः सदा दोषतो,
 देयात्सन्मतिमाशु मे गुरुरसौ वन्द्यौ विभाते जनैः ॥ १ ॥ शार्दूल०

✧ कच्छादिदेशस्थितमानवेभ्यो
 लाभं ददानं जिनधार्मिकं हि ।
 पूर्णं गुणै र्वै विमलैः प्रगे प्र -
 णमामि कामं मुनिचन्द्रमेनम् ॥ २ ॥ उपजाति

કહે કલાપૂર્ણસૂરિ - ૧ ***** ૫૧૭

- ❖ कर्मरिपु - निहन्तारम्
लावण्ययुतमुत्तमम् ।
पूर्णं सद्गुणौघैः प्र -
णमामीमं मुनीश्वरम् ॥ ३ ॥
- ❖ मोहादेमुक्तबुद्धिर्विमलगुणनिधिर्जेतृकन्दर्पजेता
सद्भक्त्या नित्यमर्हद्भजनरतमति - धर्मलाभप्रदाता ।
शान्तात्मा चन्द्रतुल्यः शशिसदृशयशः संप्रपूर्णा गुणैश्चा -
यं सूरिन्द्रः प्रपूज्यो जगति विजयते भूषणः शासनस्य ॥ ४ ॥ *स्वधरा*
- ❖ कुठारायमाणं कषाय-द्रु-भेदे
दिनेन्द्रायमाणं जनाम्भोजबोधे ।
मरालायमानं प्रभोः पत्पयोजे
कलापूर्णसूरिं प्रणौमि प्रगेऽहम् ॥ ५ ॥ *भुजङ्गप्रयातम्*
- ❖ विततसंसृति-कानन-पर्यट -
न्मुनि-विधुं भयतः परपीडितम् ।
शिवपुरीं रहितां सकलैर्भयै -
नय कलादिमपूर्ण ! सुसार्थप ! ॥ ६ ॥
- ❖ अहह ! जीव भवाटनतो यदि
श्रममवाप्य शिवं च समीहसे ।
श्रय ततो लघु संसृति-सूदनं
किल कलादिमपूर्णं पदद्वयम् ॥ ७ ॥ *द्रुतविलम्बितम्*
- ❖ मोहोन्मादनिशा-विलुप्त-निजकात्मज्ञान-तेजोभरा -
नात्मीयैः खरगोभिराशु नृचयानुच्चैः प्रबोधय्य च ।
निर्वाणा-ध्व-निदर्शकं हतभयं ज्ञानप्रकाशं नय -
त्राधोय्यामधुना रविः किल कलापूर्णः प्रविभ्राजते ॥ ८ ॥ *शार्दूल०*
- ❖ प्रभोर्गीतिप्रीतिर्गजगतिगतिः संयमरतिः
शशिज्योतिर्दीप्तिर्नतजनततिर्निर्मलमतिः

कलामृत्सत्कीर्तिं र्यतिततियतिः शान्तप्रकृतिः
कलापूर्णः सूरिः सृजतु सततं शर्म जगति ॥ ९ ॥ शिखरिणी

❖ कारं कारं जिनवरवचो - वाचनावर्षणं वै
हारं हारं नरहृदयतमोविह्वित्वा कलाम् ।
धारं धारं भयि सुविपुलं चातकार्भे प्रमोद -
माधोय्यां संप्रति विजयते श्रीकलापूर्णमेघः ॥ १० ॥ मंदाक्रान्ता

❖ अध्यात्म-कासार-विलास - हंस !
सहस्रभानो भविष्यदबोधे ।
सद्बोधिवृक्षे जलदोषम् ! त्वं
जीयात्कलापूर्ण ! मुनीन्द्र ! लोके ॥ ११ ॥ उपजाति

❖ सर्वत्र सज्ज्ञानभर्या सुवर्षाम्
कुर्वस्वैवा चातकबालकेऽपि
रे मादृशे पातय शब्दबिन्दून्
द्वित्रान् कलापूर्ण पयोद ! तूर्णम् ॥ १२ ॥ उपजाति

❖ मनोमयूरो भवतोऽभ्रतो मे
संप्राप्य वाणीप्रियवर्षणं हि ।
हर्षातिरेकात्प्रकरोति नृत्यं
श्रीमन् कलापूर्ण मुनीन्द्र ! नित्यम् ॥ १३ ॥ उपजाति

❖ निबिडतिमिरजालच्छेदनेनैव सद्यः
प्रकटितशिवमार्गः शोषयन् कर्मपङ्कम् ।
दधदतनुकहर्षः प्राणिपद्मौघबोधे
जयति जगति सूर्यः श्रीकलापूर्णसूरिः ॥ १४ ॥

❖ जनकुमुदसमूहं बोधयन् संप्रपूर्णः
सकलकलकलाभि - निर्मलः सद्यशोभतु ।
विशदनिजकगोभिस्त्वर्पयार्श्चित्तशान्तिम्
जयति जगति चन्द्रः श्रीकलापूर्णसूरिः ॥ १५ ॥ मालिनी

- ✽ श्रुतसलिल - सुपूर्णाभाचरञ् शास्त्रवर्षा
सकलमनुजचित्त क्लेशवर्हि निरस्यन् ।
नृगणहृदयभूमौ पोषयन् बोधिबीजम्
जयति जगति मेघः श्री कलापूर्णसूरिः ॥ १६ ॥ मालिनी
- ✽ अपूर्वस्त्वं राशी कोऽपि श्री कलापूर्ण ! विद्यसे ।
प्रयासि सततं वृद्धि क्षयं नैव कदाचन ॥ १७ ॥
- ✽ भ्राजमाने कलापूर्ण ! भास्करे जगति त्वयि ।
अन्धा जना न पश्यन्ति दोषः किमत्र ते भवेत् ॥ १८ ॥
- ✽ ममैकेच्छा कलापूर्ण ! वर्तते स्वान्तमन्दिरे ।
भवेयं त्वत्पदाब्जालि जिघ्राणो गुणसौरभम् ॥ १९ ॥
- ✽ कलापूर्णाय पूज्याय मोहरात्रिविमुद्रिते ।
मामकाने मनोऽम्भोजे मार्तण्डाय नमो नमः ॥ २० ॥
- ✽ वर्षति त्वयि सर्वत्र कलापूर्ण ! पयोधरे ।
दुर्भाग्यच्छत्र - संच्छत्रैः प्राप्यन्ते नाम्बुबिन्दवः ॥ २१ ॥
- ✽ अद्भुतो वर्तसे कोऽपि त्वं कलापूर्ण ! पञ्जरः ।
यतो बद्धा विमुच्यन्ते बध्यन्ते च विमुक्तकाः ॥ २२ ॥
- ✽ कमलखण्डनिर्लेप ! कमलदलनिर्मलः ।
कमलसदृशास्य ! त्वं कलापूर्ण ! चिरं जय ॥ २३ ॥
- ✽ विलोक्य त्वां कलापूर्ण, कलापूर्ण ! कलाधिपः ।
मन्येऽपूर्ण निजं मत्वा, प्रयातो गगनाङ्गणे ॥ २४ ॥
- ✽ यदीये स्वान्तकासारे, लसति प्रभुपत्कजम् ।
श्रीमन्तं तं कलापूर्ण, वन्देऽहं भावतः सदा ॥ २५ ॥

- त्वयिता : मुक्ति / मुनि, आद्योई (कच्छ), वि.सं. २०३३

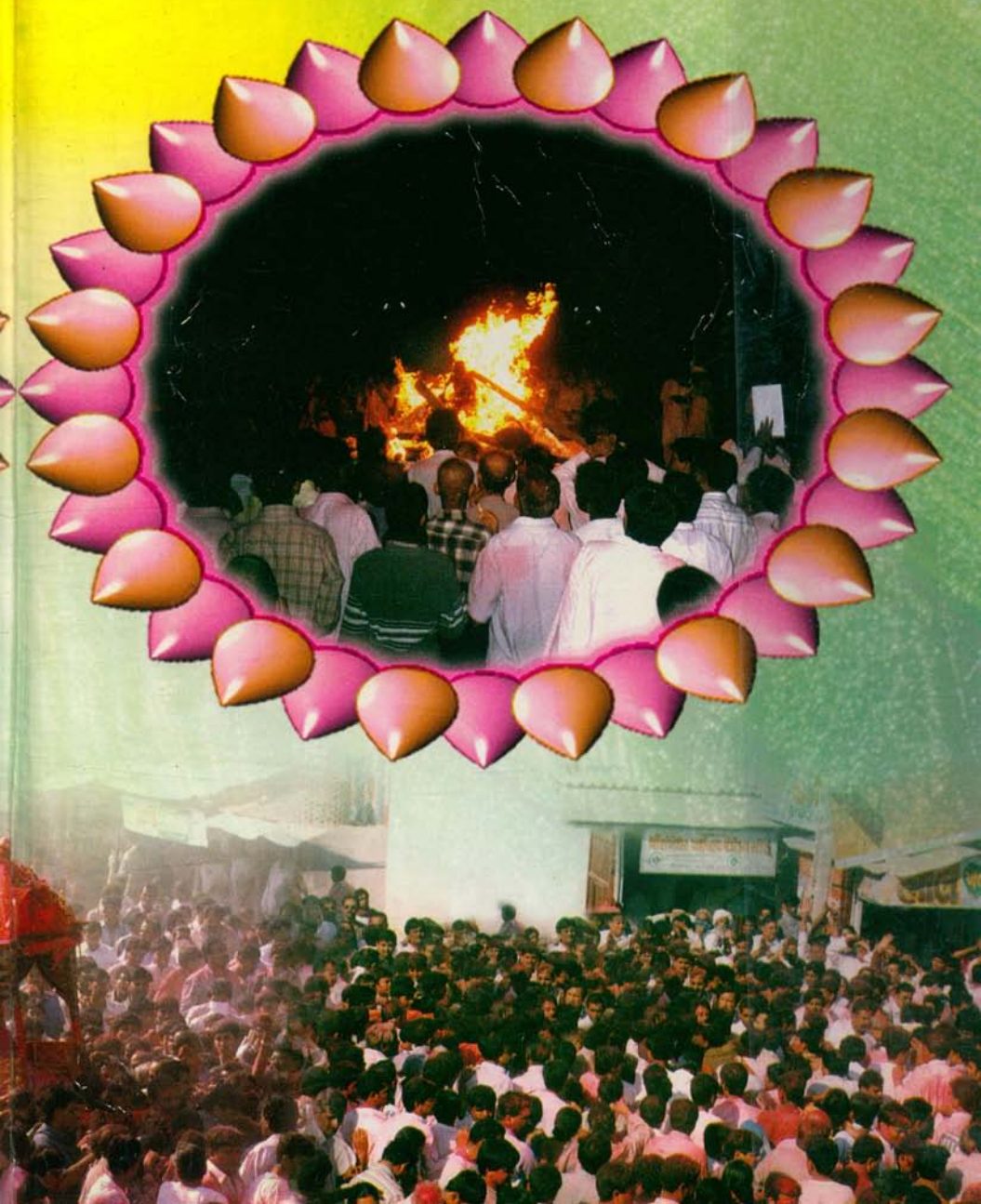
वि. सं. २०५८, माघ सु.६, १८-२-२०

तीर्थभूमि शंखेश्वर में अर्हन्मयी चेतना
दो घंटे के बाद अरिहंत आकृति में रहे हुए



००२, सोमवार, शंखेश्वर तीर्थ (गुजरात)

के स्वामी पूज्यश्री के अग्नि-संस्कार के
पूज्यश्री को देखने हजारों लोग उमड़ पड़े थे



કચ્છની કલાગીરામા વાંકી તીર્થ
શ્રી કલાપ્રભવિજયજી ગણિવરને આચાર્ય-પદ
શ્રી કલ્પતરુવિજયજીને પંચાસ-પદ
વિજયજી તથા પ્રમુખશ્રી મુનિચન્દ્ર વિજયજીને ગણિ-પદ પ્રદાન
કોત્સવ-સમારોહ
તારીખ: મહા સુ.ક, શુક્રવાર, ૧૧-૨-૨૦૦૦
કોળી ૧૧ આઆઈ.ઈ.એ. વિજય કલાપૂર્ણ સૂરીશ્વરજી મ.સા.



‘કહે કલાપૂર્ણસૂરિ’ પુસ્તક પૂજ્યશ્રી કલાપૂર્ણસૂરિજી કે હાથ મેં

લલિત-વિસ્તર્યા અદ્ભુત ભવિત -બ્રન્થ હૈ । અગર આપ
સંસ્કૃત જાનતે હૈ તો મૂલ બ્રન્થ પઢો । અગર સંસ્કૃત નહીં
જાનતે હૈ તો ઉસ પર વાચના કે ગુજરાતી પુસ્તક (કહે
કલાપૂર્ણસૂરિ, ભાગ ૩-૪) બી પ્રકાશિત હુએ હૈં । ઉન
પુસ્તકોં કો જરુર બાર-બાર પઢેં ।

પૂજ્યશ્રી વિજયકલાપૂર્ણસૂરીશ્વરજી મ.સા.,
સમક્ષ દી ગઈ અંતિમ વાચના મેં સે

વિ.સં. ૨૦૪૮, માઘ વ. ૬,
દિનાંક ૩-૨-૨૦૦૨, રવિવાર
રમણીયા, જી. જાલોર (રાજ.)



Tejas Printers
AHMEDABAD PH. (079) 6601045